









130427



1

का

ब

नदमि

त्य ३

थान

र राष

चल

राष्ट्र

चंद्र



# प्रंचेतना

सृजन, संवाद एवं विचार का माध्यम

विभाग ११

Gurukul Kangri Vishwavidyalaya  
HARIDWAR

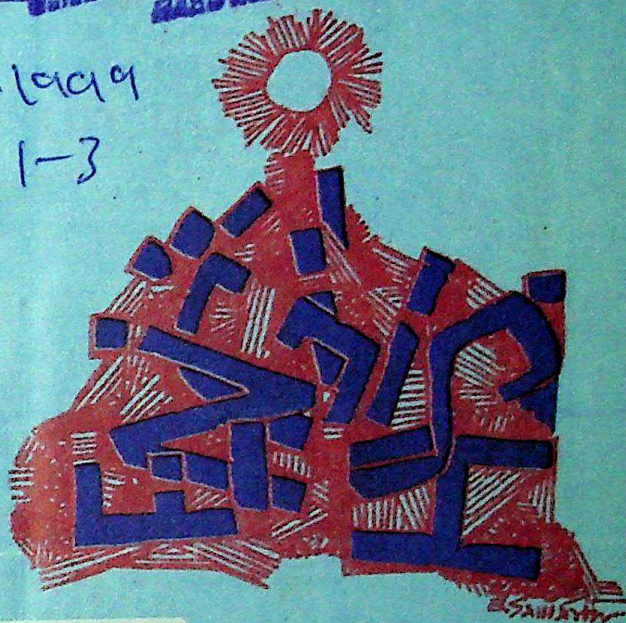
Vol. 30-1999

No. 1-3

कारों को पारदर्शी  
बनाया जा सकता है?

अदमियाँ : चयन-प्रक्रिया

187



त्य अकादमी

थान साहित्य अकादमी

र राष्ट्रभाषा परिषद

चल कला संस्कृति भाषा अकादमी

राष्ट्र राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी



130427

पूर्णांक

147

लेखकों का अभिमत

चंद्र शाह, द्रोणवीर कोहली, दिविक रमेश, हेतु भारद्वाज, सूर्यबाला, चंद्रकान्ता, गिरीश

के.के. बिड़ला फाउंडेशन, नई दिल्ली : सरस्वती और व्यास पुरस्कार

साथ ही

लेख, कहानियाँ, कविताएँ, व्यंग्य और साहित्यिक गतिविधियाँ



# DASHMESH AUTOMOBILES

*Manufacturers & Exporters*

SPECIALISTS IN :

WILLYS JEEP, PEYKAN, PEUGEOT, O.H.V.,  
STD. 20, LEYLAND, LANDROVER,  
BEDFORD & MERCEDES BENZ

DISTRIBUTORS FOR

**ALFA GEARS**

20. GURU NANAK AUTO MARKET,  
KASHMERE GATE, DELHI - 110006

Phones:- 2942007, 2524958



# संघटना

पूर्णांक 147, वर्ष 30

मार्च-1999

संपादक

महोप सिंह

प्रबंध संपादक

जयदीप सिंह

संदीप सिंह

संयुक्त संपादक

कमलेश सचदेव

गुरचरण सिंह

कार्यालय सहयोगी

राजेश कुमार सिंह, मनजीत कौर, जय सिंह

कला

मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि

कीर्ति केसर (जालन्धर)

कमलेश बख्शी (मुंबई)

जसबीर चावला (इंदौर)

सुभाष रस्तोगी (चंडीगढ़)

गोविंद अक्षय (हैदराबाद)

मूल्य

एक प्रति : 15 रुपये

वार्षिक : 50 रुपये

आजीवन : 500 रुपये

सम्पर्क

एच - 108, शिवाजी पार्क (पंजाबी बाग)

नई दिल्ली - 110026

फोन - 5191287, 5932888

मुद्रक एवं प्रकाशक

संदीप सिंह

अमृत एंटरप्राइजेज,

लारेंस रोड, दिल्ली-110035

फोन - 7180701, में मुद्रित तथा

एच - 108, शिवाजी पार्क,

नई दिल्ली - 110026 से प्रकाशित

पुरस्कारों को अधिक पारदर्शी कैसे बनाया जा सकता है?

चयन पत्रिका : साहित्य अकादमी, राजस्थान साहित्य अकादमी, हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, महाराष्ट्र राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी और के.के. विड़ला फाउंडेशन 10

अभिमत : रमेशचन्द्र शाह, द्रोणवीर कोहली, दिविक रमेश, हेतु भारद्वाज, सूर्यवाला, चन्द्रकान्ता, गिरीश पंकज, विष्णु खरे 14

आकलन

डा. हरदयाल : कर्मठ और भातुक व्यक्ति की कविता 29

डा. विजया : शब्दमय-रंगमय चित्रों की खामोशी 34

कहानियाँ

देवेन्द्र इस्सर : मिस्टर रोशो 38

कमलेश बख्शी : बेघर 45

मज़हरुल इस्लाम : मुट्ठी-भर शब्द 48

मधु सन्धु : रोटेशन 50

कविताएं

भीमराव अंबेडकर, रामदरश मिश्र, कार्तिकनाथ गौरीनाथ ठाकुर, बूला कार, सुंदर चंद ठाकुर 52

पुस्तकें

डा. मंजु गुप्ता : कहानी में मनुष्य होने का प्रमाण (रामदरश मिश्र का कहानी-संग्रह) 54

जगदीश सुवेदी : हैमबरगर-अपने समय का एक विशिष्ट उपन्यास (कमल कुमार का उपन्यास) 55

शुभदा पांडेय : नदी बहती है (मलिक राजकुमार का कविता-संग्रह) 55

डा. गुरचरण सिंह : समय के औचित्य से आसमान के बोझ तक (श्याम विमल, ज्ञान चंद गुप्ता, राकेश प्रेम, रावेल पुष्प, अनीता वर्मा और डा. सादिक के कविता-संग्रह) 57

पत्रिकाएं

सुरेन्द्र तिवारी : कुछ विशिष्ट लघु पत्रिकाएं 62 (अंतरंग संगिनी, रूपाम्बरा, समीचीन, हस्ताक्षर, ऋतुचक्र, पंजाबी संस्कृति, गूज)

मैंने पढ़ा

कमलेश सचदेव : कागज़ी पैरहन से छलकता व्यक्तित्व (इस्मत चुगताई की आत्मकथा) 64

व्यंग्य

राजकुमार कुम्भज : पक्ष, विपक्ष और पक्षधरता 66

यात्रा-विवरण

मोहनदास नैमिशराय : धूप की संस्कृति 67

आलेख

सरोज वशिष्ठ : भाषा का कोई सम्प्रदाय नहीं होता 68



# प्रचारक ग्रन्थावली परियोजना

पहली बार कबीर की सभी रचनाओं का एक साथ संग्रह

## कबीर समग्र

मूल्य : 80 रुपये मात्र

पृष्ठ संख्या : 900

डाक व्यय : 12 रुपये

संपादक, लेखक : डा. युगेश्वर



महान् संत कबीर की समस्त रचनाओं के इस अनुपम संग्रह में करीब 900 पृष्ठ हैं। यह पहला अवसर है जबकि कबीर की प्राप्त सभी रचनाओं का एक साथ संग्रह और संपादन हुआ है। प्रायः सभी रचनाओं के सरल और बोधगम्य भाषा में अर्थ दिए गए हैं। साथ ही कठिन और पारिभाषिक शब्दों का अलग से अर्थ-निर्धारण किया गया है। रचनाओं को भलीभाँति समझाने के लिए टिप्पणियाँ दी गई हैं। कथा या अन्य विशेषताओं को इन टिप्पणियों के माध्यम से सुस्पष्ट किया गया है। स्थान-स्थान पर छंद, अलंकारों के भी उल्लेख हैं। आवश्यकतानुसार दूसरे लेखकों की रचनाओं और प्राचीन साहित्य के साथ तुलनात्मक उद्धरण-पंक्तियाँ भी हैं। इन उद्धरणों से पता लगता है कि संत कबीर विकसित भारतीय परम्परा और धर्मदर्शन साहित्य की महान् विभूति हैं। अक्षररहित होकर भी उन्होंने समस्त भारतीय साहित्य-चेतना का साक्षात्कार किया था। वेदांत, भक्तिसूत्र, योगादि की गूढ़ता को सरल, सुबोध भाषा में लोककंठ में उतारना संत कबीर की अन्यतम विशेषता है।

पुस्तक के अन्त में कबीर साहित्य के पारिभाषिक शब्दों का अर्थसहित संग्रह है। संख्यावाचक शब्दों की अलग सूची है। सबसे अंत में संपूर्ण रचनाओं की पद सूची है। आरम्भ के दो सौ पृष्ठों की भूमिका में कबीर साहित्य से सम्बन्धित अनेक विषयों का तार्किक विवेचन है। इस विवेचन में लेखक ने कबीर के बारे में अनेक नई स्थापनाएँ की हैं। पहला अवसर है जबकि कबीर की रचनाओं के छंदांशों को शीर्षक बनाकर अनेक प्रभावोत्पादक निबन्ध एक साथ लिखे गए हैं। कबीर के दर्शन को व्याख्यायित करनेवाले इन निबंधों से कबीर सम्बन्धी नया साहित्य सृजित हुआ है।

श्रम और विद्वत्ता से आलोकित यह संग्रहणीय 'कबीर समग्र' मात्र 90 रु. में पाठकों को सुलभ है।

## डा. युगेश्वर कृत अन्य साहित्य

राम एक जीवन	15-00
सीता एक जीवन	12-00
भरत एक जीवन	12-00
हनुमान एक जीवन	12-00
रावण एक जीवन	14-00
संत साहेब	12-00

हिन्दी प्रचारक संस्थान

पिशाचमोचन, वाराणसी-221010



# संचेतना

पूर्णांक 148, वर्ष 30, अंक 2

जून, 1999

संपादक

महोप सिंह

प्रबंधक

जयदीप सिंह

संदीप सिंह

संयुक्त संपादक

कमलेश सचदेव

गुरचरण सिंह

कार्यालय सहयोगी

राजेश कुमार सिंह, मनजीत कौर, जय सिंह

कला

मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि

कीर्ति केसर (जालन्धर)

कमलेश बख्शी (मुंबई)

जसवीर चावला (इंटर)

सुभाष रस्तोगी (चंडीगढ़)

गोविंद अक्षय (हैदराबाद)

मूल्य

एक प्रति : 15 रुपये

वार्षिक : 50 रुपये

आजीवन : 500 रुपये

सम्पर्क

एच - 108, शिवाजी पार्क (पंजाबी बाग)

नई दिल्ली - 110026

फोन - 5191287, 5932888

मुद्रक एवं प्रकाशक

संदीप सिंह

अमृत एंटरप्राइजेज़,

लारेस रोड, दिल्ली-110035

फोन - 7180701, में मुद्रित तथा

एच - 108, शिवाजी पार्क,

नई दिल्ली - 110026 से प्रकाशित

## हिन्दी मानस और दलित लेखन

डा. श्यामराज सिंह बेचैन, डा. चमन लाल, ओमप्रकाश वाल्मीकि,  
देवेन्द्र चौबे, डा. एन. सिंह, डा. हरदयाल, जयप्रकाश कर्दम,  
रमणिका गुप्ता, प्रमोद सिंह, डा. वीरेन्द्र कुमार वसु, डा. तेज सिंह 9

आकलन

डा. रमेशचन्द्र मिश्र : नाट्य लेखन में वस्तु विन्यास : 24  
सन्दर्भ प्रताप सहगल के नाटक  
डॉ. विजेन्द्र : वीरेन्द्र सिंह की आलोचना दृष्टि: संदर्भ : 28  
साहित्य और साहित्येतर संवाद सूत्र

लेख

नंदलाल पाठक : हिन्दी गुज़ल की बात 31

कहानियाँ

मीरा सीकरी : कैलक्यूलेशन 34  
शरणकुमार लिंगबाले : घना अंधेरा 37  
सुखबीर सिंह तेजराणा : बिना लोक के लोग 40

आत्मकथा-अंश

सूरजपाल चौहान : तबादला 43

कविताएँ

हीरा डोम, स्वदेश भारती, शुभदा पांडेय,  
कार्तिकनाथ गौरीनाथ ठाकुर, नीरेन्द्रनाथ चक्रवर्ती 46

पुस्तकें

डा. गुरचरण सिंह : रचना कर्म और रचनाकार का दायित्व 48  
चंदन कुमार : पाश की कविता के जीवंत संदर्भ 50  
डा. मधु सन्धु : सुषम वेदी का उपन्यास 'इतर' 52  
अश्विनी पराशर : कामयाबी का रहस्य : 54  
मिस्टर टेन परसेन्ट

मैंने पढ़ा

कमलेश सचदेव : दलित साहित्य 1999 56

पत्रिकाएं

सुरेन्द्र तिवारी : साहित्य से जुड़ी कुछ पत्रिकाएं 58

व्यांग्य

चक्राचक्र : एक नए भगवान का जन्म 60

गतिविधियाँ

63



# हिन्दी बुक सेन्टर का अद्वितीय आयोजन

1997 की  
श्रेष्ठ हिन्दी कहानियाँ

संपादक - डॉ. महेन्द्र सिंह

1997 में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित

अमरकांत, अनिता एम. कुमार, आबिद सुरती, कुसुम अंसल, कृष्णा अग्निहोत्री, गुरुबचन सिंह, ज्ञान प्रकाश विवेक, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, धर्मेन्द्र गुप्त, प्रभा खेतान, मधुकर गंगाधर, माहेश्वर, मुद्राराक्षस, विजय, शशिप्रभा शास्त्री, स्नेह मोहनीश, सरोज वशिष्ठ, एस.आर. हरनोट, सुशील कुमार फुल्ल और सूरज पाल चौहान की

इस वर्ष में प्रकाशित श्रेष्ठ कहानियाँ

मूल्य - 175 रुपये

1993, 1994, 1995 तथा 1996 की श्रेष्ठ कहानियों के प्रकाशन के बाद

प्रकाशक

हिन्दी बुक सेन्टर

4/5 बी. आसफ अली रोड

नई दिल्ली-110002



# संचेतना

पूर्णांक 149, वर्ष 30, अंक 3

सितम्बर, 1999

संपादक

महोप सिंह

प्रबंध संपादक

जयदीप सिंह

संदीप सिंह

संयुक्त संपादक

कमलेश सचदेव

गुरचरण सिंह

कार्यालय सहयोगी

राजेश कुमार सिंह, मनजीत कौर, सुनील कुमार

कला

मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि

कीर्ति केसर (जालन्धर)

कमलेश बख्शी (मुंबई)

जसवीर चावला (इंदौर)

सुभाष रस्तोगी (चंडीगढ़)

गोविंद अक्षय (हैदराबाद)

मूल्य

एक प्रति : 15 रुपये

वार्षिक : 50 रुपये

आजीवन : 500 रुपये

सम्पर्क

एच - 108, शिवाजी पार्क (पंजाबी बाग)

नई दिल्ली - 110026

फोन - 5191287, 5932888

मुद्रक एवं प्रकाशक

संदीप सिंह

अमृत एंटरप्राइजेज़,

लारेंस रोड, दिल्ली-110035

फोन - 7180701, में मुद्रित तथा

एच - 108, शिवाजी पार्क,

नई दिल्ली - 110026 से प्रकाशित

## हिन्दी मानस और नारी लेखन

सुधा अरोड़ा, सुनीता जैन, मृदुला गर्ग, राजी सेठ, कमल कुमार,  
नीलम महाजन सिंह, चन्द्रकान्ता, जगन सिंह, शामा,  
क्षमा शर्मा, सुशीला टाकभौर, मधु सन्धु

8

### अमृतोत्सव

रामदरश मिश्र : मैं और मेरी रचना-यात्रा 22

प्रकाश मनु : एक चेहरा जो दिल्ली का नहीं,  
गांव का है! 27

रामदरश मिश्र : आठ कविताएं 33

चन्द्रकला त्रिपाठी : स्मृतियों में बसी हुई पड़ोस की खुशबू  
(रामदरश मिश्र के संस्मरण) 61

### लेख

डॉ. नरेन्द्रमोहन : कबीर : स्मृति, समय और साखी 35

### आकलन

डॉ गुरचरण सिंह : मुक्त प्रेम सम्बन्धों की कहानियां  
(जगदीश चतुर्वेदी की कहानियां) 39

### उपन्यास-अंश

सिम्ली हर्षिता : रात 45

### कहानी

सन्तोष गोयल : घर 50

### व्यंग्य

चक्राचक्र : आओ झूठ बोलें 57

### मैंने पढ़ा

कमलेश सचदेव : पारुल में एक समूचा संसार  
(मलिक राजकुमार का कविता संग्रह) 59

### पत्रिकाएं

मसिजीवी : दो भारी-भरकम विशेषांक  
(‘बहुवचन’ और ‘गगनांचल’) 60

### अपनी ओर से

प्रतिक्रियाएं 4

गतिविधियाँ 63



# हिन्दी बुक सेन्टर का अद्वितीय आयोजन

## 1997 की श्रेष्ठ हिन्दी कहानियाँ

संपादक : डॉ. मनीष सिंह

1997 में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित

अमरकांत, अनिता एम. कुमार, आबिद सुरती, कुसुम अंसल, कृष्णा अग्निहोत्री, गुरुबचन सिंह, ज्ञान प्रकाश विवेक, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, धर्मेन्द्र गुप्त, प्रभा खेतान, मधुकर गंगाधर, माहेश्वर, मुद्राराक्षस, विजय, शशिप्रभा शास्त्री, स्नेह मोहनीश, सरोज वशिष्ठ, एस.आर. हरनोट, सुशील कुमार फुल्ल और सूरज पाल चौहान की

इस वर्ष में प्रकाशित श्रेष्ठ कहानियाँ

मूल्य — 175 रुपये

1993, 1994, 1995 तथा 1996 की श्रेष्ठ कहानियों के प्रकाशन के बाद

प्रकाशक

हिन्दी बुक सेन्टर

4/5 बी. आसफ अली रोड

नई दिल्ली-110002



में चढ़ने वाली सवारियों को बड़े जोर-शोर से यह कह कर रोकता है कि डिब्बे में तिल भर जगह नहीं है, मत चढ़िए। हैरानी इस बात की होती है कि बाहर खड़ी लेखकों की सवारियां उस डिब्बे में चढ़ने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगाती देखी जाती हैं। केवल दूर-दराज के लेखक उस भीड़ में शामिल नहीं होते, या तो दूर होने की वजह से अथवा डिब्बे में बैठे माफिया के आतंक से डर कर।

रमणिका गुप्ता

नवलेखन प्रकाशन, मेन रोड,  
हजारीबाग-825301 (बिहार)

**पत्रिकाओं पर भी माफिया हावी है**

हमारा दर्द यह है कि लेखक ज्यादा महानगर के ही छपते हैं। पत्रिकाओं और अखबारों पर भी एक तरह से माफिया हावी है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का भी यही हाल है। उन सब को क्यों छोड़ दिया?

कीर्ति केसर

1086/ई गोविन्दगढ़, जालन्धर-144001  
**सच्चे साहित्यकारों को आगे आना चाहिए**

संचेतना का ताजा अंक देखा। आपने साहित्य में माफिया के खिलाफ जो मुहिम की शुरुआत की है, वह स्तुत्य है। ये कुछ लेखक न केवल साहित्य को बरबाद कर रहे हैं, वरन सच्चे साहित्यकारों को आगे भी नहीं आने दे रहे हैं। जिस स्तर पर ये सच्चे लेखकों-कवियों के रास्ते में रोड़े अटक रहे हैं, वह निंदनीय है। पुरस्कारों की राजनीति कर ये ऐसे-ऐसे लोगों को सम्मानित कर रहे हैं जो किसी भी कोने से साहित्यकार नहीं हैं और न इन्हें साहित्य की कोई समझ ही है। आपका यह प्रयास निश्चित रूप से सही साहित्यकार के

लिए आशा की एक ज्योति है। प्रलेखियों के खिलाफ एक संगठित आक्रमण साहित्यिक स्तर पर जरूरी है, वरना ये झूठे लेखक-कवि-आलोचक एक धुंध की तरह चारों ओर छा जाएंगे। इसके लिए आवश्यक है कि जो लोग चुप बैठे हैं, वे मुखर हों।

कैलाश चंद्र

वापा सागर रोड, रीवां, म.प्र.

-486001

**साहित्य में माफिया : सामयिक प्रश्न**

‘क्या साहित्य में माफिया सरगम है?’ प्रश्न सामयिक भी है और शाश्वत भी। इसका संक्षिप्त उत्तर हो सकता है, हां है। इसी के साथ एक और प्रश्न उभरता है—कब नहीं था, मध्यकाल में नहीं था? तुलसी द्वारा रामचरितमानस की रचना करने पर क्या कम हंगामा हुआ था? कबीर को क्या कम प्रताड़नाएं झेलनी पड़ीं? गालिब को आखिरकार क्यों कहना पड़ा—

न सताइश की तमन्ना, न सिले की परवा  
गर नहीं है मिरे अशआर में मानी न सही  
प्रेमचंद पर क्या कोई कम आरोप लगे? अब कहां तक गिनाऊं

सुनीता जैन को छोड़ कर सभी ने माफिया का रोना तो रोया है कुछ ने अपनी समझ से कारण भी बताए हैं। निदान लेकिन सुनीता जी ने ही सुझाए हैं, किन्तु उन्हें कार्यान्वित कैसे किया जाए? यह उतना आसान नहीं। हिन्दी अकादमी के सचिव होकर जब विजयमोहन सिंह आते हैं तो नामवर सिंह को शलाका सम्मान मिलता है और उसी पद पर रामशरण गौड़ आसीन होते हैं तो वही सम्मान नरेन्द्र कोहली को प्राप्त होता है। अब यह गणित सुस्पष्ट है। जैसा कि मृदुला गर्ग ने कहा है जैनेन्द्र जी का हवाला देते हुए कि यह पुरस्कार

सामाजिक है साहित्यिक नहीं, अन्यथा क्या कारण है कि ‘आवाग मसीहा’ पर साहित्य अकादमी का पुरस्कार न मिल कर ‘अर्द्धनारीश्वर’ पर मिलता है, ‘झुठा सच’ को न देकर ‘तेरी मेरी उसकी बात’ को दिया जाता है। बकौल प्रताप सहगल के नामवर सिंह-अशोक वाजपेयी को स्थापित हुए दिन ही कितने हुए हैं? मैं तो उन दिनों की बात कर रहा हूँ जो नेहरू युग था जिसे कई लोग प्रजातंत्र का स्वर्णकाल भी कहते हैं।

जो भी बातें कही गई हैं सभी शत-प्रतिशत सही-खरी हैं। पर हम व्यक्तियों को कोस रहे हैं, व्यवस्था को बदलने की बात नहीं करते। अरे भाई, चोर को क्यों मारते हो, चोर की मां को मारो न, जिसने चोर को जन्म दिया है। पर वहां पर हम कभी सांपनाथ को सत्तारूढ़ कर देते हैं कभी नागनाथ को। फर्क यही है जो विजय मोहन सिंह या रामशरण गौड़ में है। फिर ये धांधलियां न हों ऐसा कैसे सम्भव हो सकता है! एक को हम माफिया कहेंगे, दूसरे को नहीं, यह कहाँ का तर्क है?

पत्र-पत्रिकाओं में आप नहीं देख रहे—जो मंडी में बैठे हैं, दिल्ली कलकत्ता अथवा इलाहाबाद, बनारस में—अपनी फैक्टरी में उत्पादन के नाम पर बीस-बीस वर्षों से कुछ भी नहीं, फिर भी पल्लेदारी करके आप जमे हुए हैं और आप ही जमे हुए नहीं हैं बल्कि औरों को उखाड़ने के काम में भी आप महारत पाए हुए हैं। जीने के लिए आदमी के पास कोई न कोई मुगलतला तो होना चाहिए! सो भाई, मूल को बदलने की बात पिछले पचास वर्षों से इस देश में सोची हो नहीं गई। जिन्होंने सोची, उनकी अपनी सीमाएं और कमजोरियां हैं। नासिरा शर्मा ठीक ही तो कहती हैं—‘हमेशा इन्सान की कमजोरियां मौजूद थीं मगर आज की तरह इतने विगड़ल तरीके और दीदादिलेरी के साथ मौजूद नहीं थीं।’



बिल्कुल सही फरमाती हैं मोहतरिमा, आज करोड़ों का मोटाला कर कोई प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री बना रह सकता है और आंख दिखा कर कहता है, 'है हिम्मत तो हटाओ हमें।'

वहां लेखक ने अपना या अपनों की भला कर भी लिया तो हंगामा है क्यों बरपा? भाई मेरे, हम पहले अपनी और अपने लेखन की कमियों की ओर झांक लें। ऐसा तो नहीं कि कोई कमी न हो। फिर दूसरों पर पत्थर उछालें तो निशान चूकेगा क्यों भला! आज अगर मुझे या आपको या इस चर्चा में भाग लेने वाले किसी एक को बुलाकर नवाजा जाए तो सारी शिकायत दूर, सारा व्याकरण ठीक-ठाक, व्यवस्था-चुस्त-दुरुस्त चौकस-चौबंद। पर हां एक नाम है आज भी मेरे जहन में— डा. रामविलास शर्मा। और भी हो सकते हैं, धरती वीरवीहीन नहीं हुई अभी।

आपको याद होगा, स्वतंत्रता की रजत जयंती पर साहित्य अकादमी ने संकलन छापा था जिसके सम्पादक संयोग से डा. नामवर सिंह थे। इतना तीखा विरोध हुआ जो न केवल सुना गया अपितु दर्ज भी हुआ। आज अगर मैं चर्चा में भाग लेने वाले महामहिम लेखकों से अनुरोध करूं कि भाई जी, इस माफिया के विरोध में मंडी हाउस में धरना देते हैं, हस्ताक्षर अभियान चलाते हैं, समाचार पत्रों में बहस चलाते हैं, अपनी आवाज को वहां तक पहुंचाते हैं जहां इसे पहुंचना चाहिए, कितने लोग सहमत होंगे इस जनतांत्रिक तरीके को अपनाने के लिए?

केवल गोस्वामी

बे-363, सरिता विहार, नई दिल्ली-110044

**माफिया में कितना माफिया है**

संचेतना का सित-दिस. '98 अंक मिला। भीतरी पृष्ठों की महत्वपूर्ण सामग्री के अतिरिक्त जो सबसे सनसनीखेज मुद्दा उठाया

है साहित्य में माफिया का, एक सही कदम है। हालांकि माफिया प्रकरण कोई नया मुद्दा नहीं है। स्वयं मैं अपने संपादित संकलन 'धार पर हम' में यह मुद्दा उठा चुका हूँ लेकिन आपने जिस लामबंद तरीके से माफियाओं पर हमला किया है उसका प्रभाव पड़ना चाहिए। अर्थात् सरकार को संस्थानों की जांच के लिए कोई कार्रवाई करनी चाहिए। लेकिन इसका क्या इलाज है जब हर ईमानदार साहित्यकार वहां पहुंच कर माफिया बन जाता है जैसाकि अनेक वक्तव्यों से प्रतिध्वनित होता है।

इस सन्दर्भ में रमेश उपाध्याय की तरह केवल पाठकों से मिलने वाले प्रेम के बल पर चुप बैठे रहना भी ठीक नहीं है। ईमानदार आलोचक माफिया को समाप्त कर सकते हैं, उनका यह कहना समीचीन है। लेकिन कौन ईमानदार रह पाएगा, इसका भी निर्णय अपनी-अपनी छाती पर हाथ रख कर करना पड़ेगा।

कन्हैयालाल नंदन ने अनेक चश्मदीद दृश्यों को उद्घाटित करते हुए मुख्यधारा के माफियाओं से गीत को अलग करके उसके औदात्य की बात उठाई। जहां लोगों को अपनी-अपनी पड़ी है वहां एक कवि का गीत के प्रति हो रहे अन्याय की बात उठाना कवि की ईमानदारी है। सतर्क ऐसे भी रहना है कि कहीं माफिया के विरोध में अनर्थ न हो जाए, जैसे वीरेन्द्र कुमार वसु का यह कहना कि कवि-लेखक होने के साथ-साथ आलोचक-संपादक बनना भी माफिया के फैले जालों में ही आवृत है। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी कवि या लेखक को आलोचक-संपादक होने का अधिकार नहीं है तब फिर क्या ये लोग साहित्य के बाहर से आयातित किए जाएंगे? तब तो हद हो गई। इस प्रकार की बातें दिमागी खुराफात के अलावा कुछ नहीं है।

रूपसिंह चंदेल ने 'उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान की गतिविधियां सदैव विवादित रही' कहकर टाल दिया। उन्हें उन माफियाओं के नाम भी उल्लिखित करने चाहिए थे जो

मोटी-मोटी रकमें डकार रहे हैं। कमल कुमार ने माफिया और साहित्य के संबंधों से उभरे अनेक कारणों को स्पष्ट करते हुए अन्ततः साहित्य के मूल्यांकन को गम्भीरता प्रदान करने की चर्चा की है। माफिया में कितना माफिया है और मूल्यांकन में कितना थोथापन, इस नीर-क्षीर के लिए कितने लोग शपथ लेते हैं, यह देखना होगा। बहरहाल, इस ज्वलंत मुद्दे को प्रकाशित करके साहित्यकारों को जो सोते से जगाया है, उसके लिए मेरी बधाई।

वीरेन्द्र आस्तिक

एल-60, गंगा विहार, जयपुर-208010

## सत्ता केन्द्र तोड़िए

'क्या साहित्य में भी माफिया सरगम है? विषय पर संचेतना ने अपने पिछले दो अंकों में जो चर्चा चलाई उससे साहित्यिक क्षेत्रों में काफी हलचल मचाई है। यह भी बहुत उत्साहवर्धक तथ्य है कि इस सम्बन्ध में बहुत से सजग साहित्यकर्मियों ने अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं और खुल कर अपनी बात कही है।

आपने अपने संपादकीय में ठीक ही लिखा है कि गुट जब गिरोह बन जाते हैं तो माफिया प्रवृत्ति का जन्म होता है। अपने देश में यह प्रवृत्ति पेशेवर माफिया गिरोहों से लेकर राजनीति और अब साहित्य में फैल गई है। प्रश्न यह है कि इन गिरोहों से छुटकारा कैसे मिले? साहित्य से जुड़ी सभी गतिविधियों का संचालन करने वाले लोग पहले उन पदों पर कब्जा करते हैं जो सत्ता और अधिकार के पद होते हैं। इस स्थिति में ये लोग नये लेखकों को उपकृत करने का जाल रचकर उन्हें अपना पिछलगुवा बना लेते हैं और इस प्रकार पहले गुट फिर गिरोह बन जाते हैं।

जिस प्रकार लोकतंत्र में सत्ता के विकेन्द्रीकरण की बात होती है उसी तरह से इस क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण की अत्यन्त आवश्यकता है। सत्ता केन्द्र तोड़िए, इससे माफिया गिरोह भी टूटने लगेंगे।

श्रीनाथ यादव  
सांत बंगला, मुंबई



# संस्कृतिकर्मियों की विश्वसनीयता

संवेतना के पिछले दो अंकों में यह प्रश्न चर्चा का विषय रहा कि क्या साहित्य में भी माफिया सरगम है? साहित्यिक क्षेत्रों में यह प्रश्न लोगों को इतना उद्वेलित करेगा, ऐसा हमने नहीं सोचा था। अपनी टिप्पणियों और पत्रों के माध्यम से जितनी बड़ी संख्या में लेखकों और प्रबुद्ध पाठकों ने अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं और अपनी जागरूकता तथा अपना सरोकार व्यक्त किया, उसने इस बात के प्रति हम सभी को आश्चर्य किया कि यदि साहित्य से (अथवा सम्पूर्ण समाज से) जुड़े किसी प्रश्न को पूरी संजीदगी से सामने लाया जाए तो लोग अपना गहरा सरोकार अवश्य व्यक्त करते हैं और उसके साथ अपनी सक्रिय भागीदारी भी जोड़ते हैं।

साहित्य से जुड़े माफियाई रंग-ढंग के प्रति व्यापक रोष विशेष रूप से पुरस्कारों को लेकर है। आम लेखक समझता है कि पुरस्कारों में बहुत धांधली होती है और सारा तंत्र लेन-देन पर टिका हुआ है। सभी चाहते हैं कि पुरस्कारों की प्रक्रिया को अधिक पारदर्शी बनाया जाए और उनकी विश्वसनीयता को शंकाओं के घेर से बाहर निकाला जाए। पिछले दिनों दिल्ली की प्रतिष्ठित साहित्य संगोष्ठी संवाद में इस विषय पर जागरूक रचनाकारों ने खुलकर चर्चा की थी। संगोष्ठी की संयोजिका सुश्री सुनीता जैन ने अपने प्रपत्र में अनेक महत्वपूर्ण मुद्दे उठाए थे और इस सम्बन्ध में ठोस सुझाव भी दिए थे।

गतांक में हमने सूचित किया था कि आगामी अंक में हमारी चर्चा इस मुद्दे पर केन्द्रित रहेगी कि पुरस्कारों को अधिक पारदर्शी कैसे बनाया जाए। इस सम्बन्ध में हमारी ओर से जागरूक साहित्यिकर्मियों के साथ ही केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा गठित अकादमियों तथा बड़े-बड़े पुरस्कार देने वाली निजी संस्थाओं के सचिवों/निदेशकों को भी पत्र लिखे गए थे।

हमारे पत्र के उत्तर में बहुत से लेखकों ने हमें अपने विचार लिख भेजे। साहित्य अकादमी सहित पांच अर्द्धसरकारी संस्थाओं ने अपनी पुरस्कार चयन प्रक्रिया से हमें अवगत कराया। गैर सरकारी निजी घरानों द्वारा जो पुरस्कार दिए जाते हैं, उनमें के.के. विडला फाउंडेशन (सरस्वती और व्यास सम्मान) के निदेशक श्री विशान टंडन ने बहुत पंच लेकर अपनी प्रक्रिया से हमें परिचित कराया। भारतीय ज्ञानपीठ, मोदी कला भारती, भारतीय भाषा परिषद (कलकत्ता) आदि कुछ संस्थानों की ओर से हमें कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ।

हमारे देश में इस समय सबसे बड़ा संकट विश्वसनीयता का है। जीवन के हर क्षेत्र से इस मूल्य का बड़ी तेजी से क्षरण हो रहा है। राजनीति में किसी राजनता का कहां हुई बात पर किसी का विश्वास

नहीं होता। धर्मक्षेत्र में साधुओं, संतों, आचार्यों, भगवानों की सारी आदर्शभरी बातें विश्वसनीय नहीं लगती। अपने उत्पादन के लिए अनेक कसमें खाने वाले व्यापारी की बात पर हमें विश्वास नहीं होता। पुलिस अधिकारियों द्वारा हत्याओं और अपराधों के प्रति किए गए प्रयत्न और दिए गए आश्वासन हमें झुठे लगते हैं। यहां तक कि सुबह दूध देने वाले भैया की किसी बात पर हमें भरोसा नहीं होता।

किन्तु साहित्य और साहित्यकारों की विश्वसनीयता पर प्रश्न-चिह्न लग जाए, इससे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति और नहीं है। इस क्षेत्र में साहित्य के आलोचक की स्थिति सर्वाधिक अविश्वसनीय बन गई है। पाठक को उसकी हर बात झूठी, बनावटी, छल-फरेब और तिकड़म से भरी हुई लगती है। इसी तिकड़मबाज आलोचक ने पुरस्कारों की विश्वसनीयता को अत्यन्त संदेहात्मक बना दिया है।

मूल्य-क्षरण की इस चिंताजनक वेला में बात कहीं से तो शुरू करनी होगी। जन-मानस में अभी भी लेखक, कलाकार, अध्यापक राजनीति और व्यापार में लगे व्यक्तियों से अधिक विश्वसनीय छवि रखता है। यदि यह छवि भी खंडित हो गई तो विश्वास करने योग्य हमारे पास कुछ भी नहीं बचेगा।

इस दृष्टि से संस्कृतिकर्मियों के लिए खतरा बाहर से नहीं है। उन्हीं के अंदर जो साहित्येतर गिरोह तंत्र उभर आया है, वही दीमक की तरह उन्हें चाटता दिखाई देता है।

हमारा चिंताभरा सरोकार यही है कि किस तरह संस्कृतिकर्मियों की विश्वसनीयता को बचाया जाए। संवेतना के इस प्रयास का उद्देश्य इस सरोकार को व्यक्त करना ही है।

इस उभरे हुए प्रश्न को हम यही नहीं छोड़ना चाहते हैं। कुछ बुराइयां कोढ़ की तरह होती हैं जो निरन्तर रिसती रहती हैं। जीवन के सभी क्षेत्रों में जहां माफियागोरी पनपती है, कुछ ही समय में कोढ़ बन जाती है। किन्तु कोढ़ भी अब लाइलाज नहीं रह गया है। आवश्यकता बीमारी के प्रति हमारी सतत जागरूकता की है। हम भी इस साहित्यिक कोढ़ के प्रति उभरे चेतन्य-नाद को बनाए रखना चाहते हैं। इस संदर्भ में हमें जो भी प्रतिक्रियाएं मिलेंगी, हम आगामी अंकों में उन्हें सहर्ष प्रकाशित करेंगे।

किन्तु और भी अनेक मुद्दे कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। आगामी अंक में हम 'हिन्दी' मानस और दलित लेखन विषय पर व्यापक चर्चा करेंगे।

*22/4/22*



## कमलेश सचदेव

## पुरस्कारों की चयन-प्रक्रिया : नियम और व्यवहार का अंतराल

साहित्यिक पुरस्कारों की चयन-प्रक्रिया सामान्य व्यक्ति के लिए तो रहस्यमय है ही, साहित्यकार भी आम तौर पर उसके विषय में अधिक जानकारी नहीं रखते। सामान्यतः साहित्यकार पुरस्कारों की घोषणा के बाद अनुभव करते हैं कि सब कुछ ठीकठाक नहीं है। लेकिन सही जगह पर उंगली रख पाना तब तक संभव नहीं है जब तक आप पुरस्कारों की चयन-प्रक्रिया से परिचित न हों। इसी उद्देश्य से हमने पुरस्कार देने वाली संस्थाओं से उनकी चयन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में जानकारी के लिए सम्पर्क किया था। कुछ संस्थाओं ने हमें अपनी नियमावतियां भेजीं। उनके आधार पर हमने यह आलेख तैयार किया है ताकि पुरस्कारों पर से रहस्य का कुछ कुहासा छंट सके।

संकेतना के पिछले दो अंकों में वरिष्ठ हिन्दी साहित्यकार विजयदान देथा के कथन को आधार बनाकर जो चर्चा आयोजित की गई थी, उसमें साहित्य जगत की अन्य खामियों के अतिरिक्त साहित्यकारों को दिए जाने वाले पुरस्कारों में धांधली का मुद्दा प्रमुख रूप से उभरकर आया था। पुरस्कार प्राप्त न कर पाने वाले साहित्यकार जब इस तरह की बात कहते हैं तो कुछ लोग उसमें उनकी कुंठा को ढूंढने लगते हैं लेकिन विभिन्न पुरस्कार प्राप्त कर चुके लेखक भी जब स्वयं को मिले पुरस्कारों के पीछे की कहानी बयान करते हैं (देखें इसी अंक में प्रकाशित द्रोणवीर कोहली और विष्णु खरे के लेख) तो स्पष्ट अनुभव होता है कि कहीं कुछ गड़बड़ तो है। इस गड़बड़ की तह तक जाने के प्रयास में हमने पुरस्कार देने वाली संस्थाओं से उनकी चयन-प्रक्रिया सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने के लिए पत्र-व्यवहार भी किया और व्यक्तिगत रूप से भेंट भी की। देश की पांच प्रमुख अर्द्ध सरकारी संस्थाओं और एक निजी संस्था ने हमें अपने नियमों और प्रक्रियाओं से अवगत कराया। ये अर्द्धसरकारी संस्थाएं हैं—साहित्य अकादमी, राजस्थान साहित्य अकादमी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी और महाराष्ट्र राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी। संस्थाओं में के.के. बिड़ला फाउंडेशन ने हमें अपनी पुरस्कार-प्रक्रिया के विषय में जानकारी उपलब्ध करवाई। इनमें साहित्य अकादमी केन्द्र सरकार और अन्य अकादमियां राज्य सरकारों द्वारा नियोजित हैं। सरकार का सीधा दखल केवल बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् में ही दिखाई देता है जिसके सचिव श्री रामधारी सिंह दिवाकर ने पुरस्कार के लिए चयन-प्रक्रिया की जानकारी देते हुए लिखा है, “हम प्रति पुरस्कार के लिए प्रस्ताव-पत्रक भेजते हैं। अनुशंसाएं मंगाने हैं। हमारी उपसमिति है, वह पुस्तकों पर विचार करती है। फिर उच्च स्तरीय समिति है और अंत में बिहार सरकार है—यानी निदेशक उच्च शिक्षा, शिक्षा सचिव और शिक्षा मंत्री। कोई आवश्यक नहीं कि प्रस्ताव-पत्रक ही पुरस्कार के लिए निर्णायक हों। समिति-उपसमिति

व्यापक रूप से विचार करती है। समिति में राष्ट्रीय स्तर के ख्यातनाम साहित्यकार होते हैं।”

पुरस्कार के लिए पुस्तकें चुनने के इन संस्थाओं के अपने-अपने ढंग हैं। साहित्य अकादमी पुरस्कार-वर्ष के तत्काल पूर्ववर्ती वर्ष के पहले पांच वर्षों में साहित्य अकादमी द्वारा मान्यता प्राप्त किसी भी भाषा में भारतीय लेखक की प्रकाशित सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक कृति पर प्रति वर्ष एक पुरस्कार देती है। भाषा-मण्डल के प्रत्येक सदस्य द्वारा सुझाए गए अधिक से अधिक पांच नामों के आधार पर अकादमी का अध्यक्ष जो पैनल तैयार करता है, उसमें से किसी एक या दो विशेषज्ञों को संबंधित अवधि में प्रकाशित पुरस्कार-योग्य पुस्तकों की सूची तैयार करने का काम सौंपा जाता है। इस विशेषज्ञ द्वारा सुझाई गई पुस्तकों की सूची भाषा परामर्श मण्डल को दे दी जाती है और उसके प्रत्येक सदस्य से दो पुस्तकों को अनुमोदित करने के लिए कहा जाता है। दोनों पुस्तकें उक्त सूची में से हो सकती हैं, एक पुस्तक सूची में से और दूसरी सदस्य की अपनी पसन्द की भी हो सकती है या फिर दोनों पुस्तकें सदस्य की अपनी पसंद की हो सकती हैं। भाषा परामर्श मण्डल द्वारा तैयार इस सूची को दस निर्णायकों के प्रारंभिक पैनल के पास भेजा जाता है। भाषा परामर्श मण्डल के सदस्यों के सुझावों पर विचार करने के पश्चात् साहित्य अकादमी का अध्यक्ष इस पैनल को तैयार करता है। प्रत्येक निर्णायक दो पुस्तकों को अनुशंसित कर सकता है। ये दोनों पुस्तकें प्रस्तुत सूची में से हो सकती हैं, एक बाहर से और एक सूची में से हो सकती हैं या फिर दोनों बाहर से हो सकती हैं। अकादमी इस पैनल द्वारा अनुशंसित पुस्तकें खरीदकर एक त्रिसदस्यीय जूरी के सदस्यों और संयोजक को भेजती है। संयोजक जूरी और अकादमी के बीच सम्पर्क-सूत्र का काम करता है। जूरी के सदस्यों का चयन सम्बद्ध परामर्श मण्डल की संस्तुतियों पर विचार करने के बाद किया जाता है। यह त्रिसदस्यीय जूरी सर्वसम्मति अथवा बहुमत से पुरस्कार के लिए एक पुस्तक की अनुशंसा करती है। पुरस्कार की



घोषणा के साथ ही जूरी के सदस्यों के नाम भी घोषित कर दिए जाते हैं।

राजस्थान साहित्य अकादमी और हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी समाचार पत्रों में विज्ञापन देकर पुरस्कारों के लिए प्रविष्टियां मंगाती हैं। राजस्थान साहित्य अकादमी राजस्थान-निवासी लेखकों के लिए मोरंग पुरस्कार (21 हजार रुपए); कविता, नाटक, कथा, निबन्ध/आलोचना, विविध कृतियां और अनुवाद पर छह पुरस्कार (11-11 हजार रुपए) और प्रथम प्रकाशित कृति, बाल साहित्य तथा साहित्यिक पत्रकारिता पर 5-5 हजार रुपए के तीन पुरस्कार देती है। हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी हिन्दी, पहाड़ी, उर्दू, संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषाओं में हिमाचल प्रदेश के लेखकों को उत्कृष्ट लेखन के लिए प्रति वर्ष पुरस्कार देती है। राजस्थान साहित्य अकादमी

विज्ञापन के जवाब में आई प्रविष्टियों को प्रारंभिक जांच समिति के समक्ष रखती है जहां नियमानुसार न पाई जाने वाली प्रविष्टियों को सकारण अलग कर दिया जाता है। नियमानुसार पाई जाने वाली सभी प्रतियोगी पुस्तकों को अकादमी के अध्यक्ष गोपनीय पैनल में से तीन निर्णायकों के ग्रुप भेजते हैं। ये निर्णायक राजस्थान के और देश के

तीन लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान होते हैं। इन तीनों को पुस्तक की एक-एक प्रति, निर्णय-पत्र और मूल्यांकन-पत्र भेजा जाता है। अंकों के आधार पर पुरस्कार का निर्णय होता है। तीनों निर्णायकों द्वारा दिए गए अंकों को मिलाकर जिस पुस्तक को सर्वाधिक अंक प्राप्त हों, वही पुरस्कार के लिए चुनी जाती है। कम से कम 60 प्रतिशत अंक मिलना जरूरी है। यदि किसी भी पुस्तक को 60 प्रतिशत अंक न प्राप्त हों तो उस वर्ष पुरस्कार नहीं दिया जाता। अध्यक्ष द्वारा कार्यकारिणी की बैठक में पुरस्कारों की घोषणा के साथ ही निर्णायकों के नाम भी घोषित कर दिए जाते हैं। हिमाचल भाषा संस्कृति कला अकादमी भी इसी प्रकार विज्ञापन के जवाब में आई प्रविष्टियों का देश के तीन प्रतिष्ठित विद्वानों से मूल्यांकन करवाती है और अंकों के आधार पर पुरस्कार का निर्णय लेती है। यहां भी पुरस्कार के लिए 60 प्रतिशत न्यूनतम अंकों की शर्त है। विचार के लिए प्रस्तुत कृतियों के अतिरिक्त अन्य कृतियों को भी योग्य पाए जाने पर उन पर विचार किया जा सकता है। हिमाचल भाषा संस्कृति कला अकादमी समीक्षकों के नाम गुप्त रखती है।

महाराष्ट्र राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी तीन स्तरीय पुरस्कार देती है। पहले स्तर पर अखिल भारतीय सम्मान पुरस्कार है जिनके

पात्र महाराष्ट्र भारती अखिल भारतीय हिन्दी सेवा पुरस्कार (एक लाख रुपए) और डा. धर्मवीर भारती महाराष्ट्र सारस्वत पुरस्कार (51 हजार रुपए) हैं। दूसरे स्तर पर राज्य स्तरीय सम्मान पुरस्कार है जिनके अंतर्गत 50-50 हजार रुपए के तीन पुरस्कार दिए जाते हैं। ये हैं—छत्रपति शिवाजी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार, पदमश्री अनंत गोपाल शंभड़े हिन्दी सेवा पुरस्कार तथा गजानन माधव मुक्तिबोध मराठीभाषी हिन्दी लेखक पुरस्कार। तीसरे स्तर पर राज्य स्तरीय विधा पुरस्कार है जिनके अंतर्गत महाराष्ट्र निवासी हिन्दी लेखकों को विभिन्न विधाओं में उत्कृष्ट लेखन के लिए 15-15 हजार रुपए के तेरह पुरस्कार दिए जाते हैं। राज्य स्तरीय विधा पुरस्कारों के लिए चयन की विधि राजस्थान और हिमाचल की अकादमियों जैसी ही है लेकिन यहां विज्ञापन के उतर में स्वयं लेखक की ओर से प्रविष्टि भेजना अनिवार्य

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष धांधलियों पर नजर रखना, उनको रेखांकित करना और उनके खिलाफ आवाज उठाना लेखकों का अधिकार भी है और एक नागरिक के नाते कर्तव्य भी। लेखन में जिस व्यवस्था की खामियों पर आप लगातार प्रहार करते हैं, व्यवहार में आप उसी के लटके अपना कर या तो उसे और मजबूत करते हैं या फिर खामोश रहकर उसकी मदद करते हैं।

है जबकि अन्य अकादमियों में कोई भी किसी भी पुस्तक के लिए प्रविष्टि भेज सकता है। यहां भी तीन विशेषज्ञों द्वारा दिए गए अंकों के आधार पर पुरस्कार का निर्णय किया जाता है और 60 प्रतिशत न्यूनतम अंकों की शर्त है। इनका एक विशेषज्ञ बम्बई से, दूसरा बम्बई से बाहर महाराष्ट्र में और तीसरा महाराष्ट्र से बाहर

देश से होता है।

डा. धर्मवीर भारती सारस्वत पुरस्कारों के लिए विज्ञापन के अतिरिक्त देश के जाने-माने हिन्दी विद्वानों, पत्रकारों और प्रकाशकों से संस्तुतियां आमंत्रित की जाती हैं। फिर उनको शार्ट लिस्ट करके प्रथम पांच को बम्बई, महाराष्ट्र और भारत के तीन परीक्षकों के पास भेजकर अंकों के आधार पर मूल्यांकन करवाया जाता है। उन्हीं अंकों के आधार पर पुरस्कार का निर्णय लिया जाता है।

महाराष्ट्र भारती अखिल भारतीय हिन्दी सेवा पुरस्कार और तीन राज्य स्तरीय सम्मान पुरस्कारों का निर्णय पहले पुरस्कार नियामिका (नौ सदस्यीय समिति) और बाद में कर्णधार परिषद (29 सदस्यीय मुख्य कार्यकारिणी सभा) में विचार-विमर्श के पश्चात् होता है। इनमें भाषा, साहित्य, पत्रकारिता, प्रचार-प्रसार के माध्यम से आजोवन हिन्दी की सेवा करने वाले व्यक्तियों को पुरस्कार से सम्मानित किया जाता है।

सभी संस्थाओं ने पुरस्कार-योग्य रचनाओं के लिए अपनी तरफ से कालावधि निर्धारित कर रखी है। उनकी नियमावलियों में इस अवधि का स्पष्ट उल्लेख भी किया गया है। उदाहरण के लिए हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी विज्ञापन-वर्ष सहित गत तीन



वर्षों की अवधि में प्रकाशित पुस्तकों के लिए प्रविष्टियाँ आमंत्रित करती है और पुरस्कार विज्ञापन-वर्ष से अगले वर्ष के नाम पर दिया जाता है तो साहित्य अकादमी पुरस्कार-वर्ष के तत्काल पूर्ववर्ती वर्ष के पहले पांच वर्षों में प्रकाशित पुस्तकों पर पुरस्कार के लिए विचार करती है।

पुरस्कार की पात्रता के लिए भी सभी संस्थाओं ने स्पष्ट मानक तय किए हैं। साहित्य अकादमी सर्जनात्मक एवं आलोचनात्मक पुस्तक को पुरस्कार देती है लेकिन वह अनूदित, संचयित, संकलन या टीका, पूर्वप्रकाशित रचनाओं का संशोधित संस्करण, अपूर्ण कृति, शोधकार्य, पूर्व पुरस्कृत लेखक की कृति अथवा अकादमी के कार्यकारी मण्डल के सदस्य की रचना नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी शोध ग्रन्थों और पाठ्य पुस्तकों पर विचार नहीं करती।

जहां दो कृतियाँ समान रूप से उत्कृष्ट पाई जाती हैं, वहां लगभग सभी अकादमियाँ लेखकों की समग्र साहित्यिक उपलब्धियों को दृष्टिगत रखकर निर्णय लेती हैं। हिमाचल भाषा संस्कृति कला अकादमी दो पुस्तकों पर समान निर्णय की स्थिति में पुरस्कार राशि को समान रूप से वितरित कर देती है।

एक ही लेखक को बार-बार पुरस्कृत किए जाने की स्थिति को बचाने के लिए इन संस्थाओं ने अलग-अलग बाध्यताएँ निर्धारित की हैं। साहित्य अकादमी किसी भी लेखक को दोबारा पुरस्कृत नहीं करती तो राजस्थान साहित्य अकादमी के नियमों के अनुसार किसी लेखक की कृति यदि किसी स्तर पर पुरस्कार प्राप्त कर चुकी है तो उसकी कृति पर उससे कम राशि के पुरस्कार के लिए विचार नहीं किया जाता। सर्वोच्च मीरों पुरस्कार प्राप्त करने वाले लेखक को फिर किसी भी कृति के लिए कोई पुरस्कार नहीं दिया जाता।

चयन-प्रक्रिया को निष्पक्ष रखने के लिए गोपनीयता, व्यापक रूप से विचार संभव बनाने के लिए देश भर से विशेषज्ञों का चयन, प्रविष्टियों के सम्बन्ध में किसी प्रकार के सम्पर्क-साधन को अयोग्यता मानना, कार्यकारी समिति के सदस्यों को पुरस्कार-पात्रता से बाहर रखना आदि जैसे बचाव सभी अकादमियों की नियमावलियों में मौजूद हैं। अधिकांश अकादमियाँ चयन-प्रक्रिया को तो गोपनीय रखती हैं लेकिन पुरस्कारों की घोषणा के साथ ही निर्णायकों के नाम भी घोषित कर देती हैं ताकि पारदर्शिता बनी रह सके। कुल मिलाकर अकादमियों की पुरस्कार के लिए चयन-प्रक्रिया में ऐसा कोई दोष नहीं दिखाई देता जिससे उन पर पक्षपात या भेदभाव का आरोप लगाया जा सके।

समस्या नियमों के होने की नहीं, उनका पालन होने की है। हर अकादमी की अपनी समय-सीमा है जिसके तहत आने वाली कृति पर वह विचार करती है लेकिन जहां प्रकाशन-वर्ष में गड़बड़ करके

पुरस्कार ले-दे लिया जाए, वहां कागज पर छपे नियम तो आवाज़ नहीं उठाएंगे (विष्णु खरे का लेख)। सिफारिश को हर अकादमी ने अयोग्यता का दर्जा दिया है लेकिन अगर कोई निर्णायक रचना पढ़ते समय लेखक को पहचान कर उससे मित्रता निभाने के लिए उसके पक्ष में निर्णय दे दे तो सारे नियम धरे के धरे रह जाते हैं (संदर्भ: द्रोणवीर कोहली का लेख)। हर राज्य की अकादमी को नियमतः अपने क्षेत्र के लेखक को ही पुरस्कार देना होता है लेकिन अगर क्षेत्र की परिभाषा को अकादमी के सदस्यों के चहेतों की सुविधा के मुताबिक फैलाया/सिकोड़ा जाता रहे (संदर्भ: चन्द्रकान्ता का लेख) तो नियमावली शब्दों के जाल के सिवाय और क्या रह जाती है। अकादमी के अध्यक्ष की जाति से पुरस्कृत लेखकों की जाति का पता चलने लगे तो निष्पक्षता की बातों का कुछ भी अर्थ नहीं रहता।

समस्या के समाधान के लिए दो स्तरों पर प्रयास की आवश्यकता प्रतीत होती है। एक तो लेखक स्वयं सतर्क हों। वे सरकारी/अर्द्धसरकारी संस्थाओं के पुरस्कार संबंधी नियमों की जानकारी रखें और जहां कहीं उनका उत्तम होता दिखाई दे, वहीं आवाज़ उठाएं। लेकिन सामान्यतः लेखक इस विषय में न तो जानकारी रखते हैं और न ही जानकारी प्राप्त करने की जहमत उठाना चाहते हैं। हां, अधिकांश लेखकों में पुरस्कार से प्राप्त यश, सम्मान और अर्थलाभ की आकांक्षा खुले या दबे रूप में जरूर मौजूद रहती है। कुछ लेखक वक्त के चालू लटके अपनाकर इस आकांक्षा की पूर्ति करने में सफल हो जाते हैं तो अधिकांश या तो घुटते रहते हैं या फिर इधर-उधर कुछ फजियाँ कसकर मन की भड़ास निकाल लेते हैं। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष धांधलियों पर नजर रखना, उनको रेखांकित करना और उनके खिलाफ आवाज़ उठाना लेखकों का अधिकार भी है और एक नागरिक के नाते कर्तव्य भी। लेखन में जिस व्यवस्था की खामियों पर आप लगातार प्रहार करते हैं, व्यवहार में आप उसी के लटके अपना कर या तो उसे और मजबूत करते हैं या फिर खामोश रहकर उसकी मदद करते हैं।

दूसरे स्तर पर अकादमियों में बैठे नियमों का पालन करने/कराने के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि उनकी निष्पक्षता पर संदेह की गुंजाइश न रहे। वहां न सिर्फ नियमों का शाब्दिक पालन हो बल्कि उनके भीतर निहित भावना को भी व्यवहार में उतारने का प्रयास किया जाए। इस समय लगभग सभी अकादमियाँ चयन-प्रक्रिया की पारदर्शिता के लिए महज़ इतना करती हैं कि पुरस्कारों की घोषणा के साथ ही निर्णायकों के नाम भी घोषित कर दिए जाते हैं जबकि हर स्तर पर पारदर्शिता रहना जरूरी है। पुरस्कारों की घोषणा के साथ ही यदि प्राप्त प्रविष्टियों और उनमें से शार्ट लिस्ट की गई कृतियों तथा शार्ट लिस्ट करने वाले विशेषज्ञों के नामों की सूची भी घोषित और प्रकाशित कर दी जाए तो अविश्वास और संदेह का वातावरण बदलने लगेगा।



## सरस्वती एवं व्यास पुरस्कार : चयन-प्रक्रिया

के.के. विड़ला फाउंडेशन यों तो कई साहित्यिक पुरस्कार देता है लेकिन उसके द्वारा दिए जाने वाले सरस्वती एवं व्यास सम्मान को साहित्य जगत में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। इन दोनों पुरस्कारों के अंतर्गत पुरस्कृत कृतियों पर क्रमशः पांच लाख और ढाई लाख रुपए की राशि प्रदान की जाती है।

सरस्वती सम्मान किसी भी भारतीय नागरिक की एक ऐसी उत्कृष्ट कृति को दिया जाता है जो भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित किसी भी भाषा में सम्मान-वर्ष से ठीक पहले दस वर्ष की अवधि में प्रकाशित हुई हो। कृति का चयन करते समय लेखक के साहित्य में योगदान और समकालीन लेखन पर उसके प्रभाव को भी ध्यान में रखा जाता है। कृति साहित्य की किसी भी विधा में हो सकती है।

सम्मान के लिए विचारार्थ पुस्तकों में ऐसे किसी संकलन या संग्रह पर भी विचार किया जा सकता है जिसमें 50 प्रतिशत से अधिक ऐसा लेखन सम्मिलित हो जो सम्मान-वर्ष से ठीक पहले के दस वर्षों में पहली बार प्रकाशित हुआ हो। यदि किसी लेखक की कोई कृति एक से अधिक भागों या ग्रंथों में है और इसका अंतिम भाग या ग्रंथ रूप सम्मान-वर्ष से ठीक पहले के दस वर्षों में प्रकाशित हुआ हो तो उस पर सम्मान के लिए विचार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में उस सम्पूर्ण कृति पर ही विचार किया जाता है।

यह सम्मान मरणोपरान्त नहीं दिया जाता लेकिन यदि किसी लेखक की कृति पर विचार-विमर्श प्रारंभ हो जाने के बाद उसकी अचानक मृत्यु हो जाती है तो उस पर विचार जारी रहता है।

किसी लेखक को यदि एक बार यह पुरस्कार मिल चुका है तो दूसरी बार उसकी किसी भी कृति पर विचार नहीं किया जाता।

सम्मान-राशि फाउंडेशन द्वारा समय-समय पर निर्धारित की जाती है। फाउंडेशन द्वारा गठित चयन-परिषद् इस सम्मान के लिए कृति का चयन करती है। परिषद् साहित्यिक संस्थानों, विश्वविद्यालयों, साहित्यकारों, पत्र-पत्रिकाओं, समीक्षकों एवं अन्य विद्वानों से विचारार्थ प्रस्ताव प्राप्त करने के लिए समुचित प्रबंध करती है। इस चयन-परिषद् में एक अध्यक्ष व अधिक से अधिक सात और कम से कम पांच विशिष्ट विद्वान, साहित्यकार या लेखक होते हैं जो अपनी न्यायसंगति, निष्पक्षता और वस्तुपरकता के लिए प्रख्यात हों। चयन-परिषद् में परिषद् के अध्यक्ष द्वारा मनोनीत दो भाषा-समितियों के संयोजक, फाउंडेशन के प्रधान द्वारा मनोनीत फाउंडेशन का एक प्रतिनिधि तथा फाउंडेशन के निदेशक (पटेल सदस्य-सचिव) भी सम्मिलित हैं।

चयन परिषद् भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में दी गई सभी भाषाओं के लिए एक-एक भाषा-समिति का गठन करती है जिसके सदस्य तीन प्रख्यात विद्वान लेखक या समालोचक होते हैं। भाषा समिति के सदस्य हर वर्ष बदले जाते हैं।

चयन-परिषद् को प्राप्त प्रस्ताव पहले संबंधित भाषा-समितियों को सौंपे जाते हैं। प्रत्येक समिति नियमावली में दी गई प्रक्रिया और परिषद् द्वारा दी गई गाइडलाइन्स (यदि कोई हों तो) के आधार पर उनका मूल्यांकन करके एक या अधिक से अधिक दो पुस्तकों की संस्तुति करती है। समिति प्राप्त प्रस्तावों के अतिरिक्त बाहर छूट गई किसी योग्य कृति पर भी विचार कर

सकती है।

प्रत्येक भाषा-समिति विचार की गई सारी सामग्री का वर्णन करते हुए अपनी संस्तुति के कारण सहित एक रिपोर्ट तैयार करती है जिसमें सम्बद्ध अवधि के लेखन का सामान्य विवेचन, लेखक और उसके लेखन की साहित्यिक रूपरेखा का विस्तृत विवरण तथा सम्मान के लिए संस्तुति की गई कृति का विस्तार से मूल्यांकन होता है।

सभी भाषा-समितियों से प्राप्त संस्तुतियों को संबंधित क्षेत्र-समितियों को सौंपा जाता है। परिषद् चार क्षेत्र-समितियां नियुक्त करती है—पूर्वी (असमिया, बंगाली, मणिपुरी और उड़िया), उत्तरी (हिन्दी, कश्मीरी, नेपाली, पंजाबी और उर्दू), पश्चिमी (कोंकणी, गुजराती, मराठी और सिन्धी) तथा दक्षिणी (कन्नड़, मलयालम, तमिल और तेलुगु)। संस्कृत हर वर्ष बारी-बारी से भिन्न-भिन्न क्षेत्र-समितियों में रखी जाती है। संबंधित भाषा-समितियों के संयोजक (जो भाषा समिति के तीन सदस्यों में से एक होता है) क्षेत्र-समिति के सदस्य होते हैं और उसकी अध्यक्षता परिषद् के अध्यक्ष द्वारा मनोनीत परिषद् का एक सदस्य करता है। क्षेत्र-समिति भाषा-समितियों द्वारा प्राप्त संस्तुतियों पर विचार करती है। वह किसी अन्य कृति को इस योग्य समझने पर उस पर भी विचार कर सकती है। क्षेत्र-समिति एक, या असामान्य स्थिति में, दो पुस्तकों की संस्तुति करती है।

इसके पश्चात् चयन-परिषद् क्षेत्र-समितियों से प्राप्त संस्तुतियों पर विचार करती है। यदि उसकी राय में कोई अन्य कृति भी विचार-योग्य हो तो वह उस पर भी विचार कर सकती है। सर्वसम्मति न होने पर बहुमत के आधार पर निर्णय किया जाता है। यदि मत बराबर विभाजित हों तो अध्यक्ष को एक अतिरिक्त मत देने का अधिकार है। परिषद् का निर्णय हर प्रकार से अंतिम और बाध्यकारी माना जाता है।

व्यास सम्मान के लिए कृति की पात्रता की शर्तें सरस्वती सम्मान जैसी ही हैं लेकिन जहां सरस्वती सम्मान के लिए संविधान की आठवीं सूची में उल्लिखित सभी भाषाओं में लिखित उत्कृष्ट कृतियों पर विचार किया जाता है वहीं व्यास सम्मान केवल हिन्दी में लिखी गई कृतियों के लिए दिया जाता है। इसके लिए भी एक चयन-समिति होती है जिसकी रूपरेखा सरस्वती सम्मान के लिए गठित चयन-परिषद् जैसी ही होती है। चयन-समिति भाषा-समिति की संस्तुतियों पर विचार करती है। भाषा-समिति प्राप्त प्रस्तावों में से तीन कृतियों की संस्तुति चयन-समिति के समक्ष करती है। चयन-समिति किसी अन्य कृति को योग्य समझने पर उस पर भी विचार कर सकती है। यहां भी सर्वसम्मति न होने पर बहुमत से निर्णय किया जाता है। मत बराबर विभाजित होने पर अध्यक्ष को एक अतिरिक्त मत देने का अधिकार होता है।

इसके अतिरिक्त के.के. विड़ला फाउंडेशन प्रतिवर्ष वाचस्पति पुरस्कार संस्कृत की उत्कृष्ट कृति पर, शंकर पुरस्कार (हिन्दी में लिखी गई भारतीय दर्शन, अध्यात्म, संस्कृति व कला की उत्कृष्ट कृति पर) तथा विहारी पुरस्कार (राजस्थान के हिन्दी लेखकों की उत्कृष्ट कृति पर) भी देता है।

क.स.



## पुरस्कारों को अधिक पारदर्शी कैसे बनाया जा सकता है?

अंक 145-46 में आपने 'क्या साहित्य में भी माफिया सरगम है' पर सर्वश्री रामदरश मिश्र, सुनीता जैन, हिमांशु जोशी, मृदुला गर्ग, कुसुम अंसल, नासिरा शर्मा, हरदयाल, नरेन्द्र कोहली, चित्रा मुद्गल, प्रताप सहगल, कन्हैयालाल नंदन, जगदीश चतुर्वेदी, रमेश उपाध्याय, प्रकाश मनु, कमल कुमार, नर्मदा प्रसाद त्रिपाठी, रूपसिंह चंदेल, गुरुबचन सिंह और वीरेन्द्र कुमार वसु के अभिमत पढ़े। इस चर्चा में जो बात सर्वाधिक रेखांकित हुई है वह है पुरस्कारों का चयन। आम शिकायत यह है कि अधिसंख्य पुरस्कारों का निर्णय पूर्व-नियोजित और जोड़-तोड़ का ही प्रतिफल होता है, इनमें पारदर्शिता का सर्वथा अभाव है। क्या स्थिति सचमुच ऐसी है? इन पुरस्कारों को अधिक विश्वसनीय और पारदर्शी किस प्रकार बनाया जा सकता है? इस महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर पुरस्कारों की निर्णय-प्रक्रिया से प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े या प्रभावित व्यक्तियों के विचार और सकारात्मक सुझाव यहां प्रस्तुत हैं।

### हिन्दी लेखक किसी का आत्मीय नहीं है

रमेशचन्द्र शाह

"फेम इज दि लास्ट इन्फर्मिटी ऑव नोबुल माइण्ड्स" (उदात्त मनीषाएं जो कई भारी मानवीय लालसाओं से उबरने में सक्षम होती हैं—ऐसी अनासक्त और निःस्पृह आत्माएं भी—यशोलिप्सा का अतिक्रमण नहीं कर पाती...) —एक महाकवि का यह कथन है जिसे स्वयं अपने जीवनकाल में घोर कुत्सा और अवमानना का शिकार होना पड़ा था। इसी तरह हमारे भवभूति को किस परिस्थिति की प्रताड़ना से प्रेरित होकर अपने समकालीनों को ललकारने-फटकारने की जरूरत पड़ी होगी, वह भी सोचने की बात है। "जो भी लोग आज मेरी अवज्ञा-अवहेलना कर रहे हैं खुलेआम, वे सब यह अच्छी तरह जान लें कि मेरी कृतियां उनके लिए नहीं हैं, उन्हें सम्बोधित भी नहीं हैं। मुझे पक्का भरोसा है, कभी न कभी, कहीं न कहीं मुझे समझ सकने वाला, मेरे योगदान की मूल्यवत्ता को यथावत् परख सकने वाला मेरा कोई समानधर्मा अवश्य ही उत्पन्न होगा। यह निरवधि काल मेरा साक्षी है: यह विपुला पृथ्वी मेरी साक्षी है। वही मेरे प्रति न्याय करेगा।"

इससे प्रकट होता है कि लेखक के प्रति न्याय किसी भी देश या किसी भी काल में सहज लभ्य नहीं रहा है। युं भी लेखक का धर्म न्याय करना है, न्याय पाना नहीं। यों तो अन्याय की संभावना से किसी भी कार्यक्षेत्र का कोई भी मनुष्य अछूता नहीं रह सकता—यदि मनुष्य मनुष्य के प्रति पूरा न्याय कर सकता होता तो देवताओं की या ईश्वर की भी कल्पना क्यों होती? सामाजिक न्याय का भी जहां तक मवाल

है, मनुष्य के इतिहास में आज से ज्यादा मानवीय और न्यायकारी समय कभी रहा होगा, मुझे लगता नहीं। चेतना की, संवेदना की ऐसी व्यापकता पहले कभी नहीं थी। अब यह दूसरी बात है कि पृथ्वी की विपुलता और काल की निरवधिता में उस तरह का विश्वास अब किसी को नहीं है। अनेक जन्मों की श्रृंखला में विश्वास करने वाले लोग जिस तरह जीवन को, कामना को (या निष्क्रियता को सिद्धि को), यश को, अर्थ को और स्वयं मनुष्य और उसकी कृति को देखते हैं, उस तरह एक ही जीवन, एक ही चोले को जीवन का आदि-अंत मानने वाले लोग नहीं देख सकते। मगर सन् 1999 के भारत में हम साहित्यजीवी-बुद्धिजीवी लोग भी व्यवहारतः एक ही जीवन और एक ही चोले के भीतर ही न्याय और सत्य की एकमात्र संभावना देखने को अभिशप्त हैं। और यही कालगति है। इसमें हमारा उस तरह कोई दोष नहीं। शिखर पर एक तो वैसे ही खड़े होने के लिए बहुत कम जगह होती है, तिस पर वहां पहुंचने के लिए पठार का धीरज अपनाने की सलाह इस त्वरित गति के युग में कौन किसे देगा?

एक विडम्बना और दीखती है। कैसी भी मानवीय व्यवस्था में, कैसे भी मनुष्य को यह संतोष कदापि नहीं मिल सकता कि उसे समझ गया है, उसके प्रति न्याय हुआ है। साथ ही, स्वयं अपने बारे में भी—क्या हूँ? क्या हो सकता हूँ? मेरे जीवन का अर्थ-निरर्थ, विडम्बना-महिमा—यह सब जिसे 'आत्म-ज्ञान' कहा जाता रहा है—यह भी मुझे कौन देगा? क्या मैं सिर्फ अपने बूते अपने को जान सकता हूँ? शायद नहीं। और प्रकृति के सारे रहस्यों के सारे परदे उठ जाने के बाद भी इस आत्म-ज्ञान की, इस न्याय की प्यास-तलब ज्यों की त्यों बनी रहती है। इसकी पूर्ति का कौन सा उपाय है मनुष्य के इतिहास में?



धर्म? अध्यात्म? साहित्य? धर्म-अध्यात्म का युग यह नहीं है। जब था तब भी साहित्य की महिमा थी। और अब तो वही भर बचा रह गया है।

अब देखिए—यह कोई आदर्श की बात नहीं, निर दो-दूक यथार्थ की, हकीकत की बात है—ईश्वर के बाद (यदि ईश्वर हो भी कहीं, तो) एक साहित्यकार के सिवा कौन है जो मनुष्य को उसकी तमाम नीचताओं-शुद्रताओं के साथ यथावत् स्वीकार कर सकता है, अपना सकता है? साहित्य के सिवा और कौन-सी जगह है जहां मनुष्य का सच शरण पा सकता है? साहित्यकार से सचमुच ही आदमी ईश्वर से कम उम्मीद नहीं लगाता। अपने खुद के अनुभव के आधार पर, स्थूलतम स्तर पर भी इस बात की सचाई आप देख सकते हैं। साधारण या असाधारण हर आदमी की लालसा होती है अपनी जीवन-कथा किसी ऐसे को सुनाने की, जो उसे एक सर्वज्ञ, सर्वान्वामी कथा में ढाल दे, खपा दे। जिससे वह प्रामाणिक हो जाए, नश्वरता के दाग से, नासमझी के नरक से उबर जाए—उसकी अंतरात्मा के अंधे कुएं में उतरकर यह उपन्यासकार या कथाकार उसके 'रहस्य' की थाह पा जाए—उसके साथ वटित को किसी टिकाऊ अर्थ तक उठा ले जाए—कुछ कर दे, बना दे उसके जीवन का। सचमुच उसे यकीन है, यह लेखक ही मेरे साथ न्याय करेगा। ऐसा न्याय जो खुद जीवन ने उसके साथ नहीं किया—वह न्याय यह कथाकार कर डालेगा। और नहीं तो, कम से कम अपने दुर्भाग्य और बदहाली और अधुरूपन की वेदना का यथावत् आँके जाना भर उसे हजारों की सहानुभूति का पात्र बना देगा। यही क्या कम है? सही हो सकना किसी अपने जैसे आदमी के भीतर। लेखक से, आप आदमी जिसे आप कहा करते हैं या कहने लगे हैं, उसका रिश्ता दरअसल यही है।

तो साहित्यकार समाज का एक ऐसा सदस्य है जिससे ईश्वरीय न्याय की और ईश्वरीय प्रेम और करुणा और संवेदना की अपेक्षा की जाती है। इससे कम कुछ नहीं। अब ऐसे साहित्यकार के ऐसे धर्म-कर्म का समुचित मूल्यांकन बताइए कौन करेगा? कैसे करेगा? एक सचय संवेदनशील समाज में साहित्यकार का यश क्या वैसे ही फैलना चाहिए या फैल सकता है जैसे कि एक आदर्श अध्यापक का या संगीतकार का या डाक्टर का? साहित्यकार की वह 'लास्ट इन्फर्मिटी' क्या ऐसे यश की, ऐसे नाम की चाहना है? या कुछ और किस्म की?

पर, आपने बात इस तरह के यश की नहीं, पुरस्कारों की उठाई है जो समाज की प्रतिष्ठादानी मशीनरी से जुड़ी है। यह मेरे एक साहित्यिक गुरु का मुहावरा है जो पुरस्कार तो दूर, लिखे को छपने देने तक के प्रति लापरवाही की हद तक उदासीन थे।

कौन आँकेगा साहित्यिक के अवदान को या समाज के लिए

उसके महत्त्व को? जाहिर है, साहित्य-रचना से स्वयं जुड़ा हुआ, साहित्यिक कर्म का इनमाइडर ही या उससे थोड़ी ही दूर पर अवस्थित आदर्श पाठक या सहृदय सामाजिक या रसिक हो। पुराने जमाने से माना जाता रहा है कि साहित्य का असर बहुत धीरे-धीरे हालांकि दूर तक—टिकाऊ होता है; और तत्काल तो बहुत थोड़े से सुदीक्षित लोग ही रचना को समझ-परख सकते हैं। यह बात आज भी एकदम झुटी नहीं पड़ी होगी हालांकि प्रजातांत्रिक युग में साहित्य को उपजाने वालों तथा साहित्य का मरम पा सकने वाले लोगों की संख्या में निरन्तर अभिवृद्धि होगी—यह लाजिमी है।

यों आलोचक नामधारी जीव के अलावा भी कई पाठक हो सकते हैं जो रचना का मूल्य आँक सकें। पर ऐसे पाठक—निस्संग पाठक व्यवहारतः किसी निर्णायक मंडल के सदस्य नहीं हो सकते।

हिन्दी साहित्य के आरंभ काल में पत्रकारों और अध्यापकों की सबसे सक्रिय भूमिका रही। पर आज के परिदृश्य में दोनों ही स्वधर्म-न्युत और अधःपतित हो गए प्रतीत होते हैं।

फिलहाल, सबसे बड़ा धुन जो हिन्दी साहित्य के मौजूदा परिदृश्य को लग गया है, वह है गुटवाजी का धुन। इसे यथार्थतः समझने की जरूरत है। साहित्यिक गुट सदा सभी जगहों में, सभी कालों में रहे हैं। किंतु वे साहित्यिक आन्दोलन से जुड़े होते हैं। किसी नई प्रवृत्ति को पनपाने तथा उससाव-बढ़ावा देने के लिए ऐसे मंडल सक्रिय होते हैं। ये रचनात्मक-आलोचनात्मक स्वीकृति की खुराक मांगते हैं। पुरस्कारों-सम्मानों की नहीं।

मगर साठोत्तरी युग में एक विचित्र प्रपंच हमारे यहां उभरा—युवा कविता इत्यादि का। यह साहित्यिक आन्दोलन नहीं था। कुछ और था जिसने युवा तत्त्व को साहित्यिक गुणवत्ता या कि नएपन या प्रयोगशीलता के केन्द्र और कारण के रूप में प्रतिष्ठित किया। यह एक बहुत खतरनाक और बुनियादी तौर पर अनर्गल काम था। अनेक कालों में अनेक जगह युवा और अत्यायु कवियों-कथाकारों ने जबरदस्त सृजन किया है पर उनकी प्रतिष्ठा उनके युवा या अत्यायु होने से नहीं उपजी या उपजाई गई। हिन्दी में उपजाई गई इस अमर बेल का प्रताप देखो—बाईस बरस में जो युवा कवि था, वह पचास बरस का होकर भी युवा ही है। और विडम्बना देखिए—वह बाहरी पहचान में जो भी हो गया हो—मन से, बुद्धि से भी वह अभी युवा ही है। वह कभी वयस्क नहीं होगा—न वयस्क बुद्धिमत्ता या प्रौढ़ जीवनानुभूति की मांग उसमें की जाएगी—यह मानो इस आन्दोलन की जड़ या पूर्व-प्रतिज्ञा थी जो खूब फली-फूली।

तिस पर कोढ़ में खाज की तरह इस युवा तत्त्व को एक ही विचारधारा के खूँटे से बांधने की स्वार्थ में दूरदर्शी, किन्तु परिणाम में भयानक अदूरदर्शी पहल भी उसी के साथ ही की गई। नतीजा हमारी



आंखों के सामने है। जिस तरह की भूल—कॉमन सेंस के साथ जिस तरह की ज्यादाती, उदाहरण के लिए, विचार-कविता के विचार ने की—उससे कई गुना अधिक दुष्परिणामकारी और अनर्थकारी असर विचारधारा के खूंटों से साहित्य को बांधने का हुआ। कविता सिर्फ विचार से नहीं निकलती—कविता में विचार अपने ढंग से कविता के सर्वांगीण, बहुस्रोतीय तर्क से आता है—यह तो समझ में आ सकता है। वैसे आन्दोलन की जड़ में निहित भूल या भ्रम का तो इलाज है किन्तु विचारधाराई हठधर्मिता और अहंकार तथा विमूढ़ात्मापन का कोई इलाज संभव नहीं हो सकता। वह अवध्य है; स्वयं अपनी अन्तरात्मा के प्रति अवध्य।

प्रतिष्ठादानी मशीनरी पर इस संप्रदाय की अन्तर्राष्ट्रीय सांप्रदायिकता का हावी हो जाना अवश्यभावी था। इसलिए, कि मार्क्सवादी थ्योरी और प्रैक्टिस में साहित्य बड़ा उपयोगी साधन ही हो सकता है, हथियार ही हो सकता है और मार्क्सवाद के लिए साधन की पवित्रता कतई कोई मायने नहीं रखती। जैसे भी हो, सत्ता के स्रोतों पर—जहां भी शक्ति केन्द्र हों—चाहे अखबार, दूरदर्शन, रेडियो, विश्वविद्यालयीन विभाग, चाहे कमेटीयों, लायब्रेरी चयन समिति...अतः अकादमियों या प्रतिष्ठानों की सम्मान-पुरस्कार समितियों पर भी कब्जा करने की उनकी रणनीति एकदम साफ़ बेलाग और अपराध-भावना को असंभव बना देने वाले पुण्यात्मा उत्साह से प्रेरित होती है। उन्हें कोई नहीं समझा सकता कि वे गलत कर रहे हैं या कि वे अन्याय कर रहे हैं या कि साहित्य के वायुमंडल को प्रदूषित कर रहे हैं। जितना प्रदूषण पुण्यात्मा अहंकार से उपजता है, उतना सच्चे पापियों के कर्मों से नहीं। ये विचारधारा से प्रतिबद्ध लोग कोई अकालपक्व निर्णय नहीं ले सकते। वे किसी 'क्यू' को नहीं तोड़ते, किसी वरिष्ठ या अपने प्रत्यक्ष और सुदीर्घ सृजन-कर्म से प्रमाणित प्रतिभा को लांघकर 'अपने आदमी' के पक्ष में निर्णय को पूर्वनियत और प्रायोजित और बलात्कृत नहीं कर रहे होते। वे तो केवल सर्वहारा, शोषित-उत्पीड़ित जनता की पक्षधरता का पुण्य ही हासिल कर रहे होते हैं, वे तो केवल अन्याय के विरुद्ध जनता की आवाज बुलंद करने वालों को ही जनता के गले के हार की तरह पहचनवा रहे होते हैं। उनसे इस तरह के कामन सेंस या न्यायबुद्धि की उम्मीद करना या ऐसी बात उठाना कि "भाई, साहित्य तो स्वभाव से ही मनुष्य के साथ, मनुष्य के पक्ष में होता है, बताइए ऐसा कौन-सा साहित्य है जो मानव-विरोधी होते हुए साहित्य भी होता है?" इस तरह की बात उनके सामने उठाना ही व्यर्थ होगा। क्योंकि वे वर्ग-विद्वेष और वर्ग-विभाजन के बिना जी नहीं सकते। मनुष्य को, मानवता को, मानव-सत्य को दो शत्रु-शिविरों में बांटे बिना वे कुछ सोच ही नहीं सकते, कर ही नहीं सकते मानवता के लिए।

अब अगर यह विचारधारा मार्क्सवाद की न होकर फर्ज कीजिए आर.एस.एस. की हो, क्या होगा? जो होगा, वह मार्क्सवादी पक्षधरता

से उपजने वाली धांधली या अन्याय से भी कई गुना असंगत, अनर्गल, अविवेकपूर्ण और अनर्थकारी—हास्यास्पद होगा। कम्युनिस्ट चाहें साहित्य को साधन-हथियार ही मानते हों, चाहे जितने रिएक्शनिस्ट हों वे, लेकिन इसी कारण वे साहित्य की शक्ति को, साहित्यकार की शक्ति को भी सही पहचानते हैं, उससे—और सर्जकों से भी—सचमुच का डर और सचमुच की घृणा का अनुभव भी कर सकते हैं। मगर आर.एस.एस. वालों को तो क्या साहित्य है और क्या नहीं है, क्या उच्च कोटि की सृजनात्मकता है और क्या निम्न कोटि की—इसी का बुनियादी विवेक नहीं होता। बल्कि उस 'कांडर बेस्ट' बढ़ावे में, नियुक्तियों में कम्युनिस्टों की तुलना में कहीं ज्यादा, बहुत ज्यादा अपात्रों की प्रतिष्ठा का खतरा बढ़मूल है, इसके प्रमाण खोजने के लिए तनिक भी मेहनत करने की जरूरत नहीं। और यह तब, जबकि आर.एस.एस. ने कम्युनिस्टों की तरह, जनवादी लेखक संघ की तरह जिले-जिले, कस्बे-कस्बे में अपनी शाखाएं नहीं खोल रखी हैं।

एक तीसरे किस्म की संस्था या आग्रह भी हो सकता है—विचारधाराई विडम्बनाओं से मुक्त। पर उसमें भी न्याय हो न हो, प्रतिभा की पूर्वाग्रह-मुक्त पहचान होगी ही, इसका कोई भरोसा नहीं। वहां पहले उपेक्षितों को निपटा लेने का, या किसी खास शहर या साहित्य-केन्द्र के लोगों को सेंटर में ले आने का विचार कार्यरत दीखेगा। 'फूलप्रूफ' होने का दावा उनका भी नहीं।

फिर न्याय कहाँ है? क्या कोई ऐसी चयन प्रक्रिया हो सकती है जो अन्याय की, अनुचित पक्षपात की सारी आशंकाओं की झाड़-फूंक कर दे सके? मैं नहीं जानता। सुधार की गुंजाइश हर तंत्र में रहती ही है—प्रतिष्ठादानी मशीनरियों में भी रहती होगी। वह कैसे हो, किस तरह हो, मुझे इसका कोई इत्म नहीं। हिन्दुस्तानी दिल-दिमाग के बारे में कहा जाता है कि वह जब तक अकेला व्यक्ति है तभी तक कुशल है। अनेक व्यक्तियों का समूह होते ही वह गड़बड़ करने लगता है। यानी कि हम लोग सामूहिक तौर पर सबल नहीं हैं। यानी कि संगठन के रूप में, टीम के रूप में, समिति के रूप में, समुदाय के रूप में उस स्तर का कौशल और न्याय और सत्यनिष्ठा कभी प्रदर्शित नहीं कर पाते जिस स्तर का कौशल और न्याय या सत्यनिष्ठा आदि हम एक व्यक्ति के रूप में सिद्ध करते रहते हैं।

इन पंक्तियों का लेखक ऐसे अनेक गुणी, प्रतिभाशाली और अच्छे लोगों को जानता है जो व्यक्ति के रूप में निहायत सदाशयता, समझदारी, विवेक और सत्यनिष्ठा का परिचय देते रहते हैं किन्तु जहां उन्हें किसी समिति के रूप में काम करना पड़ा या एक समुदाय में, शिविर में काम करना पड़ा कि वे अपनी ही संभावनाओं से काफी नीचे खिसक आते हैं। कुछ तो इसमें यह हकीकत भी काम करती ही होगी कि सचमुच उपजाऊ और सचमुच सृजनशील आदमी ऐसे अवान्तर सफ़लीमेंट्री सामाजिक दायित्वों के प्रति सजग नहीं होते। अपने समकालीनों



का समय अब आ गया है। धांधली या माफियावृत्ति तो आज बहुत हद तक पारदर्शी है, पारदर्शी धांधली मचानेवालों को करना होगा। माध्यमों की चल रही मनमानी को जवाबदेही में बदलना होगा। कुछ ठोस कदम उठाने होंगे। मसलन किसी भी अकादमी को लें। एक सूची बनाई जाए कि योग्य होते हुए भी कितने साहित्यकार आज तक उनके साहित्यिक कार्यक्रमों में भागीदार साहित्यकारों (यानी मात्र श्रोता नहीं) के रूप में नहीं बुलाए गए हैं और कितने बार-बार बुलाए गए हैं। इसी एक सूची से 'पोल' खुल जाएगी। यही सूची दूरदर्शन आदि दूसरे सार्वजनिक संस्थानों के सम्बन्धित विभागों से बनाने को कहा जाए। एक व्यक्ति की पसन्द-नापसन्द पर जहाँ पूरा संस्थान चलता हो, उसके बारे में क्या कहा जाए। पर सवाल यह भी है कि बिल्ली के गले में घण्टी कौन बांधे? खैर।

निष्कर्ष रूप में मैं यही कहूँगा कि एक तो पुरस्कारों के क्षेत्र की धांधली समेत हमें साहित्य के परिवेश से जुड़े आलोचना, सम्पादन आदि की धांधलियों और मनमानियों को भी साथ-साथ लेकर चलना होगा, दूसरे धांधली को रोकने या माफिया वृत्ति को खत्म करने के लिए, कुछ त्याग-भावना को अपनाते हुए, धांधली और माफिया वृत्ति के पोषकों को जवाबदेही के कटघरे में लाना होगा। स्वायत्तता के नाम पर मनमानेपन को चलने से रोकना होगा। और इसके लिए सतत विद्रोह करना होगा। हमें अपनी ही महत्वाकांक्षाओं से निकलकर, दूसरे रचनाकार के साथ हो रहे किसी प्रकार के अत्याय को बार-बार आम पाठकों के सामने लाना होगा। पूछना होगा, फलां-फलां रचनाकार को वह स्थान क्यों नहीं दिया जा रहा जिसके वह योग्य है। निरपेक्ष बैठे रहने से या 'मैं ही क्यों दुरा बूँ' की वृत्ति से तो काम चलेगा नहीं।

## लेखकों का निगम हो

### हेतु भारद्वाज

हाल ही में वरिष्ठ कथाकार गिरिराज किशोर ने कहा कि पुरस्कारों का कोई तर्क नहीं होता। यह बात उन्होंने उस प्रश्न के उत्तर में कही जो उनके पुरस्कृत उपन्यास 'ढाई घर' के बाबत किया गया था। इस साल साहित्य अकादमी का पुरस्कार अरुण कमल को मिला तो अशोक वाजपेयी ने यह सवाल उठा दिया कि अरुण कमल से कई वरिष्ठ कवि हैं जिन्हें अरुण कमल से पहले पुरस्कार मिलना चाहिए था। पर यह बात अशोक वाजपेयी के ध्यान में तब नहीं आई जब उन्हें यह पुरस्कार मिला था और वे स्वयं भारत सरकार में एक ऊंचे पद पर विराजमान थे। गो इस बार एक बात यह भी उछली है कि इस वर्ष के निर्णायक मण्डल के सभी सदस्य एक ही विचारधारा से सम्बद्ध थे इसलिए अरुण कमल को पुरस्कार मिला। हर साल यही होता है। जिस

रचनाकार को पुरस्कार मिल जाता है उसे ही शंका की नजरों से देखा जाने लगता है। वैसे अब पुरस्कारों की विश्वसनीयता इतनी घट गई है कि पुरस्कृत रचनाकार और उसकी पुरस्कृत कृति की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता। यह अधिकतर उन पुरस्कारों के साथ है जिनकी राशियां काफी बड़ी-बड़ी हैं तथा जिनकी प्रचार-मूल्यवत्ता अधिक है। यदि सारस्वत मूल्यों की रक्षा की दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञानपीठ पुरस्कार के अलावा कोई भी बड़ा पुरस्कार ऐसा नहीं है जिसे अखिल भारतीय स्तर पर कोई हैसियत प्राप्त हो। हिन्दी की स्थिति और भी दुरिद है—यदि 'पहल पुरस्कार' को छोड़ दिया जाए तो शायद और कोई पुरस्कार ऐसा नहीं है जिसे पाने वाला रचनाकार गर्व की अनुभूति कर सके। इसका एकमात्र कारण यही हो सकता है कि ज्ञानरंजन ने कम राशि के इस पुरस्कार को बराबर रचनात्मक और रचना के अभिन्नदंन के योग्य बनाने का प्रयास किया है।

जाहिर है, जिस रचनाकार को पुरस्कार मिलता है वह खुश होता है। पर खुश होने का मुख्य कारण वह धनराशि होती है जो उसे मिलती है वरना उसके रचनाकर्म पर तो पुरस्कार मिलते ही शंकाएं आरम्भ हो जाती हैं। पुरस्कार का महत्व तभी तक है जब तक वह रचनाकार के सर्जक व्यक्तित्व को बड़ा बनाने में सहायक होता है। और शायद एक भी पुरस्कार ऐसा नहीं है जो किसी रचनाकार के व्यक्तित्व को ऊंचा बना सके। पूरे हिन्दी जगत में अकेले डॉ. रामविलास शर्मा अपवाद हैं जिन्हें करीब-करीब सभी पुरस्कार मिल चुके हैं किन्तु उन्होंने विनम्रतापूर्वक हर बड़े पुरस्कार की राशि को लेने से इंकार कर दिया है। इस प्रकार डॉ. शर्मा ने पुरस्कार न लेकर पुरस्कार का ही गौरव बढ़ा दिया है। पर देखना यह भी चाहिए कि जिस भावना से वे पुरस्कार राशि लौटाते हैं, क्या उनकी भावनाओं का सम्मान किया जाता है। डॉ. शर्मा कहते हैं कि देश में निरक्षरों की संख्या बहुत अधिक है इसलिए पुरस्कार की यह राशि निरक्षरों की सेवा में व्यय कर दी जाए। क्या ऐसा हुआ? यदि हा तो बहुत अच्छा। पर यदि नहीं हुआ तो पुरस्कार के साथ यह एक अपराध है।

पुरस्कारों को पारदर्शी बनाने के लिए बहुत जरूरी है कि कुछ दिनों के लिए सारे पुरस्कार बंद कर दिए जाएं। कम से कम धनकुंवरे द्वारा बांटे जाने वाले पुरस्कारों पर तो रोक लग ही जानी चाहिए। ऐसा कोई निगम बनना चाहिए जो देश भर के पुरस्कारों का समन्वय करे तथा इस निगम का, जिसका गठन देश के लेखकों द्वारा होना चाहिए, ही पूरा नियंत्रण पुरस्कारों पर होना चाहिए। किस कृति या रचनाकार को पुरस्कार मिले उसका निर्णय एक बड़े लेखक समूह द्वारा किया जाना चाहिए। कई स्तरों पर पुरस्कार पाने वाली कृतियों की जांच-परख हो तथा उसके निर्णय में अधिकाधिक रचनाकारों की भागीदारी होना जरूरी है। आजकल तो कौन सा पुरस्कार किसे दिया जाना है यह लगभग पहले से ही तय है।



मैं राजस्थान का उदाहरण देना चाहूंगा—यहां सबसे बड़ा पुरस्कार के. के. बिड़ला फाउंडेशन द्वारा दिया जाता है पर अभी तक इस पुरस्कार की कोई गरिमा ही नहीं बन पाई है क्योंकि इसका निर्णय जिस प्रकार किया जाता है वह विधि ही बहुत दोषपूर्ण है। कहने को वे लोग प्रदेश के लेखकों से प्रविष्टियां मंगते हैं पर उनका क्या करते हैं कोई नहीं जानता क्योंकि अब तक हुए निर्णय काफी विवादास्पद रहे हैं। इसीलिए इस पुरस्कार की घोषणा प्रदेश में कोई खबर ही नहीं बन पाती। इसका कारण यह है कि इसके निर्णय में राजस्थान के लोगों की भागीदारी कम से कम है। नतीजा यह है कि वर्ष के आरम्भ में ही पता चल जाता है कि यह पुरस्कार किसे मिलने वाला है। इससे अधिक पारदर्शिता कहां मिलेगी? पर यह बेमतलब है। ऐसा लगता है कि सेठों को कुछ पैसा इस खाते में देना है। बस।

सरकारी स्तर पर भी ये पुरस्कार एक औपचारिकता भर रह गए हैं। अतः अकादमी का पुरस्कार किसे मिला इसमें किसी लेखक की कोई रुचि नहीं है। हिन्दी में तो फिर भी किसी महत्वपूर्ण कृति को यह गौरव कभी-कभी मिल जाता है पर राजस्थानी जैसी भाषा में मिलने वाला पुरस्कार तो जैसे दिया जाता है क्योंकि उसे दिया जाना है। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि लेखक उसी रचना को हिन्दी में लिखता है और उसे ही राजस्थानी में उल्था कर देता है। वहां तो हर लेखक को पुरस्कार मिलेगा ही। असल दिक्कत पुरस्कार प्राप्त करने के बाद आरम्भ होती है। मैं जानता हूँ कि राजस्थानी में कई ऐसे लोगों को पुरस्कार मिल चुका है जिनक पास रचने के लिए बहुत कम है। एक कवि तो पुरस्कार पाने के बाद अपने आपको रवीन्द्रनाथ टैगोर की श्रेणी में रखकर देखने लगे हैं। ऐसी स्थिति में इन अकादमी पुरस्कारों की कोई सारस्वत गुणवत्ता हो सकती है, मुझे नहीं लगता। पर हर लेखक बेचैन है उसे पाने के लिए।

जब तक पुरस्कारों का नियमन लेखकों के एक बड़े निगम द्वारा नहीं होगा तब तक किसी प्रकार की पारदर्शिता की आशा करना बेमानी है।

## निष्पक्ष छवि वाले विद्वानों को जोड़ा जाए

### सूर्यबाला

आप द्वारा उठाए मुद्दे पर आने से पहले, दो दशक पूर्व का अपना एक अनुभव सुनाती हूँ।

जुम्मा-जुम्मा पांच-छः वर्ष हुए थे मुझे लिखते हुए। पहला ही उपन्यास 'मेरे संधिपत्र' धर्मयुग में धारावाहिक प्रकाशित हो जाने से पर्याप्त प्रचार पा गया था। अतः एक प्रतिष्ठित प्रकाशक ने कुछ ही महीनों के अंदर यह उपन्यास और एक कहानी-संग्रह पुस्तकाकार

प्रकाशित कर दिया था।

तब तक मुझे किसी भी पुरस्कार या संस्थान की जरा भी जानकारी नहीं थी किंतु मध्यप्रदेश के मेरे एक हितैषी मित्र ने बड़े आत्मीय आग्रह और अनुरोध के साथ मुझसे दोनों पुस्तकों की चार-चार प्रतियां स्वयं अपनी तरफ से किसी प्रतिष्ठित पुरस्कार के निमित्त भेजने के लिए मंगवाई। मैं प्रतियां उन मित्र के पास भेज कर पूरी तरह भूल भी गई थी। ...किन्तु कई महीनों बाद अचानक किसी पत्रिका में उक्त संस्थान द्वारा पुरस्कृत पुस्तक का नाम देखा तो सब कुछ याद हो आया। संयोग से वह पुरस्कृत पुस्तक मैंने भी पढ़ी थी और मेरी दृष्टि में वह अत्यंत सामान्य थी।

किसी से कुछ भी न कह कर उसी दिन उसी क्षण मैंने एक आत्महंता निर्णय ले डाला। एक ज़िद, एक हठ ही कि आज से अपनी कोई रचना, कोई पुस्तक, किसी प्रतियोगिता अथवा पुरस्कार के लिए नहीं भेजूंगी। पहले संकोच और अज्ञान आड़े आता था, अब स्वाभिमान।

मेरे इस वक्तव्य में गर्व या अहंकार लेशमात्र भी नहीं है क्योंकि अब तक मैं यह अच्छी तरह समझ चुकी हूँ कि यह एक मूर्खतापूर्ण निर्णय था और इस वजह से मुझे काफी नुकसान और खामियाजा भुगतना पड़ा है। पुरस्कार मिले न मिले, पुस्तक कइयों की नज़रों से गुज़रती तो है, पूर्ण तरह गुम तो नहीं हो जाती लेकिन यह भी सच है कि इस बचकाने हठ की ही वजह से, समय-समय पर पुरस्कारों को लेकर मचती रस्साकशी वाली हास्यास्पद स्थितियों, विवादों के बीच कोउ नृप होइ हमहि का हानी वाली आनन्ददायिनी अनुभूति से गुज़रते हुए तमाशाएँ अहले करम देखने का लुत्फ भी उठाया। इन चीजों से जुड़ा तनाव कभी व्यापा ही नहीं, नुकसान बेशक उठाया।

लेकिन परिदृश्य बदलता है और समझ में आता है कि पुरस्कार लेने से न सही पर देने वाली प्रक्रियाओं से आप कहाँ तक कतराएँ? किसी क्षेत्र विशेष में रहते हुए उसमें घट रही चीजों से आखिर कहाँ तक तटस्थ रहा जा सकता है? छोटे-छोटे पुरस्कारों तक से जुड़ कर भी अक्सर ऐसा लगता है कि एक बड़ी परीक्षा सामने है। प्रत्याशी को समुचित और सही न्याय मिलना चाहिए।

लेकिन क्या आम तौर पर ऐसा हो पाता है? शायद नहीं। पुरस्कारों को लेकर मचने वाली लूट और अंधेरगर्दी से आज किसी भी व्यक्ति की असहमति हो ही नहीं सकती। एक आम धारणा बन चुकी है कि—

जैसे जहां-जहां आग होती है, वहां-वहां धुआं होता है, उसी तरह जहां-जहां पुरस्कार होते हैं, वहां-वहां धांधलियाँ होती हैं। अफवाहें जोर पकड़ती हैं और विवादों का बाज़ार गरम होता है। कितनी ही बार पुरस्कृत नामों को लेकर उठने वाले विवादों पर सहसा अविश्वास न करने का कोई कारण नहीं नज़र आता।

समान वरिष्ठता और पात्रता वाले क्रमों में भी प्रायः किसी को



दर्जनों पुरस्कारों, सम्मानों से नवाजा जाता है तो किसी को एक भी नहीं।

प्रदानकर्ता और ग्रहणकर्ता के स्वार्थ अद्वय किसी न किसी रूप में एक दूसरे के पूरक होते हैं।

कृति से ज्यादा कृतिकार का पद और ओहदा पुरस्कृत होता है, निश्चित रूप से।

पुरस्कृत कृति, व्यक्ति का चयन पहले ही हो जाता है, प्रविष्टियाँ आमंत्रित करने का क्रम चलता रहता है। ठीक उसी तरह जैसे बड़े संस्थानों में स्थान रिक्त होने पर, किसे लेना है, निश्चय हो जाने के बावजूद औपचारिक साक्षात्कार होते रहते हैं।

यह भी कि जितना बड़ा पुरस्कार उतनी बड़ी धांधली।

किंतु इस पूरे परिदृश्य का एक पक्ष यह भी है कि चूंकि आम धारणाओं को बदलना आसान नहीं, इसलिए कभी-कभी किन्हीं पुरस्कारों की (थोड़े ही सही...) निष्पक्ष चयन-प्रक्रिया भी शंकाओं के घेरे में डाल दी जाती है या उन पर प्रायोजित विवादों का धावा बोल दिया जाता है। दूध का दूध, पानी का पानी होते-होते गेहूँ के साथ बहुत से घुन भी पीस दिए जाते हैं।

एक सबसे बड़ी विडंबना यह भी कि हर व्यक्ति आपको तभी तक निष्पक्ष समझेगा जब तक आप उसके पक्ष में निर्णय देते रहिए। आपने दूसरे व्यक्ति द्वारा उठाए सही मुद्दों पर हामी भरी नहीं कि फटाक से आप दलबदलुओं की निकृष्ट कोटि में डाल दिए गए।

इससे भी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति तब होती है जब आप उठाए गए मुद्दे के, पक्ष में बोलते हैं और आपको पक्षपाती समझ लिया जाता है व्यक्ति विशेष का।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की बात करने वाले हम बुद्धिजीवी क्या सचमुच किसी भी मंच से निष्पक्ष, निर्द्वंद्व हो अपनी बात कह पाते हैं? नहीं—ज्यादातर हमारे ऊपर किसी न किसी पक्ष को सपोर्ट करने का दबाव रहता ही है—प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष।

अब, ऐसी स्थितियों में पुरस्कारों की चयन-प्रक्रिया में पारदर्शिता की उम्मीद तभी की जा सकती है जब उससे जुड़े व्यक्ति की दृष्टि और नीयत पारदर्शी हो। यह आसान है क्या?

विवाद उठाना आसान है, समाधान ढूँढना बहुत मुश्किल। किंतु है यह आज का बहुत महत्वपूर्ण ज्वलंत मुद्दा, जो सीधमसीध आज के व्यक्ति-चरित्र से जुड़ा है। एक बेहद जटिल मनोवैज्ञानिक ग्रंथ। सत्ता और अधिकार-लोभ की महत्वाकांक्षा। अन्यथा सिर्फ कुछ सवाल के जवाब में ही समाधान के दरवाजे खुलते नज़र आ सकते हैं, थोड़े ही सही—

क्यों कई पुरस्कारों की चयन प्रक्रिया में कुछेक व्यक्तियों का ही वर्चस्व रहे? पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से इस रस्म को तोड़ने की कोशिश क्यों न हो?

क्या चयन-समिति अथवा परीक्षक सचमुच निर्णय लेने से पहले कृतियों को मनोयोग से पढ़ने की मशक्कत उठाते हैं?

गिरोहबाज़ी, गुटबाज़ी या विचारधारा वाले दबाव से कितने असंपृक्त रह पाते हैं परीक्षक या चयन समितियाँ?

सबसे बड़ी समस्या यह कि चयन प्रक्रिया कितनी गोपनीय या कितनी खुली रखी जाए? गोपनीय रखिए तो शक की उंगलियाँ उठती हैं और खुली रखिए तो अंतिम निर्णय को प्रभावित करने की ऐसी-ऐसी कोशिशें शुरू हो जाएंगी कि आप हैरत से देखते रह जाएंगे।

आवश्यकता इस बात की है कि जनमत के आधार पर सचमुच की निष्पक्ष छवि वाले और पढ़ने वाले ऐसे विद्वानों को पुरस्कारों से जोड़ा जाए जो निस्वार्थ भाव से परिश्रम तो कर ही सकें, साथ ही रचनाकार की पद-प्रतिष्ठा से अप्रभावित भी रह सकें।

## रीति-नीति स्पष्ट हो

### चन्द्रकान्ता

मैं नहीं समझती कि साहित्य में माफिया गुट की मौजूदगी और उनकी कारगुजारियों से आज कोई भी सजग पाठक या सक्रिय रचनाकार अनजान है। समय-समय पर कई लेखकों ने इनके विरोध में, दबी-दबी ही सही, आवाज़ ज़रूर उठाई है। यह भी सच है कि अधिकांश लेखक उनके साहित्य-विरोधी रवैये से क्षुब्ध होने के बावजूद चुप रहते हैं। शायद यह सोचकर कि हम तो न उनके खेमे में, और न फरमावरदारों में ! हम कुछ कहें भी तो वे क्यों सुनने लगे? या इस विशुद्ध साहित्यिक सोच के कारण, कि उठाने दो उन्हें वक्ती फायदा, अंततः सार्थक सृजन का मूल्यांकन प्रबुद्ध पाठक ही तो करेगा।

यह भी सच है कि सत्ताधारियों से जूझना खतरों से खाली नहीं होता। वे आपको अपनी कलम से चारों खाने चित कर सकते हैं, या बिल्कुल नज़रअंदाज़ कर आपका नाम ही साहित्य की सूची से मिटा सकते हैं। इन तथाकथित संस्कृतिकर्मियों का वर्चस्व आज कहां नहीं है? संपादन, समीक्षा, प्रकाशन जगत, मीडिया, संस्थान, पुरस्कार प्रदान करने वाली संस्थाएँ—किन क्षेत्रों पर माफिया का बिज़ नहीं है?

तीसके वर्ष पहले, जब मैंने लिखना शुरू किया, तब हम साहित्य को संवेदना और विचार का संवाहक मान कर चले थे। सोचा था, साहित्य के माध्यम से, व्यक्ति की चेतना को समृद्ध करके, एक बेहतर मनुष्य और बेहतर समाज के निर्माण में, प्रत्यक्ष न सही, परोक्ष रूप से सहायक हुआ जा सकता है। साहित्य ने जहां हमें गलत व्यवस्था का विरोध करना सिखाया, वहीं अपने भीतर झांकने की तहज़ीब भी दी।



उस दौर में, 'सब सही सलामत' न होने के बावजूद, कुछ अग्रज साहित्यकार, समीक्षक, संपादक और प्रकाशक साहित्य जगत में ज़रूर मौजूद थे, जो बिना गुटबाजी के, सार्थक सृजन को प्रोत्साहित करते रहे। कल्पना, ज्ञानोदय, नई कहानियाँ, धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, और बाद में संचेतना ने रचनाकारों को मज़बूत आधार दिए। आज से पंद्रह वर्ष पहले जब मेरे चर्चित उपन्यास 'ऐलान गली ज़िंदा है' की पांडुलिपि श्रीमती शीला संधू ने पढ़ी, तो मुझे बुलाकर उपन्यास पर बातचीत की। उपन्यास के आवरण-चित्र पर मुझे राय मांगी। तीन-चार मास बाद मैं दिल्ली से भुवनेश्वर चली गई। वहीं चार महीने बाद मुझे उपन्यास की प्रतियाँ मिलीं। और मिले ढेर से बधाई पत्र, जिनमें शीलाजी के साथ कई छोटे-बड़े साहित्यकारों की शुभ कामनाएँ भी शामिल थीं। परन्तु आज का साहित्यिक परिदृश्य बिल्कुल भिन्न है। आज लेखक भी ज़्यादा उम्मीदें नहीं रखता। पुस्तक जैसे-तैसे, वर्षों बाद छप गई, कुछ पत्रम्-पुष्पम् रॉयल्टी के नाम पर मिला, सो उनकी कृपा। कैसा संवाद और कैसी बधाइयाँ?

रेडियो-टी.वी. के साहित्यिक आयोजन, प्रोग्राम, कवि-सम्मेलन, वार्ताएँ देख लीजिए—वही-वही चेहरे, वही-वही नाम, जिन पर सत्ताधारियों व उनके चमचों की कृपादृष्टि है। उनका एक-एक इंटरव्यू बार-बार प्रसारित किया जाता है, जैसे उनके अतिरिक्त न कोई रचनाकार सक्रिय है, और न ही कोई सार्थक कृति रची गई है। पाठक-दर्शक भी हैरान—क्या सचमुच इतना सूखा पड़ा है रचना-जगत में?

समीक्षा के क्षेत्र में तो घोर धांधली। चार-छः पुस्तकों पर, साल-दर-साल, बीसियों समीक्षक जुट जाते हैं, तन-मन-धन से, कि अमुक-अमुक को तो स्थापित कर गद्दी दिलवानी ही है। राजधानी तो हर प्रकार के प्रदूषण में अग्रणी। साहित्य को घर की खेती समझने वाले सामंत अपने चले-चपाटों, काशतकारों को खेत-मेंड़ की हरी घास चरा रहे हैं। लेखक-बिरादरी के लिए संहिताएँ तय कर रहे हैं। यह लिखो, ऐसे लिखो। गोया आप रचनाकार नहीं, उनके सेक्रेटरी हों, या अर्जीनवीस। देश-भर में उनके चमचे-चाटुकार उनकी जयजयकार करते हैं। उनके मुखारविंद से निकले मोती-गोष्ठियों-सेमिनारों में दिल खोलकर बांटे जाते हैं। यही है, बस यही है, समय को स्वर देने वाले, सदी के महान रचनाकार, बाकी जो है, सो तो घास खोद रहे हैं।

पिछले वर्षान्त में प्रकाशित, दशकों के लेखन पर लिखे गए समीक्षात्मक आलेख पढ़िए, वही चार-छः नाम घूम-फिरकर नज़र आएंगे। एक युवा समीक्षक से मैंने पूछा कि क्या सचमुच पिछले दस-दस वर्षों में चार-छः कृतियाँ ही रची गईं? तो वे ईमानदारी से बोले, "मैंने तो कई पुस्तकों का जिक्र किया था। (यहां उन्होंने मेरे दो उपन्यासों का

भी नाम लिया) पर क्या करें, संपादक या अतिथि संपादक-ने काट-छांट कर दी।"

सच क्या है, झूठ क्या, यह जानने का मंत्र हमारे पास नहीं है। समीक्षक ने कितना अनुसंधान किया, कितना प्रायोजित उनके पास पहुंचा, कितना ऊपर वालों का आदेश-निर्देश था, यह वही जानें। हम यही जानते हैं कि समीक्षा के क्षेत्र से भी अनुसंधान, श्रम और ईमानदारी तेज़ी से गायब होता जा रही है, अपवाद भले ही हों।

सबके पास अपने-अपने तीखे अनुभव हैं। मेरे पास भी है। एकाध का जिक्र करना अपनी बात को पुष्ट करने के लिए ज़रूरी होगा।

एक पत्रिका के दफ्तर में मेरा उपन्यास 'अपने-अपने कोणार्क' डेढ़ वर्ष तक अनछुआ पड़ा रहा। एक बार संपादक से पूछ लिया कि अमुक उपन्यास की समीक्षा कब आ रही है, तो साहब बोले, "वो? वो तो अब पुराना हो गया। अब उसकी क्या समीक्षा?"

ये संपादक साहित्यकार भी हैं और अपनी आठेक वर्ष पूर्व लिखी कृतियों को यहां-वहां आज भी भुनाते हैं। और इन्हें साहित्य की इतनी समझ है कि डेढ़ वर्ष में कोई चर्चित उपन्यास 'पुराना' हो जाता है। और यदि उपन्यास 'पुराना' हो भी गया, तो उनकी व्यक्तिगत अलमारी में जबकि प्रकाशक ने पुस्तक छपते ही पत्रिका को समीक्षार्थ भेजी थी। और इस बीच उनके दोस्तों की कृतियों की विशद समीक्षाएँ उनकी पत्रिका में बराबर आती रही हैं...

दूसरे दिग्गज संपादक साहब ने खांटी भाषा में कहा कि देखिए, हम आपकी कहानियाँ पढ़ें या उपन्यास? समय कहाँ है? ज़ाहिर है जब उन्होंने दस-दस वर्षों के उपन्यासों पर 'अनुसंधानात्मक आलेख' लिखवाए, उनमें मेरे तीन वर्ष पूर्व रचे उपन्यास 'अपने-अपने-कोणार्क' का जिक्र तक नहीं था। यह दीगर बात है कि 'ऐलान गली ज़िंदा है' पर इन्होंने बेहद खूबसूरत पत्र लिखकर कभी मेरी पीठ ठोंकी थी। और वह पत्र आज भी मेरे पास सुरक्षित है।

बहरहाल। यही हाल विभिन्न प्रदेशों में होते सेमिनारों का भी है। कहीं कोई अपवाद मिले तो रचनाकार और पाठक का सौभाग्य।

पुरस्कारों की रीति-नीति तो ऊपरवाला ही समझ सकता है। हिन्दी अकादमी के पुरस्कारों संबंधी एक रोचक कम हास्यास्पद किस्सा याद आता है। हम जानते हैं कि यह पुरस्कार योजना दिल्ली क्षेत्र के रचनाकर्मियों तक सीमित है। एक बार जब यह पुरस्कार एक नोएडावासी लेखक को मिला, तो हमारे कुछ मित्रों ने हमारी कृतियों का नाम भी सुझाना चाहा। हमने कहा कि भई, हम तो हरियाणा की सीमा में रहते हैं। उन्होंने उत्तर प्रदेश की सीमा के दो उदाहरण पेश किए। हमने निर्णायक मंडल के एक गुरुजन से दिल्ली क्षेत्र की सीमाएं जाननी



का समय अब आ गया है। धांधली या माफियावृत्ति तो आज बहुत हद तक पारदर्शी है, पारदर्शी धांधली मचानेवालों को करना होगा। माध्यमों की चल रही मनमानी को जवाबदेही में बदलना होगा। कुछ ठोस कदम उठाने होंगे। मसलन किसी भी अकादमी को लें। एक सूची बनाई जाए कि योग्य होते हुए भी कितने साहित्यकार आज तक उनके साहित्यिक कार्यक्रमों में भागीदार साहित्यकारों (यानी मात्र श्रोता नहीं) के रूप में नहीं बुलाए गए हैं और कितने बार-बार बुलाए गए हैं। इसी एक सूची से 'पोल' खुल जाएगी। यही सूची दूरदर्शन आदि दूसरे सार्वजनिक संस्थानों के सम्बन्धित विभागों से बनाने को कहा जाए। एक व्यक्ति की पसन्द-नापसन्द पर जहां पूरा संस्थान चलता हो, उसके बारे में क्या कहा जाए। पर सवाल यह भी है कि बिल्ली के गले में घण्टी कौन बांधे? खैर।

निष्कर्ष रूप में मैं यही कहूंगा कि एक तो पुरस्कारों के क्षेत्र की धांधली समेत हमें साहित्य के परिवेश से जुड़े आलोचना, सम्पादन आदि की धांधलियों और मनमानियों को भी साथ-साथ लेकर चलना होगा, दूसरे धांधली को रोकने या माफिया वृत्ति को खत्म करने के लिए, कुछ त्याग-भावना को अपनाने हुए, धांधली और माफिया वृत्ति के पोषकों को जवाबदेही के कटघरे में लाना होगा। स्वायत्तता के नाम पर मनमानेपन को चलने से रोकना होगा। और इसके लिए सतत विद्रोह करना होगा। हमें अपनी ही महत्वाकांक्षाओं से निकलकर, दूसरे रचनाकार के साथ हो रहे किसी प्रकार के अन्याय को बार-बार आम पाठकों के सामने लाना होगा। पूछना होगा, फलां-फलां रचनाकार को वह स्थान क्यों नहीं दिया जा रहा जिसके वह योग्य है। निरपेक्ष बैठे रहने से या 'मैं ही क्यों बुरा बू' की वृत्ति से तो काम चलेगा नहीं।

## लेखकों का निगम हो

### हेतु भारद्वाज

हाल ही में वरिष्ठ कथाकार गिरिराज किशोर ने कहा कि पुरस्कारों का कोई तर्क नहीं होता। यह बात उन्होंने उस प्रश्न के उत्तर में कही जो उनके पुरस्कृत उपन्यास 'ढाई घर' के बाबत किया गया था। इस साल साहित्य अकादमी का पुरस्कार अरुण कमल को मिला तो अशोक वाजपेयी ने यह सवाल उठा दिया कि अरुण कमल से कई वरिष्ठ कवि हैं जिन्हें अरुण कमल से पहले पुरस्कार मिलना चाहिए था। पर यह बात अशोक वाजपेयी के ध्यान में तब नहीं आई जब उन्हें यह पुरस्कार मिला था और वे स्वयं भारत सरकार में एक ऊंचे पद पर विराजमान थे। गो इस बार एक बात यह भी उछली है कि इस वर्ष के निर्णायक मण्डल के सभी सदस्य एक ही विचारधारा से सम्बद्ध थे इसलिए अरुण कमल को पुरस्कार मिला। हर साल यही होता है। जिस

रचनाकार को पुरस्कार मिल जाता है उसे ही शंका की नजरों से देखा जाने लगता है। वैसे अब पुरस्कारों की विश्वसनीयता इतनी घट गई है कि पुरस्कृत रचनाकार और उसकी पुरस्कृत कृति की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता। यह अधिकतर उन पुरस्कारों के साथ है जिनकी राशियां काफी बड़ी-बड़ी हैं तथा जिनकी प्रचार-मूल्यवत्ता अधिक है। यदि सारस्वत मूल्यों की रक्षा की दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञानपीठ पुरस्कार के अलावा कोई भी बड़ा पुरस्कार ऐसा नहीं है जिसे अखिल भारतीय स्तर पर कोई हैसियत प्राप्त हो। हिन्दी की स्थिति और भी दग्ध है—यदि 'पहल पुरस्कार' को छोड़ दिया जाए तो शायद और कोई पुरस्कार ऐसा नहीं है जिसे पाने वाला रचनाकार गर्व की अनुभूति कर सके। इसका एकमात्र कारण यही हो सकता है कि ज्ञानरंजन ने कम राशि के इस पुरस्कार को बराबर रचनात्मक और रचना के अभिनंदन के योग्य बनाने का प्रयास किया है।

जाहिर है, जिस रचनाकार को पुरस्कार मिलता है वह खुश होता है। पर खुश होने का मुख्य कारण वह धनराशि होती है जो उसे मिलती है वरना उसके रचनाकर्म पर तो पुरस्कार मिलने ही शंकाएं आरम्भ हो जाती हैं। पुरस्कार का महत्व तभी तक है जब तक वह रचनाकार के सर्जक व्यक्तित्व को बड़ा बनाने में सहायक होता है। और शायद एक भी पुरस्कार ऐसा नहीं है जो किसी रचनाकार के व्यक्तित्व को ऊंचा बना सके। पूरे हिन्दी जगत में अकेले डॉ. रामविलास शर्मा अपवाद हैं जिन्हें करीब-करीब सभी पुरस्कार मिल चुके हैं किन्तु उन्होंने विनम्रतापूर्वक हर बड़े पुरस्कार की राशि को लेने से इंकार कर दिया है। इस प्रकार डॉ. शर्मा ने पुरस्कार न लेकर पुरस्कार का ही गौरव बढ़ा दिया है। पर देखना यह भी चाहिए कि जिस भावना से वे पुरस्कार राशि लौटाते हैं, क्या उनकी भावनाओं का सम्मान किया जाता है। डॉ. शर्मा कहते हैं कि देश में निश्चयों की संख्या बहुत अधिक है इसलिए पुरस्कार की यह राशि निश्चयों की सेवा में व्यय कर दी जाए। क्या ऐसा हुआ? यदि हां तो बहुत अच्छा। पर यदि नहीं हुआ तो पुरस्कार के साथ यह एक अपराध है।

पुरस्कारों को पारदर्शी बनाने के लिए बहुत जरूरी है कि कुछ दिनों के लिए सारे पुरस्कार बंद कर दिए जाएं। कम से कम धनकुबेरों द्वारा बांटे जाने वाले पुरस्कारों पर तो रोक लग ही जानी चाहिए। ऐसा कोई निगम बनना चाहिए जो देश भर के पुरस्कारों का समन्वय करे तथा इस निगम का, जिसका गठन देश के लेखकों द्वारा होना चाहिए, ही पूरा नियंत्रण पुरस्कारों पर होना चाहिए। किस कृति या रचनाकार को पुरस्कार मिले उसका निर्णय एक बड़े लेखक समूह द्वारा किया जाना चाहिए। कई स्तरों पर पुरस्कार पाने वाली कृतियों की जांच-परख हो तथा उसके निर्णय में अधिकाधिक रचनाकारों की भागीदारी होना जरूरी है। आजकल तो कौन सा पुरस्कार किसे दिया जाना है यह लगभग पहले से ही तय है।



मैं राजस्थान का उदाहरण देना चाहूँगा—यहां सबसे बड़ा पुरस्कार के. के. बिड़ला फाउण्डेशन द्वारा दिया जाता है पर अभी तक इस पुरस्कार की कोई गरिमा ही नहीं बन पाई है क्योंकि इसका निर्णय जिस प्रकार किया जाता है वह विधि ही बहुत दोषपूर्ण है। कहने को वे लोग प्रदेश के लेखकों से प्रविष्टियाँ मंगाने हैं पर उनका क्या करते हैं कोई नहीं जानता क्योंकि अब तक हुए निर्णय काफी विवादास्पद रहे हैं। इसीलिए इस पुरस्कार की घोषणा प्रदेश में कोई खबर ही नहीं बन पाती। इसका कारण यह है कि इसके निर्णय में राजस्थान के लोगों की भागीदारी कम से कम है। नतीजा यह है कि वर्ष के आरम्भ में ही पता चल जाता है कि यह पुरस्कार किसे मिलने वाला है। इससे अधिक पारदर्शिता कहां मिलेगी? पर यह बेमतलब है। ऐसा लगता है कि सेठों को कुछ पैसा इस खाते में देना है। बस।

सरकारी स्तर पर भी ये पुरस्कार एक औपचारिकता भर रह गए हैं। अतः अकादमी का पुरस्कार किसे मिला इसमें किसी लेखक की कोई रुचि नहीं है। हिन्दी में तो फिर भी किसी महत्वपूर्ण कृति को यह गौरव कभी-कभी मिल जाता है पर राजस्थानी जैसी भाषा में मिलने वाला पुरस्कार तो जैसे दिया जाता है क्योंकि उसे दिया जाना है। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि लेखक उसी रचना को हिन्दी में लिखता है और उसे ही राजस्थानी में उलथा कर देता है। वहां तो हर लेखक को पुरस्कार मिलेगा ही। असल दिक्कत पुरस्कार प्राप्त करने के बाद आरम्भ होती है। मैं जानता हूँ कि राजस्थानी में कई ऐसे लोगों को पुरस्कार मिल चुका है जिनके पास रचने के लिए बहुत कम है। एक कवि तो पुरस्कार पाने के बाद अपने आपको रवीन्द्रनाथ टैगोर की श्रेणी में रखकर देखने लगे हैं। ऐसी स्थिति में इन अकादमी पुरस्कारों की कोई सारस्वत गुणवत्ता हो सकती है, मुझे नहीं लगता। पर हर लेखक बेचैन है उसे पाने के लिए।

जब तक पुरस्कारों का नियमन लेखकों के एक बड़े निगम द्वारा नहीं होगा तब तक किसी प्रकार की पारदर्शिता की आशा करना बेमानी है।

## निष्पक्ष छवि वाले विद्वानों को जोड़ा जाए

### सूर्यबाला

आप द्वारा उठाए मुद्दे पर आने से पहले, दो दशक पूर्व का अपना एक अनुभव सुनाती हूँ।

जुम्मा-जुम्मा पाँच-छः वर्ष हुए थे मुझे लिखते हुए। पहला ही उपन्यास 'मेरे संधिपत्र' धर्मयुग में धारावाहिक प्रकाशित हो जाने से पर्याप्त प्रचार पा गया था। अतः एक प्रतिष्ठित प्रकाशक ने कुछ ही महीनों के अंदर यह उपन्यास और एक कहानी-संग्रह पुस्तकाकार

प्रकाशित कर दिया था।

तब तक मुझे किसी भी पुरस्कार या संस्थान की जरा भी जानकारी नहीं थी किन्तु मध्यप्रदेश के मेरे एक हितैषी मित्र ने बड़े आत्मीय आग्रह और अनुरोध के साथ मुझसे दोनों पुस्तकों की चार-चार प्रतियाँ स्वयं अपनी तरफ से किसी प्रतिष्ठित पुरस्कार के निमित्त भेजने के लिए मंगवाईं। मैं प्रतियाँ उन मित्र के पास भेज कर पूरी तरह भूल भी गई थी। ...किन्तु कई महीनों बाद अचानक किसी पत्रिका में उक्त संस्थान द्वारा पुरस्कृत पुस्तक का नाम देखा तो सब कुछ याद हो आया। संयोग से वह पुरस्कृत पुस्तक मैंने भी पढ़ी थी और मेरी दृष्टि में वह अत्यंत सामान्य थी।

किसी से कुछ भी न कह कर उसी दिन उसी क्षण मैंने एक आत्महंता निर्णय ले डाला। एक ज़िद, एक हठ ही कि आज से अपनी कोई रचना, कोई पुस्तक, किसी प्रतियोगिता अथवा पुरस्कार के लिए नहीं भेजूँगी। पहले संकोच और अज्ञान आड़े आता था, अब स्वाभिमान।

मेरे इस वक्तव्य में गर्व या अहंकार लेशमात्र भी नहीं है क्योंकि अब तक मैं यह अच्छी तरह समझ चुकी हूँ कि यह एक मूर्खतापूर्ण निर्णय था और इस वजह से मुझे काफी नुकसान और खामियाजा भुगतना पड़ा है। पुरस्कार मिले न मिले, पुस्तक कइयों की नज़रों से गुज़रती तो है, पूरी तरह गुम तो नहीं हो जाती लेकिन यह भी सच है कि इस बचकाने हठ की ही वजह से, समय-समय पर पुरस्कारों को लेकर मचती रस्साकशी वाली हास्यास्पद स्थितियों, विवादों के बीच कोउ नृप होइ हमहि का हानी वाली आनंददायिनी अनुभूति से गुज़रते हुए तमाशाएँ अहले करम देखने का लुप्त भी उठाया। इन चीजों से जुड़ा तनाव कभी व्यापा ही नहीं, नुकसान बेशक उठाया।

लेकिन परिदृश्य बदलता है और समझ में आता है कि पुरस्कार लेने से न सही पर देने वाली प्रक्रियाओं से आप कहाँ तक कतराएँ? किसी क्षेत्र विशेष में रहते हुए उसमें घट रही चीजों से आखिर कहाँ तक तटस्थ रहा जा सकता है? छोटे-छोटे पुरस्कारों तक से जुड़ कर भी अक्सर ऐसा लगता है कि एक बड़ी परीक्षा सामने है। प्रत्याशी को समुचित और सही न्याय मिलना चाहिए।

लेकिन क्या आम तौर पर ऐसा हो पाता है? शायद नहीं। पुरस्कारों को लेकर मचने वाली लूट और अंधेरगद्दी से आज किसी भी व्यक्ति की असहमति हो ही नहीं सकती। एक आम धारणा बन चुकी है कि—

जैसे जहाँ-जहाँ आग होती है, वहाँ-वहाँ धुआँ होता है, उसी तरह जहाँ-जहाँ पुरस्कार होते हैं, वहाँ-वहाँ धांधलियाँ होती हैं। अफवाहें जोर पकड़ती हैं और विवादों का बाज़ार गरम होता है। कितनी ही बार पुरस्कृत नामों को लेकर उठने वाले विवादों पर सहसा अविश्वास करने का कोई कारण नहीं नज़र आता।

समान वरिष्ठता और पात्रता वाले क्रमों में भी प्रायः किसी के



दर्जनों पुरस्कारों, सम्मानों से नवाजा जाता है तो किसी को एक भी नहीं।

प्रदानकर्ता और ग्रहणकर्ता के स्वार्थ अवश्य किसी न किसी रूप में एक दूसरे के पूरक होते हैं।

कृति से ज्यादा कृतिकार का पद और ओहदा पुरस्कृत होता है, निश्चित रूप से।

पुरस्कृत कृति, व्यक्ति का चयन पहले ही हो जाता है, प्रविष्टियों आमंत्रित करने का क्रम चलता रहता है। ठीक उसी तरह जैसे बड़े संस्थानों में स्थान रिक्त होने पर, किसे लेना है, निश्चय हो जाने के बावजूद औपचारिक साक्षात्कार होते रहते हैं।

यह भी कि जितना बड़ा पुरस्कार उतनी बड़ी धांधली।

किंतु इस पूरे परिदृश्य का एक पक्ष यह भी है कि चूंकि आम धारणाओं को बदलना आसान नहीं, इसलिए कभी-कभी किन्हीं पुरस्कारों की (थोड़े ही सही...) निष्पक्ष चयन-प्रक्रिया भी शंकाओं के घेरे में डाल दी जाती है या उन पर प्रायोजित विवादों का धावा बोल दिया जाता है। दूध का दूध, पानी का पानी होते-होते गेहूँ के साथ बहुत से घुन भी पीस दिए जाते हैं।

एक सबसे बड़ी विडंबना यह भी कि हर व्यक्ति आपको तभी तक निष्पक्ष समझेगा जब तक आप उसके पक्ष में निर्णय देते रहिए। आपने दूसरे व्यक्ति द्वारा उठाए सही मुद्दों पर हामी भरी नहीं कि फटाक से आप दलबदलुओं की निकृष्ट कोटि में डाल दिए गए।

इससे भी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति तब होती है जब आप उठाए गए मुद्दे के, पक्ष में बोलते हैं और आपको पक्षपाती समझ लिया जाता है व्यक्ति विशेष का।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की बात करने वाले हम बुद्धिजीवी क्या सचमुच किसी भी मंच से निष्पक्ष, निर्द्वंद्व हो अपनी बात कह पाते हैं? नहीं—ज्यादातर हमारे ऊपर किसी न किसी पक्ष को सपोर्ट करने का दबाव रहता ही है—प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष।

अब, ऐसी स्थितियों में पुरस्कारों की चयन-प्रक्रिया में पारदर्शिता की उम्मीद तभी की जा सकती है जब उससे जुड़े व्यक्ति की दृष्टि और नीयत पारदर्शी हो। यह आसान है क्या?

विवाद उठाना आसान है, समाधान ढूंढना बहुत मुश्किल। किंतु है यह आज का बहुत महत्वपूर्ण ज्वलंत मुद्दा, जो सीधमसीध आज के व्यक्ति-चरित्र से जुड़ता है। एक बेहद जटिल मनोवैज्ञानिक ग्रंथ। सत्ता और अधिकार-लोभ की महत्वाकांक्षा। अन्यथा सिर्फ कुछ सवालों के जवाब में ही समाधान के दरवाजे खुलते नज़र आ सकते हैं, थोड़े ही सही—

क्यों कई पुरस्कारों की चयन प्रक्रिया में कुछेक व्यक्तियों का ही वर्चस्व रहे? पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से इस रस्म को तोड़ने की कोशिश क्यों न हो?

क्या चयन-समिति अथवा परीक्षक सचमुच निर्णय लेने से पहले कृतियों को मनोयोग से पढ़ने की मशक्कत उठाते हैं?

गिरोहवाज़ी, गुटवाज़ी या विचारधारा वाले दबाव से कितने असंपृक्त रह पाते हैं परीक्षक या चयन समितियाँ?

सबसे बड़ी समस्या यह कि चयन प्रक्रिया कितनी गोपनीय या कितनी खुली रखी जाए? गोपनीय रखिए तो शक की उंगलियाँ उठती हैं और खुली रखिए तो अंतिम निर्णय को प्रभावित करने की ऐसी-ऐसी कोशिशें शुरू हो जाएंगी कि आप हैरत से देखते रह जाएंगे।

आवश्यकता इस बात की है कि जनमत के आधार पर सचमुच की निष्पक्ष छवि वाले और पढ़ने वाले ऐसे विद्वानों को पुरस्कारों से जोड़ा जाए जो निस्वार्थ भाव से परिश्रम तो कर ही सकें, साथ ही रचनाकार की पद-प्रतिष्ठा से अप्रभावित भी रह सकें।

## रीति-नीति स्पष्ट हो

चन्द्रकान्ता

मैं नहीं समझती कि साहित्य में माफिया गुट की मौजूदगी और उनकी कारगुज़ारियों से आज कोई भी सजग पाठक या सक्रिय रचनाकार अनजान है। समय-समय पर कई लेखकों ने इनके विरोध में, दर्बी-दर्बी ही सही, आवाज़ ज़रूर उठाई है। यह भी सच है कि अधिकांश लेखक उनके साहित्य-विरोधी रवैये से क्षुब्ध होने के बावजूद चुप रहते हैं। शायद यह सोचकर कि हम तो न उनके खेमे में, और न फरमाबरदारों में ! हम कुछ कहें भी तो वे क्यों सुनने लगे? या इस विशुद्ध साहित्यिक सोच के कारण, कि उठाने दो उन्हें वक्ती फायदा, अंततः सार्थक सृजन का मूल्यांकन प्रबुद्ध पाठक ही तो करेगा।

यह भी सच है कि सत्ताधारियों से जूझना खतरों से खाली नहीं होता। वे आपको अपनी कलम से चारों खाने चित कर सकते हैं, या विल्कुल नज़रअंदाज़ कर आपका नाम ही साहित्य की सूची से मिटा सकते हैं। इन तथाकथित संस्कृतिकर्मियों का वर्चस्व आज कहाँ नहीं है? संपादन, समीक्षा, प्रकाशन जगत, मीडिया, संस्थान, पुरस्कार प्रदान करने वाली संस्थाएँ—किन क्षेत्रों पर माफिया काबिज़ नहीं है?

तीसके वर्ष पहले, जब मैंने लिखना शुरू किया, तब हम साहित्य को संवेदना और विचार का संवाहक मान कर चले थे। सोचा था, साहित्य के माध्यम से, व्यक्ति की चेतना को समृद्ध करके, एक बेहतर मनुष्य और बेहतर समाज के निर्माण में, प्रत्यक्ष न सही, परोक्ष रूप से सहायक हुआ जा सकता है। साहित्य ने जहाँ हमें गलत व्यवस्था का विरोध करना सिखाया, वहीं अपने भीतर झाँकने की तहजीब भी दी।



उस दौर में, 'सब सही सलामत' न होने के बावजूद, कुछ अग्रज साहित्यकार, समीक्षक, संपादक और प्रकाशक साहित्य जगत में जरूर मौजूद थे, जो बिना गुटबाजी के, सार्थक सृजन को प्रोत्साहित करते रहे। कल्पना, ज्ञानोदय, नई कहानियाँ, धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, और बाद में संचेतना ने रचनाकारों को मजबूत आधार दिए। आज से पंद्रह वर्ष पहले जब मेरे चर्चित उपन्यास 'ऐलान गली जिंदा है' की पांडुलिपि श्रीमती शीला संधू ने पढ़ी, तो मुझे बुलाकर उपन्यास पर बातचीत की। उपन्यास के आवरण-चित्र पर मुझसे राय मांगी। तीनेक मास बाद मैं दिल्ली से भुवनेश्वर चली गई। वही चार महीने बाद मुझे उपन्यास की प्रतियाँ मिलीं। और मिले ढेर से बधाई पत्र, जिनमें शीलाजी के साथ कई छोटे-बड़े साहित्यकारों की शुभ कामनाएं भी शामिल थीं। परन्तु आज का साहित्यिक परिदृश्य बिल्कुल भिन्न है। आज लेखक भी ज्यादा उम्मीदें नहीं रखता। पुस्तक जैसे-तैसे, वर्षों बाद छप गई, कुछ पत्रम्-पुष्पम् रॉयल्टी के नाम पर मिला, सो उनकी कृपा। कैसा संवाद और कैसी बधाइयाँ?

रेडियो-टी.वी. के साहित्यिक आयोजन, प्रोग्राम, कवि-सम्मेलन, वार्ताएं देख लीजिए—वही-वही चेहरे, वही-वही नाम, जिन पर सत्ताधारियों व उनके चमचों की कृपादृष्टि है। उनका एक-एक इंटरव्यू बार-बार प्रसारित किया जाता है, जैसे उनके अतिरिक्त न कोई रचनाकार सक्रिय है, और न ही कोई सार्थक कृति रची गई है। पाठक-दर्शक भी हैरान—क्या सचमुच इतना सूखा पड़ा है रचना-जगत में?

समीक्षा के क्षेत्र में तो घोर धांधली। चार-छः पुस्तकों पर साल-दर-साल, बीसियों समीक्षक जुट जाते हैं, तन-मन-धन से, कि अमुक-अमुक को तो स्थापित कर गद्दी दिलवानी ही है। राजधानी तो हर प्रकार के प्रदूषण में अग्रणी। साहित्य को घर की खेती समझने वाले सामंत अपने चेले-चपाटों, काशतकारों को खेत-मैड़ की हरी घास चरा रहे हैं। लेखक-बिरादरी के लिए संहिताएँ तय कर रहे हैं। यह लिखो, ऐसे लिखो। गोया आप रचनाकार नहीं, उनके सेक्रेटरी हैं, या अर्जीनवीस। देश-भर में उनके चमचे-चाटुकार उनकी जयजयकार करते हैं। उनके मुखारविंद से निकले मोती-गोष्ठियों-सेमिनारों में दिल खोलकर बांटे जाते हैं। यही है, बस यही है, समय को स्वर देने वाले, सदी के महान रचनाकार, बाकी जो है, सो तो घास खोद रहे हैं।

पिछले वर्षान्त में प्रकाशित, दशकों के लेखन पर लिखे गए समीक्षात्मक आलेख पढ़िए, वही चार-छः नाम घूम-फिरकर नज़र आएंगे। एक युवा समीक्षक से मैंने पूछा कि क्या सचमुच पिछले दसक वर्षों में चार-छः कृतियाँ ही रची गईं? तो वे ईमानदारी से बोले, "मैंने तो कई पुस्तकों का जिक्र किया था। (यहां उन्होंने मेरे दो उपन्यासों का

भी नाम लिया) पर क्या करें, संपादक या अतिथि संपादक-ने काट-छांट कर दी।"

सच क्या है, झूठ क्या, यह जानने का मंत्र हमारे पास नहीं है। समीक्षक ने कितना अनुसंधान किया, कितना प्रायोजित उनके पास पहुंचा, कितना ऊपर वालों का आदेश-निर्देश था, यह वही जानें। हम यही जानते हैं कि समीक्षा के क्षेत्र से भी अनुसंधान, श्रम और ईमानदारी तेज़ी से गायब होता जा रही है, अपवाद भले ही हों।

सबके पास अपने-अपने तीखे अनुभव हैं। मेरे पास भी है। एकाध का जिक्र करना अपनी बात को पुष्ट करने के लिए जरूरी होगा।

एक पत्रिका के दफ्तर में मेरा उपन्यास 'अपने-अपने कोणार्क' डेढ़ वर्ष तक अनछुआ पड़ा रहा। एक बार संपादक से पूछ लिया कि अमुक उपन्यास की समीक्षा कब आ रही है, तो साहब बोले, "वो? वो तो अब पुराना हो गया। अब उसकी क्या समीक्षा?"

ये संपादक साहित्यकार भी हैं और अपनी आठेक वर्ष पूर्व लिखी कृतियों को यहां-वहां आज भी भुनाते हैं। और इन्हें साहित्य की इतनी समझ है कि डेढ़ वर्ष में कोई चर्चित उपन्यास 'पुराना' हो जाता है। और यदि उपन्यास 'पुराना' हो भी गया, तो उनकी व्यक्तिगत अलमारी में जबकि प्रकाशक ने पुस्तक छपते ही पत्रिका को समीक्षार्थ भेजी थी। और इस बीच उनके दोस्तों की कृतियों की विशद समीक्षाएं उनकी पत्रिका में बराबर आती रही हैं...

दूसरे दिग्गज संपादक साहब ने खांटी भाषा में कहा कि देखिए, हम आपकी कहानियाँ पढ़ें या उपन्यास? समय कहां है? ज़ाहिर है जब उन्होंने दसके वर्षों के उपन्यासों पर 'अनुसंधानात्मक आलेख' लिखवाए, उनमें मेरे तीन वर्ष पूर्व रचे उपन्यास 'अपने-अपने-कोणार्क' का जिक्र तक नहीं था। यह दीगर बात है कि 'ऐलान गली जिंदा है' पर इन्होंने बेहद खूबसूरत पत्र लिखकर कभी मेरी पीठ ठोंकी थी। और वह पत्र आज भी मेरे पास सुरक्षित है।

बहरहाल। यही हाल विभिन्न प्रदेशों में होते सेमिनारों का भी है। कहीं कोई अपवाद मिले तो रचनाकार और पाठक का सौभाग्य।

पुरस्कारों की रीति-नीति तो ऊपरवाला ही समझ सकता है। हिन्दी अकादमी के पुरस्कारों संबंधी एक रोचक कम हास्यास्पद किस्सा याद आता है। हम जानते हैं कि यह पुरस्कार योजना दिल्ली क्षेत्र के रचनाकर्मीयों तक सीमित है। एक बार जब यह पुरस्कार एक नोएडावासी लेखक को मिला, तो हमारे कुछ मित्रों ने हमारी कृतियों का नाम भी सुझाना चाहा। हमने कहा कि भई, हम तो हरियाणा की सीमा में रहते हैं। उन्होंने उत्तर प्रदेश की सीमा के दो उदाहरण पेश किए। हमने निर्णायक मंडल के एक गुरुजन से दिल्ली क्षेत्र की सीमाएं जानने



# संचेतना

## आगामी अंक में

### हिन्दी मानस और दलित लेखन

आज दलित लेखन अपनी चर्चा के शिखर पर है। कुछ दशक पहले मराठी साहित्य में उभरे इस विचार और परिणामतः आन्दोलन ने सभी भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित किया और अनेक भाषाओं में इसकी अनुगूँज सुनाई देने लगी।

किन्तु क्या भारतीय मानस में कभी भी दलित लेखन के प्रति रुचि रही है? हिन्दी का ही उदाहरण लें। क्या दलित लेखन अथवा दलित वर्ग से आए लेखकों के प्रति हिन्दी मानस सहृदय रहा है? क्या कभी इस बात पर विचार किया गया है कि हिन्दी पाठ्य क्रम में जो कुछ पढ़ाया जाता है वह न केवल सवर्ण मानसिकता से भरा हुआ होता है बल्कि दलितों के प्रति कटुभाव भी व्यक्त करता है। क्या ऐसी मानसिकता की पृष्ठभूमि में, हिन्दी दलित साहित्य अपना कोई महत्वपूर्ण स्थान बना पाएगा और आलोचक वर्ग की सहृदयता भी प्राप्त कर सकेगा?

संचेतना के आगामी अंक में हम इस मुद्दे पर प्रबुद्ध पाठकों, लेखकों और आलोचकों के मत प्रकाशित करेंगे।

चाहें। वे बोले—“दिल्ली क्षेत्र वहाँ तक, जहाँ दिल्ली से डायरेक्ट टेलिफोन लाइन जाती है।” हम बोले—“वह तो फरीदाबाद, गुड़गांव भी जाती है, सिर्फ नोएडा तक ही नहीं, बल्कि गाज़ियाबाद तक भी।” वे बोले—“ज़रूर नोएडा वाले लेखक का दिल्ली में कोई घर या निवासस्थान होगा। क्या आपका है?” हमने उनको अपने दिल्ली वाले फ्लैट—आई-एक सौ एक, पालम अपार्टमेंट्स—का पता भी बता दिया। गुरुजन किंचित गंभीर हो गए। हमने धर्मसंकट से उबारा—“मेरी चिन्ता छोड़िए। मैं तो दिल्ली की सीमाएं जानती हूँ। हरियाणा साहित्य अकादमी ने मेरे उपन्यास ‘अपने-अपने कोणार्क’ को हाल में ही पुरस्कृत भी किया है। हरियाणा में ही रहती हूँ। मैं तो वस, हिन्दी अकादमी के पुरस्कार-वितरण की रीति-नीतियां जानना चाहती थी।” उन्होंने यह कह कर हाथ झाड़ दिए कि “निर्णायक मंडल में कई लोग हैं, सबकी अपनी धारणाएं हैं...”

साहित्य अकादमी हो या अन्य अर्धसरकारी संस्थान, मैं तो मानती हूँ कि पुरस्कार-वितरण प्रक्रिया पारदर्शी होनी चाहिए। पुरस्कृत पुस्तकों पर निर्णायकों की टिप्पणी, संबंधित संस्थानों की पत्रिकाओं या अलग पैफलेटों में प्रकाशित होनी चाहिए और उन पुस्तकों की सूची भी, जो चयन के अन्तिम दौर तक पहुंचीं, पर पुरस्कृत नहीं हो पाई। निर्णायक बार-बार रिपीट न हों। हमारे यहां साहित्य-मर्मज्ञों का अभाव नहीं है। छुपाछुपी का माहौल भाई-भतीजावाद को शह देता है और पुरस्कारों की वैधता पर प्रश्नचिह्न लगाता है। रीति-नीति स्पष्ट हो तो पुरस्कृत लेखकों की, पुरस्कृत कृतियों की और स्वयं पुरस्कारों की गरिमा बढ़ती है।

मेरा साहित्यिक सेमिनारों के आयोजनकर्ताओं से भी अनुरोध है कि वे जिस विधा पर चर्चा कराना चाहें, जिस समय-खंड को लेना चाहें, कुछ अन्वेषी रचनाकारों को जिम्मेदारी सौंप दें कि इस बीच जो रचा गया, उसकी जानकारी लें। कम से कम एक सक्रिय रचनाकार की एक कृति को चर्चा में अवश्य शामिल किया जाए।

यदि ऐसा नहीं होता तो अच्छी रचनाएं उपेक्षित पड़ी रहेंगी और अन्ततः साहित्य का पाठक अच्छी कृतियों से वंचित रहेगा।

अच्छा लगा कि संचेतना के मंच से माफिया गुटों के विरुद्ध एक सामूहिक आवाज़ उठी है। हो सकता है यह सामूहिक आवाज़ उनकी चेतना पर भी दस्तक दे और वे वर्षों पहले पूछे गए मैक्सिम गोर्की के इस चिन्ता-भरे प्रश्न का उत्तर ढूंढने की कोशिश करें जो उन्होंने रोम्यां रोलां के नाम एक पत्र में उठाया था। प्रश्न था—हम लोग जो जल्द ही इस दुनिया से कूच करने वाले हैं, अगली पीढ़ियों को कौन-सी विरासत सौंप कर जाएंगे???



# शहर के अनुपात से हर जगह माफिया

सरगरम है

गिरीश पंकज

रामपुर जैसे छोटे शहर में रहते हुए भी हमें जो सूचनाएं साहित्य-जगत के कुछ लोगों के बारे में मिलती रही हैं, उससे हम लोगों की भी यह धारणा पुष्ट होती चली गई है कि इन दिनों हिन्दी साहित्य में माफिया राज अपने चरम पर है। इस माफिया के चलते सच्चे अर्थों में जो साहित्य साधक हैं, वह तो हाशिये पर फेंक दिया गया है। जो अवसरवादी लेखक हैं, और जिनकी सत्ता पर या प्रशासन पर पकड़ मजबूत है, वही 'बड़े साहित्यकार' के रूप में प्रतिष्ठित किए जा रहे हैं। जबसे साहित्य के क्षेत्र में अशोक वाजपेयी जैसे लोगों का वर्चस्व बढ़ा है, एक खास किस्म के लेखकों का वर्ग निरंतर चर्चा में रहा है। पिछले कुछ वर्षों में पुरस्कारों की जो बंदरबांट मची है, उससे पुरस्कार कितने संदिग्ध हो गए हैं। और यह कहने में किसी को भी हिचक नहीं होगी कि अशोक वाजपेयी जैसे अफसर लेखकों ने पुरस्कारों के खेल में 'स्वर्णपदक' जीतने तक की महारत हासिल कर ली है। अपने ही अनुयायियों को, साफ शब्दों में कहें तो चमचों को—बड़े-बड़े पुरस्कार दिलवाने में अशोक वाजपेयी कभी पीछे नहीं रहे। वही महान व्यंग्यकार शरद जोशी के पीछे वे इस कदर पड़े कि जोशी जी को मध्यप्रदेश ही छोड़ देना पड़ा। एक घटना दुर्ग (म.प्र.) के एक कार्यक्रम में व्यंग्यकार डा. ज्ञान चतुर्वेदी ने बताई थी। माफियाओं की हरकतें कैसी होती हैं, इसका एक नमूना देखें। शरद जोशी 'नवभारत टाइम्स' में 'प्रतिदिन' लिखते थे। उनके चेक आते तो शरद जोशी बैंक जाते, कैश कराते। बैंक मैनेजर जोशी जी को जानता था, नवभारत टाइम्स को भी। वह जानता था कि नभाटा के चैक 'डिसऑनर' नहीं हो सकते, इसलिए बैंक मैनेजर श्री जोशी द्वारा चेक जमा करने पर उन्हें तत्काल भुगतान कर देता था। नियम यह है कि जो भी चेक जमा होते हैं वह पहले 'कलेक्शन' में जाते हैं और उनके वापस आने पर ही भुगतान होता है लेकिन मैनेजर ने श्री जोशी और नभाटा के चेक होने के कारण विशेष मामले के तहत चेक देते ही भुगतान की छूट दे रखी थी। इस छूट की जानकारी जब माफिया के सरगना को लगी तो उसने बैंक मैनेजर के कान में पता नहीं कौन-सा मंत्र फूँका कि बाद में उसने श्री जोशी के लिए अग्रिम भुगतान की सुविधा समाप्त कर दी। श्री जोशी चकित रह गए। बहुत पूछने पर बैंक मैनेजर को मुंह खोलना पड़ा कि ऊपर से दबाव था। श्री जोशी ने उक्त हादसे के बाद यह कहते हुए भोपाल छोड़ दिया कि ऐसा न हो कि कल मुझे सड़क-दुर्घटना करके मरवा दिया जाए।

साहित्य में एक दौर था जब सद्भावना के साथ सारे रचनाकर्मी मिलते थे। एक दूसरे की स्वस्थ आलोचना करते थे लेकिन अब तो

वैचारिक मतभेद सीधे-सीधे 'मन-भेद' तक जा पहुंचे हैं। जिससे मतभेद हैं, वह श्रेष्ठ लेखक भी है तो भी उसे खारिज करो। उसके अच्छे कार्यों पर चर्चा ही मत करो। जो पत्रिकाएं मिशन भावना से निकल रही हैं, उनकी चर्चा ही मत करो। मैं यहां नाम लेना नहीं चाहता लेकिन मैं ऐसे कई माफियाओं को जानता हूँ जिन्होंने 'सद्भावना दर्पण' जैसी अपने किस्म की अलग पत्रिका पर जानबूझ कर कभी नहीं लिखा। भारतीय एवं विश्व साहित्य यहां तक कि बोलियों के भी अनुवाद छापकर सद्भावना के क्षेत्र में कार्यरत इस पत्रिका पर चर्चा करके इसे चर्चा में ही क्यों लाया जाए? एक दिन अपने आप दम तोड़ देगी पत्रिका। यही पीड़ा अच्छे लेखक भी भोग रहे हैं। सरकारी स्तर पर जो पुरस्कार बंटते हैं, वे ऐसे लेखक को ही मिलते हैं, जो किसी एक बड़े अफसर का भक्त हो, जो दुर्भाग्यवश या सौभाग्यवश साहित्यकार भी हो। दूसरे 'जेनइन' लेखक की प्रविष्टि लाख अच्छी हो, पुरस्कार तो उसी को मिलेगा, जो निर्णायकों से सम्पर्क बनाएगा।

अभी कुछ दिन पहले मैंने यहां के एक अखबार में, जिसमें रोज एक व्यंग्य लिखता हूँ, एक व्यंग्य लिखा 'अरे ये भी माफिया निकले।' इस व्यंग्य पर काफी हड़कंप मचा। साहित्य और पत्रकारिता के लोग मुझ पर चढ़ बैठे कि तुमने फलां-फलां पर लिखा है। अब मैंने उन्हें समझाया कि नहीं भई, यह तो विशुद्ध व्यंग्य है। केवल प्रवृत्ति पर ही व्यंग्य है। लेकिन वे नहीं माने और धमकी भी दी कि सावधान रहना, ज्यादा खिलाफत करोगे तो 'निपटा दिए जाओगे'। मेरा एक व्यंग्य उपन्यास भी है जिसमें एक अखबार और उसके सम्पादक के माध्यम से यह बताने की कोशिश की गई है कि अखबार के भीतर भी अपराधियों की एक दुनिया है। इसके कुछ अंश एक छोटी पत्रिका में छपे थे। इस से लोग नाराज हो गए। खासकर वे लोग, जो कहीं न कहीं अपराधियों की तरह आचरण कर रहे थे। उन्हें लगा कि यह उपन्यास उनको ही समर्पित है जबकि हकीकत यही है कि उपन्यास के बहाने (काल्पनिक पात्रों के सहारे) अखबार के दफ्तरों में होने वाले घोटालों का पर्दाफाश किया गया है। लेकिन जिस तरह से उसका विरोध किया गया, मैं समझ गया कि विरोध करने वाले माफिया ही हैं।

इस तरह चाहे राजधानी हो या छोटा कस्बा, शहर के अनुपात के हिसाब से माफिया हर जगह सरगरम है। अभी हाल ही में एक पुलिस अधिकारी की पुस्तक की समीक्षा एक पत्रिका में छपी है। पुलिस अधिकारी की पहली पुस्तक है और कवि को समीक्षक ने मुक्ति बोध और नागार्जुन से भी बड़ा कवि बता दिया है। यह भी माफियाई आचरण का एक हिस्सा है।

साहित्य में सरगरम माफिया पर पूरी पुस्तक लिखी जा सकती है लेकिन होना-जाना क्या है? क्योंकि सिंहासन पर तो यही सब महाप्रभु बनकर विराजे हैं। फिर भी जब तक सचेतना जैसी पत्रिकाएं और उनके पीछे हम जीवित हैं, माफिया के खिलाफ जंग तो जारी रहेगी ही।



## जैसी अकादेमी वैसे पुरस्कार

### विष्णु खरे

साहित्य अकादेमी पुरस्कार दिए जाने की प्रक्रिया और उसके नियम क्या है इसे लेकर हिंदी जगत में आश्चर्यजनक अज्ञान और भ्रांति है। इस समय जो प्रणाली लागू है उसके अंतर्गत सबसे पहले अकादेमी सचिवालय एक विशेषज्ञ से प्रार्थना करता है कि वह पुरस्कार पात्रता-अवधि (1999 के पुरस्कार के लिए 1993-97 में प्रकाशित पुस्तकों पर ही विचार होगा) में प्रकाशित पुस्तकों की सूची बनाकर भेजे। यह विशेषज्ञ कौन होता है, उसकी साहित्यिक तथा प्रकाशन-संबंधी जागरूकता कितनी होती है, क्या ऐसे विशेषज्ञों की कोई तालिका अकादेमी के पास है, इसका पता नहीं चलता है। किंतु जानकारों का कहना है कि अक्सर यह सूची दोषपूर्ण, अधूरी और पूर्वाग्रहग्रस्त होती है।

वर्तमान, इसे 25 प्रारंभिक निर्णायकों को भेजा जाता है जिनसे कहा जाता है कि वे चाहे तो उसमें अपनी पसंद की पुस्तकों के शीर्षक भी जोड़ लें। ये 25 प्रारंभिक निर्णायक हर वर्ष उन पचास की सूची से अकादेमी के सचिव/अध्यक्ष द्वारा चुने जाते हैं जो अकादेमी की कार्यकारिणी के संबंधित भाषा-सदस्य तथा उस भाषा के सलाहकार-मंडल के सदस्य हैं। सलाहकार-मंडल का हर सदस्य किसी न किसी तरह पुरस्कार-प्रक्रिया से संबद्ध होता ही है—कम-से-कम प्रारंभिक निर्णायकों में वह रहता है।

जब ये 25 प्रारंभिक निर्णायक विशेषज्ञ की सूची में अपनी पसंद की पात्र-पुस्तकों को जोड़ देते हैं तो अकादेमी सचिवालय उसके आधार पर एक संपूर्ण सूची बनाता है और उसे फिर उन 25 प्रारंभिक निर्णायकों को इस प्रार्थना के साथ भेजता है कि अब वे उसमें से सिर्फ एक पुस्तक को अनुशंसा करें। जब ऐसी पुस्तकों के शीर्षक अकादेमी सचिवालय के पास आ जाते हैं तो प्रारंभिक निर्णायकों का कर्तव्य समाप्त हो जाता है। पूरी प्रक्रिया तकनीकी रूप से गोपनीय रहती है किंतु हिंदी में जो नैतिकता है उसके चलते विशेषज्ञ की सूची मिलते ही अफवाहों और सुनियोजित जोड़-तोड़ के दौर शुरू हो जाते हैं। कम-से-कम भाषायी सलाहकार-मंडल के सदस्यों से कुछ भी छिपा नहीं रहता और उनमें से कुछ विशेष सक्रिय होते हैं।

इसके बाद अंतिम निर्णय की प्रक्रिया शुरू होती है। अकादेमी सचिवालय प्रत्येक अंतिम अनुशंसित पुस्तक की चार प्रतियां खरीदता है। जागरूक प्रत्याशी इस खरीद पर नजर रखता है और तुरंत जान जाता है कि उसकी किताब अंतिम दौर में पहुंच चुकी है। अकादेमी सचिवालय अब तीन अंतिम निर्णायक दस की उस सूची से चुनता है जो सचिव/अध्यक्ष ने कार्यकारिणी में संबंधित भाषा-सदस्य की अनुशंसा से तैयार की होती है। दरअसल भाषा-सदस्य (हिंदी में नामवर सिंह) वह दाई होता है जिससे कोई पुरस्कार-पेट छिपा नहीं होता। फिर यह भी है कि अकादेमी के स्थापक-सचिव कृष्ण कृपालानी के बाद सभी सचिव मित्रवत या कृपाभिलाषी हुए हैं और नामवर सिंह जैसे प्रभावशाली और शांति सदस्यों से स्वायत्त होकर चलना 'प्रोफेसर' सच्चिदानंदन जैसे कमजोर, असुरक्षित सचिव के बस की बात नहीं। खैर, अब ये पुस्तकें तीनों अंतिम निर्णायकों को भेजी जाती है जो एक

दिन साय बैठकर 'सर्वसम्मति' से किसी एक पुस्तक को अकादेमी पुरस्कार के लिए अनुशंसित करते हैं त्रिम पर अंतिम औपचारिक मुहर अकादेमी कार्यकारिणी की लगती है, जिसमें नामवर सिंह हिंदी-प्रतिनिधि हैं। कार्यकारिणी चाहे तो किसी अयोग्य पुस्तक पर पुरस्कार देने से इंकार कर सकती है किंतु ऐसा अब तक हुआ नहीं है। भाषा-प्रतिनिधि पुरस्कार-प्रक्रिया के हर चरण में अवगत रहता ही है और पुरस्कृत पुस्तक को पहले से ही उसका अनुमोदन मिल चुका होता है।

अरुण कमल को उनके काव्य-संग्रह 'नये इलाके में' के लिए 1998 का जो अकादेमी पुरस्कार दिया गया है उसके अंतिम निर्णायक भीष्म साहनी, केदारनाथ सिंह और विश्वनाथ त्रिपाठी थे। किंतु एक बात जो हिंदी जगत को नहीं मालूम वह यह है कि मूल रूप से इन तीनों में से कोई एक निर्णायक नहीं था, उसकी जगह कुंवर नारायण निर्णायक थे। अकादेमी की प्रार्थना पर लगता है कुंवर नारायण ने पहले तो निर्णायक बनना स्वीकार किया, किंतु जब उनके पास अनुशंसित पुस्तकों का बंडल और अन्य दो निर्णायकों के नाम पहुंचे तो बताया जाता है कि 'इतनी सारी पुस्तकें पढ़ पाने का समय न होने' के कारण उन्होंने निर्णायक होने से इंकार कर दिया और पुस्तकें लौटा दी। किंतु इस बीच वे इतनी किताबें देख ही चुके थे कि उन्हें स्मरण रहा कि विनोदकुमार शुक्ल, चंद्रकांत देवताले और नेमिचंद्र जैन की पुस्तकें भी विचारार्थ थीं। यह आश्चर्यजनक है कि कुंवर नारायण ने इनकी तथा अरुण कमल की पुस्तकें पहले पढ़ नहीं रखी थीं। या वे इन चारों की तुलनात्मक गुणवत्ता नहीं जानते रहे थे। ऐसा शक होता है कि अन्य दो निर्णायकों के नाम जानकर कुंवर नारायण शायद समझ गए कि पुरस्कार बहुमत से किस पुस्तक को जाएगा इसलिए उन्होंने उस निर्णय में शामिल न होना ही उचित समझा। किंतु दयावता मोदी सम्मान अस्वीकार करने वाले कुंवर नारायण में इतनी नैतिक ताकत नहीं उमड़ो तो की जाती है कि वे निर्णायक-मंडल में रहते और अपने चुनाव पर अडिग रहते, भले ही इस वर्ष हिंदी को पुरस्कार न मिलता। किंतु एक ओर तो उन्होंने वैसा नहीं किया, उल्टे अशोक वाजपेयी से सारे मामले पर चर्चा करके अकादेमी पुरस्कार की 'गोपनीयता' का ध्वंस कर दिया।

जो निर्णायक-मंडल बना वह तो मानो अरुण कमल के दर्जी ने सिला था। नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी और अरुण कमल प्रगतिशील लेखक संघ के स्तंभों में हैं। 'नये इलाके में' भीष्म साहनी को समर्पित है जिन्होंने अपनी समूची अस्सी-वर्षीय मासूमियत से अकादेमी से पूछा कि ऐसे में उन्हें निर्णायक बनना चाहिए या नहीं। विश्वनाथ त्रिपाठी 'कथादेश' में अरुण कमल की कविताओं पर अतिरंजनापूर्ण लिख चुके थे। अरुण कमल केदारनाथ सिंह के अनन्य प्रशंसक हैं ही। वैसे भी पिछले तीस वर्षों का प्रेक्षण बतलाता है कि भीष्म साहनी, केदारनाथ सिंह और विश्वनाथ त्रिपाठी जैसे लोग अपनी 'गुंडीगुंडी' लोकप्रिय बलमनसाहत में एक भयावह अवसरवादी पाखंड छिपाए हुए हैं। इनके पूर्वाग्रह इतने उद्दंड हो चुके हैं कि नेमिचंद्र जैन के साठ वर्षों के साहित्यिक योगदान, विनोदकुमार शुक्ल सरीखे अद्वितीय कवि-उपन्यासकार और चंद्रकांत देवताले जैसे प्रतिबद्ध मानवीय ऊष्मा के कवि की अवमानना कर ये अरुण कमल को अकादेमी पुरस्कार के योग्य समझेंगे, इसकी कल्पना न थी।



अरुण कमल निरसंदेह अच्छे कवि हैं और 'नये इलाके में' उनका पहला संग्रह है जो असंदिग्ध रूप से उन्हें हिंदी में स्थापित करता है; उनके पिछले दो संकलनों में उनका 'अपनापन' मुझे नहीं मिल पाया था, किंतु यह उनके विकास में महत्वपूर्ण है और इसलिए हिंदी कविता के लिए भी। पर उसमें वह कौंध और वे आयाम नहीं हैं जो उसे विनोदकुमार शुक्ल या चंद्रकांत देवताले के संकलनों से श्रेष्ठ ठहराते। यही नहीं, उनके कई समवयस्क तथा उनसे कनिष्ठ भी अनेक कवि उनसे अच्छी नहीं तो उतनी ही अच्छी कविताएं लिख रहे हैं और उनमें से कुछ के संग्रह भी अकादेमी पुरस्कार-अवधि में प्रकाशित हैं।

एक तत्व यह भी है कि अकादेमी पुरस्कार किसे नहीं चाहिए। एक युवा हिंदी कवि पिछले कई वर्षों से अक्तूबर-दिसंबर के पुरस्कार-महीनों में बावले-से हो जाते थे। कई ऐसे ही विक्षिप्तावस्था में देशाटन-सा कर लेते हैं। यदि अरुण कमल पर कृपा हो सकती है तो अगले चार वर्षों तक पुरस्कार के विरुद्ध कुछ लिख कर नामवर सिंह को कोई अपेड़ा या युवा हिंदी लेखक कुपित क्यों करें? स्वयं अशोक वाजपेयी का पुरस्कार समय-पूर्व था, किंतु उन्होंने प्राथमिक प्रतिक्रिया तो दी। ईमानदारी से देखा जाए तो क्या सुरेंद्र वर्मा, लीलाधर जगूड़ी और पिछले अनेक अकादेमी पुरस्कार वाकई अर्जित किए गए हैं?

इस वर्ष के पुरस्कार के साथ भयानक यह भी है कि घोषणा के कई सप्ताह पहले पटना, लखनऊ, इलाहाबाद, भोपाल और दिल्ली में पता था कि वह किसे मिल रहा है। हमें नहीं मालूम कि हिंदी सलाहकार मंडल का सदस्य होने के नाते अरुण कमल प्रारंभिक प्रक्रिया में कितने शरीक थे, किंतु यह मान पाना असंभव है कि उन्हें अपने प्रत्याशी होने का पता न था। चीजें इतने अशोभन ढंग से नंगी थीं कि भोपाल से चंद्रकांत देवताले को इंदौर फोन किया गया कि पिछले दिनों नामवर सिंह यहां आए थे, पुस्तकों की अंतिम सूची बता गए हैं, उसमें आपका संग्रह भी है, अब आप चाहें तो दिल्ली कोशिश कर लें।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि पुरस्कार का सबसे ज्यादा नुकसान अरुण कमल को ही उठाना पड़ा है। वे अचानक अलोकप्रिय और संदिग्ध हो गए हैं। अब उनके सामने काम भी बहुत बड़ा आ गया है। उन्हें 'नये इलाके में' से बेहतर कविताएं अगले चार-पांच वर्षों तक लिखकर यह सिद्ध करना होगा कि भले ही उन्हें पुरस्कार जल्दी मिल गया हो, अपनी प्रतिभा से उन्होंने उसे उचित कर दिखाया। उनमें वैसा कर पाने की क्षमता है, इसमें कम से कम मुझे कोई संदेह नहीं है। अभी उन्हें और भी पुरस्कार पाने हैं।

अफसोस यह है कि हिंदी का शायद ही कोई पुरस्कार हो जो संदेहातीत हो। अखबारी तथा व्यापारी घरानों से बड़े-बड़े पुरस्कार मनमाने ढंग से मंजोली प्रतिभाओं को दिए जा रहे हैं। ज्ञानपीठ, बिड़ला या मोदी सम्मान किसे जा रहा है इसमें किसी की दिलचस्पी नहीं है, सिर्फ उनकी राशियों में है। राज्य सरकारों के सम्मानों का तो और भी बुरा हाल है। वे शोक में घोषित और वितरित होते हैं। वहां भी परिचय और मित्रता के बगैर निस्तार नहीं। विजयमोहन सिंह यदि 1991-1992 में दिल्ली की हिंदी अकादेमी के सचिव न होते तो मुझे 'साहित्य-सम्मान' न मिलता। इसी तरह कमला

प्रसाद और भगवत रावत निर्णायक-मंडल में न होते तो मुझे मध्यप्रदेश का 'शिखर-सम्मान' न दिया जाता। यद्यपि इन तीनों ने मुझे इनके बारे में पहले कभी नहीं बताया और न मैंने कभी इन या अन्य किसी पुरस्कार के लिए कोई कोशिश की। 'पहल-सम्मान' ज्ञानरंजन का व्यक्तिगत सम्मान है। कुछ धूर्त छुटभैयों भी छोटे शहरों से बड़े साहित्यकारों के नाम पर आत्मोन्नति पुरस्कार चलाए हुए हैं। 'रघुवीर सहाय पुरस्कार' शायद अब तक का सबसे वेदांग पुरस्कार रहा पर वह चल न सका। 'श्रीकांत वर्मा स्मृति पुरस्कार' में मेरे अनुसार दो बार गंभीर अनियमितताएं की गईं: विनोद दास को पुरस्कार-वर्ष में ही प्रकाशित पुस्तक को पिछले साल की बताकर पुरस्कृत किया गया, जबकि पिछले वर्ष अलका सरावगी के (बेहतरीन) उपन्यास को उसी वर्ष का होने के बावजूद सम्मानित किया गया। यह देखना दिलचस्प होगा कि इस वर्ष नामवर सिंह 'श्रीकांत वर्मा पुरस्कार' 1999 की कृति को दिलवाते हैं या किसी 1998 वाली को, और कैसे। 'भारतभूषण स्मृति पुरस्कार' भी एक-दो बार खराब कविताओं पर उस वर्ष के निर्णायकों के चहेतों को दिया गया है।

घरानों के या निजी पुरस्कार कैसे दिए-लिए जाते हैं यह तो संबंधित संस्थाओं और व्यक्तियों की नैतिकता पर शायद छोड़ा भी जा सकता है किंतु साहित्य अकादेमी जैसे राजकीय पुरस्कारों को संदेह से यथासंभव परे होना ही चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि सूची बनाने वाले विशेषज्ञ का नाम, अंतिम निर्णायकों के नाम तथा उनके समक्ष प्रस्तुत की गई पुस्तक-सूची के पुरस्कार-निर्णय से बहुत पहले प्रकाशित कर देना चाहिए, जैसा अनेक प्रतिष्ठित विदेशी पुरस्कारों में किया जाता है। इससे एक स्वस्थ खुली बहस की परंपरा चल निकलेगी। प्रत्येक निर्णायक को अपनी सहमति-असहमति भी सार्वजनिक रूप से व्यक्त करने का अधिकार होना चाहिए। खुलापन और जवाबदेही हर चरण पर होनी चाहिए। यह इसलिए भी आवश्यक है कि अब साहित्य अकादेमी का इतना पतन हो चुका है कि उर्दू पुरस्कारों को लेकर विवादग्रस्त गोपीचंद नारंग अकादेमी के उपाध्यक्ष चुन लिए गए हैं और दुर्भाग्यवश यदि वे 2003 में अध्यक्ष हो गए तो पुरस्कारों के टेडर तक भरे जा सकेंगे।

यहां फिलहाल इस पर चर्चा नहीं हो सकती कि खराब पुरस्कारों से कहीं ज्यादा नुकसान साहित्य अकादेमी के घटिया प्रकाशन कर रहे हैं। पुरस्कारों में खयानत के अलावा एक गंभीर मसला यह भी है कि वर्षों से हिंदी में आलोचकों को कोई अकादेमी सम्मान नहीं मिला है जबकि सुरेंद्र वर्मा, लीलाधर जगूड़ी और अरुण कमल ने जिस स्तर का काम सृजनात्मक साहित्य में किया है उससे कम तो नंदकिशोर नवल, मैनेजर पांडेय, परमानंद श्रीवास्तव, विजय कुमार, शिवकुमार मिश्र, पुरुषोत्तम अग्रवाल, रमेशचंद्र शाह, नेमिचंद्र जैन आदि ने आलोचना में नहीं किया है। यदि अकादेमी प्रति वर्ष अनुवाद पर स्वतंत्र पुरस्कार दे सकती है तो आलोचना पर क्यों नहीं? किंतु यह प्रश्न उस विस्तृत बहस का हिस्सा हो सकता है जिसमें यह पूछा जाना चाहिए कि अकादेमी पुरस्कारों की ही नहीं, क्या साहित्य अकादेमी की ही उपयोगिता अब खत्म नहीं हो गई है?

(जनसत्ता से साभार)



डा. हरदयाल

## कर्मठ और भावुक व्यक्ति की कविता

बलदेव वंशी ने अपनी कविता में जिन अनुभवों को व्यक्त किया है, उनका सम्बन्ध उनके अपने जीवन से भी है और अपने चारों ओर के जगत से भी। वे मात्र स्वचेतस कवि ही नहीं हैं, परचेतस भी हैं। इसीलिए उनकी कविता को पहेली बना देने वाला उलझाव उनमें नहीं है। उन्होंने साफ-सुथरी और स्पष्ट भाषा में बिना किसी लागलपेट के अपनी बात कही है। उनकी सादगी में भी एक कला है जो विशेषणों के प्रयोगों, शब्दक्रीड़ाओं, अलंकारों आदि के रूप में हमें देखने को मिलती है।

सातवें दशक के मध्य में जब बलदेव वंशी से दिल्ली में मेरी मुलाकात हुई तो लगा कि यह व्यक्ति कर्मठ और भावुक है। सामान्यतः भावुक व्यक्ति कर्मठ नहीं होते और कर्मठ व्यक्ति भावुक नहीं होते। बलदेव वंशी अगर दोनों एक साथ है तो इसके पीछे कोई राज होना चाहिए। जैसे-जैसे उनसे घनिष्टता बढ़ती गई वैसे-वैसे यह राज कुछ-कुछ खुलता गया। मैंने अनुभव किया कि वे मूलतः भावुक हैं। कर्मठ उन्हें उनकी परिस्थितियों ने बनाया है। उनका जन्म अविभाजित भारत के उस भाग में हुआ जो विभाजन के बाद पाकिस्तान बन गया। उन्हें अपनी जन्मभूमि से उखड़कर निःस्व दिल्ली आना पड़ा। विभाजन के कारण तीसरी कक्षा के बाद उनका नियमित शिक्षाक्रम विच्छिन्न हो गया। साधारण मजदूरी, काष्ठशिल्प और शिक्षण-कार्य करते हुए, गैरसरकारी संस्थाओं में रात्रि-अध्ययन करते हुए बी.ए., बी.एड. किया और बाद में एम.ए., पी-एच. डी. की उपाधियाँ प्राप्त कीं। निजी प्रयत्नों से जैसे उन्होंने उच्चतम स्तर तक की शिक्षा प्राप्त की वैसे ही एक साधारण मजदूर से शुरू करके दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में प्राध्यापक के पद तक पहुँचे। बिना कर्मठता के यह सम्भव नहीं था। अब यह मात्र जिज्ञासा का विषय हो सकता है कि अगर भारत का विभाजन न होता और बलदेव वंशी को प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना न करना पड़ता तो क्या वे वही उपलब्धियाँ प्राप्त कर पाते, जो उन्होंने अब प्राप्त की हैं? लेकिन यह तो सच है कि तमाम प्रतिकूल स्थितियों के बावजूद कविता ने उनका साथ कभी नहीं छोड़ा। इससे सिद्ध होता है कि उनमें कविता के जीवाणु बहुत हैं और उनकी प्रबलता बिना भावुकता और गहरी संवेदनशीलता के सम्भव नहीं है।

उनकी कर्मठता और भावुकता ने उनकी कविता का चरित्र निर्मित किया है। उनकी सम्पूर्ण कविता का विहंगमालोकन करने पर दो चीजें

अपेक्षाकृत कम परिमाण में दिखाई देती हैं। इनमें से एक चीज है इन्द्रियबोध। उनकी कविताओं में इन्द्रियबोध बहुत प्रबल एवं बहुत सघन नहीं है। इसी प्रकार उनकी कविता में कल्पनाशीलता भी कम है। इन दोनों कारणों से उनकी कविता में बिम्बात्मकता कम मिलेगी। उनकी कविता की ये कमियाँ—अगर उन्हें कमियाँ माना जाए तो—उनकी कर्मठता के कारण हैं। अत्यधिक संवेदनशील इन्द्रियों वाला कल्पनाशील व्यक्ति स्वप्नदर्शी तो हो सकता है, कर्मठ नहीं।

वंशी अपनी भावुकता के कारण अपने यथार्थ से कभी नहीं कटे। यह यथार्थ उनके व्यक्तिगत जीवन का भी है और सार्वजनिक जीवन का भी। उनके व्यक्तिगत जीवन का यथार्थ उनकी कविताओं के आत्मकथात्मक अंशों के रूप में सामने आया है। जब हम उनकी 'उपनगर में वापसी' कविता में ये पंक्तियाँ पढ़ते हैं—

वह पक्की सड़क है

जनपथ

जो सीधे चलकर

अब वायें मुड़ी है

यहीं एक बच्चे के हाथों

ऋतुएँ खो गयी थीं

तब से भयभीत वह

घर ही नहीं लौटा

किताबें अलग फेंक

कामकाजी हो गया

यह उपनगर 1950 में बसा। बसाया गया था। है। होगा आगे

स्टेशन

यहीं पुराना रेलवे फ़ाटक है।



जब देखो ट्रैफिक बन्द

और प्रतीक्षा में कांटा झुका हुआ। (उपनगर में वापसी; पृष्ठ 10)

तब उन्हें व्यक्तिगत रूप से जानने वालों के सामने एक शरणार्थी परिवार के बच्चे के रूप में उनका दिल्ली आना और लाजपतनगर बसाए जाने पर रेलवे फाटक के पास उनका घर साकार हो जाता है। इसी प्रकार 'खालीपन' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में उनका निजी जीवन ही निहित है—

मैं। पहले अपने लिए। फिर

बच्चों के लिए खपता रहा। पर

कुछ नहीं हुआ। कहीं

कोई पत्ता नहीं हिला। आज

देखता हूँ—भीतर। बाहर

केवल हवा चल रही है। बिना छुए

आसपास चक्कर खाती। लौटती....

(दर्शक दीर्घा से; पृष्ठ 19)

बच्चों को लेकर जितनी कविताएं बलदेव वंशी ने लिखी हैं उतनी हमारी पीढ़ी के शायद ही किसी कवि/कवयित्री ने लिखी हों। इसका कारण यह है कि अपने बच्चों के लिए हममें से शायद ही कोई उतना खपता रहा हो। दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों ने बच्चों को उनके जीवन के केन्द्र में ला दिया। 'बच्चे की दुनिया' संग्रह की भूमिका में उन्होंने लिखा है—“बच्चों की सूक्ष्म-सरल अनुभूतियों के वर्तमान संश्लिष्ट एवं गहन एहसासों को, विचार-संवेदना के संघर्षकामी, सरोकारों को यहां तरजीह मिली है; क्योंकि इधर अप्रत्याशित ही मेरे व्यक्तिगत जीवन में—सोच-संवेदना के केन्द्र में बच्चा घिर आया है।” सोच-संवेदना के केन्द्र में बच्चे के घिर आने का ही परिणाम है 'बच्चे की दुनिया' की कविताएं। इस संग्रह की अपनी कविताओं में उन्होंने बच्चे के मनोभावों, जिज्ञासाओं, क्रीड़ाओं आदि को शब्दबद्ध किया है। यह उन्होंने बड़े काव्यकौशल के साथ किया है—

अकेला बच्चा/अपनी कमीज़ के कॉलर/

दांतों में चबा रहा है/नहीं! /बच्चा

अकेलेपन को/ गिलहरी की तरह खा रहा है।

(बच्चे की दुनिया, पृष्ठ 9)

अथवा

अपनी भोली जिज्ञासा में/ बच्चा हर बार नियम तोड़ता/

और जोखिम उठाकर/अपनी खुशी में/ एक नयी कड़ी

जोड़ता है

(वही, पृष्ठ 12)

इन कविताओं में बच्चे के मन को पकड़ा गया है, उसके तन को

अर्थात् उसके शारीरिक सौन्दर्य को नहीं। इससे भी हमारी तीव्र-सघन इन्द्रियता और कल्पनाशीलता की क्षीणता की बात सिद्ध होती है, जिसकी चर्चा हमने ऊपर की है।

इस प्रकार आत्मकथात्मक अंश बलदेव वंशी की कविताओं में अनेक हैं। ऐसे अंश प्रायः सभी कवियों की कविताओं में होते हैं बशर्ते कविता कृत्रिम ढंग से गढ़ी न जा रही हो, बल्कि उसमें कवि का मन, कवि का हृदय संसक्त हो। अलग-अलग कवियों में आत्मकथात्मक अंशों की संख्या या परिमाण अलग-अलग हो सकता

है। लेकिन यहां प्रश्न यह है कि किसी भी कवि की कविता के आत्मकथात्मक अंशों में पाठक की रुचि क्यों हो? इसका उत्तर केवल जिज्ञासा की तृप्ति का लोभ नहीं हो सकता। यह उत्तर सीधे-सीधे लिखी गई आत्मकथा के सम्बन्ध में तो ठीक हो सकता है, क्योंकि उसमें हमारा जिज्ञासा की स्पष्ट तृप्ति होती है, लेकिन कविता में आनेवाले आत्मकथात्मक अंशों में नहीं। कविता में तो संकेत मात्र होते हैं। बलदेव वंशी की कविता में आने वाले आत्मकथात्मक अंश प्रायः प्रतीकात्मक हैं। इसके अनेक कारण हैं। एक कारण तो यह है कि कवि का जो नितान्त निजी अनुभव है, उसकी निजता खोये

बिना वह उसे सार्वजनीन बनाना चाहता है। इसका दूसरा कारण यह है कि अनेक बार कवि का निजी अनुभव अपने यथार्थ रूप में नितान्त सामान्य और अकाव्यात्मक होता है, कवि उसे काव्यात्मक गरिमा प्रदान करना चाहता है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि कवि मूर्त को अमूर्त बनाकर उसकी अर्थगत एकाग्रता को बहुआयामिता में बदलना चाहता है और अपने अनुभव को, अपने जीवन में घटी किसी विशेष घटना को देशकाल की सीमा से मुक्त करना चाहता है। उदाहरण के लिए, प्रदर्शनी को देखकर लिखी गई कविता 'पानी का स्वभाव' की इन पंक्तियों को देखा जा सकता है—

तितल्ले की रेलिंग पर झुका

नीचे देखता व्यक्ति

खुश है

—‘वह ऊपर उठा है।’

किन्तु ऊपर चिल्ले

और नीचे जंजाल फैल रहे हैं कितने

धूप-धूल की मार खाये

तपे चेहरे

भ्रमित आंखों उन्नति आंक रहे हैं

पलकों पर गर्द ओढ़े नंगे पांव चलते



उच्चक-उच्चक कर झांक रहे हैं (उपनगर में वापसी, पृष्ठ 75)  
निजी आत्मकथात्मक अंशों को यदि कोई कवि सार्वजनीन बनाने में सफल हो जाता है तो उसकी कविता सार्थकता और श्रेष्ठता प्राप्त कर लेती है।

कोई भी कविता कवि का भावनात्मक इतिहास होती है। इस इतिहास में एक ओर यदि उसका निजी जीवन सम्मिलित होता है तो दूसरी ओर उसकी परम्परा और परिवेश भी सम्मिलित होता है। कोई कवि अपनी परम्परा और परिवेश से पूर्णतः असम्पृक्त नहीं हो सकता। बलदेव वंशी की कविता में परम्परा उनके 'आत्मदान', 'मनु', 'वाक्गंगा' जैसे प्रबन्धकाव्यों में व्यक्त हुई है। इन आख्यानक काव्यों में एक ओर उन्होंने परम्परा के प्राचीन रूप को सुरक्षित रखा है तो दूसरी ओर उसे नए सन्दर्भों में व्याख्यायित किया है। 'वाक्गंगा' में उन्होंने लिखा है—

शासन जब-जब/जनघाती  
हो/निर्दय-निर्द्वन्द्व/तम बोता है/

शिव-अस्तित्व/आहत कर सब  
को/पछताना/रोना होता है!

आज फिर हर कहीं/हो रहा  
सती-दहन/आज फिर, हर कहीं/

सुलगते कुटि-भवन/ नर-बलि  
के/नये-नये/नित आयोजन—

श्रमिक जनों का/भवनों-नीचे दब  
जाना/भोल जनों का/

खाइयों-बीच उतर जाना

जगह-जगह पर/जीवित दहन/हरिजन

का/जगह-जगह पर/

निर्मम हनन/गिरिजन का

पल-पल प्रवर्तित/नीतियां अनाचार की/ पल-पल प्रवर्तित/

रीतियां कदाचार की

हिंसा की शैली में/नित-नित घात निरन्तर/जन-जन की चीखों  
का/

आर्तनाद निरन्तर

(पृष्ठ 34)

यह असल में आज का यथार्थ है जिसे उन्होंने अतीत में प्रक्षेपित किया है। बलदेव वंशी वस्तुतः वर्तमान के कवि हैं, अतीत के नहीं। उनकी कविता में निम्न वर्ग और मध्यवर्ग के वर्तमान की विडम्बनाओं और पीड़ाओं का बड़ा यथार्थ और मार्मिक चित्रण हुआ है। उन्होंने वर्तमान के यथार्थ का चित्रण किसी वादग्रस्त दृष्टि से नहीं किया है। वे मनुष्य को किसी 'वाद' की दृष्टि से देखना गलत मानते हैं—

किसी वाद के अन्तर्गत समझना आदमी को

खतरे का काम है

जबकि विस्फोट में सब बराबर उड़ते हैं  
पानी में गलते  
और कीचड़ में सड़ते  
स्वार्थों के फफोले एक जैसे होते हैं आकार में  
बनते-बिगड़ते....  
आज हर देश  
यही खतरा उठा रहा है  
आदमी को वादी कठघरों में ला रहा है।

(नदी पर खुलता द्वार; पृष्ठ 19)

असल में बलदेव वंशी जब आदमी को वादग्रस्त दृष्टि से देखने का विरोध कर रहे हैं तब उनकी दृष्टि साम्यवाद, समाजवाद और

पूँजीवाद जैसे आज प्रचलित वादों पर है। इनके पक्षधर इन्हें पूर्ण दृष्टि घोषित करते हैं और कहते हैं कि मनुष्य की हर समस्या का समाधान इनमें विद्यमान है; जबकि वास्तविकता यह है कि ये तथा इन्हीं जैसे अन्य वाद एकांगी हैं। जब इनमें से किसी एक की दृष्टि से मनुष्य को देखा जाता है तो उसका कोई एक पक्ष सामने आता है और उसी को सम्पूर्ण मनुष्य मान लिया जाता है। इससे मनुष्य की एक समस्या हल होती है तो दस अन्य समस्याएं उठ खड़ी होती हैं और वादग्रस्त दृष्टि मनुष्य के साथ अन्याय कर बैठती है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य को वादनिरपेक्ष

दृष्टि से देखा जा सकता है या कोई वादनिरपेक्ष दृष्टि होती भी है? हमारे विचार से वादनिरपेक्ष दृष्टि सम्भव नहीं है। यह अलग बात है कि जिसे वादनिरपेक्ष दृष्टि कहा जा रहा है, वह अभी अनौपचारिक हो। औपचारिकता प्राप्त कर लेने पर उसे भी वाद विशेष में बंध जाना पड़े। इसे बलदेव वंशी भी जानते हैं। वे कविता में विचार के पक्षधर हैं, लेकिन अतिवादी विचारों के विरोधी हैं। 'उपनगर में वापसी' की भूमिका में उनका यह वक्तव्य इसी बात का द्योतक है—“समाकालीन व्यक्ति से मानवीय समकक्षता के अभाव में कविता में, अतिगामी छोरों पर अ-कविताई तथा वामपन्थी दुःसाहस ने जो अनर्थ ढहाये हैं, अब उनके परिताप में कविता वैचारिक सक्रियता एवं आत्मस्फूर्ति को सहृदयता एवं जुड़ाव के जरिये फलीभूत करने में व्यस्त है। लक्ष्यहीनता एवं दुर्लभमुलपन को छोड़कर विषय के साथ सीधे साक्षात्कार में, स्वयं को व्यापक अर्थों में विवेक तथा समाजबद्धता की शक्ति से सज्जित करके वह पुनः सक्षम होने की ओर बढ़ी है।...वैचारिकता का माध्यम अगर कविता को बनना है तो उसे सबसे पहले कविता बनने का प्रयास



करना होगा।" उनके इस वक्तव्य में भी एक दृष्टि है और इसी दृष्टि से मनुष्य की आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं को उन्होंने अपनी कविता में प्रस्तुत किया है।

आर्थिक संघर्ष बलदेव वंशी ने अन्य मध्यवर्गीय कवियों की तरह स्वयं झेला है। शायद इसीलिए वे इस सत्य को इतने सटीक ढंग से व्यक्त कर पाए हैं—

खाल हड्डियों को छोड़े इसके पूर्व  
आंखों को भर रही है पीड़ा की कंपकंपाती दहशत।  
मुझे मंजूर है इसकी सीमा तक जाना। किन्तु  
संशय और भय के मिले-जुले रंगों में लिपटा  
ठिठका खड़ा हूं उल्टा-मुल्टा  
जिधर से शुरू करूं  
पेट बीच में पड़ेगा

मैं लांघ जाना चाहता हूं पेट तक सीमित भाषा

सिर्फ पेट हो रहना या सिर

दोनों ओछे पड़ते हैं चलने के लिए। अतः

मैं नृसिंह हो जाना चाहता हूं (दर्शक दीर्घा से, पृष्ठ 11)

लेकिन क्या वे पेट तक सीमित भाषा को लांघ सके हैं? उनके पहले कविता-संग्रह से लेकर अब तक के कविता-संग्रहों की कविताओं का अध्ययन तो हमें इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देने के लिए विवश करता है। उन्होंने बार-बार अपनी कविताओं में गरीबी और आर्थिक समस्या की चर्चा की है। जैसे—

दायें से

बायें

चल गयी है हवा (कहने को)

पर मुख्य चौराहे पर बच्चों को लिये खड़ा भिखारी

अब भी

दायें हाथ से मांगता है भीख (उपनगर में वापसी; पृष्ठ 17)

यह असल में स्वतन्त्र भारत का यथार्थ है। तमाम आर्थिक प्रगति के बाद भी स्वतन्त्र भारत में चालीस प्रतिशत लोग गरीबी की रेखा के नीचे जीवन व्यतीत कर रहे हैं। आर्थिक प्रगति का लाभ मुट्ठी भर लोगों को मिला है। स्वतन्त्र भारत में आर्थिक विषमता बहुत बढ़ी है। यह विषमता बढ़ी है समाजवाद के नाम पर। अब इस विषमता के और बढ़ने के आसार हैं, क्योंकि अब तो खुल्लमखुल्ला पूंजीवाद को स्वीकार कर लिया गया है और पश्चिम के पूंजीवादी देशों के दबाव में सरकार की ओर से आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों को दी जाने वाली सुविधाएं क्रमशः समाप्त की जा रही हैं। गरीबी की रेखा से नीचे रहने वालों की गरीबी दूर होगी, यह तो सम्भव नहीं दीखता, लेकिन यह सम्भव लग रहा है कि निम्न मध्यवर्ग न केवल गरीबी की ओर बढ़े बल्कि कुछ वर्षों में वह भी गरीबी की रेखा के नीचे चला जाए।

यह विषमता की स्थिति पैदा करने के लिए कौन उत्तरदायी है? उत्तर स्पष्ट है—भारतीय राजनेता और उनकी स्वार्थी एवं भ्रष्ट राजनीति। घोषित रूप से समाजवादी समाज की स्थापना के लक्ष्य के बावजूद भारत के स्वतन्त्र होने पर जिन लोगों के हाथ में सत्ता आई, उनकी समाजवाद में दृढ़ आस्था नहीं थी और न वे इस देश के जनसाधारण से जुड़े थे। स्वतन्त्र भारत में एक बार जो कुर्सी पर बैठ गया उससे हटने का उसने नाम ही नहीं लिया। पं. जवाहरलाल नेहरू भी अपवाद नहीं थे। समाजवाद में उनकी आस्था थी और आज जिन बड़े-बड़े सरकारी उपक्रमों को हम देख रहे हैं, वे इसी आस्था की देन हैं, लेकिन नेहरू जी ने भी सत्ता की राजनीति की और अनेक समझौते किए। उनकी कथनी और करनी में भी दरार थी। वे गांधी जी की तरह कथनी और करनी की एकता को नहीं बरत सके। उन्हें अपनी छवि की चिन्ता थी और अपनी शान-शौकत और ऐशो-आराम की भी। इसलिए उनके अन्दाज़ पर एक शायर की यह टिप्पणी कितनी सटीक लगती है—

न है इक्कार का पहलू न है इन्कार का पहलू

तेरा अन्दाज़ नेहरू का बयां मालूम देता है।

अगर आज के भारतीय राजनेताओं के अन्दाज़ पर यह शायर टिप्पणी करता तो वह कैसी होती, इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

स्वतन्त्र भारत में राजनीति भारतीय नागरिक के जीवन के हर पक्ष पर छाती गई है। तरह-तरह के कानून बनाकर उसे पूरी तरह जकड़ा गया है और उसकी स्वतन्त्रता का पूरी तरह हनन किया गया है। अगर वह स्वाधीन है तो इसलिए कि शासन कानून लागू नहीं कर पाता है और भारतीयों को कानून का पूरी तरह पालन करने की आदत कभी नहीं रही। वे स्वभाव से ही अराजकतावादी हैं। इसलिए यह अकारण नहीं है कि स्वतन्त्र भारत के तमाम हिन्दी कवियों की तरह बलदेव वंशी की भी कविता का एक केन्द्रीय सरोकार राजनीति रही है। जुलाई, 1970 में प्रकाशित अपने कविता-संग्रह 'दर्शकदीर्घा से' में 'मानसून' शीर्षक एक कविता उन्होंने दी है—

स्वार्थ दिन की तरह झनझनाता हुआ

देश पर बिछा रहा है रात की खामोशी

और लूट-खसूट पढ़ रही है

जनतन्त्र का संविधान....

'इस वर्ष कैसा बज्ज कि बहरा कर दू सबको'

—पूछता है मानसून....

बाढ़ से होने वाले नुकसान के ठीक विपरीत

एक नयी उक्ति के साथ

नेता लेट जाता है सोफे पर...

जनसाधारण के दुख-दर्द के प्रति नेता की यह उदासीनता 1970

(पृष्ठ 56)



के आसपास थी और लुट-खसोट भी खूब मच गई थी। तब से लेकर अब तक स्थिति और बिगड़ी है। राजनीति जनसाधारण के प्रति उदासीन ही नहीं रही है, एकदम सिद्धान्तहीन और भ्रष्ट हो गई है। शासन गिद्ध की तरह जनता को नॉच रहा है। नागरिक एकदम निरीह हो गया है। अगर भारत का आम आदमी आज जीवित है तो सरकार के बावजूद, उसके कारण नहीं। 'उपनगर में वापसी' शीर्षक अपनी लम्बी कविता में वंशी ने जो पागल, भगत कुबड़ा, भिखारी, बूढ़ा दुकानदार, आत्महन्ता इत्यादि पात्र प्रस्तुत किए हैं, वे नेहरू युग की विकृतियों के प्रतीक हैं। नेहरू के बाद के भारत में ये विकृतियाँ और अधिक बढ़ी हैं। आपातकाल भी स्वतन्त्र भारत की एक विकृति ही थी, जिसका विरोध अन्य कवियों की तरह बलदेव वंशी ने भी किया था। भ्रष्टाचार के कारण राजनीति और प्रशासन पर से ही नहीं, न्यायव्यवस्था पर से भी नागरिक का विश्वास उठने लगा है। हिन्दी कवि की इस राजनैतिक सजगता और उसकी तथा प्रशासन की खरी आलोचना ने हिन्दी कविता को प्रतिपक्ष की कविता बना दिया है। व्यावहारिक राजनीति, राजनेताओं के द्वारा बाँटे जाने वालों पदों-पुरस्कारों और सांस्कृतिक संस्थानों में आज हिन्दी साहित्यकार की भागीदारी नगण्य है। यह अकारण नहीं है।

स्पष्ट है कि बलदेव वंशी ने अपनी कविता में जिन अनुभवों को व्यक्त किया है, उनका सम्बन्ध उनके अपने जीवन से भी है और अपने चारों ओर के जगत से भी। वे मात्र स्वचेतस कवि ही नहीं हैं, परचेतस भी हैं। इसीलिए उनकी कविता को पहली बना देने वाला उलझाव उनमें नहीं है। उन्होंने साफ-सुथरी और स्पष्ट भाषा में बिना किसी लागलपेट के अपनी बात कही है। उनकी सादगी में भी एक कला है जो विशेषणों के प्रयोगों, शब्दक्रीड़ाओं, अलंकारों आदि के रूप में हमें देखने को मिलती है। चुगलखोर मौसम, छिनाल मौसम, मुर्दार गुटरगू, भेड़िया जुवान, हुनरमन्द हाथ, मायूस मिट्टी, सूर्यमुखी गांव, निर्वासित पेड़ जैसे विशेषण-विशेष्य युग्म किसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित नहीं करेंगे। जब हम उनकी कविता में ऐसी पंक्तियाँ पढ़ते हैं तब उनकी सार्थक लाक्षणिकता हमें प्रभावित करती है—

पैदल लाचारियाँ

हांफती हैं नसीबों के दलदल में

धंसती करुण आंखें

फैली हैं

नकशे पर

प्रतिशोध में

घूम रहे हैं

लाल सुर्खियों वाले

काले इशतहार...

(उपनगर में वापसी; पृष्ठ 44)

बलदेव वंशी की कविता को अलंकार-प्रधान नहीं कहा जा सकता। फिर भी उसमें अलंकरण है। उन्होंने अलंकारों का उपयोग अपनी कविता में किया है, विशेष रूप से उपमामूलक अलंकारों का। वे जब उपमामूलक अलंकारों का उपयोग करते हैं तब उनके उपमान न केवल नए होते हैं अपितु अत्यन्त सटीक भी। जैसे—

इधर

किधर बढ़ रहा है

इतिहास की धूलों और धूलों

में से उठकर

कागजी बुलन्दियों पर नढ़ रहा है।

नंगे पांव

गाय के खुर-सा नामहीन

नये अन्देशों की बड़ी

मंजिलें पार करता

बुढ़ापे की पछाहीं औलाद जैसा उपेक्षित

माथे की गहरी झुर्रियों में सिमटा-सिमटा

पसीने की बूंद

जैसा नमकीन... (बच्चे की दुनिया; पृष्ठ 29)

एक उपेक्षित-अवांछित बच्चे के लिए इनसे अधिक सटीक उपमान और क्या हो सकते हैं? उन्होंने कविता में वर्णन और विवरण की अपनी शैली विकसित की है। सुरजो सम्बन्धी उनकी ये पंक्तियाँ एक विशिष्ट शैली का उदाहरण है—

यह सुरजो है—

आग तापती कुंआरी

यहीं हाथ लगा है यह सीलन-भग दर्द

गीला धुआं खाया है उसने

हड्डियों के समानान्तर रेंगता अटा-संटा

—यह किसी सैलानी की उदार बख्शीश है। (वही ; पृष्ठ 41)

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि बलदेव वंशी की कविता एक ओर यदि उनके व्यक्ति की अभिव्यक्ति है तो दूसरी ओर उस जगत की जिसमें वे रहते हैं। उनकी कविता में उनकी भावुकता और कर्मठता दोनों ने अभिव्यक्ति पाई है। उन्होंने कविता लिखने के लिए कविता नहीं लिखी है बल्कि समाज और समय की आलोचना के लिए, उसे बदलने के लिए कविता लिखी है। फिर भी वे रूढ़ अर्थ में प्रगतिवादी कवि नहीं हैं। 'अकविता' के दौर में लिखते हुए भी वे 'अकवि' नहीं हैं। जैसा सम्भव हुआ है वैसा स्वतन्त्र मार्ग उन्होंने अपने लिए चुना है। उसी पर चले हैं, उसी पर चल रहे हैं।

50, वेस्ट ज्योति नगर, दिल्ली-110094



डा० विजया

## शब्दमय-रंगमय चित्रों की खामोशी

शामा के कलाकार का उत्स बहुमुखी प्रतिभा और बहुमुखी आयामों में निहित है। वे कथा-लेखिका हैं, कवयित्री हैं, चित्रकार हैं, फूलों की सजावट की जापानी कला—इकेबाना में भी सिद्धहस्त हैं। शब्द, रंग, यात्रा, जुदा-जुदा व्यक्तियों के विविध पक्ष आपस में घुलमिलकर-पिघलकर एक खामोश रचना को जन्म देते हैं। वे जीवन की कशमकश को शब्दों-रंगों में लाने-ढालने-उकेरने के लिए ही लिखती हैं, चित्र आंकती हैं। अतः उनकी कविता, कहानियाँ, यात्रा-वर्णन और पेंटिंग्स सृजनकर्म का साक्षात् किंतु खामोश रूप हैं। शामाजी की सारी रचनाओं के बीच से एकसाधिकता-एकसूत्रता की एक ऐसी महीन-सी रेखा दौड़ती चली जाती है कि गद्य-पद्य का अन्तर नष्टप्राय हो उठता है और शेष रह जाता है—केवल आत्मीय आह्लाद।

कविताएं लिखना शामाजी की विवशता है, चित्र बनाना तनाव-मुक्ति और एकान्त का सुख और कहानियाँ-यात्रावर्णन नारी की अस्मिता का यथार्थ और स्वाभिमान-स्वाधीनता-समानता का बेबाक आकर्षण। इनके कथ्य, भाषा, शिल्प और किसी नई सोच के तहत अपनी बात कहने में सच्चापन, साहस, संक्षिप्तता और चित्रमयता है। अतः उन्हें यह चिन्ता कभी नहीं सताती कि अपनी कहानी या कविता या यात्रा या पेंटिंग को किस चौखट में, कैसे फिट किया जाए। अतः साहित्य के तमाम नारों-अवरोधों को दुर्लक्षित करते हुए शामाजी अपनी नजर को आत्मविश्वास के साथ आंकती हैं। उनका व्यक्तित्व फिर एक बार इस बात की पुष्टि कराता है कि सृजन-कर्म संपूर्णता की मांग करता है, चाहे वह किसी भी क्षेत्र से क्यों न जुड़ा हो।

शामाजी के गद्य-साहित्य में 'जेहलम के मोड़', 'चिनारों की आग' (कथा-संग्रह) तथा 'पीछा करते सफर' (यात्रा-वर्णन) हैं। उनके अब तक प्रकाशित कविता-संग्रहों के नाम हैं—'चुटकी भर मुस्कान' (भारत सरकार द्वारा अहिंदाभाषी लेखकों में वर्ष 1981 की सर्वोत्तम पुस्तक के रूप में पुरस्कृत), 'उदासियों के शहर में', 'मुट्ठी भर टूटन', 'तुम्हें याद तो होगा', 'तुम मेरी आदत हो', 'समुंदर ने चुरा लिये किनारे', 'वक्त के कोरे पन्ने पर' और 'पीली धूप का टुकड़ा'। शामाजी के चित्रों की एकल प्रदर्शनियाँ 1972 से 1998 तक लगभग पंद्रह-सोलह स्थानों पर [जबलपुर, श्रीनगर, दिल्ली (दो बार), डी.एस.ओ.आई. तथा ए.

आई.एफ.ए.सी.एस. में) मुंबई (तीन बार जहांगीर आर्ट गैलरी), नाइजीरिया (दो बार लागोस और कदुना में), लंदन, कलकत्ता, त्रिवेणी कला संगम (दो बार), आर्ट स्टुडियो जी.के. -टू] संपन्न हुई हैं।

शामाजी का जन्म-स्थान श्रीनगर (कश्मीर) है। यह प्रदेश अपनी प्राकृतिक शोभा के लिए जग-विख्यात है। भारत के लिए सामरिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। कल्हण की राजतरंगिणी में इसका इतिहास उपलब्ध है। झील जैसे इस प्रांत का इतिहास कश्यप मुनि द्वारा लोगों के भूमि पर बसाने से प्रारंभ होता है। सम्राट अशोक द्वारा बौद्ध धर्म का प्रचार, 1346 के बाद हिंदू राजाओं का शासन,

मुगलों सिखों-अंग्रेजों का शासन तथा स्वतंत्रता के बाद पाकिस्तान का अनधिकार इस प्रदेश की भाषा को भी प्रभावित करता गया। अतः यहाँ की भाषा (कश्मीरी) पर संस्कृत, पाली, हिंदी, उर्दू, अरबी, फारसी, अंग्रेजी का प्रभाव पड़ता गया। शामाजी की मानसिकता भी इससे



अछूती नहीं है, अतः इनकी हिंदी में यह प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। संभव है कि भाषा की शुद्धता के पक्षधर शामाजी की भाषा में त्रुटियाँ दृढ़ लें किंतु मेरी दृष्टि में ये प्रभाव उनकी सौंदर्य-शैली को कोई हानि नहीं पहुंचाते वरन् भाव-सौंदर्य की गहराई को उकेरते ही हैं। शामाजी का व्यक्तित्व परंपरा से हटकर नहीं है, पर नया अवश्य है। उनके नाम का अर्थ है— कालिका। यह चंडी का एक रूप है। संस्कृत में इसे कालिका और कश्मीरी भाषा में शामा कहते हैं। इसे उग्रतारा भी कहते हैं। शामाजी के लेखन में उग्रता नारी पर होते अत्याचार-अन्याय-शोषण के वर्णन में प्रखरता से परिलक्षित होती है। वे नारी को 'सर्वनाम' होते नहीं देख सकतीं। अतः शामाजी का लेखन अन्याय-अत्याचार-अस्वीकार से छुटकारा पाने की कोशिश की सक्षम अभिव्यक्ति है।

मेरे समक्ष संधान-74, 1996 में प्रकाशित कहानियाँ तथा 'चिनारों की आग' की कुल बीस कहानियाँ हैं। इन पुस्तकों के आमुख पढ़ें तो स्पष्ट हो जाता है कि बालमन की अति संवेदनशील मिट्टी पर पड़े बीजों की फसल आजीवन कटती ही रहती है। इस फसल को उगानेवाला वही होता है जो नारी को अस्वीकार करता है। ऐसे अनेक अस्वीकारों को झेलती-ढोती-पराजित होती नारी नियम-प्रथा-परंपरा से टकराती है। लेखिका का हर नारी को यह आह्वान है कि वह इस स्थिति से बाहर निकले। यदि वह अपनी तुच्छता को समाप्त करना ही अपना ध्येय, लक्ष्य बनाए तो औरत की संपूर्णता एक संज्ञा बन जाती है, वह सर्वनाम नहीं रह जाती। 'मनु-र्भव' का रहस्य इसी में छिपा है। इस प्रक्रिया का कोई पुरो-वाक नहीं होता है अतः लेखिका का मानना है कि अस्वीकार से उद्भूत अकेलापन त्रासदी नहीं है। वह ऐसा 'एकान्त' है जहाँ असुरक्षा-पराजय का कड़वा सच नष्ट हो जाता है और अकेलापन अंतर को आलोकित करता है। बालमन पर पड़े बीज और एकान्त के सामंजस्य-सम्मिलन-साहचर्य से चित्र, कविता, कहानी का जन्म होता है। शामाजी चाहती हैं कि हर नारी ऐसी पार्वती बने जो मन के पूरे रोष का मैल उतारकर एक पुतला बनाए जो उसकी रक्षा करे, दिलासा दे। इस सारी प्रक्रिया का श्रेय शामाजी उस मुहब्बत—जीवनास्था को देती हैं जो सहना और संयम रखना सिखाती है ताकि सच बोलने के किंचित् साहस-आत्मतुष्टि से एक कलाकार का मन सराबोर हो सके।

शामाजी की अधिकांश कहानियाँ नारी-केंद्रित हैं। पुरुष पात्र भी उनकी कहानियों में प्रमुख हैं किंतु शामाजी यदि यह देखती हैं कि उनका नारी पात्र दबता-घुटता-दूटता है तो शामाजी की संवेदनशीलता दो सूत्रों से मुखर हो उठती है। सूत्र का एक छोर सृष्टि की प्राकृतिक तरलता-सहजता-सरलता से जुड़ा है तो दूसरा छोर समाज-व्यवस्था के उपीड़न, विस्थापितों के दर्द, अस्वीकार-पराजय की चोट से बंधा है। अतः शामाजी की शैली की विशेषता उनके ही शब्दों में 'शरद काल

में सेंकी हुई आग की मीठी गरमाई-सी स्निग्धता' है। शामा की 'दिलासा' और 'सौलकी' जैसी निम्न वर्ग के पात्रों को लेकर लिखी गई कहानियाँ अपने बेवाक-बेलौस चित्रण के कारण महादेवी वर्मा द्वारा अंकित 'सविया' जैसी कई स्त्रियों का स्मरण दिला जाती हैं। आतंक और असुरक्षा का स्वर 'हमोदा बानो', 'नरगिस के फूल' जैसी कथाओं में उभरता है। 'कंगन' और 'विडंबना' मध्यम श्रेणी के परिवार के बीच उभरते घटना-प्रसंगों का यथार्थ चित्र है। कश्मीर की वादियों की महक, उसकी छटा 'मां', 'दरार', 'मिन्नी', 'चिनार की शाखें', 'चिनारों की आग', 'प्रवंचना' जैसी कहानियों में बिखरी पड़ी है। 'खंडहर' अपनी ऐतिहासिकता के साथ सृष्टि की सुंदरता-जड़ता को व्यक्त करता है। 'ठिठुरती-सी एक रात', 'दर्द', 'मौन की वैसाखियाँ' कहानियों में निश्छल मौन आकर्षण का तरल अंकन है।

नारी संबंधी संवेदनशीलता का विचार या चिंतन पक्ष उनकी कहानियों में आए निम्न वाक्यों से परिलक्षित होता है—

—औरत शादी के बाद संज्ञा से केवल सर्वनाम ही तो होकर रह जाती है—पर कुछेक सर्वनाम सार्थक होते हैं और कई सर्वनामों का कुछ अर्थ ही नहीं होता।

—औरत की जिन्दगी हमेशा ही समाज के गलत मूल्यों पर कुर्बान होती आई है और इसके इस असह्य दुख को दुख सहनेवाला ही समझ सकता है।

—औरत के साथ हुई जबरदस्ती भी न आदमी माफ करता है न समाज और न ही औरत की अपनी अन्तरात्मा। सामाजिक कलंक के बोझ से संपूर्ण भरा-पूरा अस्तित्व ही सिकुड़ कर रह जाता है।

—अपना घर, अपने बच्चे, प्यार, पति, गृहस्थी किस औरत को नहीं चाहिए? पर झूठ की नींव पर सच्चा घर नहीं बन सकता।

—औरत जमीन की तरह जीती है—चुपचाप होंट दबाकर दुख सहती हुई।

—औरत का आदमी की मर्जी पर कोई जोर नहीं होता। दुख झुग्गी-झोपड़ी में रहनेवाली औरत का हो या गोलफ लिंक के बंगले में रहनेवाली मालकिन का—कैसे जुड़वां रूप हो जाते हैं।

—अस्वीकारे जाने का दुख कोई छोटा दुख तो नहीं होता। उसे न भुलाया जा सकता है, न वह किसी को सुनाया जा सकता है। बस, घोर घुटन के साथ वह जिया ही जा सकता है।

—औरत जब प्यार करती है तो वह आदमी का घर-बार, मां-बाप, धन-दौलत, कुछ भी तो नहीं देखती। वह एक-निष्ठ होकर प्यार करती है। उसके शब्द-कोश में प्रेमी का अर्थ होता है पति!

—औरत का हक क्या होता है? वही तो न जो आदमी रहम कर उसे दे दे। वह छीनकर या मांगकर मजबूर करके उससे कुछ भी तो नहीं ले सकती।

—औरत के दिल में विधाता एक ही खाना बनाकर काम समाप्त



कर देता है। वह उसमें एक ही चाहत रख सकती है। उसी एक चाहत के लिए जी-मर सकती है।

—नारी-क्षमता आदमी को एक आंख नहीं भाती, चाहे उस आदमी का रूप कोई भी हो, संबंध कोई भी हो।

—औरत का दर्द औरत ही समझ सकती है, मर्द कभी नहीं।

—आंसुओं और औरत की आंखों का न जाने कौन-सा अटूट रिश्ता है।

—असहाय होकर जीना भी तप है। दुख जीने की शक्ति मानव मन में संकल्प की ऊर्जा भरती है।

शामा की कहानियों में सम्मिलित उपरोक्त सूक्तियां नारी-जीवन, नारी-मन, नारी-अस्मिता और नारी की दृढ़ता-जिजीविषा का गहरा अहसास कराती हैं। शामा की कहानियों का कथ्य व्यक्ति-परिवार-समाज से उभरते कूट-क्रूर यथार्थ और मानसिक तनावों की हकीकत है। पात्रों के माध्यम से शामाजी पाठक की बौद्धिकता को ऐसा कचोटती हैं कि नारी जीवन और नियति के लुका-छिपी खेल को अपने आप जीवंत, बुलंद मान्यता मिल जाती है। शामाजी का यह नारी-व्यथा का अंकन मध्यवर्गीय समाज का है किंतु अभिजात वर्ग पर ताने कसनेवाला नहीं है क्योंकि इन कहानियों में पुरुष-वर्ग इन्सान भी है। 'ठिठुरती-सी एक रात' के अंशुल, 'परछाइयाँ' के हिमान्त, 'चिनार की शाखें' के बाऊजी, 'प्रवंचना' के भाईजी, 'श्रीनाथजी' कहानी के श्रीनाथ, 'हमीदा बानो' के रज्जाक, 'दरार' के नितिन आदि पुरुष पात्रों का संकल्प अलग-अलग मिट्टी से बना हुआ था किंतु उनके संबंध रेशम के धागों से बंधे हुए थे। शामाजी की यह उक्ति सार्थक जान पड़ती है कि "वृणा और प्रेम में बाल-सा बारीक भेद होता है, जो केवल जीनेवाला ही जान सकता है।" पुरुष की प्रकृति के विषय में शामा की कहानियों में प्रयुक्त कुछ सूत्र-वाक्य इस प्रकार हैं—

—आदम जात ही ऐसी है कि जान देने की बात करते-करते औरत की जान ले लेता है।

—आदमी स्वयं लाख ज्यादतियां कर ले—किसी गैर औरत के घर जाए या किसी गैर औरत को घर ले आए, समाज भी उसे माफ कर देता है। और उसे भी अपना किया हुआ गुनाह कभी लगता।

—आदमी का अहं यह कभी स्वीकार नहीं करता कि औरत उसे 'न' कह दे। उसके रिश्तों को ठुकरा दे।

—आदमी आसमान की तरह गरजता-बरसता है।

—आदमी की इन्सानियत, पौरुष, दया, करुणा सब वहीं तक सीमित रह जाते हैं जहां तक उसकी मर्जी होती है। और उसकी मर्जी कभी भी बदल सकती है।

—आदमी परिदा होता है, कभी भी उड़ जाता है।

—क्या-क्या ढोंग रचाता है आदमी अपने अंदर का खोखलापन छिपाने के लिए। घिनौने सत्यो को सुंदर लिखा पढ़ाने में माहिर है।

वह है ही। स्वयं सुविधा-भोगी मन का अहं रखने के लिए वह कुछ भी कर सकता है—बीबी-बच्चों को छोड़ सकता है, प्रेमिका को भी, मां-बाप को भी।

—आदमी के दिल में शायद बहुत से खाने होते हैं और वह विभिन्न खानों में विभिन्न हिसाब-किताब रख लेता है।

—औरत को आदमी टुकड़ों-टुकड़ों में ही झेल सकते हैं—पूर्ण इकाई के रूप में नहीं। विशेषकर एक समग्र चैतन्य स्त्री को तो वे पूर्णतया ही तोड़ देना चाहते हैं। आदमी अपने स्वभाव व आचरण से निजी पारिवारिक जीवन में कितनी ही विषमताएं क्यों न पैदा कर दे, उंगली पत्नी की ओर ही उठती है।

शामा की कहानियों में कल्पना की उड़ान समकालिक (सिनक्रानिक) और बहुकालिक है। वह समकालिक इसलिए है कि कहानी का आधार तो वर्तमान है पर वह स्मृति-यात्रा या फ्लैश-बैक की तरह अतीत से फिर वर्तमान तक बढ़ती है। वह अतीत की ओर बढ़ती है तो कौतूहल, निर्भयता, आवेग-संवेग-भाववेश, प्रेमानुराग की अन्तरंगता, उज्ज्वल सौंदर्य, प्रकृति, नारी तत्व, नारी दुर्बलता आदि पायदानों से होकर। इसे ही शामा की संदृष्टि का अन्तर्मुखी होना कहा जा सकता है। वे नारी की सहिष्णुता-सृजनशीलता के बल पर ऐसी भूमि को जन्म देती हैं, जहां करुणा के साथ-साथ अपने पैरों पर खड़े होने की निर्भयता, शौर्य, आत्मविश्वास, दृढ़ता सभी कुछ विद्यमान है। रिचा की मां साहिबा और 'खण्डहर' की श्रुति इसके सशक्त उदाहरण हैं। "जो अकेलापन अन्तर को आलोकित करता है, वह एकांत है"—शामा की यह सोच हर कहानी में प्रखर रूप से कार्यरत है। अतः उनका हर नारी पात्र अपनी आंतरिक वेदना, पीड़ा से बाहर निकलने की कोशिश में रहता है। हर नारी पात्र अपनी सहिष्णुता के कारण पुरुष की हर ज्यादती को मौन होकर जीता-सहता है क्योंकि "अपनी-अपनी सलीबें स्वयं को ही ढोनी पड़ती हैं चाहे संगमरमर की हों या काठ की।" औरत की किस्त-किस्त होती ये कहानियां नारी-जीवन की संवेदना, पुरुष-समाज-व्यवस्था और पुरुष के अहं-आतंक से मुक्ति पाने का प्रबोध हर मोड़ पर व्यक्त करती हैं। इस समाज ने सहिष्णुता को नारी की विवशता बना दिया है। अतः कहानियों की अंतर्मुखी कल्पना वास्तविक घटनाओं के इर्दगिर्द एक मानसिक सूक्ष्मता, भावुकता, सरलता, सुकुमारता का कोहरा फैला देती है। इनके भीतर ही कहीं नारी 'मनु-र्भव' के रूप में अपने निजी प्रेम को मातृत्व व करुणा में ढालकर एक सशक्त बलिदान-विद्रोह का मानक खड़ा करती है। पाठक कौतूहल और आश्चर्य के आरपार जाकर भी गद्य में कवयित्री शामा को खोजने लगता है क्योंकि हर स्त्री पात्र के भीतर शामा 'मैं' के रूप में प्रवेश कर जाती है।

शामाजी की कहानियां संरचनात्मक इकाई के रूप में न केवल



कथा है, न केवल अभिव्यक्ति है और न ही केवल व्यक्ति-मूलक तथ्य। कहानी का कथागत ढांचा बाहरी है। अतः वृत्तांत और वर्णनात्मकता के बीच यथातथ्यता और प्रकृति की सुंदरता की अभिव्यक्ति का इतना सुंदर ताना-बाना पूरी कहानी-भर फैला हुआ है कि पाठक के मानस-पटल को पात्रों की जटिलताएं और संबंधों का रूप घेर रखता है—कहानी पूरी पढ़ लेने के बाद भी। जहां पात्र और घटनाओं का खाका स्पष्ट है वहां कहानी में मानसिक स्तर पर एक उत्तेजक अक्स बार-बार झांकता है। इस अक्स की प्रेरणा पर कहानी कहनेवाला पात्र अतीत में जिसकी कहानी बयान की जा रही है उससे अपनी तुलना करता है, समानता को ढूंढ़ता है और बार-बार सोचता है कि स्त्री की दयनीयता का कारण क्या हो सकता है? अगर वह निम्न या मध्य वर्ग का होना नहीं है तो क्या है? घटनाओं का साफ खाका यह बतलाता चलता है कि स्त्री की दयनीय स्थिति के लिए कारण है—पुरुष का झूठा प्रेम, दंभ, लापरवाही, असंवेदनीयता, क्रूरता और सबलता का अहं आचरण। स्वयं स्त्री भी आधुनिक होकर अपनी दुर्बलता को दूर नहीं कर पाई है क्योंकि पुरुष हर चीज से मुक्त हो जाता है किंतु नारी अपने मातृत्व से नहीं।

शामाजी की कहानियों का विस्तृत फलक जैसे स्त्री के हर रूप—नारी, प्रेमिका, पत्नी, बहन, मां को उजागर करता है, वैसे ही पुरुष पात्र भी पुरुष, प्रेमी, पति, भाई, बाप बनकर आता है किंतु केन्द्र में नारी है। यह लगना स्वाभाविक है कि शामाजी अपने भागे हुए, देखे हुए यथार्थ से बाहर निकलें तो अच्छा है। किंतु उनकी चिन्तनशीलता का सकारात्मक रूप उन्हें कुल मिलाकर समाज की ओर भिन्न ढंग से देखने-समझने-परखने की ताकत देता है। अतः शामाजी की नारी स्थायी चेतन प्रभाव छोड़ जाती है। वह सृजन के उस मर्म को द्योतित करती है जहां अकेलापन शापग्रस्त या अभिशप्त नहीं होता बरन् अनुकरणीय बन उठता है।

कहीं विवाह-पूर्व पुरुष के आकर्षण, प्यार, मेल-मिलाप आदि से संबंधों में परिस्थितिजन्य दरार आ जाती है तो कहीं विवाह के बाद भी पुरुष की ऐयाशी पारिवारिक संबंधों में दरार डाल देती है और कहीं आशवासनों की पूर्ति न होने और इंतजार की दशा में स्त्री अन्तर्मुखी हो उठती है, एकाकी हो जाती है। जब वह संभल जाती है तब उसके अकेले का स्वाभिमान-स्वाधीनता-समानता मानव-हित का भाव लिए विस्तृत हो उठता है। अतः इन कहानियों की नैतिकता का अर्थ सहिष्णुता का परिपाक और अकेला एकांत है।

द्वारा- बी-113, चितरंजन पार्क, नई दिल्ली-110019

## सुपरिचित चित्रकार एवं संवेदनशील लेखिका शामा की

### अभिव्यंजना से प्रकाशित कृतियाँ

चिनारों की आग (कहानी-संग्रह)	125.00 रु.
पीछा करते सफर (यात्रा-वृत्तान्त)	95.00 रु.
पीली धूप का टुकड़ा (कविता-संग्रह)	100.00 रु.

### संचेतना के ग्राहकों को आधे मूल्य में

## अभिव्यंजना

बी-70/72 डी.एस.आई.डी.सी. काम्प्लेक्स  
लारेंस रोड, दिल्ली-35, फोन-7180701



## देवेन्द्र इस्सर मिस्टर रोशो

रोशो! यह उसका असली नाम था...?

मालूम नहीं।

किसी नाम की बिगड़ी हुई शक्ल भी हो सकती है।

मसलन?

रोशन सेठ, सलमान रुशदी, ओशो, परशुराम, रोशोमान, हिरोशिमा, यरोशलम...

मुमकिन है। लेकिन हम उसे मिस्टर रोशो के नाम से ही जानते थे।

तो हाँ, तुम इस मिस्टर रोशो के बारे में कुछ बताने जा रहे थे।

मिस्टर रोशो इस चायखाने में हर रोज़ आते थे, बिना नागा, हर शाम, बारिश में, आँधी में, तूफ़ान में, बीमारी में। यहां तक कि कफ़्फ़ू में भी—छुपते-छुपाते वह आते ज़रूर थे। सिवाय रविवार के।

—इस दिन तो खुदा ने भी सृष्टि की रचना के बाद छुट्टी की थी।

—सुना है कि रविवार की सुबह को वह शहर से कहीं बहुत दूर निकल जाते थे। और दूसरे दिन सूर्योदय से पहले ही लौट आते थे। लेकिन यह रहस्य ही रहा कि वह कहां जाते हैं? किससे मिलते हैं? न उन्होंने परदा उठने दिया, न किसी ने इसे उठाने की कोशिश ही की। चायखाने में उनके आने का कोई निश्चित समय नहीं था। लेकिन आते थे वह जब सूर्यास्त होने का समय होता या जब रोशनी की अंतिम किरण सिमटते-सिमटते नन्हा-सा बिंदु बन जाती थी। और सूरज, वे जो मटियाली पहाड़ियां देख रहे हैं न, उनके पीछे फिसल नहीं जाता था। जब आसमान का रंग सुर्ख से सियाह नहीं हो जाता था। वह

उस समय तक चायखाने में बैठे रहते जब तक कि चायखाने के बंद हो जाने का समय नहीं हो जाता था। कभी-कभी तो आखिरी आदमी भी जा चुका होता था। मेज़ों से प्लेट-प्यालियां हटाई जा चुकी होती थीं। कुर्सियों को मेज़ों पर औंधे मुंह रखने का काम शुरू हो चुका होता था। लेकिन जब तक मिस्टर रोशो स्वयं उठ कर जाने के लिए तैयार नहीं हो जाते थे उनकी मेज़ के ऊपर वाला छोटा-सा बल्ब जलता रहता था।

उसके पीले प्रकाश के वृत्त में वह किसी गुज़रे हुए ज़माने का दरवेश दिखाई देते थे—अपनी आयु से कहीं अधिक वृद्ध। मिस्टर रोशो हमेशा कॉफी के दो प्याले मंगवाते थे—अपने लिए ब्लैक कॉफी और सामने वाले के लिए क्रीम कॉफी। फिर वह अपने काले चर्मी बैग से कोई किताब निकालते और उसके पन्ने पलट-पलट कर सामने वाले को सुनाने लगते।

—क्या वह उनका कोई दोस्त था?

—नहीं। यही तो बात है। उनके सामने कोई नहीं होता था। कुर्सी खाली होती थी। लेकिन वह किताब इस तरह पढ़ते थे, इस तरह झुककर बातें करते थे, जैसे सामने वहां कोई दूसरा मौजूद है... कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि जब कोई हमारी बात सुनने वाला नहीं होगा तो क्या हम भी खाली कुर्सी से बातें करेंगे।

—इसकी चिंता न करो। इससे पहले ही हम गूंगे हो जाएंगे—तो हाँ, आप मिस्टर रोशो की दास्तान सुनाने जा रहे थे।

—कहां से शुरू करें?

—कहीं से भी शुरू कर सकते हो। सब दास्तानें एक जैसी ही होती हैं।

—लेकिन अंजाम अलग-अलग होता है।

—इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। फ़र्क होता है तो बस इतना ही कि दास्तान के आखिर में किरदार या तो सुरंग में से निकल रहा होता है या दाखिल हो रहा होता है।

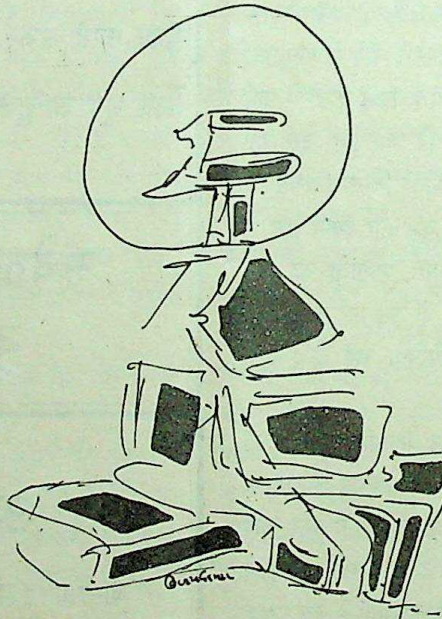
—लेकिन मिस्टर रोशो तो एक सुरंग से निकलते थे तो सामने दूसरी सुरंग मौजूद होती थी।

—लेकिन मामला हर हाल में तो

सुरंग पर ही खत्म होता है।

—तो चलो, बीच सुरंग से ही शुरू करता हूँ। फिर आगे पीछे...

“उस दिन वह किसी काव्य-गोष्ठी से वापस आए थे। रात के लगभग नौ बजे थे। रेडियो पर ख़बरें सुनाई जा रही थीं। उन्होंने दरवाज़े पर दस्तक दी। अंदर से आवाज़ आई, “जहां से आए हो वहीं चले





फिर अचानक वही दुःखी आँखों वाली पहेली बार उसने घर छोड़ा था तो वह 'कम्यून' में आ गया था। यह कोई वाकायदा कम्यून नहीं था। पश्चित लाइब्रेरी थी जिसमें लकड़ी के मेकशिफ्ट केबिन में एक कामरेड रहता था। बार-दोस्त वही मिलते थे। हर शाम महफिलें जमती थीं। ग्टडी सर्कल होते थे। रात को शेर-ओ-शायरी होती थी— 'ऐ गुमे दिल क्या करूँ' ऐ वहशते-दिल क्या करूँ', 'मुझ से पहेली सी मुहब्बत मेरे महबूब न मांग', 'जमाने अब तो खुश हो ज़हर यह भी पी लिया मैंने...' हुनो-इश्क के झुटे-सच्चे किस्से सुनाए जाते थे। किताबें पढ़ी जाती थी—कृष्ण चंदर, मंटो, कार्ल मार्क्स, किस्से-कहानिया, कहकहे, कॉफी, कौमिक्स, कामसूत्र।"

—लेकिन उन्होंने घर क्यों छोड़ा?

—बस ऐसे ही, यूँ ही, स्टालिनग्राड पर हिटलर ने आक्रमण  
 तो रेड आर्मी बना ली। अगस्त क्रांति हुई तो दीवारों पर इबारत  
 दी—अंग्रेजो हिन्दुस्तान छोड़ दो। बंगाल में अकाल पड़ा तो मली  
 में—‘भूखा है बंगाल रे साथी भूखा है बंगाल’ गाते हुए कापड़े-लत्ते,  
 चावल जमा करने लगा। जब शहर की फ़ज़ा बिगड़ने लगी तो  
 छात्रों का जुलूस निकला—अम्म मार्च। शहर में इससे बड़ा  
 स पहले कभी नहीं निकला था और लोगों ने इस तरह एक साथ  
 भी नहीं किया था। उस वक़्त भी नहीं जब शहर की सड़कों पर  
 उबल पड़ा था—‘त्वाल किले से आई आवाज़, सहगल, दिल्ली  
 नवाज़’। कचहरी के पास पुलिस ने जुलूस का रोक लिया। रोशनी  
 उसके साथ दो और छात्रों को हिरासत में ले लिया गया। बस  
 के बाद उसने घर छोड़ दिया। पिता बहुत नाराज़ हुए थे। कहा कि  
 रैफ़ के साथ अपनी जिन्दगी बर्बाद न करो।

—उस समय उसकी उम्र क्या रही होगी?

—यही कोई सत्रह-अठारह बरस। लेकिन कम्यून भी बिखरने  
था। छिटपुट छुरेबाजी की वारदातें हो चुकी थीं। गेशों को उसके  
में न हॉस्टल पहुंचा दिया। और फिर दो दिन बाद रात के अंधेरे  
ग्री-ब्लूप् रेलवे स्टेशन—और वह गाड़ी में बैठकर सरहद के इसी  
आ गया। उस समय भी अंधेरा था। अब भी अंधेरा था। उस समय  
बारिश हो रही थी। अब भी बारिश हो रही थी। उस समय भी वह  
अज्ञात मंजिल की ओर जा रहा था। अब भी वह एक अज्ञात  
ल की ओर जाने वाला था। सुनसान कमरे के अंधकारमय मीन में  
रास्ते की तलाश कर रहा था कि बादलों के गड़गड़ाने की आवाज़  
कमरे का सनाटा टूट गया। बिजली ज़ोर से कड़की, चमकी और  
र के अंधेरे को खंजर की भांति चीर गई। इस शोर और गेशनी के  
रोशनदान से बर्फ की एक चमकती हुई सिल-सी कमरे में  
बुल हुई और उसके सामने मैले फर्श पर चांदनी-सी बिछ गई। बर्फ  
सिल धीरे-धीरे पिघलना शुरू हो गई। जहाँ-जहाँ बर्फ पिघल रही  
नीली-नीली शिराएं उभरने लगीं और देखते-देखते बर्फ की सिल

(मौन। दास्तान रुक गई। निस्तब्धता छा गई और वे जैसे उस में दाखिल हो गए थे।)

(मौन। दास्तान रुक गई। निस्तब्धता छा गई और वे जैसे उस कमरे में दाखिल हो गए थे।)

“घर उसने पहली बार नहीं छोड़ा था। लेकिन इस प्रकार वह



एक मानवाकृति बन गई। होंठों में, हल्का-सा कपन हुआ। शरीर में स्पंदन। गहरी सब्ज नीली आंखें झील-सी लहराने लगीं। सूफियों का सफेद ढोलाढाला लबादा—मिस्टर रोशो विस्मित-सा इस ज्योतिर्मय चेहरे को देख रहा था। सहसा सम्मोहन से जाग कर वह खुशी से चिल्लाया—“प्रोफेसर साहिब।”

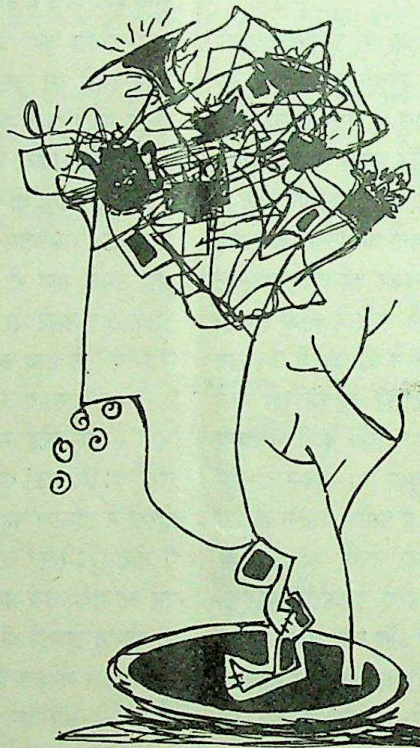
“कैसे हो रोशो?” होंठ सरगोशी के अंदाज़ में हिले। “और आप प्रोफेसर साहिब?” “पाटी लीर पुरानी बांगों टंग गई विच कीकरां।” वही आवाज़, वही खनक, वही जिज्ञासु पाग-सी बेचैन आंखें, वही मुस्कराहट—हवा ताज़ा बनाते, महकाते। सब कुछ वही था। बस बदन एक पारदर्शी शीशा था। मिस्टर रोशो इस शरीर के गिर्द सियाह शेरवानी और सिर पर फ़ैज़ कैप की कल्पना कर रहा था। यह उसके फ़िलॉसफी के प्रोफेसर थे। उस शहर में जो उससे चालीस वर्ष पहले छूट गया था। जिस मकान में रोशो रहता था उससे दो मकान छोड़कर वह रहते थे। कभी-कभी उनके घर में और कभी शाम या रात को टहलते उनमें

मुलाकात हो जाती थी। ज़िन्दगी जीने और समझने का शऊर उनके निकट बैठकर और उनके साथ बाहर खुले में घूमकर उसे मिला था। एक बार जब वह सख्त बीमार हुए और उन्हें अस्पताल में दाखिल होना पड़ा तो रोशो उस समय तक उनके साथ रहा था जब तक कि वह स्वस्थ नहीं हो गए थे। वह इस शहर में अकेले थे। रोशो ने अस्पताल में एक दूसरे शास्त्र को देखा था जो मार्क्स, फ्रायड और आइन्स्टाइन के बजाय जीवन-मृत्यु और सृष्टि के रहस्यों पर इस प्रकार बातें करता रहा था जैसे कोई तंद्रा में बोल रहा हो। रोशो यह सब सुन कर दुविधा में पड़ गया कि क्या वह वही शास्त्र है जिसने उसे द्रंढात्मक भौतिकवाद की शिक्षा दी थी। और वहीं अस्पताल में उसे उनकी शायरी सुनने का अवसर मिला था जिसमें

घनगरज के बजाय रूमानी अवसाद था और अब वह अन्तर्गम पढ़ने उसके सामने बैठे थे—“देखो बरखुरदार, जब तक हम अना (अहं) के हीलों, बहानों, उसकी फ़रेब मुफरोज़ी की पूरी आगाही (चेतना) पैदा न करें, हम अंदर उस तख्तीकी सरचश्मा (सर्जनात्मक स्रोत) को फूटने नहीं देंगे जो हमारे अंदर फ़ितरत (प्रकृति) की आवाज़ है। यही आगाही ख़ुलोकी सरमस्ती है। इसी आगाही की बदौलत इन्सान पथरो,

दरख़ा, फूल-कोटी और पारदा से हमकलाम हो सकता है—इसी आगाही से अना ज़ायल(समाप्त) होती है और वो बेवक्त का सन्नाटा जो तख़लीक के दरिया में लहरें और तूफ़ान पैदा करता है सामने आता है... लफ़्ज़ों की इस मजबूरी की आगाही ही ख़ामोश आगाही पैदा करती है जिसमें किसी ज़ज़्बा, किसी एहसास को तयशुदा नाम नहीं दिया जा सकता।”

रोशो को महसूस हुआ कि वह परिदों की तरह परवाज़ करने लगा है। वह ज़मीनों और ज़मानों के पार पहुंच गया है—जहां न मनुष्य है, न ईश्वर, मात्र शून्य है—बस एक ही सदा अनहद नाद बनकर गुंज रही है—अल्लाह हू। रोशो ने देखा कि बर्फ की सिल प्रकाशमंडल बन कर रोशनदान से बाहर निकल कर बादलों में गुम हो गई है—लेकिन उनकी मौत को तो कई बरस बीत गए थे...। कमरे में ख़ामोशी छा गई थी। बाहर बारिश की बूंदों का शोर था। अंदर भी अंधेरा था और बाहर भी अंधेरा था। मिस्टर रोशो पांच फैलाकर अधलेटा-सा हो गया जैसे



तंद्रा में चला गया हो। उसे हल्का-सा आभास हुआ कि दरवाज़े पर कोई दस्तक दे रहा है। अर्धस्वप्न और अर्धचेतना में उसे दस्तक की आवाज़ बहुत दूर से आती सुनाई दी। आवाज़ निकट आती गई। उसने आंखें खोलीं और बाहर की तरफ देखा। बाहर दरवाज़े पर कोई जोर-जोर से दस्तक दे रहा था। इतनी रात गए कौन हो सकता है! जो आया है उसे कैसे मालूम हो गया कि मकान में कोई आ गया है। कोई उसका पीछा तो नहीं कर रहा था! कोई भूतप्रेत तो नहीं! कहते हैं कि जो जगहें सुनसान पड़ी रहती हैं उनमें भूत बसेरा कर लेते हैं। लेकिन भूतों के लिए बंद दरवाज़े क्या और खुले क्या। वे तो दीवारों के बीच से भी प्रकट हो जाते हैं। भूत हो या दोस्त या कोई दुश्मन उसे देखना तो है ही। जिस

दरवाज़े पर दस्तक हो गयी थी वह तो उस कमरे का दरवाज़ा है। उसके पहले तो गली का दरवाज़ा आता है। यह व्यक्ति दीवार फांद कर पीछे वाली गली से क्यों आया है? मिस्टर रोशो ने डरते-डरते दरवाज़ा खोला और उसके पीछे छुप गया। “रोशो साहिब! मैं हूँ—वर्मा।” “वर्मा। कौन वर्मा?” एक अंधेड़ उम्र का आदमी कमरे में दाखिल हुआ। उसके हाथ में एयर बैग था। मिस्टर रोशो को अंधेरे में देखने



का कुछ-कुछ अभ्यास हो गया था कि यह चेहरा उसने इससे पहले कहीं देखा है। कहाँ? कब? कुछ याद नहीं आ रहा था। लेकिन अब भय की जगह जिज्ञासा ने ले ली थी। “यदि आप मुझे न बचाते तो मैं आज यहां आपके पास न होता। वे लोग मुझे मार डालते।” “कौन लोग?” “वही जेल के हमारे साथी।” मिस्टर रोशो को कुछ-कुछ याद आने लगा। वह लड़का जेल में उसके साथ उसी बैरक में था। अभी उसकी मर्से भी न भीगी थी। अब उसकी कनपटियों के बाल सफेद हो रहे थे। मिस्टर रोशो के सामने जेल का दृश्य घूम गया। एक दिन वह अभी पूरी तरह जागा भी नहीं था कि उसे “मारो! मारो साले को। मुखबरी करता है” की आवाज़ें सुनाई दीं। मिस्टर रोशो हड़बड़ा कर उठ बैठा। सब मिलकर उस लड़के को बुरी तरह पीट रहे थे। वह शस्त्र यानी जो तौलिये में लोटा बांध कर पुलिस से मुठभेड़ के लिए बनाया गया था, उस पर अज़माया जा रहा था। वह जल्दी-जल्दी उठा और बीच-बचाव करने लगा। “क्यों मार रहे हो बेचारे को?” “यह बेचारा है या सी आई डी का हरकारा है। इसने पुलिस को हमारे अंडरग्राउंड ठिकाने बताए हैं। और हमारे कई साथी गिरफ्तार हो गये हैं।” “लेकिन इसकी बात भी तो सुन लो।” “क्या सुनें इसकी बात। इसे बाहर से निर्देश आते हैं और यह हमारी सारी गतिविधियों की रिपोर्ट बाहर भेज देता है। बैरक में जो रविवार को छुपा पड़ा था यही ज़िम्मेदार है उसके लिए।” बातें भी हो रही थीं और उसकी पिटाई भी जारी थी। थोड़ी देर में हंगामा थम गया। वार्डन आ गया था और उसने उस लड़के को दूसरी बैरक में शिफ्ट कर दिया जिसमें आदी मुजरिम बंद थे। शाम को बैरक बंद होने से पहले मिस्टर रोशो उसे मिलने गया। वह घुटनों में सिर छुपाए गुमसुम बैठा था। “सच-सच बताओ कि बात क्या है।” मिस्टर रोशो ने उससे पूछा। “मेरी मां सख्त बीमार है। कोई उसकी देखभाल करने वाला नहीं। मैं था लेकिन पकड़ा गया। एक छोटी बहन है, स्कूल में पढ़ती है। मैंने वार्डन से अपनी मुसीबत बताई। मैं कभी कागज के टुकड़े पर, कभी सिगरेट की डिबियों पर अपना संदेश लिख कर वार्डन को दे देता था। वह उसे मेरी मां के पास पहुंचा देता था। किसी ने वार्डन को मेरे घर जाते देख लिया था। बस यही बात है। यह लोग समझते हैं कि मैं उनकी मुखबरी कर रहा हूँ। उनकी खुफिया मीटिंगों की खबरें पुलिस तक पहुंचाता हूँ।” मिस्टर रोशो ने उसके कंधे पर हाथ रखा। वह फूट-फूट कर रोने लगा। मिस्टर रोशो जेल की स्मृतियों के धुंधलके से बाहर आ गया था। “आजकल कहां हो? क्या कर रहे हो?” उसने बताया कि अब अमरीका में सैटल हो गया है। बड़ा बिज़नेस फैला लिया है। हर वर्ष एक बार दीपावली पर इंडिया आता है। अपने गांव की मुट्ठी भर मिट्टी ले जाता है। बस यही संबंध रह गया है उसका इस भूभाग से। मुट्ठी भर मिट्टी का। “शादी-वादी की?” “हां, एक मैक्सिकन लड़की से। मेरे साथ ही काम करती थी।” “और बच्चे?” “दो। एक लड़का एक लड़की।”

“तुम्हारी मां और बहन तुम्हारे साथ है?” “मां नहीं रही। बहन ने साथ जान से मना कर दिया।” “यहां क्या करती है?” “पहले तो अपरुटेड फोक्स को दोबारा बसाने का काम करती थी—बेघर लोगों के लिए, जिनकी बस्तियां उड़ गई थी—बाढ़ में, भूकम्प में, बांध बनने से, दंगाफसाद में जलने से। लेकिन अब कहती है कि उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। अब उससे इतनी दौड़-धूप नहीं होती। अब वह गिरिजनों की एक बस्ती में कहीं बस गई है। एक हाथ में पुस्तक लिए, दूसरे में दवा लिए। अच्छा तो चलता हूँ। मेरी फ्लाइट का समय हो गया है। बारिश में यूँ भी सड़कों की बुरी हालत है। दरवाज़ा अच्छी तरह बंद कर लें। आजकल कुछ पता नहीं। कौन किस भेस में भीतर घुस आए, लुट ले या पीट में छुगा चोप दे—ऐसे ही। आदतन, जस्ट फ़ार थ्रिल। बड़ा मानव-भक्षी समय है।” उसने मिस्टर रोशो के पांव छुए, प्रणाम किया और चला गया।

(सामने वाला व्यक्ति दास्तान सुनाते-सुनाते रुक गया। कॉफी का घूंट भरा और कुर्सी पर पीछे की ओर झुक गया। चायखाने में शोर था। सब लोग सब लोगों से ऊँचे-ऊँचे स्वरों में बातें कर रहे थे। बिज़नेस की बातें, राजनीति की बातें, फिल्मों की बातें, क्रिकेट की बातें, स्कैमों और सेक्स स्कैंडलों की बातें। बातें-बातें-बातें।)

—अब आप भी थक गए होंगे। मिस्टर रोशो ने आयु भी लंबी पाई थी और उसकी दास्तान भी बड़ी लंबी है।

—नहीं, मैं बड़े शौक से सुन रहा हूँ। एक दौर कॉफी का और हो जाए।

—हां तो मैं कह रहा था कि मिस्टर रोशो दरवाज़ा बंद करके अभी कमरे में दाखिल हुए थे कि उन्हें खिड़की में एक परछाईं-सी धिरकती दिखाई दी। बारिश की बूंदों की चित्पन के पीछे किसी का चेहरा चांद-सा झलका—छन छनन छन छन। खिड़की के शीशों से निकल कर एक फूल-सा बदन गर्दालूद फर्श पर नंगे पांव नृत्य करने लगा। टीन की छत पर गिरती बूंदें नन्ही-नन्ही घंटियों की तरह बजने लगीं। और फिर धरती जैसे अपने अक्ष पर घूमते-घूमते एकदम रुक गई हो। वह लड़की पद्मासन की मुद्रा में मिस्टर रोशो के सामने बैठ गई। ‘नमस्कारम्’ मन्दिर की घंटी बजी। ‘तुम्!’ गुलाब की पंखुड़ी खिल गई। वह वही थी जो मिस्टर रोशो को जब वह एक प्राइवेट कॉलज में पढ़ाते थे, प्रतिदिन एक फूल भेंट करती थी। नित नया फूल। और हर फूल के साथ एक प्रश्न लिपटा होता था—नित नया प्रश्न। “मेरे मन में एक संशय है प्रोफेस्सार्।” हर बार उसके मन में एक नया प्रश्न होता था। हर बार मिस्टर रोशो उसके प्रश्न का उत्तर देते, उसका संशय दूर करने का प्रयास करते। फूल उसके हाथ में होता, संशय उसके मन में। मिस्टर रोशो ने एक दिन उससे पूछा “यह तुम्हारे मन में हर रोज़ एक नया संशय क्यों पैदा होता है?” उसने कहा “जब तक संशय है, जीवन की गति है। जिस दिन यह संशय समाप्त हो



जाएगा, जीवन का अंत हो जाएगा। हर युद्ध प्रश्नों को खत्म करने के लिए लड़ा जाता है। युद्ध समाप्त हो जाता है, प्रश्न शेष रह जाता है और रह जाते हैं सभ्यताओं के अवशेष।" मिस्टर रोशो सोच में पड़ गए थे। बहुत पुस्तकें पढ़ ली थीं। लेकिन यह नई पुस्तक थी जिसमें कोई उत्तर नहीं था, बस प्रश्न ही प्रश्न थे। उसने कहा था जिनके पास तमाम प्रश्नों के उत्तर होते हैं वे नहीं जानते कि प्रश्न क्या है?

—शायद वह लड़की ठीक कहती थी। मुझे सुक्रात का एक किस्सा याद आ रहा है। सुक्रात से मिस्र का एक पुरोहित कहता है, "मिस्र मर गया है। हम मर गए हैं। लेकिन तुम ज़िंदा हो। यूनान ज़िंदा है। एथेन्स ज़िंदा है। जानते हो क्यों? इसलिए कि मैं तुम में एथेन्स के हर बशिंदे में, हर वृद्ध स्त्री में एक जिज्ञासु शिशु को देखता हूँ। जिस दिन यह शिशु मर जाएगा, एथेन्स भी मर जाएगा मिस्र की तरह।"

(सामने बैठा हुआ व्यक्ति जो मिस्टर रोशो की दास्तान सुना रहा था, सोच में पड़ गया।)

—क्या सोच रहे हो?

—अब कुछ समझ में आ रहा है कि उस लड़की के मन में जो प्रश्न था, जो संशय था वह वास्तव में एक विस्मित शिशु है। मुझे याद आता है कि मिस्टर रोशो ने बताया था कि उस लड़की ने कहा था कि यदि अर्जुन के मन में संशय शेष रह जाता तो महाभारत न होता। कृष्ण ने समस्त संशयों को समाप्त कर दिया था इसलिए सूरज को धुएँ के गुब्बारे ने निगल लिया था। इसलिए धरती पर फूल नहीं खिलते थे। शवों के मंच पर ताण्डव नृत्य होता था। युद्ध समाप्त होने पर गांधारी ने अपनी आँखों से काली पट्टी खोली थी। उसने मरघट बनी भूमि को देख कर कृष्ण को शाप दिया था—“सुनो कृष्ण! प्रभु हो या परात्पर। कुछ भी हो—तुम्हारा सारा वंश इसी प्रकार पागल कुत्तों की तरह एक दूसरे को परस्पर फाड़ खाएगा। तुम स्वयं उनका विनाश करके वर्षों बाद किसी जंगल में साधारण व्याध के हाथों मारे जाओगे। प्रभु हो पर मारे जाओगे पशु की तरह।” शायद कृष्ण के मन में पहली बार संशय उत्पन्न हुआ होगा और वह मारा गया एक निर्जन जंगल में रात के अंधकार में—तनहा, बिल्कुल अकेला—संशयग्रस्ता।” मिस्टर रोशो ने कहा था “यह संशय मुझे बार-बार क्यों सर्प-सा डसता है। क्यों मैं उस लड़की के सामने मौन हो जाता था। क्यों मेरी सारी पुस्तकें एक-एक करके बंद हो जाती थीं। उस लड़की के मन में कौन-सा ऋषि शिशु बन के बैठ गया है। और फिर जो कुछ मिस्टर रोशो ने बताया, शब्दों से नहीं, अश्रुओं से कहा। उन्होंने बताया कि एक दिन उस लड़की ने एक के बजाय दो फूल भेंट किए। मैंने उससे हंसते हुए पूछा—“क्यों आज दो प्रश्न हैं?” वह मुस्करा दी—“नहीं। कल शायद मैं न आ पाऊँ।” वह दूसरे दिन नहीं आई। तीसरे दिन भी नहीं आई। एक दिन और बीत गया। फिर दिन बीतते चले गए। वह नहीं आई।

(मौन)

—लेकिन यह प्रसंग तो अधूरा रह गया।

—हाँ, अधूरे जीवन का प्रसंग अधूरा ही रह जाता है।

—फिर भी!

—हुआ यह कि उस दिन के बाद वह लड़की नहीं आई। मिस्टर रोशो ने उससे पूछा जब वह उस रात उनके कमरे में आई थी, “तुम अचानक कहां गायब हो गई थी?” “उस लोक में।” “यानी?” “जहां न अतीत होता है न भविष्य। बस काल होता है और ईश्वर।”

—क्षमा करना भाई। यह ईश्वर वाला मामला मेरी समझ में नहीं आता। ईश्वर न कभी था, न है और न कभी होगा। यदि कभी था भी तो अब वह मर चुका है। तुमने नीत्शे का नाम सुना है?

—हाँ सुना है। और थोड़ा-बहुत पढ़ा भी है।

—उसने एक ऐसे पागल का किरदार पेश किया था जो हाथ में लालटेन लिए हुए बाज़ार की ओर चिल्लाता हुआ दौड़ता है, “मुझे ईश्वर की तलाश है। मुझे ईश्वर की तलाश है।” लोग उससे कई प्रकार के प्रश्न पूछते हैं। वह पागल चीखते हुए कहता है, “तुम पूछते हो कि ईश्वर कहां चला गया है कि तुम्हें उसकी तलाश है। मैं तुम्हें बताता हूँ। हम लोगों ने उसकी हत्या कर दी है। हमने और तुमने। ईश्वर मर चुका है। ईश्वर की मृत्यु के लिए हम ज़िम्मेदार हैं। हम कातिल हैं।”

—बिल्कुल बजा फ़रमाया है आपने। यही तो वह लड़की मिस्टर रोशो से कह रही थी।

—यानी?

—वह लड़की अक्सर गाया करती थी—‘कुल्ली नी यार दी सुरा दा झूटा, अग लावां महला नूँ’ या ‘कुल्ली नी यार दी विचूँ अल्लाह हू दी आवाज़ आवे।’ इश्क ही इबादत है। इश्क ही खुदा है। इश्क और इबादत जुनून है। इश्क मजाज़ी ही इश्क हकीकी की तरफ़ ले जाता है। अगर ऐसा न होता तो हीर वारिस शाह को महज़ एक दास्ताने इश्क के बजाए सूफीयाना कलाम न कहा जाता।

—यह रहस्यवाद की बातें मेरी समझ में नहीं आती। मिस्टर रोशो को आ गई हों तो मुझे मालूम नहीं। मैं न मर्देकामिल हूँ, न सुपर मैन, न अतिमानव, बस एक आम आदमी हूँ। बेहरहाल लड़की वाली बात तो बीच में ही रह गई।

—मिस्टर रोशो ने उस लड़की से पूछा कि मृतात्माएं स्वप्न में ही क्यों मिलती हैं? लेकिन वहां तो कोई नहीं था। लड़की सिमटते-सिमटते एक बिंदु बन गई थी और वायुमंडल में व्याप्त हो गई थी। लेकिन मिस्टर रोशो के स्वप्न में वह उसी तरह नृत्य कर रही थी—छन छन छन छन। वही सफेद सलवार-कमीज। वही बसंती चुनरी कमरबंद बनी। वही बालों में पीला फूल। वही थिरकते पांवों में डाची के गले में बजती घंटियां। वह गाया करती थी: “तेरी डाची दे गल विच टलियां/नी



मैं माही मनावण चलीआं/डाची वालया मोड़ मुहार वे" —अचानक गाड़ी एक झटके के साथ रुकी और मिस्टर रोशो तंद्रा में बाहर आ गए।

—यह गाड़ी बीच में कहां से आ गई?

—मैंने बताया नहीं कि जब आदमी सरहद पार करने लगता है तो संशय उत्पन्न होता है। सरहद ज़मीन की हो या ज़िहन की या ज़िन्दगी की—जब मिस्टर रोशो की गाड़ी सरहद पार करने लगी थी तो उनके मन में संशय पैदा हुआ था। जब लड़की रोज़मर्रा की हकीकत से माही के मोह में रेखा पार करने लगी तो वह गाड़ी के नीचे आ गई।

—यह तो मनोरोग है। आप इश्क, जुनून, रहस्यवाद और दार्शनिक मुद्दाओं को कन्स्यूज़ कर रहे हैं।

—शायद आप सही कहते हैं। कुछ लोग यही कहते हैं कि वह लड़की स्किज़ोफ़्रेनिया का शिकार थी। खुद और खुदा के बीच झूल रही थी। उसके लिए महवूब और मावूद में कोई फर्क नहीं रह गया था। वास्तव में वह एक्स ज़ोन में चली गई थी।

—युं क्यों नहीं कहते कि ऐसे लोग अभिशाप होते हैं।

—यह भी हो सकता है कि ऐसे लोग इसे वरदान समझते हों।

—जैसा कि मिस्टर रोशो (हंसता है)। खैर अपनी फ़ंतासी जारी रखो। वह क्या कहते हैं आजकल के पायुलर मुहावरे में—जादुई यथार्थवाद।

—आप जो चाहें कहें— जुनून, उन्माद, मनोरोग, वहम, सन्निपात, सनक, खूब लेकिन उस रात मिस्टर रोशो का कमरा यादों का चित्रपट बन गया था या मरघट लेकिन फिर उस कमरे में उन्होंने किसी को नहीं आने दिया। वर्षा निरंतर जारी थी। टीन की छत पर कोई बिल्ली बैन कर रही थी। अचानक वह बिल्ली कूद कर कमरे में आ गिरी और एक कोने में दुबक कर बैठ गई। न जाने कौन-कौन इस अंधेरे में मुंह लपेटे रो रहा था इस कमरे में उस रात। (चायखाने से लोग-बाग धीरे-धीरे जाने लगे थे। चायखाने के बंद होने का समय निकट आ रहा था और मिस्टर रोशो की दास्तान अंजाम को पहुंचने वाली थी।)

—सुबह मिस्टर रोशो ने खिड़कियां खोलीं। आसमान साफ हो गया था। धूप की एक किरण कमरे में दीवार से उतरती फर्श पर चलने लगी। नीले आकाश पर इन्द्रधनुष के रंग छा गए थे। दिन भर मिस्टर रोशो इस शहर के गली-कूचों और बाज़ारों में घूमते रहे और रात की गाड़ी पर सवार होकर इस शहर में आ गए जो उन दिनों एक कस्बा था। खैर अब तो यह खूब बस गया है। कल-कारखानों, कारों और ट्रकों और बारूद का धुआं शहर के गली-कूचों और घर-आंगन और बाज़ारों में गुबार बना छाया रहता है। मिस्टर रोशो ने महसूस किया कि इस धुएं में उन्हें अपना चेहरा दिखाई नहीं देता था। इस शोर में अपनी आवाज़ सुनाई नहीं देती थी। लेकिन अगर उनको कहीं सुकून मिलता था तो इस चायखाने में। उस दिन वह चायखाने में बड़ी देर तक बैठे

रहे। जब चायखाना बंद होने लगा तो वह अपनी कुर्मी से इस तरह उठे जैसे कि उनकी पीठ पर कोई भारी चट्टान रख दी गई है। वह कुछ थक-थके से लगते थे। वह वृद्ध तो थे ही लेकिन उस दिन वह अपनी आयु से कई वर्ष अधिक पुराने हो गए थे। वह अपनी कुल्ली को और वापस जाने लगे जो इस चौराहे के पार उम उपवन के पीछे थी। वह अपने कमरे को कुल्ली ही कहते थे। उस दिन शहर में बड़ा तनाव था। जिस चौराहे को पार करके वह अपने कमरे में जाते थे उस पर पुलिस का पहरा था। शहर के दो समूहों में उस चौराहे पर प्रतिमा स्थापित करने पर विवाद हिंसात्मक हो गया था। एक समूह के अनुसार चौराहे की ज़मीन शहर बनने से कई वर्ष पूर्व उसकी मिल्कियत थी जब यह नया-नया कस्बा बना था। और दूसरा समूह इस पर एक स्मारक प्रतिमा स्थापित करना चाहता था। एक सड़क पर चायखाना है और चौराहे को पार करके उसके सामने वाली सड़क पर पुलिस की बख्तरबंद गाड़ियां खड़ी थीं। दाएं और बाएं की सड़कों पर विरोधी दल शाम से ही एकत्रित होना शुरू हो गए थे। दिन में ह्यूरा घोंपने की दो-चार वारदातें हो चुकी थीं। पहले तो पुलिस खड़ी रही। तमाशा देखती रही। जब स्थिति नियंत्रण से बाहर हो गई तो उसने लाठी चार्ज किया। फिर अश्रु गैस छोड़ी और आखिर गोली चल गई। गोलीबारी में कई लोग घायल हुए। दो की घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई। तीसरे ने अस्पताल जाते हुए एम्ब्यूलन्स में ही दम तोड़ दिया। इस तीसरे की शिनाख्त नहीं हो सकी। अतः लावारिस घोषित करके उसका शव जला दिया गया। दूसरे दिन रविवार था। और रविवार को मिस्टर रोशो चायखाने नहीं आते थे। जब उसके अगले दिन भी नहीं आए तो हमें चिंता हुई।

—संभव है, जहां वह जाते थे वही रह गए हों। वाई दि वे, वे हर रविवार को जाते कहां थे। शायद इससे कुछ पता चल जाए।

—यह तो मालूम नहीं। कुछ का ख्याल है कि वहां जंगलों में उनका कोई मित्र अदृश्य ज़िन्दगी बसर कर रहा है। उससे मिलने जाते हैं। उस पर हिंसात्मक गतिविधियों का आरोप है। पुलिस उसका पीछा कर रही है।

—आतंकवादी या नक्सलवादी था।

—मालूम नहीं कौन सा वादी है या नहीं भी है। लेकिन अधिकतर धारणा यह थी कि वह किसी औरत से मिलने जाते हैं।

—प्रेमिका!

—हो सकता है। और नहीं भी हो सकता। लेकिन कहा यह जाता है कि वह औरत पहाड़ी क्षेत्रों में गिरिजनों में शिक्षा और चिकित्सा का कार्य करती है। मालूम नहीं कहां से आई है। लेकिन वही बस गई है।

—यह मामला कुछ गंभीर नज़र आता है।

—लेकिन कई लोगों का मानना है कि वहां किसी पीर-फकीर की कब्र है। जब जंगल कट रहे थे और वर्षा शुरू हो गई तो एक चट्टान खिसक कर उन पर आ गिरी और वह उसके मलबे के नीचे दब गए।



वही उनकी कब्र बन गई। मिस्टर रोशो हर रविवार को उस फकीर की कब्र पर फूल चढ़ाने जाते हैं। सच क्या है, कोई नहीं जानता।

—आखिर मिस्टर रोशो की शिनाख्त क्या है? मेरा अभिप्राय है कि उनकी कोई न कोई आइडेंटिटी तो होगी ही। शायद यह जान करके उनके इस तरह गायब हो जाने पर कुछ प्रकाश पड़े।

—यही प्रश्न तो हम सब को परेशान कर रहा है कि उनकी आइडेंटिटी क्या है। जब वह आखिरी बार चायखाने में आए थे तो जैसा कि मैं बता चुका हूँ कि वह कुछ चिंता में थे। उस दिन वह जैसे अपने आप से बातें कर रहे थे—“सच क्या है, मैं नहीं जानता। हाथ में बम, बंदूक, बारूद लिए उन लोगों की हत्या कर देना जिन्हें हम अपना शत्रु समझते हैं। या एक हाथ में पुस्तक और दूसरे में दवा की शीशी लिए दिन-रात लोगों की सेवा में मग्न रहना जिन्हें रोग और अंधकार से मुक्ति चाहिए। या शरीर से परे आत्मा की मुक्ति का मार्ग। लेकिन सच यह भी है कि आत्मा की मुक्ति का मार्ग भी शरीर से हो कर गुजरता है। या उस लड़की की तरह अपने शरीर को शून्य बना देना इश्क में, इबादत में। मेरे मन में इतना संशय कभी नहीं था जितना आज है इस पल—” थोड़ी देर मिस्टर रोशो मौन रहे। फिर बोले—“शायद सफ़रिंग से बड़ा कोई सच नहीं। प्रश्न यह है कि तुम इस सफ़रिंग से कैसे रूबरू हो रहे हो।” आप क्या सोच रहे हैं?

—सोच रहा हूँ यह खाब है या हकीकत, फंतासी या फसाना या जिन्दगी से भागने का बहाना।

—यही होता है जब गुमशुदा परिदे का बिखर जाता है आशियाना।

—हां तो यह बताइए कि मिस्टर रोशो का कोई पता चला।

—नहीं। चौराहे और सड़कों पर हर चीज़ टूटी-फूटी बिखरी पड़ी थी। हाकियों, लोहे की छड़ों, चाकुओं, छुरों और गंडासों के बीच एक समूह की बनाई हुई चारदीवारी की ईंटों और दूसरे समूह की ध्वस्त प्रतिमा के टूटे पत्थरों, चण्डलों, जूतों, अश्रुगैस के खाली कनस्तरों और कारतूसों और हथगोलों के बीच एक बैग जरूर मिला था और उसके थोड़ी दूर एक तस्वीर पड़ी थी।

—उस बैग से कुछ पता मिला? आपने बताया था न कि मिस्टर रोशो जब चायखाने में आते थे तो उनके पास एक काला चर्मी बैग होता था। वही बैग जो हर बार घर या शहर छोड़ने के समय उनके पास होता था।

—यह तो ठीक है लेकिन....।

—उस बैग के अंदर की चीज़ों से तो निश्चय ही कोई सुरांग मिल सकता था।

—बैग खाली था। बस एक किताब थी—पन्ना-पन्ना। उसके पन्ने पतझड़ के पत्तों की तरह पीले पड़ चुके थे। बिल्कुल खस्ता। चालीस-पैंतालीस साल तो पुरानी होगी ही। उसकी इबारत भी नहीं पढ़ी जा सकती थी। और फिर उर्दू में थी।

—और तस्वीर?

—तस्वीर तो बिल्कुल ही नहीं पहचानी जाती थी। सीपिया रंग तस्वीर थी। धूल में अटी हुई, मिट्टी में मिटती हुई, बारूद के धुएँ से सियाह, कटी-फटी, खून के जमे हुए धब्बे, जूतों तले रौंदी हुई। उस तस्वीर पर किसका चेहरा था, कुछ साफ नहीं था। उस पर जैक-बूटों की छाप थी।

—लेकिन आप मिस्टर रोशो के बारे में यह सब कुछ कैसे जानते हैं?

—असल में बात यह है कि वह मैं ही था जो उनके सामने कुर्सी पर बैठता था। जिससे वह बातें करते थे। जिसके लिए वह कॉफी मंगवाते थे।

—लेकिन आप तो कहते थे कि वहां दूसरा कोई नहीं होता था। कुर्सी खाली होती थी।

वह व्यक्ति यानी दास्तानगो कुछ नहीं बोला। मैंने उसके चेहरे की ओर गौर से देखा—धूल और मिट्टी से अटा और मिटता हुआ, बारूद के धुएँ से सियाह, चेहरे पर जमे हुए खून के काले धब्बे, जूतों तले रौंदा हुआ...और...और...उस पर जैकबूटों की छाप थी। उसका चेहरा तस्वीर बन गया था। मैंने दहशत से आंखें बंद कर लीं। जब आंखें धीरे-धीरे खोलीं और उंगलियों के बीच से झांक कर देखा तो वहां कोई नहीं था—न चेहरा न तस्वीर। कुर्सी खाली पड़ी थी। मेज़ पर कॉफी पड़े-पड़े ठंडी हो चुकी थी।

चायखाना बंद होने जा रहा था। लोग उठने लगे थे। बतियां बुझना शुरू हो चुकी थीं। एक आखिरी बल्ब जल रहा था जिसकी रोशनी का वृत्त मेज़ पर पड़ा था। और उस वृत्त के आइने में एक अक्स उभर रहा था। बिल्कुल वैसी ही तस्वीर। अचानक वह चेहरा मुस्कराया—ओह माई गॉड। यह मेरा चेहरा था। मेज़ के ऊपर वाला बल्ब एकदम बुझ गया। और वह चेहरा अंधकार में कहीं गुम हो गया। मेरे कंधे पर किसी ने हल्के से हाथ रखा, “तो फिर चलें मिस्टर रोशो।” मैंने पीछे मुड़कर देखा। अंधेरे में कुछ दिखाई नहीं दिया। अचानक जोर का धमाका हुआ जैसे कोई बम फटा हो। चायखाना खंडहर में बदल चुका था। और मैं उसमें किसी पुरानी वीरान खानकाह में किसी वृद्ध दरवेश की तरह बैठा था। मैं तेज़-तेज़ कदमों से कुर्सियों, मेज़ों और मलबे के बीच से गुजरता, ठोकरें खाता चायखाने से बाहर निकल आया।

मेरे पीछे चायखाने के भीतर सब रोशनियां बुझ चुकी थीं और बाहर सामने सड़क पर अमावस की काली रात सियाह सर्प-सी बल खाए पड़ी थी।

और उस सर्प का मुंह एक अंतहीन अंधी सुरंग की भांति खुल था।

बी-3/153, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058



## कमलेश बख्शी

### बेघर

“हम घर छोड़ कर नहीं जाएंगे मम्मी...” बारह वर्षीया मार्था बोली।

“जाना ही होगा हनी... तुम्हारे डैडी डायवोर्स देना चाहते हैं। बिना काम के मैं इस शहर में नहीं रह सकती। हमें तुम्हारे नाना-नानी के पास जाना होगा।”

“हमारे सब मित्र यहीं हैं, हमें स्कूल भी नहीं छोड़ना, हम बचपन से वहीं पढ़े हैं। हमें यहीं अच्छी लगता है मम्मी। नया शहर, नया स्कूल... हमें वहां अच्छा नहीं लगेगा।”

“मैं मजबूर हूँ बेटा। पीटर, तुम क्या सोच रहे हो।”

तेरह वर्षीय पीटर उदास बोला—“तुम्हारा कोई कसूर नहीं मम्मा... और मार्था भी ठीक कह रही है। मैंने डैडी से कहा था डायवोर्स मत दो। हम हमेशा की तरह साथ रहें। डैडी बोले थे—तुम यहीं रहना चाहो तो रह सकते हो। मैं एन के साथ नहीं रह सकता।” दस वर्षीय साराह कुछ समझ रही थी, कुछ समझने की कोशिश कर रही थी। बीच-बीच में मां की भीगी पलकें पोंछ देती।

तीनों सामान पैक कर रहे थे। एन लारेन्स ने चौदह वर्ष में इस घर को बनाया था, उसे छोड़ना... वह बार-बार घर का कोना-कोना देखती, फिर पैकिंग करने लग जाती।

उनका कुत्ता ब्लैकी पूंछ हिलाता कूंकू कर रहा था।

“मम्मी, ब्लैकी को ले चलें।”

पीटर मार्था की बात से चिढ़ गया—“नहीं, यह आयलिन ने दिया था।”

एन ने कोई जवाब नहीं दिया। उसने फोन पर मां से बात की—“मम्मा, अब निर्णय हो गया। मैं बच्चों को ले आ रही हूँ। काम की तलाश का कहा था, कहीं मिला?”

“तुम चिन्ता मत करो। आ जाओगी तब सब हो जाएगा।”

“अच्छा बाय मम्मी...”

तीनों बच्चे अपने खिलौने बैग में भर रहे थे।

वह कपड़े भर चुकी थी, गर्म कपड़े क्लासेट से निकाल पलंग पर डाल दिए थे—“पीटर उस खाली खोके में सब भर बांध लो,”

“मम्मी, हम तुम्हारी कार ले जा सकेंगे।”

देखें, पूछ लेना... नहीं तो बस से चलेंगे।”

कई दिनों से मि. लारेन्स घर नहीं आए। उस अंतिम दिन सुबह नाश्ता लेते बेमतलब खीझे थे—“घर में धुआं भर गया, स्विच तो

ऑन कर दिया करो जब कुछ तलती हो।” “स्विच ऑन ही है, कुकिंग रेंज के ऊपर आती-जाती हवा की फड़फड़ अभी भी हो रही है। तुम सुन नहीं रहे क्या?”

बस कुछ शब्द चाहिए थे—लावा से शब्द बाहर निकालने के लिए।

स्वयं आमलेट-टोस्ट खा चुके थे। दूध पी ग्लास नीचे रखते बोले—“वीक एंड तक चले जाना।”

बिना रुके पल में द्वार ठेलते घर से निकल गए। वह भागी थी उसके पीछे। गराज से सरकती कार सड़क पर मोधी हो सरपट भागती चली गई थी।

वह लौटकर चुपचाप डायनिंग टेबुल पर सिर रख बैठ गई। लावा—लाल लाल.... उसके नीड़ को झुलसाने आ रहा था।

उसे याद आ रही थी कुछ वर्ष पूर्व की न्यू इयर पार्टी जिसमें आयलिन और जॉन से मुलाकात हुई थी। बड़ी सरल लगी थी आयलिन, डांस में माहिर। घंटों नाचती थी। जॉन भी हसमुख-बुद्धिमान था। उसके साथ बात कर ऐसा नहीं लगता था कि समय बरबाद हुआ। उम्र में उनसे कुछ छोटे ही थे, यही कोई चार-पांच वर्षों का अन्तर होगा। बच्चों सहित एक-दूसरे के घर आना-जाना होता रहा। साथ-साथ पिकनिक-वीक एंड का छोटा ट्रिप...कभी बोट ले जाते फिशिंग के लिए।

लारेन्स का वेतन अच्छा था। अपना घर ऊंचे वृक्षों से ढका, बैकगार्ड काफी बड़ा, दो कारों और बोट का बड़ा गराज—आयलिन जब भी आती, बड़ी हसरत-भरी नजर से उसका घर देखती खो सी जाती।

अपने दो बैडरूम और हाल के किराये के घर में जब भी उन्हें बुलाती, हमेशा सकुचाती कहती—“बहुत छोटा है न घर...मि. लारेन्स, बहुत बढ़िया है तुम्हारा घर। यहां तुम्हें भी सिकुड़ना पड़ता होगा।”

लारेन्स मुस्करा देता—“आ जाया करो वीक एंड पर।” उसने निकट बैठी आयलिन का हाथ दबा दिया था।

गुलाबी कपोलों पर लज्जा उभर आई थी—आयलिन कुछ न बोली थी।

ऐसी ही हरकतें बढ़ने लगी थीं। वह खामोश रही थी। जॉन की रात की झूटी भी होती थी। तब लारेन्स जॉन से अनुमति ले लेता, “हम दोनों जा रहे हैं आयलिन को ले जाएं...उसे डांस का बहुत



शौक है।”

“ले जाओ।” जॉन सहज ही अनुमति दे देता।

मि. लारेन्स भी डांस के अत्यधिक शौकीन थे। शायद यही शौक दोनों को एक दूसरे की ओर आकृष्ट कर रहा था।

वह बैठी देखती रहती। लारेन्स और आयलिन को डांस करते

... कभी जिन पीते... कभी स्काच....

एक-दूसरे से जुड़े कानों में फुसफुसाते घंटों नाचते रहते। वह पहले कम ही पीती थी। उन दिनों दूर बैठी दोनों को नाचते देख पीती जाती। मि. लारेन्स ने कभी नहीं कहा—आओ एन, तुम्हारे साथ भी थोड़ा नाचूं। एन तब साथ लाई जाती थी, जॉन की आंखों में धूल झोंकने के लिए। वैसे भी इतने समीप आ आयलिन स्वयं किसी भी दिन घर छोड़ देगी, इसका आभास भी उसे मिल रहा था। वह जॉन की तरफ से लापरवाह होती जा रही थी।

निराशा में घिरती वह पीती जाती थी, जब तक सब चेहरे गड्ढमड्ड न हो जाएं।

चेहरे धुंधले पड़ते ही वह सोचने लगती—दोनों कहीं चले गए। और फिर होश गंवाने तक पी जाती। कई बार तो उसे मालूम भी नहीं हो पाता था—कैसे वह अपने घर आई, कब आई। लारेन्स आयलिन के घर समय बिता सुबह उसे घर लाता होगा।

उन्हीं दिनों एक कार-दुर्घटना में जॉन की मृत्यु हो गई। पिछले कुछ माह से मानसिक तनाव से पीड़ित होते हुए भी वह आयलिन के पास हफ्ता भर रहने गई थी। लेकिन शोक मनाने जैसी मनःस्थिति आयलिन की लगी नहीं तो दूसरे दिन ही लौट आई। आयलिन और जॉन के रिश्तेदार भी आ गए थे, फिर भी अधिक जिम्मेदारी मि. लारेन्स ने स्वयं उठा ली थी। आयलिन की इतनी अच्छी नौकरी नहीं थी इसलिए घर चलाने जैसी समस्या उसके सामने थी। उसे भयानक स्वप्न आने लगे थे—काले पंजे उसे दबोचना चाहते हैं। उसे लगने लगा था, जॉन की मौत आंधी है, तेज आंधी है, उसके नीड़ को छिन्न-भिन्न करके रहेगी। मजबूत न सही, एक दीवार तो थी जॉन की—अब... अब आयलिन स्वतन्त्र है।

... स्पष्ट होने लगा था तीव्र गति से दोनों का एक-दूसरे के प्रति बढ़ना—और एक रात लारेन्स नहीं आए... उस दिन टूटता-लटकता नीड़... लड़खड़ाता भरती पर आ गिरा। आज नहीं तो कल रिश्ता टूट जाएगा। फिर मि. लारेन्स उसके एक्स-हसबैंड-हो जाएंगे—कभी-कभी

बच्चों को मिलने आएंगे या नहीं भी आएंगे... बच्चों को साथ नहीं रखेंगे... आयलिन के जो हैं।

वह अपने में शक्ति जुटा चुकी थी, इसलिए मां को फोन कर दिया था। उसने एक बार भी लारेन्स से अपने प्यार या चौदह वर्ष के सुखद सहवास का वास्ता नहीं दिया।

“मम्मा, सब पैक हो गया...” फोन बजते ही पीटर दौड़ा था—“डैडी का होगा, मार्था। कह देंगे मत जाओ।”

उदास पीटर मित्र से कह रहा था—“हम नानी के पास जा रहे हैं।”

“ऐसा करो पीटर, कार में सामान भर लो। क्यों लें अनुमति कार ले जाने की? हम अभी ही चलते हैं। वीक एंड में मम्मा-पापा से बातें भी हो जाएंगी। तुम्हारे स्कूल का भी सोच लेंगे। वीक एंड तक रुक कर क्या करेंगे।”

“चार दिन हो गए डैडी ने फोन भी नहीं किया।” मार्था बुदबुदाई। रात को वह पहुँच गई थी। उसी सूनी सपाट संकरी लेन में। पतझड़ का मौसम—चारों ओर सूखे पत्तों से भरी गली। सभी के फ्रंट बैक यार्ड सुनहरे हो रहे थे। हफ्ते भर समय कहां मिलता है। शनि-रवि ही घर के सब काम निपटाए जाते हैं। पते इकट्ठे कर जलाए जाते हैं। घास काटते हैं। कपड़े धोते हैं। ग्रीसरी लाते हैं।

वह तो सभी काम वीक डेज में कर लेती थी ताकि वीक एंड लारेन्स के साथ निश्चित बिताए। मि. लारेन्स कहते—“क्यों सब काम कर लेती हो?”

वह मुस्करा देती थी—“ताकि ये दो दिन केवल तुम्हारे लिए रहें।”

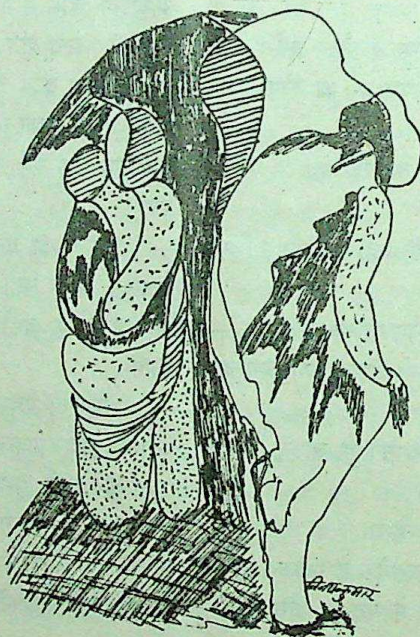
उसके लौटते ही जंगल की आग की तरह उसके आने की खबर गली में, छोटे कस्बे में फैल गई... “सेपरेशन”

“मुझे कोई अनुभव नहीं है। मम्मी, मुझे क्या काम मिल सकेगा?” उसने दूसरे दिन फिर पहले दिन की बात दुहराई।

“आते से तुम क्यों कामकाज ले बैठी हो... पहले तो तुम्हारा इलाज करवाना होगा... इतना अल्कोहलिक

हो गई हो। काम कैसे करोगी...” मम्मी ने कहा।

“तनाव, निराशा, क्रोध सब दिमाग से निकाल दो, ये तुम्हारे स्वास्थ्य पर बुरा असर डालेंगे।” पापा डांटते हुए बोले—“दो दिन से समझा रहा हूँ।”





"प्लीज, नाराज न होओ, पहले ही बहुत दुःखी है। प्रेम से बोलो..." मम्मी बोली थी।

वह फिर खामोश—चुपचाप कोने में बने बार में गई। गटागट पी गई।

"सब ताले में रख दो..." पापा बोले।

"आदत धीरे-धीरे छूटेगी... कल मैं इसे ले जाऊंगी काउन्सलर के पास। पहले तो कुछ दिन वहां रखेंगे... भगती कर आऊंगी... उन्होंने कहा तो..."

बच्चे यार्ड में साइकिल चला रहे थे। सूखे पत्ते देख कभी लड़खड़ाते पत्ते से मार्था झाकती लगती, कभी पीटर, कभी साराह... कहीं ऐसे ही तो नहीं भटकेंगे—बिना रास्ता पाए।

तभी फोन खनखना उठा था।

मां ने कहा, "तुम्हारी बचपन की सहेली कैथी..."

"हेलो..."

"अरे मैंने सुना तुम्हारा सेपरेशन हो गया... क्या हुआ? कब से तनाव चल रहा था?"

उसने फोन रख दिया... जवाब नहीं दिया।

"मम्मी, मैं तंग आ गई हूँ—अब फोन मुझे न देना। कह देना, मैं घर पर नहीं हूँ या मर गई हूँ। हजार प्रश्नों के क्यों जवाब दूं। मैं असमर्थ हूँ, मम्मा..." वह जोर-जोर से रो पड़ी थी। "यह सब पूछने की क्या... जरूरत है। एक दूसरे से पूरी जानकारी ले फिर मुझे फोन करती है।"

"ठीक है, कोई फोन एन को नहीं देना।" पापा बोले।

सोते समय उसने बच्चे आसपास सुला लिए। कल भी सुला लिए थे, इसलिए नहीं कि बच्चे नई जगह में डर रहे थे या उसे डर लग रहा था। वह क्यों डरने लगी। यह तो अलग होने के कुछ माह पहले से ही हो रहा था। साथ सोते हुए भी, इतने तनाव में भी, मन के मर जाने पर भी कहीं तन धोखा दे एक दूसरे के निकट न आ जाए। मि. लारेन्स साराह को बुला लेते... कभी वह बुला लेती। साराह बीच में सो जाती तो दोनों भी सो ही जाते।

तन-मन के सम्बन्ध टूटे तो महीनों हो गए थे। दूसरों की दृष्टि में जुड़े थे। परिचितों के लिए अब टूटे हैं। वह तो कभी भी टूटने वाले परिवार की स्त्री से ऐसे प्रश्न न पूछती थी। उसे मालूम है अपने आपको संभालने में वक्त लगता है। क्रोध-क्षोभ-दुःख-निराशा सबसे घिरे को उस स्थिति से उबारने की कोशिश करती थी। जाती थी तो यहां-वहां की बात करती। शापिंग के लिए साथ ले जाती। पुरुष परिचित होता तो हमेशा लारेन्स से कहती थी—उसे इन्वाइट कर लो, बिचारा अकेला बैठा होगा। अचानक घर सूना हो जाना कितना भयानक होता है। कभी कल्पना की है तुमने लारेन्स। प्रेम-विवाह-फिर तलाक-सिंगल पेरेंट-बच्चे- सब सोचो तो सिर चक्कर खाने लगता है।

तब क्या मालूम था इतने वर्षों साथ रह भी उसे यह देखना होगा।

वह बच्चों को चिपकाए पड़ी रही थी। रात जागते ही बीत गई। फिर क्रमसमते बच्चों के बीच से उठ बैक यार्ड में केन की कुर्सी डाल बैठ गई। उनका तन भी दूट रहा था, हड्डी-हड्डी दुख रही थी। नींद नहीं आई थी। कल पापा ने बार लाक कर दिया था। उसने रात को थोड़ी ही पी थी। पिछले साल से ही वह बहुत पीने लगी थी। उसे याद आया, एक बार और उसने बहुत पीनी शुरू की थी—फिर छोड़ी थी तो ऐसी ही स्थिति हुई थी। मि. लारेन्स से पहले वह कुछ दिन एक लड़के से मिली थी। वह दूसरी लड़की के साथ घूमने लगा तो पीने लगी थी। तब मां ने समझाया था, "किसी गम को पीकर भुलाना मूर्खता है... अभी बच्ची हो... आज से कल अच्छा आएगा हनी।"

उसकी तलव जाग उठी। उसे मालूम था, पापा चाबी कहां रखते हैं। उसने जिन की बोटल निकाली। गटागट दो पैग पी गई। फिर मार्टिनी के दो पैग पी लिए। एक पैग प्लास में डाल सोफे पर गिर पड़ना दिए, थकान उतर रही थी। हड्डियों का टूटना कम हो रहा था। मस्तिष्क की तनी नसें भी ढीली पड़ने लगी थीं।

उसने सुना, मां फोन पर किसी से बात कर रही है। "तुम लोगों के पहुंचने की पूछ रहा था मि. लारेन्स... कह रहा था— बच्चों का खर्च भेजता रहूंगा, उसी में घर बैठी एन खा सकती है। उसे नौकरी करने की जरूरत नहीं।"

"तुम्हारे पैसे से रोटी तो चलेगी... वह भी कब तक जब तक बच्चे बालिंग न हों... उसके बाद... उसके बाद... जाने कैसी जिन्दगी होगी मेरी। मि. लारेन्स, जो मानसिक आघात मैं भोग रही हूँ उसकी कीमत चुका सकोगे तुम? चुका सकोगे जो वक्त मैं बच्चों की देखभाल करने में लगाऊंगी? उनकी बीमारी में रातें जागूंगी। डाक्टरों के पास जाऊंगी, स्कूल से लाऊंगी, छोड़ आऊंगी। रोटी के लायक पैसे दे मुक्त हो गए... तुम्हारे सब फर्ज पूरे हो गए मि. लारेन्स..."

नशे में डूबी बड़बड़ाती बेटी को मां सहला रही थी—"एन... एन हनी, स्वीटी..."

"मेरे किए का मोल पैसों से नहीं चुकेगा मि. लारेन्स। जो मैंने तुम्हारे साथ किया..."

मां झंझोड़ने लगी—"फिर सुबह-सुबह इतनी पी ली..."

"मैं होश में बोल रही हूँ मम्मी... मैं नशे में... न... ही..."

मां फिर सिर पर हाथ फेर रही थी—"मेरी बच्ची, क्यों इतना निराशा हो गई... आज से कल अच्छा आएगा। मन में यही आशा रखनी चाहिए।"

"आयलिन का कल अच्छा आ गया मम्मा... मेरा कल क्या अच्छा आएगा।"



## मज़हरुल इस्लाम मुट्ठी-भर शब्द

वह बड़ी फ़िज़ूल-खर्च है।  
पैसे बिल्कुल खर्च नहीं करती।  
सिर्फ़ शब्दों की फ़िज़ूल-खर्ची करती है।  
मैं जब भी उससे कहता हूँ कि शब्दों की फ़िज़ूल-खर्ची न किया करो.... शब्द बड़े मासूम और पावन होते हैं। तो वह कहती है, 'शब्द द्रुत-गति से भागते हुए अथरे-घोड़े हैं, और मैंने उन्हें लगामें डालकर काबू कर लिया है।'

मैं कहता हूँ—'तुम्हें वहम है। शब्द किसी के काबू में नहीं आते। शब्द पनाह नहीं मांगते बल्कि पनाह देते हैं।'

वह कहती है—

'मैंने कब कहा है कि शब्द पनाह नहीं देते, लेकिन यह भी बता दूँ कि यदि शब्द साहित्यकार के हाथों से निकल जाएँ तो फिर उन्हें प्राप्त कर पाना मुश्किल होता है।'

मैं उसे समझाने की कोशिश करता हूँ:

'शब्द तो मुश्किल में काम आनेवाले दोस्तों की तरह होते हैं।'

वह मुझे समझाती है:  
'शब्दों की दोस्ती बड़ी महंगी पड़ती है।'

मैं मुस्कराता हूँ: 'मुझे शब्दों से दोस्ती करना आती है।'

वह मुस्कराती है: 'शब्द दिल की गहराइयों से चाहने वाली महबूबा की तरह होते हैं।'

मैं कहता हूँ: 'यह तो सच है।'

वह कहती है: 'यदि यह सच है तो फिर तुम मुझे शब्दों की फ़िज़ूल-खर्ची का ताना क्यों देते हो?'

मैं कहता हूँ: 'इसलिए कि जब तुम लिखती हो तो ज़रूरत से ज्यादा शब्दों का प्रयोग करती हो। क्या बार-बार इस बात की पुनरावृत्ति उचित है कि—मैं बहुत उदास हूँ.... मैं बहुत उदास हूँ।'

वह बिगड़ जाती है।

'तुम मुझे इल्ज़ाम दे रहे हो। शब्दों की फ़िज़ूल-खर्ची तो सबसे ज्यादा साहित्यकार करते हैं। उनकी बे-हुरमती करते हैं। उनसे खेलते हैं और उनका हुलिया बिगाड़ कर रख देते हैं। मैंने ऐसे कई साहित्यकारों की किताबें पढ़ी हैं।'

'यदि सारी किताबों में टोटल बीस किलो शब्द हों तो उनमें से दस किलो शब्द फ़ालतू होते हैं। अब बताओ, साहित्यकार फ़िज़ूल-खर्च

हैं कि मैं—जो दिल की बात कहती हूँ तो तुम मुझे फ़िज़ूल-खर्च कहते हो... क्या साहित्यकारों ने शब्दों की दौलत पानी की तरह नहीं बहाई...?'

मैं कुछ देर के लिए चुप हो गया... फिर बोला, 'मगर मंटो भी तो था, जिसने पैसा पानी की तरह बहाया, मगर शब्दों की फ़िज़ूल-खर्ची कभी नहीं की।'

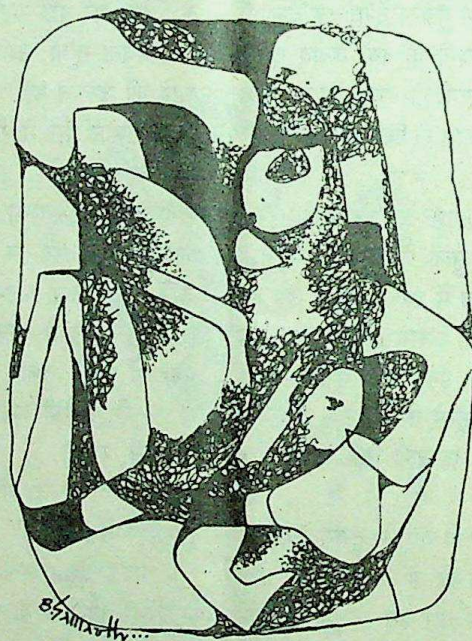
वह बोली—'डी. एच. लारेन्स के बारे में तुम्हारा क्या विचार है? टालस्टाय ने क्या कम शब्दों का प्रयोग किया है?'

मैंने उससे कहा: 'काफ़का भी तो है जिसकी कहानियों और निबंधों में एक भी शब्द फ़ालतू नहीं।'

वह झुंझला कर बोली:

'मगर तुम मुझे शब्दों की बचत का सबक क्यों पढ़ा रहे हो?'

मैंने कहा— 'शब्द बहुमूल्य मानवीय सम्पत्ति हैं और अगर यह सम्पत्ति ख़त्म हो गई हो तो हम एक-दूसरे से कट जाएंगे। ज़िंदगी हमारा साथ छोड़ देगी और तुम भी फिर यह कैसे कह सकोगी कि मैं





बहुत उदास हूँ।

वह बोली: 'मैं तो शब्दों को महसूस भी कर सकती हूँ।'

मैंने उससे पूछा: 'क्या तुमने कभी शब्दों को चखा है?'

वह बोली: 'हां! फागुन और चैत के महीनों में हरी-कनूर अदियों की तरह। अब क्या बताऊँ तुम्हें उनका स्वाद क्या होता है।'

'मैं खुद भी उसे महसूस करता हूँ लेकिन तुम्हें नहीं बताऊंगा।'

'चलो, अब बता भी दो। शब्दों की फिजूल-खर्ची का इस कदर भी खयाल न रखा करो।'

'मैं शब्दों का इसलिए खयाल रखता हूँ कि मुझे शब्दों से मुहब्बत है।'

'तुम्हारा क्या खयाल है, मैं शब्दों से मुहब्बत नहीं करती?'

'अगर तुम्हें उनसे मुहब्बत होती तो तुम उन्हें संभाल कर रखती।'

'सुनो, लेखन शब्दों के बस्ते है। तुम क्यों शब्दों के वकील बने बैठे हो?'

'इसलिए कि मुझे उन शब्दों पर तरस आता है जो अपनी मानसिक सम्पन्नता के प्रचार के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं। शब्द पर इन्सान की सोहबत का बहुत असर होता है। बुरी सोहबत में रह कर शब्द भी बुरे हो जाते हैं।'

'इसीलिए तो मैं कहती हूँ—शब्द मुझसे बहुत खुश हैं।'

'शब्द किसी की मीरास नहीं।'

'हां, किन्तु शब्द हमेशा सहृदय लोगों की सोहबत में रहना पसंद करते हैं।'

'सुनो, शब्द मज़लूम ही नहीं, ज़ालिम भी होते हैं।'

'तुम्हारे साथ कोई जुल्म किया है शब्दों ने?'

'हां एक बार! जब वह जुदा हो रहा था। उसके कहे हुए शब्द कुछ न पूछो! तलवार से कम न थे।'

'वे, जिन्हें तुम तलवार समझ रही हो, शब्द नहीं थे। शब्दों पर उसकी प्रकृति का साया था।'

किन्तु अब की बार उसने मेरी बात का कोई जवाब न दिया और चुप हो गई। जब उसकी चुप बहुत लंबी हो गई तो मैंने उससे कहा—'अब बताओ न, वे शब्द थे या जुदा होने वाले की प्रकृति का साया....'

...किन्तु वह चुप ही रही। मैंने उसकी चुप से तंग आकर कहा—'अब जवाब दो ना।'

तब वह बोली: 'मैं इतनी फिजूल-खर्च भी नहीं, जितनी तुम समझते हो।'

और फिर चुप हो गई।

हिन्दी अनुवाद: शाकिर पुरुषार्थी

भाषा विभाग (पंजाब) की ओर से वर्ष 1997 के सर्वोत्तम कथा साहित्य के पुरस्कार द्वारा सम्मानित

संवेदनशील लेखिका सिम्मी हर्षिता की कहानियों का विशिष्ट संग्रह

## 33 कहानियाँ

अछूती भावभूमि, विशिष्ट भाषा शैली और सघन रचनाशीलता के लिए सुपरिचित लेखिका की तैंतीस कहानियाँ एक साथ।

पृष्ठ : 256

मूल्य : 300 रु. (सजिल्द)

150 रु. (पेपर बैक)

अभिव्यंजना से लेखिका की पूर्व प्रकाशित कृतियाँ

धराशायी	(कहानी संग्रह)	16.00
सम्बन्धों के किनारे	(उपन्यास)	35.00
यातना शिविर	(उपन्यास)	75.00

## अभिव्यंजना

बी - 70/72, लारेंस रोड, दिल्ली - 110035



## मधु सन्धु रोटेशन

पदभार संभालते ही हृदय को गुदगुदी के धक्के लगने लगे। यूनिथन द्वारा लड़े गए रोटेशन के मामले को उन्होंने सौ-सौ धन्यवाद दिए। वर्षों टेम्परेरी नौकरी भोगनी पड़ी थी। ऊपर वालों का बैग उठाने की उन्हीं दिनों जो आदत पड़ी तो छुड़ाए नहीं छूटी। शायद इसी का परिणाम था कि साथी यहां-वहां छितर गए और वे शीघ्र ही परमानेंट हो गए, किन्तु प्रमोशन में बहुत व्यवधान आए। अध्यक्षीय तानाशाही के अनेक अत्याचार उन्होंने स्वयं झेले-भोगे थे। अभी तो सारे जख्म हरे थे। उनींदी रातों की टीसें सुगबुगा रही थीं। अपमानों की पीड़ा पुरानी नहीं पड़ी थी। दिन तो बदलते ही हैं, लेकिन इतनी जल्दी! सब सैट करना होगा—उन्होंने सोचा और चिन्तन की दिशाओं में डूब गए।

घूमने वाली कुर्सी का मजा भी अनूठा होता है और नशा भी। गाहे-बगाहे हाथ घण्टी से जा टकराता और चपरासी या स्टैनो पूर्ण विनम्रता से प्रवेश करते। तब वे कुछ न कुछ आदेश दे ही देते। कुर्सी पर बैठते ही यह जादुई शक्ति आ जाती है, इसका तो उन्हें कभी पूर्वाभास तक नहीं था। एक जमाना था कि मकड़ी के जालों-सना, स्टोर-सा लदा-फंदा, बिना नेम-प्लेट का कमरा मिला हुआ था और आज यह चमचमाता ऑफिस, सोफा-सेट, आर.के. के पर्दे, गद्देदार कुर्सियां, कम्प्यूटर, रोज़वुड का टेबल, वाल-टू-वाल कार्पेटिंग! लगता, स्वर्ग में आ खड़े हुए हैं। कहां दिन भर इन्तजार रहता था कि फोन की बेल हो और कहां हर अगले पल ट्रिन-ट्रिन होने लगती है। आज वर्षों से दोपहर को सूखी सब्जी, अचार और पानी के घूंटों के सहारे निगले जाने वाले नमकीन परांठे बेस्वाद हो गए थे। सिल्वर पेपर की सलीकेदार रैपिंग में खाना पहुंचने लगा था—सलाद, फ्रूट, नेपकिन। क्या अध्यक्षता इतनी स्पृहणीय होती है? आने-जाने के लिए गाड़ी मुहैया करने वाले भी मिल गए थे। विश्वास ही नहीं होता कि कभी दुपहिया वाहन ही उनके लिए उड़न-तश्तरी का पर्याय हुआ करता था। पली वर्षों से पच्चीस-तीस मील दूर के एक कस्बे के प्राइमरी स्कूल में पढ़ा रही थी। प्रथम मैडल उन्होंने पली को इसी शहर के स्कूल में प्लस-टू की लेक्चरर बनवा कर जीता। यहां इन्टरव्यू लेने वाले उनके वही पुराने

संगी-साथी थे जिनको आज भी उनसे सौ-सौ काम पड़ सकते थे। बारह वर्ष के बाद तो घूरे के भाग्य बदल जाते हैं।

“मैं विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष हूं और ये प्लस-टू स्कूल में लेक्चरर है।”—शुरू-शुरू में इस आत्म-परिचय से लगता मानो वे पंजों के बल खड़े होकर अपना कद बढ़ा रहे हों। चेहरे पर नोकदार रोबोली मूंछें उग आई हों। कमीज का कॉलर अकड़ गया हो। विगत पच्चीस वर्षों में जो लोग नजदीक नहीं छिटके थे—आज साथ छोड़ने को तैयार नहीं थे। काम उनको भी अटकाने आते थे। किसी के भी काल्पनिक यात्रा भत्ते पर, लोन पेपर्स पर, प्रोग्रेस रिपोर्ट पर, कन्फ्रेंस लैटर पर, पी-एच.डी की इनरोलमेंट पर वे झटके से हस्ताक्षर नहीं करते थे। ऐसा करने से आदमी का मूल्य कम हो जाता है—इसकी उन्हें समझ थी। फिर आफिस में ढेरों काम होते हैं। कुछ अनुभवी लोग अपने अमूल्य सुझावों से उनका मन जीतने का यत्न करते थे और शेष दफ्तरी कार्यों की दलदल पार करते उनके कंधे पर कार्यपूर्ति का मैडल चिपका देते थे। “सब कितना आसान है!”—वे सोचते और मन ही मन मुस्कराते रहते। हथेली पर सरसों उगाने की कहावत उन्हें सच लगती।

निरन्तर तनावों की देन वैरागीपन चुकने लगा था। जीवन में प्रथम बार गर्दन तान कर चलना उन्हें रास आया था। अकड़े कॉलर वाली रेडीमेड शर्ट अच्छी लगने लगी थी। पेट का डायमीटर कम करने के लिए कहने वालों के समक्ष उनचास वर्ष की इस आयु में चुप्पी साध जाया करते थे, अब उनका उत्तर उलटवासियों में देने लगे थे। बौनेपन का पीड़ाबोध अतीत की वस्तु था। एक आभिजात्य उनके चेहरे से टपकता रहता था। वे सुलतान थे। विभाग उनकी सल्तनत थी। वे बॉस थे, सर्बार्डिनेट्स से घिरे हुए। उनका हर शब्द भरत-वाक्यम् हो ऐसा उन्हें अच्छा लगता था। घर के बदले वातावरण को नानो भी संघ-समझ रही थी। वर्षों से इस घर में काम करती आई है। दो-अढ़ाई वर्षों से काम कुछ बढ़ गया था। आने-जाने वालों का सिलसिला मल्टीप्लाई हो रहा था। लेकिन न मेम साहिब ने और न साहब ने कभी भी उसके पैसे बढ़ाने के





अनुरोध को स्वीकारा। हर बार टाल दिया जाता। पुरानी नौकरानी नानो सब करती रही—प्रसन्न मन। वर्षों पहले नानो की इकलौती बेटा की मृत्यु हो गई थी। उसकी एकमात्र निशानी बिट्टू को उसने बड़े प्यार से पाला-पढ़ाया था। आज बिट्टू प्लस टू कर गया था। नानो भी अब बूढ़ी हो चुकी थी। फिर ढलती उम्र का क्या भरोसा? कब कहां फिसल जाए। इस शहर में अपनों के नाम पर नानो मात्र साइव और मेम साहब को ही जानती थी। वे ही उसकी आशा-किरण थे। उसने साहब की चिरांगी की—बिट्टू को कहीं लैब असिस्टेंट लगवा दिया जाए। साहब एकदम सक्रिय हो उठे। दफ्तरी, अकादमिक कामों के सिलसिले में अथारिटीज से अक्सर मिलना होता था। उन्होंने सब पता लगवाया और जान गए कि तीन महीने तक वेकेंसीज निकलेंगी। अब नानो घर के और बिट्टू बाजार के सारे काम निपटाने लगा। बिजली, पानी और फोन के बिल देने के लिए उन्हें कतार में खड़े होने से अवकाश मिल गया। माली की उन्होंने छुट्टी कर दी थी। ये काम बिट्टू बखूबी निभा देता था। घर के जाले वगैरह सब हर हफ्ते साफ कर देता। बच्चों की हर डिमांड वह पूरी करने लगा। देर-सवेर उन्हीं के स्कूटर पर वह बच्चों को ले-छोड़ भी आता। उनमें बिट्टू के प्रति वात्सल्य था और अपने सामर्थ्य के प्रति आश्वस्त। जानते थे कि बिट्टू का काम हो ही जाएगा। इकट्ठे पन्द्रह रिक्त स्थान निकले थे। काम होना ही चाहिए था। तीन वर्षों की अध्यक्षता चुटकियों में बीत रही थी। मात्र चार महीने रह गए थे। उन्होंने कड़ियों के काम किए थे—मैत्रीवश, सौजन्यतावश और पदाभार-वश। चार सौ प्रार्थना-पत्रों का सुन कर भी वे चौंके नहीं। अधिकारियों से उन्होंने अनेक बार सम्पर्क किया था। इतने छोटे पद के लिए बार-बार कहना उन्हें अन्दर से कोंच भी रहा था। अब वे पहले वाले प्रवक्ता मात्र तो नहीं थे। काम तो होना ही चाहिए था। थोड़ा अस्वस्थ होने के कारण वे सप्ताह भर जा नहीं पाए तो बिट्टू ही दिन भर उनकी देख-भाल करता। लेकिन उस दिन बिट्टू नहीं आया। नानो भी नहीं आई। सांझ को उसके घर पता किया तो मालूम हुआ कि नानो और बिट्टू आज गांव जा रहे हैं। वहीं उनकी कुछ जमीन है। बिट्टू अब वहीं काम करेगा। यहां उसका सेलैक्शन तो क्या वेटिंग-लिस्ट में नाम तक नहीं है।

वे भौचक्के रह गए। सारी गरिमा पल भर में काफूर हो गई। क्या उनकी इतनी भी हैसियत नहीं रही कि किसी को लैब असिस्टेंट ही लगवा सकें। कुर्सी क्या एक मायाजाल मात्र है? एक मामूली-सी मेड-सर्वेंट के सामने वे इतने छोटे पड़ गए! लेकिन मस्तिष्क ने अब सोचने से इन्कार कर दिया था। तीन वर्ष के अन्तराल के बाद क्या उन्हें फिर उसी पुरानी स्थिति पर पहुंचना होगा। खांसी का एक वेग-सा उठा और आंखें फिर नानो और बिट्टू को तलाशने लगीं।

हिन्दी विभाग, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर—143005

## अभिव्यञ्जना द्वारा प्रकाशित कुछ नए कविता-संग्रह

### सबूत क्यों चाहिए

(इंदु जैन)

समय चेतना को उजागर करती प्रख्यात कवयित्री इंदु जैन की नई कविताएँ।

मूल्य : 80 रु.

### मेरा होना

(कुसुम अंसल)

गहरी संवेदनशीलता के कारण मन को छू जाने वाली कुसुम अंसल की नई कविताएँ।

मूल्य : 70 रु.

### आरंभ से हाशिये तक

(अनिता वर्मा)

संवेदनाओं को आत्मसात करती और कविता में जीती अनिता वर्मा की नई कविताएँ।

मूल्य : 60 रु.

### अन्य महत्वपूर्ण कविता संग्रह

गोली धूप का टुकड़ा	शामा	100 रु.
सच कहती हूँ	सुनीता जैन	80 रु.
मुक्त कर दो	कीर्ति केसर	50 रु.
विरूपीकरण	कुसुम अंसल	35 रु.
तुम झेल नहीं पाओगे	अरुणा कपूर	60 रु.

### अभिव्यञ्जना

बी-70/72, डी.एस.आई.डी.सी. कामप्लैक्स लॉरेस रोड,  
दिल्ली-110035



## रामदरश मिश्र की दो कविताएं रेकार्ड

एक रेकार्ड है उनके पास  
वे लोग बारी-बारी से उसे बजाया करते हैं  
कभी प्यासे कमरे में  
कभी भूखे हाल में  
कभी दिल्ली में  
कभी भोपाल में  
कभी जफर मार्ग पर  
कभी कला की मंडी में  
कभी दरियागंज की अंधी गली में  
कभी वसन्त कुंज की वनखंडी में  
कभी प्यार में कभी तकरार में  
कभी नींद में कभी खुमार में  
उनके लिए उस रेकार्ड से बाहर  
संसार की न खुशियां हैं न गम हैं  
न आप हैं न हम हैं।

## महाकवि

### देखिए

हमारे समय के कुछ महाकवि जा रहे हैं  
न जाने कहां-कहां जाएंगे  
कहां-कहां पढ़ेंगे, कहां-कहां पढ़ाएंगे?  
वे अपने समय का थोड़ा भाग  
लेखन में लगाते हैं  
बाकी उसे भुनाने में  
डेढ़ कविता लिख कर  
देश-विदेश नाप लिया उसे सुनाने में  
परस्पर मिल-जुलकर बन गए हैं महान  
साहित्य उनका चागागाह है चर रहे हैं  
प्यार लिखने वाली उनकी लेखनी से अब  
लोग डर रहे हैं  
आते-जाते औरों पर अश्लीलता से हंसते हैं  
मानो फब्बी कसते हैं—  
लिखे जाओ, लिखे जाओ  
लिखने पर अड़े रहो  
कुछ नहीं मिलने वाला है इससे  
जहां हो वहीं पड़े रहो।

आर-38, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-59



बाबा साहब भीमराव अंबेडकर की कविता

### अछूत

गरीब होना बुरा है  
पर उतना बुरा नहीं  
जितना कि अछूत होना  
गरीब स्वाभिमानी हो सकता है  
किन्तु अछूत नहीं हो सकता।

निम्न होना बुरा है  
पर उतना बुरा नहीं  
जितना कि अछूत होना  
निम्न व्यक्ति ऊपर उठ सकता है  
किन्तु अछूत नहीं उठ सकता।

दुःखी होना बुरा है  
पर उतना बुरा नहीं  
जितना कि अछूत होना  
दुःखी किसी दिन सुखी भी होगा  
किन्तु अछूत उसकी  
आशा नहीं कर सकता।

दबू होना बुरा है  
पर उतना बुरा नहीं  
जितना कि अछूत होना  
दबू दबंग हो सकता है  
यदि जन्मजात नहीं है  
किन्तु अछूत उसकी  
आशा नहीं कर सकता।  
अनुवाद—कंवल भारती  
(अवे फ्राम दि हिन्दूज से)



बहुत उदास हूँ।

वह बोली: 'मैं तो शब्दों को महसूस भी कर सकती हूँ।'

मैंने उससे पूछा: 'क्या तुमने कभी शब्दों को चखा है?'

वह बोली: 'हां! फागुन और चैत के महीनों में हरी-कचूर अंबियों की तरह। अब क्या बताऊं तुम्हें उनका स्वाद क्या होता है।'

'मैं खुद भी उसे महसूस करता हूँ लेकिन तुम्हें नहीं बताऊंगा।'

'चलो, अब बता भी दो। शब्दों की फिजूल-खर्ची का इस कदर भी खयाल न रखा करो।'

'मैं शब्दों का इसलिए खयाल रखता हूँ कि मुझे शब्दों से मुहब्बत है।'

'तुम्हारा क्या खयाल है, मैं शब्दों से मुहब्बत नहीं करती?'

'अगर तुम्हें उनसे मुहब्बत होती तो तुम उन्हें संभाल कर रखती।'

'सुनो, लेखन शब्दों के बस्ते हैं। तुम क्यों शब्दों के वकील बने बैठे हो?'

'इसलिए कि मुझे उन शब्दों पर तरस आता है जो अपनी मानसिक सम्पन्नता के प्रचार के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं। शब्द पर इन्सान की सोहबत का बहुत असर होता है। बुरी सोहबत में रह कर शब्द भी बुरे हो जाते हैं।'

'इसीलिए तो मैं कहती हूँ—शब्द मुझसे बहुत खुश है।'

'शब्द किसी की मीरास नहीं।'

'हां, किन्तु शब्द हमेशा सहृदय लोगों की सोहबत में रहना पसंद करते हैं।'

'सुनो, शब्द मजलूम ही नहीं, ज़ालिम भी होते हैं।'

'तुम्हारे साथ कोई जुल्म किया है शब्दों ने?'

'हां एक बार! जब वह जुदा हो रहा था। उसके कहे हुए शब्द कुछ न पूछो! तलवार से कम न थे।'

'वे, जिन्हें तुम तलवार समझ रही हो, शब्द नहीं थे। शब्दों पर उसकी प्रकृति का साया था।'

किन्तु अब की बार उसने मेरी बात का कोई जवाब न दिया और चुप हो गई। जब उसकी चुप बहुत लंबी हो गई तो मैंने उससे कहा—'अब बताओ न, वे शब्द थे या जुदा होने वाले की प्रकृति का साया....'

...किन्तु वह चुप ही रही। मैंने उसकी चुप से तंग आकर कहा—'अब जवाब दो ना।'

तब वह बोली: 'मैं इतनी फिजूल-खर्च भी नहीं, जितनी तुम समझते हो।'

और फिर चुप हो गई।

हिन्दी अनुवाद: शाकिर पुरुषार्थी

भाषा विभाग (पंजाब) की ओर से वर्ष 1997 के सर्वोत्तम कथा साहित्य के पुरस्कार द्वारा सम्मानित

संवेदनशील लेखिका सिम्मी हर्षिता की  
कहानियों का विशिष्ट संग्रह

## 33 कहानियाँ

अछूती भावभूमि, विशिष्ट भाषा शैली और सघन रचनाशीलता के लिए सुपरिचित लेखिका की तैतीस कहानियाँ एक साथ।

पृष्ठ	:	256
मूल्य	:	300 रु. (सजिल्द)
		150 रु. (पेपर बैक)

अभिव्यंजना से लेखिका की पूर्व  
प्रकाशित कृतियाँ

धराशायी	(कहानी संग्रह)	16.00
सम्बन्धों के किनारे	(उपन्यास)	35.00
यातना शिविर	(उपन्यास)	75.00

अभिव्यंजना

बी - 70/72, लारेंस रोड, दिल्ली - 110035



## मधु सन्धु

# रोटेशन

पदभार संभालते ही हृदय को गुदगुदी के धक्के लगने लगे। यूनिनयन द्वारा लड़े गए रोटेशन के मामले को उन्होंने सौ-सौ धन्यवाद दिए। वर्षों टेम्परेरी नौकरी भोगनी पड़ी थी। ऊपर वालों का बैग उठाने की उन्हीं दिनों जो आदत पड़ी तो छुड़ाए नहीं छूटी। शायद इसी कारण परिणाम था कि साथी यहां-वहां छितर गए और वे शीघ्र ही परमानेंट हो गए, किन्तु प्रमोशन में बहुत व्यवधान आए। अध्यक्षीय तानाशाही के अनेक अत्याचार उन्होंने स्वयं झेले-भोगे थे। अभी तो सारे जख्म हरे थे। उनींदी रातों की टीसें सुगबुगा रही थीं। अपमानों की पीड़ा पुरानी नहीं पड़ी थी। दिन तो बदलते ही हैं, लेकिन इतनी जल्दी! सब सैट करना होगा—उन्होंने सोचा और चिन्तन की दिशाओं में डूब गए।

घूमने वाली कुर्सी का मजा भी अनूठा होता है और नशा भी। गाहे-बगाहे हाथ घण्टी से जा टकराता और चपरासी या स्टैनो पूर्ण विनम्रता से प्रवेश करते। तब वे कुछ न कुछ आदेश दे ही देते। कुर्सी पर बैठते ही यह जादुई शक्ति आ जाती है, इसका तो उन्हें कभी पूर्वाभास तक नहीं था। एक जमाना था कि मकड़ी के जालों-सना, स्टोर-सा लदा-फंदा, बिना नेम-प्लेट का कमरा मिला हुआ था और आज यह चमचमाता ऑफिस, सोफा-सेट, आर.के. के पर्दे, गद्देदार कुर्सियां, कम्प्यूटर, रोज़वुड का टेबल, वाल-टू-वाल कार्पेटिंग! लगता, स्वर्ग में आ खड़े हुए हैं। कहां दिन भर इन्तजार रहता था कि फोन की बेल हो और कहां हर अगले पल ट्विन-ट्विन होने लगती है। आज वर्षों से दोपहर को सूखी सब्जी, अचार और पानी के घूंटों के सहारे निगले जाने वाले नमकीन पसंठे बेस्वाद हो गए थे। सिल्वर पेपर की सलीकेदार रैपिंग में खाना पहुंचने लगा था—सलाद, फ्रूट, नेपकिन। क्या अध्यक्षता इतनी स्पृहणीय होती है? आने-जाने के लिए गाड़ी मुहैया करने वाले भी मिल गए थे। विश्वास ही नहीं होता कि कभी दुपहिया वाहन ही उनके लिए उड़न-तश्तरी का पर्याय हुआ करता था। पत्नी वर्षों से पच्चीस-तीस मील दूर के एक कस्बे के प्राइमरी स्कूल में पढ़ा रही थी। प्रथम मैडल उन्होंने पत्नी को इसी शहर के स्कूल में प्लस-टू की लेक्चरर बनवा कर जीता। यहां इन्टरव्यू लेने वाले उनके वही पुराने

संगी-साथी थे जिनको आज भी उनसे सौ-सौ काम पड़ सकते थे। बारह वर्ष के बाद तो घूरे के भाग्य बदल जाते हैं।

“मैं विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष हूं और ये प्लस-टू स्कूल में लेक्चरर है।”—शुरू-शुरू में इस आत्म-परिचय से लगता मानो वे पंजों के बल खड़े होकर अपना कद बढ़ा रहे हों। चेहरे पर नोकदार रोबोली मूँछें उग आई हैं। कमीज का कॉलर अकड़ गया हो। विगत पच्चीस वर्षों में जो लोग नजदीक नहीं छिटके थे—आज साथ छोड़ने को तैयार नहीं थे। काम उनको भी अटकाने आते थे। किसी के भी काल्पनिक यात्रा भत्ते पर, लोन पेपर्स पर, प्रोग्रेस रिपोर्ट पर, कन्फर्मेशन लैटर पर, पी-एच.डी की इनरोलमेंट पर वे झटके से हस्ताक्षर नहीं करते थे। ऐसा करने से आदमी का मूल्य कम हो जाता है—इसकी उन्हें समझ थी। फिर आफिस में ढेरों काम होते हैं। कुछ अनुभवी लोग अपने अमूल्य सुझावों से उनका मन जीतने का यत्न करते थे और शेष दफ्तरी कार्यों की दलदल पार करते उनके कंधे पर कार्यपूति का मैडल चिपका देते थे। “सब कितना आसान है!”—वे सोचते और मन ही मन

मुस्कराते रहते। हथेली पर सरसों उगाने की कहावत उन्हें सच लगती।

निरन्तर तनावों की देन वैरागीपन चुकने लगा था। जीवन में प्रथम बार गर्दन तान कर चलना उन्हें रास आया था। अकड़े कॉलर वाली रेडीमेड शर्ट अच्छी लगने लगी थी। पेट का डायमीटर कम करने के लिए कहने वालों के सम्मुख उनचास वर्ष की इस आयु में जुगुप्सा साध जाया करते थे, अब उनका उर उलटवासियों में देने लगे थे। बौनेपन का पीड़ाबोध अतीत की वस्तु था। एक आभिजात्य उनके चेहरे से टपकता रहता था। वे सुलतान थे। विभाग उनकी सल्तनत थी। वे बॉस थे, सबार्डिनेट्स से लिए

हुए। उनका हर शब्द भरत-वाक्यम् हो ऐसा उन्हें अच्छा लगता था। घर के बदले वातावरण को नानो भी सूंघ-समझ रही थी। वर्षों से इस घर में काम करती आई है। दो-अढ़ाई वर्षों से काम कुछ बढ़ गया था। आने-जाने वालों का सिलसिला मल्टीप्लाई हो रहा था। लेकिन मेम साहिब ने और न साहब ने कभी भी उसके पैसे बढ़ाने के





अनुरोध को स्वीकारा। हर बार टाल दिया जाता। पुरानी नौकरानी नानो सब करती रही—प्रसन्न मन। वर्षों पहले नानो की इकलौती बेटी की मृत्यु हो गई थी। उसकी एकमात्र निशानी बिट्टू को उसने बड़े प्यार से पाला- पढ़ाया था। आज बिट्टू प्लस टू कर गया था। नानो भी अब बूढ़ी हो चुकी थी। फिर ढलती उम्र का क्या भरोसा? कब कहां फिसल जाए। इस शहर में अपनों के नाम पर नानो मात्र साहब और मेम साहब को ही जानती थी। वे ही उसकी आशा-किरण थे। उसने साहब की चिरौरी की—बिट्टू को कहीं लैब असिस्टेंट लगवा दिया जाए। साहब एकदम सक्रिय हो उठे। टफ्तरी, अकादमिक कामों के सिलसिले में अथारिटीज से अक्सर मिलना होता था। उन्होंने सब पता लगवाया और जान गए कि तीन महीने तक वेकेंसीज निकलेंगी। अब नानो घर के और बिट्टू बाजार के सारे काम निपटाने लगा। बिजली, पानी और फोन के बिल देने के लिए उन्हें कतार में खड़े होने से अवकाश मिल गया। माली की उन्होंने छुट्टी कर दी थी। ये काम बिट्टू बखूबी निभा देता था। घर के जाले वगैरह सब हर हफ्ते साफ कर देता। बच्चों की हर डिमांड वह पूरी करने लगा। देर-सबेर उन्हीं के स्कूटर पर वह बच्चों को ले- छोड़ भी आता। उनमें बिट्टू के प्रति वात्सल्य था और अपने सामर्थ्य के प्रति आश्वस्ति। जानते थे कि बिट्टू का काम हो ही जाएगा। इकट्ठे पन्द्रह रिक्त स्थान निकले थे। काम होना ही चाहिए था। तीन वर्षों की अध्यक्षता चुटकियों में बीत रही थी। मात्र चार महीने रह गए थे। उन्होंने कइयों के काम किए थे—मैत्रीवश, सौजन्यतावश और पदाभार-वश। चार सौ प्रार्थना-पत्रों का सुन कर भी वे चौंके नहीं। अधिकारियों से उन्होंने अनेक बार सम्पर्क किया था। इतने छोटे पद के लिए बार-बार कहना उन्हें अन्दर से कोंच भी रहा था। अब वे पहले वाले प्रवक्ता मात्र तो नहीं थे। काम तो होना ही चाहिए था। थोड़ा अस्वस्थ होने के कारण वे सप्ताह भर जा नहीं पाए तो बिट्टू ही दिन भर उनकी देख-भाल करता। लेकिन उस दिन बिट्टू नहीं आया। नानो भी नहीं आई। सांझ को उसके घर पता किया तो मालूम हुआ कि नानो और बिट्टू आज गांव जा रहे हैं। वहीं उनकी कुछ जमीन है। बिट्टू अब वहीं काम करेगा। यहां उसका सेलैक्शन तो क्या वेटिंग-लिस्ट में नाम तक नहीं है।

वे भौचक्के रह गए। सारी गरिमा पल भर में काफूर हो गई। क्या उनकी इतनी भी हैसियत नहीं रही कि किसी को लैब असिस्टेंट ही लगवा सकें। कुर्सी क्या एक मायाजाल मात्र है? एक मामूली-सी मेड-सर्वेंट के सामने वे इतने छोटे पड़ गए! लेकिन मस्तक ने अब सोचने से इन्कार कर दिया था। तीन वर्ष के अन्तरात के बाद क्या उन्हें फिर उसी पुरानी स्थिति पर पहुंचना होगा। खांसी का एक वेग-सा उठा और आंखें फिर नानो और बिट्टू को तलाशने लगीं।

हिन्दी विभाग, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर-143005

## अभिव्यंजना द्वारा प्रकाशित कुछ नए कविता-संग्रह

### सबूत क्यों चाहिए

(इंदु जैन)

समय चेतना को उजागर करती प्रख्यात कवयित्री इंदु जैन की नई कविताएँ।

मूल्य : 80 रु.

### मेरा होना

(कुसुम अंसल)

गहरी संवेदनशीलता के कारण मन को छू जाने वाली कुसुम अंसल की नई कविताएँ।

मूल्य : 70 रु.

### आरंभ से हाशिये तक

(अनिता वर्मा)

संवेदनाओं को आत्मसात करती और कविता में जीती अनिता वर्मा की नई कविताएँ।

मूल्य : 60 रु.

### अन्य महत्वपूर्ण कविता संग्रह

पोली धूप का टुकड़ा	शामा	100 रु.
सच कहती हूँ	सुनीता जैन	80 रु.
मुक्त कर दो	कीर्ति केसर	50 रु.
विरूपीकरण	कुसुम अंसल	35 रु.
तुम झेल नहीं पाओगे	अरुणा कपूर	60 रु.

### अभिव्यंजना

बो-70/72, डी.एस.आई.डी.सी. काम्प्लेक्स लॉरेंस रोड,  
दिल्ली-110035



## रामदरश मिश्र की दो कविताएं रेकार्ड

एक रेकार्ड है उनके पास  
वे लोग बारी-बारी से उसे बजाया करते हैं  
कभी प्यासे कमरे में  
कभी भूखे हाल में  
कभी दिल्ली में  
कभी भोपाल में  
कभी जफर मार्ग पर  
कभी कला की मंडी में  
कभी दरियागंज की अंधी गली में  
कभी वसन्त कुंज की वनखंडी में  
कभी प्यार में कभी तकरार में  
कभी नींद में कभी खुमार में  
उनके लिए उस रेकार्ड से बाहर  
संसार की न खुशियां हैं न गम हैं  
न आप हैं न हम हैं।

## महाकवि

### देखिए

हमारे समय के कुछ महाकवि जा रहे हैं  
न जाने कहां-कहां जाएंगे  
कहां-कहां पढ़ेंगे, कहां-कहां पढ़ाएंगे?  
वे अपने समय का थोड़ा भाग  
लेखन में लगाते हैं  
बाकी उसे भुनाने में  
डेढ़ कविता लिख कर  
देश-विदेश नाप लिया उसे सुनाने में  
परस्पर मिल-जुलकर बन गए हैं महान  
साहित्य उनका चारागाह है चर रहे हैं  
प्यार लिखने वाली उनकी लेखनी से अब  
लोग डर रहे हैं  
आते-जाते औरों पर अश्लीलता से हंसते हैं  
मानो फव्वी कसते हैं—  
लिखे जाओ, लिखे जाओ  
लिखने पर अड़े रहो  
कुछ नहीं मिलने वाला है इससे  
जहां हो वहीं पड़े रहो।

आर-38, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-59



## बाबा साहब भीमराव अंबेडकर की कविता

### अछूत

गरीब होना बुरा है  
पर उतना बुरा नहीं  
जितना कि अछूत होना  
गरीब स्वाभिमानी हो सकता है  
किन्तु अछूत नहीं हो सकता।

निम्न होना बुरा है  
पर उतना बुरा नहीं  
जितना कि अछूत होना  
निम्न व्यक्ति ऊपर उठ सकता है  
किन्तु अछूत नहीं उठ सकता।

दुःखी होना बुरा है  
पर उतना बुरा नहीं  
जितना कि अछूत होना  
दुःखी किसी दिन सुखी भी होगा  
किन्तु अछूत उसकी  
आशा नहीं कर सकता।

दबू होना बुरा है  
पर उतना बुरा नहीं  
जितना कि अछूत होना  
दबू दबंग हो सकता है  
यदि जन्मजात नहीं है  
किन्तु अछूत उसकी  
आशा नहीं कर सकता।  
अनुवाद—कबल भारती  
(अवे फ्राम दि हिन्दूज से)



## डा. गुरचरण सिंह

# समय के औचित्य से आसमान के बोझ तक

समय शब्द के औचित्य को जानता है संग्रह में सन् 1960 से 1997 तक की कविताएँ संकलित हैं। संग्रह की कविताओं को कवि ने दो खंडों में बांटा है—'कविता में समय' तथा 'समय और हम'।

श्याम विमल के अनुसार—'कवि का भी समय होता है और लेखन समयोचितता' एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं—'समय का औचित्य या अनौचित्य शब्द हासिल कर लेता है।' कवि ने 'समय बड़ा बलवान है' कह कर समय की परम्परागत अवधारणा को ही स्वीकारा है। समय और प्रकाश, समय और आकाश या शून्य पर जो अधुनातन काम हुआ है उस ओर कवि ने ध्यान नहीं दिया है। समय की नई अवधारणा ने यथार्थ की अवधारणा को भी बदला है। जब प्रकाश की गति को नियंत्रित करने के प्रयास हो रहे हों और उसमें सफलता भी मिल रही हो तो वर्तमान का क्या रूप होगा, इस पर सोचने-विचारने की जरूरत है। यदि शब्द को समय सापेक्ष स्वीकारा जाये तो शब्द के अर्थ ही नहीं, उसके औचित्य पर भी प्रश्न-चिह्न लगाने लगेंगे।

'कुछ शब्द रखने के बाद/ खाली रह जाती है जगह/ कविता में/ तो मैं बिना चिंता किये/ छोड़ देता हूँ जगह—समय के वास्ते/ समय भर देगा जगह/ समय शब्द के औचित्य को जानता है।' इन पंक्तियों को मैंने इसलिए कोट किया है क्योंकि कवि का बल इन्हीं पंक्तियों पर है। संग्रह के प्रारम्भ में रंगीन पृष्ठ पर तथा संग्रह के पीछे अपने छायाचित्र के साथ इन्हीं पंक्तियों को कोट किया है। साथ ही संग्रह का शीर्षक भी इन्हीं पंक्तियों को आधार बना कर दिया गया है। कविता के खाली स्थान को क्या समय भर पाया है—विवाद का विषय है। इतिहास से ऐसे उदाहरण नहीं दिए जा सकते। समय का सच, उसका यथार्थ प्रत्येक के लिए अलग अर्थ रखता है। इसी कारण एक ही समय में लिखी जा रही कविता एक-सी नहीं होती। शब्द का औचित्य कवि के अनुरूप होता है, समय के अनुरूप नहीं क्योंकि समय की अवधारणा प्रत्येक कवि की अपनी होती है।

'कविता का रात से क्या रिश्ता है/दिन क्यों कहानी-सा दिखता है?' इन पंक्तियों में भी समय है। कहानी में भी शब्द है, कविता में भी। शब्द को रात-दिन में बांटा गया है। पर रात और दिन से कविता और कहानी को जोड़कर कवि उनके रूप और संरचना को स्पष्ट नहीं कर पाया है। न तो कविता में रात-सा सन्नाटा और अंधेरा होता है और

न ही कहानी में दिन-सा उजाला। कविता यदि गहन, गम्भीर, सुगठित, अर्थपूर्ण होती है तो ये गुण अच्छी कहानी के भी होते हैं। 'शब्दों में गूढ़ गुफित मौन ही/ कदाचित् कविता की आत्मा है' इस गूढ़-गुफित मौन को रात के साथ जोड़ा जा सकता है। पर ऐसा मौन अच्छी कहानियों में भी होता है।

'शहर और दूर यहाँ' कविता में शहर और गांव की तुलना की गई है—'शहर में धरती नहीं होती धरती/सड़कें होती हैं, इमारतें, गलियाँ और पटरियाँ बिछी होती हैं/ पर यहाँ दूर-दूर समूची धरती/ पगडंडियों को गोद में छिपाये/ इंतजार करती है कदमों का।' धरती रहित शहर में कोई किसी का नहीं है—'मेरा कौन है इनमें, मेरी खातिर जिसकी आंखें भींगें।' गांवों में अभी भी कुछ लोग ऐसे मिल जाएंगे जो दूसरे के दुख को अपना समझते हैं। एक अन्य कविता में वह लिखता है कि कभी शहर भी गांव जैसा ही स्नेह तथा आत्मीयता को लिए हुए था। शहर कभी 'बहुत सन्ध था, साफ/ जैसे बहुरंगी फूलों का गुच्छा।' पर अब ऐसा शहर कहीं देखने को नहीं मिलता। समय इस कविता में भी है। समय के साथ व्यक्ति में जो बदलाव आया है, आज का शहर उसी को रूपान्तरित करता है। आज नगरों में लोग गाली देते हैं, पीटते हैं, चाकू निकाल कर पेट में भोंक देते हैं और हम खून की धार को बहता हुआ देखते रहते हैं। व्यक्ति कितना नपुंसक, कायर तथा आत्मकेन्द्रित हो गया है। 'आलोचक' कविता का भी यही भाव है। 'एक चेहरा बन रहा है' कविता में वह व्यक्ति के इस चेहरे को 'जानदार चेहरे' में बदलना चाहता है जो स्थिति के खिलाफ खड़ा होने का साहस जुटा सके।

संग्रह की कुछ कविताओं में आज की राजनीति तथा भ्रष्ट व्यवस्था पर भी चोट की गई है—'सबसे ऊपर/हिम मंडित कुरसी है/ कुरसी के पायों के नीचे/ कुछ सौ हाथ हैं, और इन हाथों के नीचे हजारों उंगलियाँ हैं।' साधारण जन इस तमाशो को चुपचाप देख रहा है। कवि व्यक्ति की इस विवशता को तोड़ना चाहता है जिससे स्थिति में बदलाव आ सके।

'गलत शहर' कविता में सन् 1984 के दंगों को आधार बनाया गया है। हजारों निरपराध लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया था और लोग, पुलिस दल मूक दर्शक बन इस नरसंहार को देखते रहे थे—'जानवर हुआ प्राणी/ शिकारी की हैसियत लेकर/ अपना का शिकार करने लगा है।' इसीलिए कवि को 'इतिहास की रेत में/ गर्दन



दबाकर/अंधी बनी तब तू/ एक राजनीतिक गलती लगती है दिल्ली।'

'हैलो मिस सती', 'रोता', 'औरत', 'मां' आदि कविताएं स्त्री की दयनीय स्थिति का चित्रण करती हैं। स्त्री की इस स्थिति के लिए जितना समाज जिम्मेदार है उतनी ही स्त्री स्वयं भी। आज स्त्री का जो रूप उभर रहा है उसके लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी है। आर्थिक दबाव स्त्री पर सदैव रहे हैं, पर इन दबावों के सामने झुक कर खुद को दाब पर लगाना कहां तक उचित है—स्त्री को इस पर विचार करना चाहिए।

संग्रह की अन्तिम कविता 'आप तो होंगे' में कवि का आस्थावादी ग्वर उभरा है। उसे विश्वास है कि आने वाले समय में बदलाव आएगा। वह नहीं होगा तो क्या, नई पीढ़ियां उस बदलते समय की खुशियों को भोगेंगी।

डॉ ज्ञान चन्द्र गुप्त लम्बे समय से कविता लिख रहे हैं। पर उनका कविता संग्रह 'कहीं कोई बात हुई होगी' अब आया है। इन कविताओं में जीवन की धड़कनें हैं, घर परिवार की चिन्ताएं हैं, समाज की विसंगतियां हैं, कॉलेज के गोरखधंधे हैं, विश्वविद्यालय की गतिविधियां हैं, साहित्यिक संदर्भ हैं तथा राजनीतिक घटनाएं हैं। आज के आदमी के तनाव, संघर्ष, चिन्ताओं को ये कविताएं व्यक्त करती हैं तथा पाठक को जीवन की विसंगतियों के सामने खड़ा करती हैं। भौतिकवादी दृष्टि के कारण समाज में जो बदलाव गत तीन-चार दशकों में आया है, कवि उससे चिंतित है। वास्तव में हम मूल्यहीन जीवन में जी रहे हैं। मूल्यों का विघटन, टूटते हुए विश्वास आज के व्यक्ति को मथ रहे हैं। स्वार्थपरता ने व्यक्ति को इतना गिरा दिया है कि उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। वर्तमान परिवेश में जो घट रहा है, कविता उसी को व्यक्त करती है। हमारे आस-पास घट रही घटनाएं हमें सालती हैं, तोड़ती हैं। इस टूटन को हम घर-परिवार में ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय जीवन में भी देखते हैं।

कविताओं में कवि का सामाजिक सरोकार देखा जा सकता है। कवि मात्र द्रष्टा ही नहीं बनता बल्कि सार्थक हस्तक्षेप भी करता है क्योंकि बिना हस्तक्षेप के स्थितियों में बदलाव सम्भव नहीं है। 'व्यक्ति और उसके परिवेश की/यह लड़ाई कब तक चलती रहेगी' इस प्रश्न पर कवि ने काफ़ी सोचा है। पर व्यक्ति तो आदिकाल से परिवेश से टकराता रहा है। उसकी इस टकराहट को ही प्रगति, विकास तथा उन्नति की संज्ञा दी जाती रही है। व्यक्ति का परिवेश से टकराना कभी रुक नहीं सकता, क्योंकि रुकना तो स्थिरता को जन्म देगा। यदि कवि परिवेश से लड़ाई-झगड़े, खून-खराबा दूर करना चाहता है तो उसके लिए नए मूल्यों की ज़रूरत है जो समाज को नैतिक तथा मर्यादित रूप

दे सकें। इसके लिए भी व्यक्ति को परिवेश से ही जूझना होगा।

'सवालों के कटघरे में' एक ऐसी कविता है जिसका सम्बन्ध हम सभी के साथ है। शायद इसी कारण वह हमारा ध्यान खींच लेती है। 'पिता से था घर में/ संतानों का एक घना जंगल।' उसकी इस गलती की सज़ा उसकी बेटियों को आजन्म भोगनी पड़ी—'क्यों हमें गृहस्थ जीवन छोड़ कर बाई बनना पड़ा/ क्यों हमें झेलनी पड़ी सामाजिक यातनाएं और डर/क्यों हमें टूटी कमर ढोने पड़े बोझ अकेले ही बुझाये में/ क्यों हमें जीवन की भोर से ही अधियारे जीने पड़े रात तक/ क्यों हमें तोड़नी पड़ी/मर्यादाएं और वर्जनाएं/ क्यों हमें अकेले ही जीना पड़ा जीवन की सांझ तक।' ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका सम्बन्ध लाखों-करोड़ों स्त्रियों के साथ जुड़ा हुआ है। पिता की गलतियों का फल उसकी संतानों को भोगना पड़ता है।

मां, पिता, बच्चे आज कवियों को अधिक याद आने लगे हैं। जब बाहर सभी सम्बन्ध टूट गए हों तो सम्बन्धों की तलाश परिवार में ही की जा सकती है। माता-पिता का बच्चों के प्रति ममत्व निश्चलता को, सम्बन्धों की पवित्रता को हमारे सामने रखता है। कवि ने भी माता-पिता को अपनी कविताओं में याद किया है।

खेतों-खलिहानों को छोड़ कर अन्य धंधों की तलाश में लोग शहरों की तरफ भाग रहे हैं। इसके पीछे पैसा तथा शहरों की चकाचौंध का हाथ है। 'नदी पर' कविता इसी समस्या को उठाती है।

'जमींदार' कविता गांव के मुखिया या सरगना की कहानी नहीं कहती बल्कि आज के नेताओं के यथार्थ रूप को हमारे सामने रखती है जो जनता को लूट कर अपना घर भर रहे हैं और लोगों पर रौब झाड़ रहे हैं। इन्हीं नेताओं की स्वार्थपरता तथा वोटों की राजनीति के कारण आतंक का माहौल बना हुआ है—'कैसी लड़ाई है/कैसा अजब जुनून है सिर पर सवार/दिन-रात खाइयां खुदती हैं। टूटते हैं पुल/और किनारे रोंते हैं।'

दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रतिवर्ष 'फलावर-शो' होता है 'फूलों का विराट अद्भुत प्रदर्शन/चारों ओर रंग ही रंग' पर कवि को लगता है कि—'प्रकृति पर भी हावी है शहर/उसका छल और उसकी बनावट, और फूल होते जा रहे हैं/ जेल में सौन्दर्य की/ अपना गुण-धर्म खोंकर।' गमलों में उगे फूल और खेतों में क्यारियों में उगे फूल—दोनों के बीच के अन्तर को कवि रेखांकित करता है।

दहेज-विरोधी कानून बन जाने पर भी इस सामाजिक अभिशाप में समाज अभी बचा नहीं है—'मांगलिक कार्य शादो-ब्याह तो/आफत की धर्मशालाएं हैं/पराकाष्ठाएं हैं जड़ताओं की/घर बिके चाहे बच्चे अनाथ/पूरी करनी पड़ती है मांगें वर पक्ष की।'

'गोष्ठी-प्रसंग' में रचनाकारों, आलोचकों पर तीखा व्यंग्य है।



ऐसी गोष्ठियों में 'शामिल कवि बंधुओं से/आपके क्या समीकरण है/किस दल का कौन आदमी/क्या पढ़ रहा है/ और किसको कितना महत्त्व देना है' जैसी बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। ऐसी गोष्ठियों में रचना गौण हो जाती है। कवि ज्ञान चन्द गुप्त की कविता में विषयों की विविधता है। इसी कारण उनकी कविता एकरसता के अवगुण से बची है।

'शब्दों के जंगल और जुगनू' राकेश प्रेम का पहला कविता संग्रह है। इससे पूर्व उनकी कविताएँ दो कविता संकलनों में संकलित हुई हैं। इस संग्रह की कविताओं में पारदर्शिता ही नहीं बल्कि संवेदना की व्यापकता भी है। इसी कारण ये कविताएँ पाठकों के मर्म को छूती हैं।

राकेश प्रेम की कविताओं में बच्चों को विशेष स्थान मिला है। बच्चे चीजों को होते हुए देखते हैं—उनके अनुभव उनके अवोध मन पर प्रभाव डालते हैं। इन्हीं प्रभावों को लिए ये बच्चे बड़े हो रहे हैं। परिवेश की गहरी समझ उनमें है इसीलिए वे समय को चुनौती देने के लिए तैयार हो जाते हैं—'बच्चे गुस्सेल हो रहे हैं/ एक पूरी की पूरी पीढ़ी/सूरज जिसकी रागों में अभी/तपिश बन नहीं फूटा/ अपने दांत किट-किटा रही है।' बच्चे आक्रोश में इसलिए हैं कि परिवेश में जो कुछ भी घटित हो रहा है वे उसके प्रत्यक्षदर्शी हैं। परिवेश में बच्चे जैसी मासूमियत का नितान्त अभाव है। वहाँ तो तनाव और आक्रोश का उभरना सहज-स्वाभाविक है। इसी तरह 'बच्चे बड़े हो रहे हैं', 'मां-बाप यद्यपि/छोटे पड़ रहे हैं/ बच्चों की नज़र में/ बच्चों का साहस/ किसी छोटे से पहाड़-सा बढ़ रहा है/ पहाड़ आखिर पहाड़ है/ वह हवा के छोटे-मोटे थपेड़ों को/ मुंह चिढ़ाता है।' बच्चे बड़े होकर जब 'चुनौतियों को चुनौती' देने लगे तो कुछ भी सम्भव हो सकता है। बच्चों के लिए मां तरल है तो पिता पहाड़ सा स्थिर। जब भी वे भयभीत होते हैं, उन्हें तरलता तथा स्थिरता दोनों की जरूरत पड़ती है।

बच्चों की तरह आदमी को लेकर भी कवि ने कई कविताएँ दी हैं। वह आदमी को आदमी से कटते हुए, टूटते हुए, लड़ते हुए, हुकुम चलाते हुए आदि कई रूपों में देखता है। उसका आदमी किसी का साथ चाहता है, प्रेम चाहता है, फिर से सम्बन्धों को जोड़ना चाहता है—'जब कभी/अपने से/कट जाता है आदमी/बाहर और भीतर में बंट जाता है आदमी।' आदमी का बंटा हुआ रूप ही आज हमारे सामने है। 'भाषा बनाम गुंगापन' में कविता में वह लिखता है—'जीभ/कट जाने से/ आदमी गुंगा नहीं होता' कवि किसी के तलुवे चाटना, जो हज़ूरी करना नहीं चाहता। वह खुद खड़ा होना चाहता है। इसके लिए वह कोई भी कीमत देने को तैयार है। जीभ कट जाने पर भी आदमी अपने

आक्रोश तथा विरोध को तो व्यक्त कर ही सकता है। इसी बात को उसने एक अन्य कविता में भी उठाया है—'चीख का चुपों में डल जाना/ जग खा जाना लोहे का/ लहू का सिल्लो बन जाना/उत्पलत आदमी का काट हो जाना/जबकि चुप होने के लिए नहीं है आदमी।'

'यात्राएं भीतर की, अन्तर्मन की/ होती हैं अधिक संवेदनशील और दुर्लभ' इन अन्तर्मन की यात्राओं का कोई गंतव्य नहीं होता। पर ऐसी यात्राएँ व्यक्ति को व्यक्ति बनाती हैं, मानवीयता जगाती हैं क्योंकि 'भीतर की यात्राएं/ लौटती हैं जब बाहर/ कोपले ही कोपले खिलती हैं।' कोपलों का खिलना व्यक्ति के चेहरे की मुस्कान है, सतोष है, प्रेम है, जिसके लिए आज व्यक्ति तरस रहा है।

काल-चेतना राकेश प्रेम की मुख्य विशेषता है। उनकी दृष्टि अतीत की ओर नहीं जाती। उनकी कविताएँ वर्तमान को ही रूपायित करती हैं। भविष्य सम्भावना के लिए उपस्थित होता है। अनुभव की व्यापकता के कारण कवि की स्थल चेतना भी सीमा का अतिक्रमण करती हुई मय की चेतना बन जाती है। उनकी स्थल चेतना प्रकृति की उपेक्षा नहीं करती। वह प्रकृति को भूलता नहीं है—'तब बाहर के नदी, घाटी, झरने/ कोयल की कुहक और मधुर लय भंवर की/ न तो जल-तरंग में गुंजते हैं कानों में/ और न ही आंख के कैनवस पर घूमते हैं वायस्कॉप से।'

'समझने की कोशिश', 'युयुत्सु', 'भाषा बनाम गुंगापन', 'रथचक्र', 'ढाल' जैसी कविताओं में मोहभंग से उपजा टकराहट को ध्वनि साफ उभरती है तो व्यवस्था के साथ घात-प्रतिघात की कविता 'भाषा बनाम गुंगापन' है। व्यवस्था शोषणजीवी है, इसका आभास 'सुनो प्रजाजनों' कविता में होता है। इन कविताओं में व्यवस्था विरोध मोहभंग से उपजा है।

'मुझे गर्भ में ही मार डालो गवेल पुष्प का नया कविता संग्रह है। जीवन की विषमताएँ, समाज तथा राजनीति कवि के मुख्य विषय हैं। कवि ने जीवन में बहुत कुछ सहा और भोगा है। इसी प्रक्रिया में उसे व्यक्ति को करीब से देखने तथा समझने का अवसर मिला है। कविताओं में शायद इसी कारण अनास्था, नैराश्य तथा अविश्वास का गहरा भाव है। 'मैं कैसे भूल सकता हूँ/ उस वक्त को जब हर दरवाजा/ मुझे देख कर बंद हो गया था।' पर वही व्यक्ति संकल्प भी करता है कि 'सिर्फ मेरे कमरे से ही नहीं/ हर घर में एक नया सूरज उगेगा।' सब कुछ सहकर भी उसके मन में प्रतिशोध का भाव नहीं है। कवि में यदि आगे बढ़ने की इच्छा या संकल्प है तो किसी को पीछे धकेल कर नहीं। इसे तो उसने जीवन भर अनुभव किया है। कवि को उम्मीद है कि 'तुम अपने साथ चले/आदमी की आंख में/हर साथ चलने वाले उस आदमी' के लिए उगने दोगे। एक और सूरज' पर उसका अनुभव



इसके विपरीत है। आदमी साथ चलता-चलता साथ छोड़ देता है और जरूरत पड़ने पर अनेक बहाने बना फिर साथ चलने की इच्छा व्यक्त करने लगता है। वास्तव में हर व्यक्ति अपना स्वार्थ हल करना चाहता है—दूसरे को नीचा दिखा कर या स्थिति का नाजायज फायदा उठा कर।

कवि को जीवन में झूठे आश्वासन मिले हैं। उसे कोई हमदर्द नहीं मिला—'वर्षों से मुझे सुबहें देने का दम्भ भरने वालो/तुम मुझे सुबहें कहां से दोगे। मेरी सुबहें तो तुमने तिजोरियों में बंद कर रखी हैं।' वक्त के साथ चलने वाले लोग—'आज कन्धा बनने की नहीं/दूसरे के कन्धे का उपयोग' करने की सोचते हैं। जन्म दिवस के अवसर पर भी यही निराशा अभिव्यक्ति पाती है—'एक सूखा पत्ता चक्कर खाकर गिर पड़ता है.../ये मेरा पच्चीसवां पतझड़ है।' प्रायः लोग वय को बसन्त के साथ जोड़कर देखते हैं, पर जिसने जीवन में वसन्त को महसूस ही न हो, जिसके जीवन में निरन्तर पतझड़ रहा हो, उसका जीवन को पतझड़ के साथ जोड़कर देखना ही सार्थक है।

कवि तिवक्त अनुभवों तथा जीवन की सच्चाइयों को कविता का अनुभव नहीं बना पाया है। इनकी सघन और गहरी अभिव्यक्ति कविताओं में नहीं हो पाई। इसीलिए ये कविताएं कोई गहरा प्रभाव पाठक के मन पर नहीं डाल पाती।

आरम्भ से हाशिये तक अनीता वर्मा का चौथा कविता संग्रह है। इससे पहले उनके 'मैं साक्षी रहूंगी', 'नहीं दुनिया' तथा 'राजहंस उड़ गया' कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। घर-परिवार, पति, जीवन की उलझनें, तनाव, पारिवारिक सम्बन्ध आदि कवयित्री के प्रिय विषय हैं। प्रेम, समर्पण, एक-दूसरे की चिंता या सम्बन्धों में आया तनाव सिर्फ अनीता वर्मा की कविता में ही नहीं, अधिकांश लेखिकाओं की कविता में देखा जा सकता है।

प्रेम पर बहुत लिखा गया है। आदिकाल से ही कवियों का यह प्रिय विषय रहा है। प्रेम की सम्भावित सभी स्थितियों पर उत्तम कविताएं साहित्य में मिलती हैं। फिर भी यदि कोई अच्छी कविता देखने को मिले तो आकर्षित करती है। कवियत्री की 'मैं और तुम' कविता में सघन प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। शरीर से दूर होने पर भी दोनों एक हैं। वह प्रिय की सांसों की हवा भी महसूस करती है। उसके लिए 'मैं और तुम/शब्द अलग-अलग/ अर्थ सिर्फ एक' हैं। बीते बसन्तों की सौधी बयार की खुशबू कवयित्री आज भी अपनी हथेलियों में महसूस करती है—'परन्तु बीते बसन्त की खुशबू/ वो गर्म सांसों की महक/किसी के पास होने का अहसास/ आज भी मुझे गुदगुदा जाता है।' प्रिय के साथ बिताये क्षण स्मृतियों में कौंधते हैं और उसे आनन्द-विभोर कर

देते हैं।

प्रेम तथा सम्बन्ध इतने गहरे हैं कि दोनों शरीर एक हो गए हैं—'हम दोनों प्रतिरूप हैं एक दूसरे के'। इसलिए खुद को प्रिय से विलग करना सम्भव नहीं है। क्योंकि—'हमने मिलकर/एक ऐसा जीवन जीया है/ जो कभी हमें/एक दूसरे से अलग नहीं कर सकता।' इसलिए कवयित्री कहती है—'प्रेम की उपलब्धि तो जीवन में रंग भरती है।'

दाम्पत्य जीवन में सदैव मधुर क्षण रहें, ऐसा भी सम्भव नहीं है। कभी-कभी तनाव, खोज, विचारों का टकराव हो ही जाता है। पर एक-दूसरे पर विश्वास होने के कारण ऐसे क्षण जल्दी ही टल जाते हैं—'तुम/मुझे भुलाने की/ अधिक कोशिश करो/ और अपनी इस कोशिश में/ लगातार नाकाम रहो/ यह मैं बर्दाश्त नहीं कर सकती।' प्रिय उसे भूल नहीं सकता और वह उसे तनावग्रस्त देख नहीं सकती। इससे ही दोनों के बीच के प्रगाढ़ सम्बन्ध व्यक्त हो जाते हैं। ये पंक्तियां स्त्री-पुरुष की प्रकृति को भी व्यक्त करती हैं। नारी सभी कुछ सह कर भी पुरुष की बनी रहना चाहती है। समर्पण का भाव नारी की प्रकृति, उसके स्वभाव का अंग है। 'सखि फिर फाल्गुन आये रे' कविता की अन्तिम पंक्तियां भी इसी भाव को व्यक्त करती हैं।

जीवन की गति कई बातों पर निर्भर करती है और वह 'अक्सर साहसिक, मार्मिक, एकाकी जैसे/अनुभवों से बंध जाती है।' इनमें कटु, तिवक्त, मधुर सभी प्रकार के अनुभव होते हैं—'अनुभव जब मधुर होते हैं/ तो छेड़ जाते हैं वीणा के तार' और कटु होते हैं—'तो मरते हैं हम सब तिल-तिल, पल-पल।' इसीलिए कवयित्री प्रत्येक क्षण को उसकी सम्पूर्णता में भोगना चाहती है—'जो क्षण तुमने जीया/यही सच्चाई है तुम्हारे जीने की।' वह प्रत्येक क्षण को इस तरह से जीना चाहती है कि उसके सहारे आने वाले क्षणों को भी पूरी तरह जी सके।

जीवन में अगर संकट भी आते हैं तो कवयित्री उन्हें हंसते हुए झेलना चाहती है—'कभी-कभी मुसीबतों की बात भूल कर/बरसात के मौसम में गीत गाना।' इससे जीवन के प्रति गहरी आस्था व्यक्त होती है। कवयित्री जीवन की गति को निर्बाध रखना चाहती है। उसमें अदृश्य जिजीविषा है जो उसे 'निरन्तर गति देती है' और 'उसे निष्क्रिय होने से' रोकती है। यहां तक कि जीवन में आने वाली रुकावटों को भी वह सफलता का प्रतीक समझती है क्योंकि वह जानती है कि जैसे-जैसे व्यक्ति जीवन में सफलता प्राप्त करता है, उससे ईर्ष्या करने वालों, उसकी राह में रोड़े अटकाने वालों की संख्या बढ़ती चली जाती है—'हर सफलता के साथ/दो नये पत्थर बढ़ जाते हैं।' इसीलिए अब वह 'उससे लहलुहान नहीं होती।' बल्कि 'दुश्मनों की संख्या/मुझे अन्दाजा करवाती है/ मेरी सफलता का।' 'पहचान' कविता का स्वर भी ऐसा ही है।



पर जब कोई ऐसा व्यक्ति धोखा दे जाता है जिसे अपना समझा था, जिस पर विश्वास किया था तो गहरा आघात लगता है—जिन्हें तुमने अपने कमजोर क्षणों का/ साथी समझकर अपने दर्द को हल्का किया था/ और उन्होंने ही तुम्हारे पैरों से/ जमीन खींच कर तुम्हें स्तम्भ-हीन कर दिया था।' ऐसी स्थिति में पति-पत्नी को ही एक-दूसरे का सहारा होता है।

गिरते आसमान का बोझ डॉ. सादिक का हिन्दी में प्रकाशित पहला गुज़ल संग्रह है। इससे पहले उर्दू में उनके तीन संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उर्दू शायरी में डॉ. सादिक चर्चित नाम है।

विभिन्न काव्य गोष्ठियों में डॉ. सादिक की कविताएं, गुज़लें सुनने का अवसर मिलता रहा है। उनकी रचनाओं की विद्वतजनों द्वारा भूरि-भूरि प्रशंसा भी होती रही है। हिन्दी में उनकी रचनाओं का इन्तजार लम्बे समय से रचनाकारों तथा पाठकों को था। परम्परा से गुज़ल प्यार-मुहब्बत के दायरे में घूमती रही है पर अब उसने नए विषयों को अपनाना प्रारम्भ कर दिया है। सादिक की गुज़लें इसका प्रमाण हैं। इन गुज़लों में समसामयिक स्थितियों, विसंगतियों, विद्रूपताओं, जीवन की आपाधापियों का चित्रण हुआ है। इससे सादिक का मनुष्य के प्रति सरोकार सामने आता है। जिन स्थितियों में आज का व्यक्ति जी रहा है उनमें प्यार-मोहब्बत का कितना स्थान है या व्यक्ति के पास उसके लिए कितना समय है, यह भी विचारणीय है।

पिछले कुछ सालों की कविता को यदि देखें तो कवियों का गुज़ल के प्रति आकर्षण स्पष्ट हो जाता है। इस बीच बहुत से गुज़ल संग्रह प्रकाश में आए हैं, पर इनमें से एक भी दुष्यन्त कुमार की गुज़लों से आगे नहीं बढ़ पाया है। इससे ऐसा लगता है कि गुज़ल कवियों की अभिव्यक्ति की मजबूरी नहीं बल्कि शौक है। हिन्दी गुज़ल लिखने वालों का बहर पर वह अधिकार देखने को नहीं मिलता जो उर्दू में गुज़ल लिखने वालों को होता है। डॉ. सादिक उर्दू के साहित्यकार हैं, इसलिए बहर पर उनका अधिकार है। इन्हें बहर की गहरी समझ है। गुज़लों में छोटी-बड़ी दोनों प्रकार की बहर का प्रयोग सादिक ने साधिका किया है।

सादिक की गुज़लों में हमारे आस-पास का परिवेश अभिव्यक्ति पाता है। बदलते मौसम में किसी पर विश्वास नहीं किया जा सकता। जिन लोगों के लिए हम तन-मन-धन लगा देते हैं, जरूरी नहीं कि वे आपका साथ दें। मतलब हल होने पर वे अपना गमना बदल सकते हैं—'मैंने विस्तार हवाओं का दिया था जिसको/बनके दीवार मुकाबिल वो खड़ा है देखो।'।

लोग तभी तक सलाम करते हैं जब तक व्यक्ति के पास पद और

प्रतिष्ठा है—'लगाना चाहें जो अंदाजा करो कीमत का/ तो अपनी सीट से इक बार हट के देख जगा।' एक अन्य गुज़ल में वह आज के सत्तधीशों तथा नेताओं पर कटाव व्यंग्य करता है—'जबसे हुआ है राज गिणानों का शहर पे/ जगल में हमको खौफ नहीं अपनी जान का शहर की शांति व्यवस्था जिन लोगों के हाथ में है— खुद उसकी जान अभी गोलियों की जद पर है' ऐसे लोगों से फिर शांति की अपेक्षा कैसे की जा सकती है।

आज का व्यक्ति मुखौटाधारी है। उसकी सही पहचान सम्भव नहीं। इसीलिए किसी पर विश्वास नहीं किया जा सकता। पीठ पीछे गुड़ाई करने वाले लोग सामने आते ही प्रशंसा के फूल बांधने लगते हैं—'निशाना बांधगा वो पीठ पर मगर ज्योंही पलटकर देखोगे, हमकर कमान रख देगा।' कवि चाहता है कि लोग चेहरे पर पड़े मुखौटों को उतारकर अपने असली रूप में सामने आए—'आ जाओ अपने पष्ठ से मुखौटा उतार कर/ बहुरूपियों के साथ नमद खो रो के क्यों?'।

ऐसा भी नहीं कि सादिक की गुज़लों में प्यार-मुहब्बत का स्थान बिल्कुल नहीं है। पर सादिक का प्यार परम्परा से हट कर है। कुछ गुज़लों के शेर इस दृष्टि से देखने लायक हैं—'पिपल के बह गयी वो सब स्याह चट्टानें/ गुज़र के जिनसे मैं तेरे करीब आया था।' प्रेयसी के सौन्दर्य का चित्रण करते हुए वह लिखता है—'जिम्मे मुनहरी मछली-सा, जिस पर था तेरा चेहरा।'।

कई गुज़लों में मृत्युबोध का स्वर है—'फुसंत हो तो इस जिम्मे को मिट्टी में दबा दो/ लो आज तो सांसों का मे भुगतान कर आया तो कुछ गुज़लों में अकेलेपन का बोध भी उभरा है—'कैसे मुनता हो नहीं एक-दूसरे की बात अब/इस मशीनी शहर में हर शब्द बहग हो गया।'।

गुज़लों की भाषा उर्दू के अधिक करीब है। अरबी-फारसी के कुछ शब्द हिन्दी पाठकों के लिए कठिनाई पैदा करते हैं।

1. समय शब्द के औचित्य को जानता है: प्रथम विमल, अनिल प्रकाशन, दिल्ली-6; सं. 1998; मूल्य नब्बे रुपये
2. कहीं कोई बात हुई होगी: ज्ञान चन्द गुप्त, ज्ञानि पुस्तक मन्दिर दिल्ली-51; सं. 1996; मूल्य अस्सी रुपये
3. शब्दों के जगल और जगन: गणेश प्रेम, प्रतिभा प्रकाशन, राँधीयागढ़ सं. 1995; मूल्य साठ रुपये
4. मुझे गर्भ में ही मार डालो: शबेल पुष्प, शिल्पाचल एक्सप्रेस पब्लिकेशन, दुर्गापुर; सं. 1996; मूल्य 45 रुपये
5. आरम्भ से हाशिये तक: अनीता वर्मा, अभिव्यंजना प्रकाशन, दिल्ली सं. 1998; मूल्य साठ रुपये
6. गिरते आसमान का बोझ: डॉ. सादिक, नवराज प्रकाशन, दिल्ली सं. 1997; मूल्य साठ रुपये

6/15, अशोक नगर, नई दिल्ली-110018



## सुरेन्द्र तिवारी कुछ विशिष्ट लघु पत्रिकाएं

आज व्यावसायिक दौर में अक्सर यह कहा जाता है कि लघु पत्रिकाएं समाप्त हो गई हैं। परन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। सिर्फ महानगरों से ही नहीं बल्कि छोटे-छोटे शहरों और कस्बों से भी अनेक लघु पत्रिकाएं आज भी प्रकाशित हो रही हैं। ऐसी ही कुछ विशिष्ट पत्रिकाओं की चर्चा यहां मैं कर रहा हूं। रचनात्मक धरातल पर इनके अवदान को तथा आज के समय में जुड़ने की इनकी बेचैनी को देखकर ही इन्हें मैं विशिष्ट मानता हूं।

अंतरंग संगिनी सं दिव्या जैन, गोविंद निवास, सरोजनी रोड, विले पारले (प.) मुम्बई-56) पिछले पांच वर्षों से लगातार प्रकाशित हो रही है। जनवरी 1999 का अंक 'औरत की कहानी' विशेषांक रूप में प्रकाशित है जिसका सम्पादन सुधा अरोड़ा ने किया है। इस अंक में भारतीय उपमहाद्वीप की विभिन्न भाषाओं की महिला रचनाकारों के वक्तव्य, उनकी कहानियां, आत्मकथा आदि को शामिल किया गया है। सुधा अरोड़ा ने अपने संपादकीय में औरतों की समस्याओं और प्रश्नों को गम्भीरता से उठाया है और उनके प्रश्नों को ही रचनात्मक स्तर पर इस अंक के रचनाकार भी उठाते हैं। अपने सोलह महिला रचनाकारों की रचनाओं से सज्जित यह अंक निश्चित रूप से उल्लेखनीय है, साथ ही महिलाओं की सोच को उजागर करने में समर्थ भी।

रूपाम्बरा (सं. स्वदेश भारती, 22वीं, प्रतापदिव्य रोड, (कलकत्ता-२६) कुछ पुरानी लघु पत्रिकाओं के बीच हमेशा विशिष्ट मानी जाती रही है क्योंकि हिन्दी साहित्य के साथ-साथ दूसरी भाषाओं की कृतियों को हिन्दी पाठकों के समक्ष लाने का सार्थक प्रयास इस पत्रिका ने हमेशा किया है। पिछले 33 वर्षों से प्रकाशित हो रही यह पत्रिका आज भी अपना महत्व बनाए हुए है। इसका ताजा अंक 'अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य संगोष्ठी' के अवसर पर प्रकाशित किया गया है जिसमें 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कवयित्रियां (कमल कुमार), 'स्वतंत्रता के पचास साल और साहित्यकार' (हीरालाल बाछोटिया), 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता' (जगदीश चतुर्वेदी), 'महापंडित राहुल सांकृत्यायन: साहित्यकार शिल्पी' (कमला सांकृत्यायन), तथा सुनीता जैन, अशोक वाजपेयी, अमिताभ, तुलसी रमण, स्वदेश भारती और महेन्द्र कार्तिकेय की कविताओं के साथ ही ओड़िया कवि प्रसन्न कुमार पारसाणी की कविताएं महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी के साथ-साथ भारत की अन्य भाषाओं की रचनात्मकता से जुड़े रहने का प्रयास आज भी इस पत्रिका में जारी है। 'स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कहानी' (बालश्री रेड्डी) 'हिन्दी साहित्य में दक्षिण का योगदान: दिशाएं और संभावनाएं' (टी. राजेश्वरानन्द जर्मा) जैसे लेख इस बात के प्रमाण हैं। चूंकि यह एक खास अवसर

पर प्रकाशित अंक है इसलिए इसमें छपी संस्थागत रिपोर्टों को नज़रअंदाज किया जा सकता है!

मुम्बई से प्रकाशित एक दूसरी पत्रिका समीचीन (सं. देवेश ठाकुर, बी-23, हिमालय सोसायटी, असल्फा, घाटकोपर (पश्चिम) मुम्बई-84) भी पिछले ग्यारह वर्षों से छप रही है। भले ही पत्रिका नियमित नहीं है फिर भी इसके जितने अंक छपे हैं, चर्चित रहे हैं। सलाम बिन रजाक की कहानी 'प्रत्यागमन', ब्रजभूषण सिंह आदर्श का निबंध 'भविष्य द्रष्टा आलोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, ज़हीर कुरेशी को ग़ज़ल निश्चित रूप से इस अंक को पठनीय बनाती है। किन्तु यह पत्रिका साहित्यिक राजनीति में ज्यादा उलझी नज़र आती है। आलोक भट्टाचार्य का लेख 'आत्ममुग्धता और अहम्मन्यता के रूप प्रतीक : अज्ञेय और भारती' तथा कमलकिशोर गोयनका एवं राजेन्द्र यादव के 'मंगलसूत्र' से संबंधित प्रसंग को इस संदर्भ में देखा जा सकता है। जनसत्ता सवरंग में छपे कमलेश्वर के संस्मरणों को लेकर भी इस अंक में बहुत कुछ लिखा गया है। किन्तु ऐसा लगता है कि कमलेश्वर का विरोध करने के नाम पर उन्हें और अधिक पब्लिसिटी दी जा रही है, पाठकों को उत्तेजित किया जा रहा है कि वे कमलेश्वर के संस्मरणों को अवश्य पढ़ें।

हस्ताक्षर (सं. सुरेश हंस, ब्लॉक 399-एच, रेलवे कालोनी, बठिंडा, पंजाब) एक अनिश्चितकालीन पत्रिका है जिसका तीसरा अंक मेरे सामने है। 'हस्ताक्षर' का अभी कोई स्वरूप नहीं बन पाया है फिर भी रमेश बतना की कहानी 'फूलों का देश', फूलचंद मानव की ग़ज़लें, विवेक उपाध्याय की कविता, और उपन्यासकार गुरदयाल सिंह पर टी.आर. विनोद का लेख इस अंक को महत्वपूर्ण बनाते हैं।

बाईस वर्ष पुरानी पत्रिका 'ऋतुचक्र' (सं. विक्रम कुमार, 65 पत्रकार कालोनी इन्दौर-1) नियमित तो कभी नहीं हो पाई किन्तु अपने कुछ अंकों के कारण लघु पत्रिकाओं में बराबर चर्चित रही सितम्बर-दिसम्बर '98 का अंक ग़ज़ल एवं ग़ज़ल कृतियों की समीक्षाओं से जुड़ा हुआ है। रमेश महबूब, श्यामकुमार 'श्याम' एवं अक्षय गोत्रा की ग़ज़लें पठनीय हैं। 'खुशबू का सफर' (डॉ. नरेश) तथा मालवी कविता के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर नरहरि पटेल के मालवी ग़ज़ल संग्रह 'धोड़ी घण्टी' और 'सिपरा के किनारे' की समीक्षाएं भी उल्लेखनीय हैं। किन्तु इस लघुकाय पत्रिका में विष्णु प्रभाकर के साथ विक्रम कुमार की बातचीत पाठकों को एक अलग तरह का आनंद देगी, इसमें कोई संदेह नहीं।

किसी विशेष क्षेत्र या संस्कृति को आधार बनाकर जब कोई



पत्रिका निकलती है तो उनके सामने कई तरह की कठिनाइयाँ होती हैं जिनमें प्रमुख है रचना चयन। पंजाबी संस्कृति (सं. मदन साहनी, 394, डिफेंस कालोनी, हिसार) भी एक ऐसी ही पत्रिका है जिसका जनवरी-मार्च 99 अंक पंजाबी संस्कृति से जुड़ी कहानियों और लेखों से संयोजित है। चूंकि इस तरह की सारी कहानियाँ संपादक को हिन्दी में ही प्राप्त नहीं हो सकी हैं इसलिए उसने पंजाबी और उर्दू की कहानियों को भी अनुदित करके इस अंक में छापा है। मोहन राकेश की एक चर्चित कहानी 'क्लेम' भी इस अंक में है। इसके बावजूद कुछ अच्छी कहानियों को एक साथ पढ़ने का अपना एक अलग सुख होता है। गुरवचन सिंह भुल्लर (परतों में जीते आदमी), जमील अहमद पाल (आनेवाला कल) राकेश वत्स (इन हालात में) तथा पृथ्वीराज मोंगा (बेवे) ने पंजाब के जनजीवन के लोक व्यवहार की दुखद-सुखद स्थितियों को जिस खूबी से अपनी कहानियों में उभारा है वह प्रशंसनीय है। इस दृष्टि से यह अंक उल्लेखनीय है परन्तु संपादक-प्रकाशक को चाहिए कि वे पत्रिका को किसी एक घेरे में ही कैद न रखें।

और अंत में दिल्ली से प्रकाशित एक नई पत्रिका 'गूँज' (सं. अकिंचन, एम-33, श्रीनिवासपुरी, नई दिल्ली-65) की चर्चा आवश्यक है। यों तो यह पत्रिका भी पिछले सात वर्षों से बिहार से प्रकाशित होती रही है। अनियमित रूप से। किन्तु अब इसका दिल्ली से नियमित प्रकाशन शुरू हुआ है। आठवें वर्ष का पहला अंक 'अर्द्धशती का अवलोकन' विशेषांक है। संपादक के पास एक वैचारिक दृष्टि है, आज की स्थितियों की समझ है। इस दृष्टि से संपादकीय पर अनायास ही ध्यान जाता है। संपादक कई प्रश्नों को उठाने के साथ ही यह भी कहता है कि—'जिस देश में सिर्फ राष्ट्र-भाषा हिन्दी जानने के बल पर दो जून की रोटी मयस्सर नहीं हो सकती और कोई गर्व से नहीं जी सकता, उस देश में अंग्रेजी जाननेवाले 25 प्रतिशत भी नहीं हैं, फिर भी अंग्रेजी हमारी सबसे बड़ी नाव और नकेल है। भला ऐसे गर्वहीन समाज में राष्ट्रीय अस्मिता का गर्व किस बूते संभव होगा?' और अपने कथन के पक्ष में ही जैसे संपादक ने डॉ. रामविलास शर्मा का लेख 'पूँजीपतियों के समझौते के नतीजे' इस अंक में छापा है। अन्य रचनाओं में 'आजादी से आठ दिन पहले' (पांडेय वेचन शर्मा उग्र), 'नई ऊर्जा और चेतना से ओतप्रोत रचना और आलोचना' (मैनेजर पांडेय), 'लेखक की रोटी, सत्ता और साहित्य के रिश्ते' (मंगलेश डबरा) वैचारिक धरातल पर उद्बलित करती हैं। उग्र की कहानी 'नेता का स्थान' पुरानी होते हुए भी आज की स्थितियों पर तीखा व्यंग्य है। अगर यह पत्रिका व्यावसायिक तंत्र के जबड़े में फँसने से बच गई तो निश्चित रूप से एक महत्वपूर्ण लघु पत्रिका सिद्ध होगी।

जी-23/270, सेक्टर-7, रोहिणी, दिल्ली-110085

\* \* \*

विश्व की विभिन्न भाषाओं की कहानियाँ  
सुरेश सलिल द्वारा संपादित एवं अनुदित

## अपनी जुबान में

स्पैनिश, ब्राजीली, अरबी, जापानी, हंगारी  
मकदूनी, जर्मन, रूसी, उर्दू और बंगला की  
14 कहानियाँ, साथ ही सुप्रसिद्ध अभिनेत्री  
मैरिलिन मुनरो का काव्यात्मक आत्मकथ्य,  
अंग्रेजी कवि स्टीफेन स्पेंडर की डायरी के  
पृष्ठ तथा जापानी कथाकार ताकिजी कोबायाशी  
की आत्मकथा का एक अंश

मूल्य : 75 रुपये

प्रकाशक

अभिव्यंजना

बी-70/72, डी.एस.आई.डी.सी. काम्पलेक्स,  
लारेंस रोड, दिल्ली - 110035

संचेतना के ग्राहकों को आधी कीमत पर



— मैंने पढ़ा —

## कमलेश सचदेव कागज़ी पैरहन से छलकता व्यक्तित्व

इस्मत चुगताई उर्दू साहित्य-जगत में एक लिविंग लीजेंड बन गई थीं। उनके लेखन की बेबाकी उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग थी। आज से अस्सी साल पहले के मुस्लिम परिवेश में इस बेबाकी ने जो-जो गुल खिलाए, उन्हें झेलते हुए दबंगता के साथ जीते और लिखते रहने वाली इस्मत चुगताई का नाम ही ज़हन में एक अक्स बना देता है। हिन्दी अनुवादों के माध्यम से उनकी कहानियों, उपन्यासों और संस्मरणों को पढ़ चुकने के बाद जब उनकी आत्मकथा 'कागज़ी है पैरहन' हाथ लगी तो लगा, एक अद्भुत व्यक्तित्व की निर्माण-प्रक्रिया का साक्षी बनने का मौका मिल गया है।

पुस्तक पढ़ते हुए इस्मत चुगताई की बेबाकी और दबंगता तो लफ़्ज़-दर-लफ़्ज़ साथ चली ही, उनकी भीतर तक पैठ जाने वाली बेधक अंतर्दृष्टि और ईमानदारी भी चमत्कृत करती रही। आत्मकथा-लेखकों में इस दर्जे की ईमानदारी भारतीय परिवेश में और वह भी एक औरत में—लगभग दुर्लभ है। इस्मत चुगताई कहीं भी तो दुराव नहीं कर पाती। अपने भीतर का सब कुछ पाठक के साथ बांटती चलती हैं।

अपने को बांटने की इस प्रक्रिया में वे इस आत्मकथा के माध्यम से अपने समय को एक धड़कता हुआ चित्र पाठकों को सौगात के तौर पर दे गई हैं। इस चित्र में वे खुद एक ऐसे कोण पर हैं जहां से समाज, परिवार और व्यक्ति के भीतर के बहुत-से अंतर्विरोध अपनी पूरी जटिलता के साथ उजागर हो गए हैं। एक बड़े परिवार में सामंती माहौल में पिता की शह पर भाइयों के बीच भाइयों की तरह पली-बढ़ी इस्मत कभी औरत की परम्परागत भूमिका में फिट नहीं हुई। इसीलिए उन्हें अपने परिवेश में हर स्तर पर विरोध का सामना करना पड़ा। उनके वालिद रोशन खयाल थे, बेटीयों के हकों का वेदों से ज्यादा ध्यान रखते थे लेकिन यह उदारता थी, औरत-मर्द की बराबरी को स्वीकार कर लेना नहीं। ठीक वैसे ही जैसे

हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई का नारा लगाकर उदारता प्रदर्शित की जाती है।

इस्मत चुगताई इस सिलसिले में बात करते वक्त जरा भी मुरव्वत नहीं बरतती। उनके रोशन खयाल वालिद अपने मेलजोल वाले हिन्दू परिवारों को अपने यहां आमंत्रित किया करते थे। तब उस मेलजोल के ऊपरी खूबसूरत माहौल में ऊंची-ऊंची बातों के नीचे की बदसूरत असलीयत बच्चों को घुटन से भर देती थी—‘ज़बानी भाई-बहन

के प्रचार के साथ-साथ एक तरह की एहतियात का एहसास होता था। अगर कोई हिन्दू आए तो गोश्त-वोश्त का नाम न लिया जाए, साथ बैठकर एक मेज़ पर खाते वक्त भी खयाल रख जाए कि उनकी कोई चीज़ न खू जाए। सारा खाना दूसरे नौकर लगाए, उनका खाना पड़ोस का महाराज लगाए। बर्तन भी वहीं से मंगा दिए जाएं। अजीब घुटन-सी तारी हो जाती थी। बेहद ऊंची-ऊंची रोशन खयालों की बातें हो रही हैं। एक दूसरे को मुहब्बत और जानिसारी के किस्से दुहराए जा रहे हैं। अंग्रेज़ों को मुजरि ठहराया जा रहा है। साथ-साथ सब बुजुर्ग लरज़ रहे हैं कि कहीं बच्चे बिछूटे बैल हैं, कोई ऐसी हरकत न कर बैठे कि धरम भ्रष्ट हो जाए।”

दो अलग-अलग धर्मों के बच्चों के बीच की दोस्ती की भी अपनी समस्याएं होती हैं। उन्हें एक दूसरे के माहौल अलग होने के कारण आकर्षण महसूस होता है लेकिन अपने और दोस्त के परिवार उनकी जिज़ासा और आकर्षण को लगातार दबाते और कुचलते चलते हैं। इस्मत चुगताई ने अपनी बचपन की एक हिन्दू दोस्त सूशी के प्रसंग से इस वेदना को बहुत मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। सूशी के घर पर जन्माष्टमों के अवसर पर बालकृष्ण का झूला सजाया गया था। बच्चे इस्मत उसे देखने के आकर्षण में अपनी मुस्लिम पहचान न बताकर भीतर चली गईं। वहां उस पर कुछ ऐसी कैफियत तारी हुई कि बालकृष्ण उसे एक बहुत प्यारे बच्चे-सा दिखाई देने लगा। उसकी

पुस्तक पढ़ते हुए इस्मत चुगताई की बेबाकी और दबंगता तो लफ़्ज़-दर-लफ़्ज़ साथ चली ही, उनकी भीतर तक पैठ जाने वाली बेधक अंतर्दृष्टि और ईमानदारी भी चमत्कृत करती रही। आत्मकथा-लेखकों में इस दर्जे की ईमानदारी भारतीय परिवेश में और वह भी एक औरत में—लगभग दुर्लभ है। इस्मत चुगताई कहीं भी तो दुराव नहीं कर पाती। अपने भीतर का सब कुछ पाठक के साथ बांटती चलती हैं।



खूबसूरती और आकर्षण का चित्रण देखने लायक है—“और मुरत इस गुज़ब की भोली! आंखें जैसे लहकते हुए दिये। ज़िद कर रहा है, मुझे गोदी में ले लो।” और इस्मत ने उसे हौले से छुआ और बेइखियार उठाकर सोने से लगा लिया। तब तो जैसे तूफान फट पड़ा। हिन्दू दोस्त के घर से शिकायत गई कि इस्मत भगवान की मूर्ति चुग रही थी और अपने घर में पिटाई हुई कि दंगा हो सकता था इस बात पर। साथ ही उसे समझाया गया कि बुतपरस्ती गुनाह है। अब इस्मत क्या समझती जिसे तब परस्तिश जैसा कोई एहसास ही नहीं था, वह तो एक बच्चे को प्यार कर रही थी। बाद में कई साल बाद सूशी ने अपने ब्याह के मौके पर बुलाकर इस्मत को एक नन्हीं सी पीतल की घुटनों चलते कृष्ण की मूर्ति भेंट की तब जाकर उसके भीतर की वह गांठ खुली। पर इस्मत आखिर तक इस सिलसिले में सवाल उठाती रही। वह पूछती है—“मैं मुसलमान हूँ, बुतपरस्ती शिर्क है। मगर देवमाला मेरे वतन का विरसा है। इसमें सदियों का कल्चर और फ़लसफ़ा समोया हुआ है। ईमान अलाहदा है, वतन की तहज़ीब अलाहदा है। इसमें मेरा बराबर का हिस्सा है जैसे उसकी मिट्टी, धूप और पानी में मेरा हिस्सा है। मैं होली पर रंग खेलूँ, दीवाली पर दिये जलाऊँ तो क्या मेरा ईमान मुतज़लज़ल हो जाएगा? मेरा यकीन और शऊर क्या इतना बोदा है, इतना अधूरा है कि रेज़ा-रेज़ा हो जाएगा?”

हैं। मैं होली पर रंग खेलूँ, दीवाली पर दिये जलाऊँ तो क्या मेरा ईमान मुतज़लज़ल हो जाएगा? मेरा यकीन और शऊर क्या इतना बोदा है, इतना अधूरा है कि रेज़ा-रेज़ा हो जाएगा?” उनकी मृत्यु के बाद दाह-संस्कार किए जाने की वसीयत इसी सिलसिले के सवालों की एक और कड़ी थी जिसे उनके तथाकथित प्रगतिशील मम्मामनोन साहित्यकार भी नहीं झेल पाए।

घरेलू माहौल में औरतों की सियासते, ग़िनेदारियों की आपसी प्यार और नफरत की लुकाछिपी, भाई-बहनों के बीच के प्यार और टकराव इस्मत चुगताई ने खुरदरी और नारी-सुलभ रवानी भरी शैली में इस तरह बयान किए हैं कि बांधकर रख लेते हैं। पिता और उनकी बहन के बीच सालों लम्बी लड़ाई में दी जाने वाली गालियों और कोसनों के बीच निभते रिश्ते को उन्होंने बहुत बारीकी से पकड़ा है।

इस्मत चुगताई की कहानी 'लिहाफ़' और मंटो की कहानी 'बू' पर लाहौर में जो मुकदमा चला था, वह उर्दू के साहित्यिक इतिहास का एक अलग अध्याय बन चुका है। उसका बड़ा खिलंदड़ा-सा चित्रण 'उन ब्याहताओं के नाम' अध्याय में हुआ है। इस्मत, मंटो और उनके दोस्तों की मुफ़लिसी में मौज़ का वर्णन पढ़ने से ही ताल्लुक रखता है।

इस्मत ने अपनी दो मुहब्बतों का ज़िक्र इसमें किया है। मामूज़ाद भाई जुगनू के लिए उनकी मुहब्बत हमेशा अनकही रही और एकतरफ़ा भी। लेकिन जुगनू ने उनके दिल में एक पूर्ण पुरुष की छवि का रूप ले लिया था। उन्हें जब भी किसी पुरुष में कुछ जुगनू जैसा लगता तो वह उसे पसन्द करने लगतीं। ज़िया से पहली मुलाकात होने पर भी उन्हें उसमें जुगनू की झलक दिखाई दी थी। और ये मुलाकातें बढ़कर उस हद तक पहुंची जहां जवानों पर ताले झूलने लगे लेकिन “नातज़र्बाकार होंट आसमान की बुलंदियों को छूने लगे।” इस मुहब्बत के अंजाम की बात आत्मकथा में कहीं नहीं मिली जिससे एक तरह की ज़िज़ामा बनी रह गई।

यों इसमें और भी बहुत कुछ नहीं मिला जो जानने की इच्छा एक सिलसिलेवार आत्मकथा के पाठक की हो सकती है जैसे—इस्मत की बहनों का क्या हुआ, इस्मत की मुलाकात और शादी शाहिद से कैसे हुई, उनकी आपस में कैसी निभी, उनकी बच्ची का क्या हुआ आदि-आदि। अमल में यह सिलसिलेवार या मही अर्थों में आत्मकथा है ही नहीं। यह शायद समय-समय पर इस्मत चुगताई द्वारा लिखे संग्रहों का संग्रह है जिसमें

उनकी जीवन-कथा झलक रही है।

बहरहाल, यह जो भी हो, इसमें शुरू से आखिर तक औरत का—और व्यापकतर अर्थों में शोषित और उत्पीड़ित मानव जाति का—दर्द प्राणधारा बनकर समाया हुआ है। इस्मत चुगताई अपनी बहनों, बुआ, भतीजियों, नौकरानियों और छात्राओं की तकलीफों को अपनी तकलीफ बना लेती हैं। उनके लिए सबसे लड़ लेती हैं। उनकी अपनी तकलीफ तो इन सबमें ही कहीं विलीन हो जाती है।

इस्मत चुगताई के खिलंदड़े एटोड्यूड ने सबसे अधिक प्रभावित किया। उनके यहां सब कुछ पर हसा जा सकता है, हर दर्द को मज़ाक में उड़ाया जा सकता है। यह खिलंदड़ापन व्यक्ति को सब कुछ सहने की और लड़ने की शक्ति देता है। हमारे देश में मेंस आफ ह्यूमर का लगभग अकाल ही है। जो गंभीरता से सोचने के कायल है, वे हमसे को हल्कापन समझते हैं और जो हंसते हैं वे वाकई छिछोरेपन तक जा पहुंचते हैं। गंभीर चिंतन, दृढ़ संकल्प, अथाह जीवद के साथ-साथ खिलंदड़ापन इस्मत का व्यक्तित्व है जो इस 'पैरहन' से छलक-छलक उठता है।

सी-25, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026



## राजकुमार कुम्भज पक्ष, विपक्ष और पक्षधरता

तब, लोक-व्यवस्था यह भी कि तत्कालीन भारतीय राजनीति में लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था को पर्याप्त स्वीकृति योग्य इसलिए समझ लिया गया था कि उक्त शासन व्यवस्था में यदि एक ठो पक्ष होता था, तो एक ठो विपक्ष भी होता था और जब दोनों अपने आकार-प्रकार में सही सलामत होते थे, तो ज़ाहिर है कि पक्षधरता के सवाल पर भी संपूर्ण सुगन्धित स्थान सर्वसुलभ होता था। यही थी पक्ष, विपक्ष और पक्षधरता की अवधारणा।

तब, सर्वसुलभ सुविधा क्रमांक एक यह होती थी कि पक्ष कभी भी विपक्ष हो सकता था और विपक्ष कभी भी पक्ष हो सकता था। सुविधा क्रमांक दो यह होती थी कि पक्ष की पक्षधरता सर्वथा विपक्ष की पक्षधरता के विरुद्ध होती थी और विपक्ष की पक्षधरता किसी भी मुद्दे पर पक्ष के विपरीत होती थी। सुविधा क्रमांक तीन यह होती थी कि दृश्य पर होता हुआ तो बहुत कुछ प्रतीत होता था, किन्तु दरअसल होता कुछ भी नहीं था—सरकारें चलती रहती थीं, पक्ष चलता रहता था, विपक्ष चलता रहता था और पक्षधरता का सवाल, बवाल या मलाल भी चलता रहता था।

तब, एक चलन यह भी वेहद लोकप्रिय हो चला था कि सरकारों का चाल-चलन कैसा भी हो, लेकिन उन्हें चलते रहना चाहिए! सरकारों के चलते रहने की पक्षधरता से तात्पर्य यही है कि वे कहीं से कहीं भी भूले ही एक इंच भी न चलें, लेकिन उनके चलते रहने का चलन, जिस से विद्वानों ने भ्रम कहा है, चलते रहना चाहिए। सरकारों के चलते रहने का भ्रम कुछ खास बातों के चलते रहने से चलता रहता था। जैसे कि गंभीर बहस के दौरान कभी जूते चलने लगते थे, तो कभी हाथ-पांव। कभी किसी की आंखों में फाड़ी जाती थी, तो कभी किसी की साड़ी। कभी किसी की ऐनक तोड़ी जाती थी तो कभी किसी की आंखें। हड्डी-पसली तोड़ना तो चुने हुए प्रतिनिधियों का प्राथमिक कर्तव्य होता था और वह सब आचार संहिता का हिस्सा था।

उक्त लोकतांत्रिक-व्यवस्था का यही ग्लैमर था कि सब कुछ होता था और कुछ भी नहीं होता था। लोग-बाग सब कुछ देखते थे और कुछ नहीं देखते थे। निर्हण नागरिक तमाम-तमाम घटनाक्रमों को सीधे प्रसारणों के माध्यम से टी.वी. पर देख-देख गदगद होते थे, गालियां देते थे और फिर-फिर उन्हीं पक्ष-विपक्ष के कर्णधारों की पक्षधरता में अपना अटूट विश्वास भी व्यक्त करते थे।

भइए! इतनी कमाल की व्यवस्था थी वह कि एक कर्णधार के विरुद्ध कम से कम चालीस-पचास की संख्या तक दर्ज अपराधों के बावजूद उक्त महापुरुष मंत्री पद पा जाते थे, तो कोई दूसरे कम से कम हजारों करोड़ के गबन में जेल से जमानत मात्र मिलने की स्थिति पर हार्थी की सवारी करते दिखाई देने लगते थे।

भारत के उक्त महान स्वर्णकाल में रोटी और लंगोटी से ज़्यादा महत्वपूर्ण कुर्रों हो गई थी। वह एक कुर्सी ही थी तब, जो कर्णधारों का

तमाम गंजत्व और नंगत्व छुपा लेती थी। वह एक कुर्सी ही थी तब, जो कर्णधारों की तमाम नीति, नीयत और नैतिकता का लौह-आवरण हो जाती थी। वह एक कुर्सी ही थी तब, जो कर्णधारों के तमाम दंश-चालकों, अंश-चालकों और दंश-चालकों का भरण-पोषण करने की क्षमता का प्रमुख प्रमाण भी हो जाती थी।

तब समाज सेवा में लिप्त महानुभावों को कुर्सी से अनंत संभावनाओं की वृत्ति आने लगती थी। वे जागते थे तो कुर्सी के लिए, वे भागते थे तो कुर्सी के लिए, वे ताकते थे तो कुर्सी के लिए। इस तरह जागते, भागते और ताकते कर्णधारों की पक्षधरता एकदम स्पष्ट थी। कहीं कोई खोट नहीं थी। सौ फीसदी खरापन था। सौ फीसदी टटकापन और सौ फीसदी नकटापन भी चहुँदिसा उपलब्ध था।

पक्ष और विपक्ष के बीच जब भी संख्या-बल जांचने-परखने जैसी मागमागी की स्थिति आ बैठती थी, तो यह फर्क करना असंभव हो जाता था कि कौन गब्बर सिंह है और कौन मोगांबो? कौन डा. डेन है और कौन लांयन? कौन जगीरा है और कौन कंस-रावण-दुर्योधन का सच्चा वारिस? तत्कालीन भारत में जो भी जितने भी पक्ष-विपक्ष की पक्षधरता के प्रवक्ता थे, रसमलाई या मालपूए मात्र जैसी तुच्छ चीजों पर गुजर-बसर करते थे, बेशक राजकीय-कोषालय को अपने पुरखों का बगैर ताले वाला गोदाम समझते थे।

वे चाहते, तो प्याज़ और नमक को नदारद नहीं होने देते। वे चाहते तो शक्कर और तेल के दाम नहीं बढ़ने देते। वे चाहते तो ड्राप्सी से स्वर्गवासी हो जाने का अवसर नहीं देते। मगर वे क्या करें? उनके भी बाल-बच्चे हैं। उनकी भी शिक्षा-दीक्षा करनी है। उनके भी व्याह रचाने हैं।

तब, तत्कालीन लोकतंत्र का अभयारण्य सामान्य नागरिकों के लिए नितांत निषिद्ध था, लेकिन राजा भैया, पणू यादव, लालू यादव और बाल ठाकरे इत्यादि जैसी विभूतियां वहां अनंतकाल के लिए अतिक्रमण करके अमर हो सकती थीं। अन्यथा नहीं है कि राजा भैया, पणू यादव, लालू यादव और बाल ठाकरे इत्यादि जैसी विभूतियों का तब अकाल नहीं था। वे तमाम विभूतियां, तमाम पक्ष में और तमाम विपक्ष में अपनी-अपनी तमाम पक्षधरता के साथ निष्ठापूर्वक मौजूद थीं। पक्ष-विपक्ष की पक्षधरता में तब ममता, जयललिता और सोनिया की रंगदारी भी कोई कम नहीं थी। वे हांकती थीं और हांफने लगती थीं वे सब्जी खरीदने जाती थीं और सब्जी हो जाती थीं। वे भूमिका लिखने की कोशिश करती थीं और उपसंहार हो जाती थीं। तत्कालीन भारतीय राजनीति में लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था के जारी पक्ष, विपक्ष की पक्षधरता का यही आलम था कि जो वास्तविक पक्षधरता थी, वह जंगलों में छुपी थी।



## मोहनदास नैमिशराय धूप की संस्कृति

भोर होते-होते लखनऊ कब निकल गया, पता ही नहीं चला। गोमती नदी को पुनः देखने की चाह मन के भीतर ही रह गई। लखनऊ गोमती नदी के बिना अधूरा ही रहता। लखनऊ की नवाबों और रानियों की संस्कृति को गोमती ने ही तो सींच-सींच कर विकसित किया है। लखनऊ की उपजाऊ जमीन के ज़र्रे-ज़र्रे में गोमती के पानी की गंध आज भी मौजूद है। पर जैसे-जैसे गोमती में पानी सूख रहा है, लखनवी गंध भी लुप्त होती जा रही है।

वैशाली तेज गति से भागी जा रही थी। वैशाली आगे-आगे और पेड़-पौधे पीछे-पीछे। बचपन में यह सवाल मैंने कई बार बाबा से पूछा था। पर जैसे-जैसे मैं वयस्क होता गया, प्रकृति की इस अजीबोगरीब प्रक्रिया धीरे-धीरे समझ में आती गई। अब मेरे साथ बाबा नहीं है। अपने सवालों को स्वयं ही हल करना पड़ता है। हम आधुनिक युग में जो जी रहे हैं। इसे वैज्ञानिक युग भी कहा जाता है और वैज्ञानिक युग की यह विशेषता भी है कि अपने सवाल स्वयं ही हल करो। बच्चों के हाथों में कैलकुलेटर दे दिये गये हैं। कुछ दिनों बाद वे ड्योटा, सवैया तथा पहाड़े आदि शब्द शब्दकोश में देखा करेंगे। न शब्द रहेंगे और न उनकी संस्कृति शेष बचेगी।

पूर्वी उत्तर प्रदेश का उजाड़ और बंजर जैसा क्षेत्र आरंभ हो गया था। वैसे बंजर तो अब उस प्रदेश की राजधानी भी होने लगी थी। उसकी कोख से प्रतिक्रियावादी राजनीति जो उभरने लगी थी। उस राजनीति का प्रभाव इस क्षेत्र पर अधिक हुआ था। इसलिए विकास की राजनीति के स्थान पर विकास की राजनीति ने अपने पांव अधिक बढ़ाए हैं। अप्रैल का माह खत्म होते-होते परिवेश में उमस उभर आई थी। धूप की प्रचंड संस्कृति आमने-सामने थी। बीच में था वही भूख-नंगा व्यक्ति जिसके बलबूते पर अभी भी प्रजातंत्र जीवित रहा है। धूप उनके सिर पर थी। लोग सड़कों पर, खेतों में, कुएं पर तथा अपने घरों की छतों पर अपने-अपने कार्य में मशगूल थे। धूप के नीचे वे पसीने से तरबतर थे। उनके भीतर का खून पिघल उठा था, पर वे स्वयं पिघल नहीं रहे थे। वे स्टेशन से सामान ढो रहे थे, वे रिकशा चला रहे थे, वे हाथ ठेले पर भारी सामान ढो रहे थे। वे सड़क बना रहे थे। उनके साथ औरतें भी थीं। वे भी न पिघलने वाली औरतें थीं।

लकड़ी के टांड पर बनाई गई फूस की छतें। मिट्टी और गोबर से पुते आंगन और उन आंगनों में खेलते-कूदते अर्धनग्न बच्चे। उन्हें न धूप सताती थी और न लू। वे मानव की जीवंत संस्कृति के प्रतीक थे। धूप की संस्कृति देखनी हो तो कोई यहां आकर देखे। यहां आइसक्रीम चूसते बच्चे न थे और न ही छाता लगाए औरतें। छाता शायद यहां की संस्कृति में शामिल नहीं हुआ था। बाबू संस्कृति कम

थी, खेतिहर मजदूर-किसानों की संस्कृति अधिक। उनके गांवों में जूते-चप्पलें नहीं थे। गरीबी के इस विराट क्षेत्र में वे विराट संस्कृति के मालिक थे।

गांडा निकलने के बाद धूप और अधिक फैल गई थी। नये-नये स्टेशन आ रहे थे, जो मेरे लिए अपरिचित थे। इन स्टेशनों पर कहीं गाड़ी ठहरती तो कहीं स्टेशन देख कर ही आगे बढ़ जाती थी। किसी-किसी स्टेशन पर कोई रेल कर्मचारी हाथ में हरी झण्डी लिए आगे चलते रहने का संकेत दे देता था।

गांव आने पर बिटोड़ों की संख्या बढ़ जाती थी। जो गांव का अहसास भी कराते थे। बिटोड़े गांव की संस्कृति का अभी भी एक अभिन्न अंग बने हुए हैं। बिटोड़े और जोहड़। बिटोड़ों में उपने होते और जोहड़ की सतह पर फैली जलकुंधी। बीच-बीच में रेल-फाटक के पास गुमटी मिलती। जहां यह स्लोगन बार-बार पढ़ने में आता, दुर्घटना से टेर भली।

मेरे समीप बैठा कोई यात्री बता रहा था— इस क्षेत्र में किसी मैडम ने सुगर मिल खोला था जो किसानों से उनके गन्ने खरीदती थी और उन्हें वाजिव दाम देती थी। इस क्षेत्र में ईख की काफी पैदावार हुई। मेरे सामने बैठे खलीलाबाद के मामद अपने मुग्धा गार्ड के साथ बाहर आने के लिए उठ खड़े हुए थे। मुग्धा गार्ड के दूसरे हाथ में उनका सूटकेस भी था। वे मुग्धा गार्ड थे या क्लर्क भी। मेरे गमछ में कुछ नहीं आया। स्वयं सांसद महोदय के हाथ में फाइल थी और उस फाइल में विकास के कागज।

खलीलाबाद आ गया था। सवारियां उतरने-चढ़ने लगी थीं। वातावरण में जाना-पहचाना शोर उभरने लगा था। ट्रेन पुनः रैमने लगी तो खलीलाबाद खण्डहर के रूप में मेरे सामने आने लगा था। इतिहास के अलग-अलग टुकड़े और उन टुकड़ों के बीच से आने अतीत के चित्र। लगता था इस शहर में विकास की दर सबसे कम रही है। मुखे चेहरे और उनके बीच भसी आंखें, उन आंखों में भीमी-सी चमक अभी भी बाकी थी। शायद मामद महोदय की फाइल के किसी कोरे कागज पर किसी की तकदीर लिख दी जाए। पर वह सब व्यवस्था से बंधा था जैसे ट्रेन की 'लैंवेंगे' में जंजीर से बंधा स्टील का मग।

खलीलाबाद शहर निकलने के बाद फिर वही खेत, पगडण्डी, कुएं, बिटोड़े, जोहड़, तालाब, आरंभ हो गये थे और उनके आसपास हरियाली बनाने का प्रयास करने गर्मी और धूप में झुलसते पेड़-पौधे। वे ही हमारी प्राकृतिक संपदा थे, पर अब वह संपदा भी खत्म होती जा रही थी।



## सरोज वशिष्ठ

# भाषा का कोई सम्प्रदाय नहीं होता

(नाहन (हि. प्र.) में आयोजित गोष्ठी में प्रस्तुत आलेख)

'महिला लेखिकाओं द्वारा हिन्दी, पंजाबी और पहाड़ी भाषा में उर्दू शब्दों का इस्तेमाल' इस गोष्ठी का विषय है। मैं सबसे पहले हिमाचल प्रदेश उर्दू प्रशिक्षण तथा अनुसंधान केन्द्र और हिमाचल प्रदेश के भाषा व संस्कृति विभाग का धन्यवाद करना चाहती हूँ कि उन्होंने इस गोष्ठी का विषय 'लेखिकाएं: कितनी चेतन कितनी बेचारी' या ऐसा ही कुछ नहीं रखा। शायद ये दोनों संस्थान जानते हैं कि— इनके अन्दर पक रहा है वक्त का ज्वालामुखी, किन् पहाड़ों को ढके हैं बर्फ जैसी औरतें (वशीर बद्र)।

एक बात तो तयशुदा है कि साहित्य को हिन्दी-उर्दू, दक्षिण-उत्तर, देशी-विदेशी, महिला-पुरुष के दायरे में रखकर देखेंगे तो सीमाएं हमें अपने भीतर जकड़ लेंगी। लेकिन यह भी एक सत्य है कि इन्हीं सीमाओं को तोड़कर महिलाएं हवा की तरह बेताब, सवारी आए न आए, पैदल ही सुनसान राहों पर निकल कहीं की कहीं पहुंच चुकी हैं।

मुझे अफसोस है कि उर्दू जैसी खूबसूरत भाषा को भारत और पाकिस्तान दोनों ही देशों में राजनैतिक और साम्प्रदायिक ओढ़नी में बेरहमी से लपेटा जा रहा है। देश के विभाजन तक उर्दू किसी सम्प्रदाय विशेष की बपौती न थी। हिन्दी की ही तरह उर्दू भारत के किसी विशेष प्रदेश की भाषा न थी। उर्दू कश्मीरी, पंजाबी, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के साथ बहुभाषीय परिस्थिति में एक संगी-साथी की तरह जीवित थी। इन प्रदेशों में लेखक दो या तीन भाषाओं में लिखते थे। अलग-अलग सम्प्रदायों के होते हुए भी फैज़ अहमद फैज़ और अमृता प्रीतम एक ही प्रदेश में बड़ी सरलता से एक साथ अपना-अपना रचनाकर्म जारी रख पाए। विभाजन के बाद बड़ी संख्या में उर्दू लेखक पाकिस्तान चले गए। उर्दू रचनाकारों और पाठकों का जनसंख्या के आधार पर इस तरह छिन्न-भिन्न हो जाना अपने आप में एक त्रासदी थी। साथ ही साथ बिना किसी तर्कसंगत ऐतिहासिक आधार के इस विषय पर होने वाली बहसों ने साम्प्रदायिक रंग पकड़ लिया। पाकिस्तान ने अगर उर्दू को राष्ट्रीय भाषा घोषित कर उसे फ़ारसी के रंग में रंग दिया तो भारत के प्रचार-प्रसार माध्यमों ने हिन्दी को अत्यधिक संस्कृतनिष्ठ बनाकर कम नुकसान नहीं किया। इस तरह दोनों भाषाओं में पहले से स्थापित महत्वपूर्ण सम्बन्ध टूटने

लगा। हमारी मौखिक परम्पराएं, साझी संवेदनशीलता, रचनात्मक आदान-प्रदान और दोनों भाषाओं में लम्बे समय से स्थापित संवाद खत्म होने लगा।

वावजूद इन दुखद घटनाओं के दोनों देशों के रचनाकारों ने उर्दू भाषा-साहित्य को जिन्दा रखा है। तभी तो जोगिन्द्र पाल, ज़फ़र पयामी, बलवन्त सिंह, बलराज मेनरा न हिन्दू हैं, न सिख। ठीक वैसे ही जैसे फैज़ या मण्टो मुसलमान लेखक नहीं थे। अगर भारत में उर्दू आज भी जिन्दा है तो इसका श्रेय जितना इस्मत चुगताई या कुरतुल-ऐन-हैदा जैसी लेखिकाओं को जाता है उतना ही हिन्दी-पंजाबी की लेखिकाओं को भी। फिर भी यह एक खतरनाक समय है, शब्द की गरिमा नष्ट हो रही है, पात्र छिन्न-भिन्न और स्मृतियां अस्त-व्यस्त हो रही हैं। क्या हम अपने को तसल्ली दे कर कह सकते हैं कि स्थितियां बदलेंगी?

आखिर भाषा का मुख्य गुण क्या है? भाषा में एक निर्विकल्पक स्पष्टता होती है और इसे नष्ट करते हैं अनजाने शब्द। सौभाग्यवश हम भाषा का उपयोग इस तरह से करते हैं मानो वह हमारे मन से निकला प्रकाश हो। महान साहित्य क्या है? अथाह आशय से भरा अर्थपूर्ण भाषा।

'बादलों के घेरें', 'तिन पहाड़', 'डार से बिछुड़ी', 'जिन्दगी-नामा', 'मित्रो मरजानी' या फिर 'दिलो दानिश'.... कृष्णा सोबती की कवि रचना उठा लें, आप उर्दू शब्दों की बौछार में भीग जाएंगे। अगर हिमाचल के विनोद विप्लव की ताज़ा कहानी का शीर्षक है 'खुदाई' तो पाकिस्तान के इन्तज़ार हुसैन की एक कहानी महात्मा बुद्ध की एक जातक कथा पर आधारित है।

'हमखुर्मा ओ हमसबाब' शीर्षक था मुंशी प्रेमचन्द के उस उपन्यास का जिसे हम 'प्रेमा' नाम से जानते हैं। हम उन्हें हिन्दी के लेखक मानते हैं बेशक उनकी हर एक रचना में अनगिनत उर्दू शब्द मिलते हैं।

अमीर खुसरो, आज तक हिन्दवी के प्रथम कवि माने जाते हैं। वे संस्कृतियों का अनुपम संगम देखना हो तो अमीर खुसरो की कविता मसनवी 'नूह सिपहर' यानी नव आकाश पढ़िए। हिन्दी-उर्दू के संवाद विवाद मिट जाएंगे।

सी-13, मकान नम्बर-20, विकास नगर, शिमला-171009



## नागार्जुन की काव्य-संवेदना पर संगोष्ठी

पिछले दिनों जयपुर की अन्तःअनुशासनीय 'संस्था' संदर्भ की जनकवि बाबा नागार्जुन पर संकेन्द्रित 30वीं वार्षिक संगोष्ठी में 'नागार्जुनः काव्य संवेदना के आयाम' विषय का प्रवर्तन करते हुए वरिष्ठ समीक्षक डा. वीरेन्द्रसिंह ने कहा कि नागार्जुन के अनुभववाद में विवेक, संघर्षशील वर्ग चेतना और प्रगतिवाद ये तीन ऐसे तत्व हैं जो उनके सारे काव्य को अर्थ प्रदान करते हैं। उन्होंने कहा—“नागार्जुन की काव्य संवेदना के तीन आयाम हैं—एक राजनैतिक सामाजिक कविताओं की मारक क्रोधात्मक-व्यांगत्मक संवेदना, दूसरी वे मिथकीय ऐतिहासिक कविताएँ जहाँ कवि की संवेदना किसी चरित्र आधरूप या प्रसंग के माध्यम से शोषण और विद्रोह का परोक्षतः समकालीन अर्थ में रूपान्तरण करती और तीसरी प्रेम, प्रकृति, सृजन आदि से सम्बन्धित कविताएँ हैं जो संवेदना के आन्तरिक तरल रूप को कहीं-कहीं कंचोट, रूक्षता तथा उल्लास की भंगिमाओं के साथ व्यक्त करती हैं।”

डा. वीरेन्द्रसिंह का प्रतिवाद करते हुए संगोष्ठी के मुख्य वक्ता प्रसिद्ध दर्शनविद् और शायर डा. प्रकाश श्रीवास्तव ने कहा कि वे बाबा नागार्जुन को बड़ा कवि नहीं मानते। अपने मत के पक्ष में उन्होंने कहा कि बाबा अपनी कविताओं में कल्पना के लिए कोई जगह नहीं छोड़ते, मात्र व्यवस्था पर व्यंग करने से कोई बड़ा कवि नहीं बन जाता। जाने-माने कवि श्री मुकुट सक्सेना ने इस पर अपनी संक्षिप्त टिप्पणी करते हुए कहा कि किसी कविता को समग्र रूप में देखा जाना चाहिए। कविता की कुछ पंक्तियाँ छांट कर उद्धृत करते हुए हम किसी कविता या कवि को खारिज नहीं कर सकते।

दूसरे प्रमुख वक्ता डा. रवि श्रीवास्तव ने डा. प्रकाश श्रीवास्तव के कथन का कड़ा विरोध करते हुए कहा कि यथार्थ की अनदेखी के दौर में नागार्जुन की कविताएँ यथार्थ बोध की नई संभावनाएँ दिखाती हैं।

उन्होंने कहा कि बाबा नागार्जुन का भावबोध कालिदास, इलियट, वियतनाम प्रकरण से लेकर मोतिया नेवले और मधुमती गाय तक को अपनी कविताओं में समेटता है, यह एक बड़ी बात है। साथ ही बाबा ने अर्द्ध सामन्ती और अर्द्ध पूँजीवादी समाज में उपभोग की वस्तु बनी नारी की पीड़ा को गहराई से समझा और व्यक्त किया है।

संगोष्ठी के मुख्य अतिथि कवि डा. विजेन्द्र का कहना था कि कोई बड़ा कवि अपने आप को एक प्रतिमान में बंध कर नहीं रहने देता। बाबा ने भी ऐसा ही किया है अतः वे एक बड़े कवि हैं। उन्होंने कहा कि इतिहास और विचारधारा के अन्त की घोषणा करने वाली उत्तर आधुनिकता के सोच का मुकाबला करने में बाबा नागार्जुन की कविताएँ बेहद सक्षम हैं। संगोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए प्रख्यात आलोचक डा. विशम्भरनाथ उपाध्याय ने कहा कि बाबा की कविताएँ

मानवीय अनुभव को उच्च स्तर पर ले जाती हैं और यही कविता की सही पहचान है। उन्होंने कहा कि बाबा ने केवल यथार्थ का चित्रण ही नहीं किया बल्कि उसका अन्वेषण भी किया है।

डा. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम' ने बाबा की कुछ रचनाओं का पाठ किया तथा आकाशवाणी के सहायक निदेशक श्री शुक्रदेव शास्त्री ने गोष्ठी का संचालन किया। अन्त में संदर्भ की ओर से डा. शिवसागर त्रिपाठी ने धन्यवाद ज्ञापित किया।

प्रस्तुति : डा. जे.पी. जैन

## हमें जागरूक करने में व्यंग्य की सशक्त भूमिका है

“हमारे समाज की विकृतियों, विसंगतियों के प्रति हमें जागरूक करने में व्यंग्य साहित्य की सबसे सशक्त भूमिका है। हमारा समाज न सच्चे अर्थों में पारंपरिक ही है और न ही आधुनिक... हर क्षेत्र में वह ऐसी स्थितियाँ, जाकियाँ, ऐसी विसंगतियाँ प्रस्तुत करता है जो एक व्यंग्यकार के लिए उत्तेजक सामग्री हैं।” ये विचार प्रसिद्ध समाजशास्त्री श्री पूरन चंद्र जोशी ने ‘इंडो रशियन लिटरेरी क्लब’ तथा ‘रूसी विज्ञान एवं संस्कृति केन्द्र, द्वारा एलेक्जेंडर ग्रिन के जन्मदिन पर आयोजित प्रेम जनमेजय के व्यंग्य सकलन ‘शर्म मुझको मगर क्यों आती!’ के लोकार्पण समारोह में, अस्वस्थ होने के कारण उपस्थित न होने पर अपने लिखित वक्तव्य में व्यक्त किए। उन्होंने प्रेम जनमेजय की व्यंग्य रचनाओं की विशेषता को रेखांकित करते हुए कहा, “प्रसिद्ध कर्टीनिस्ट आर.के. लक्ष्मण ने हाल में एक साक्षात्कार में कहा था कि अपने कर्टून के लिए नए-नए चरित्र खोजने/ रचने के लिए मुझे केवल अपनी आंखें खुली और दिमाग को चौकन्ना रखना जरूरी है बाकी काम मेरी लेखनी स्वयं कर लेती है। प्रेम जनमेजय के अच्छे व्यंग्य चित्रों की प्रेरणा का स्रोत भी रोजमर्रा की जिंदगी ही है, यही उनकी विशेषता है।”

पुस्तक का लोकार्पण करते हुए विशिष्ट अतिथि कन्हैयालाल नंदन ने कहा कि प्रेम जनमेजय के सरोकार व्यापक धरातल पर व्याप्य करते हैं। प्रेम जनमेजय ने इस बात की चिंता नहीं की है कि व्यंग्य में उनका स्थान रहे या न रहे अपितु वह व्यंग्य की स्थापना के लिए मत्त तत्पर रहते हैं। इससे पूर्व संस्था के उपाध्यक्ष एंड्रे नजारकिन ने अतिथियों का स्वागत किया और प्रेम जनमेजय के व्यक्तित्व पर अपने विचार व्यक्त किए।

नरेंद्र कोहली ने अपने विस्तृत अध्यक्षीय वक्तव्य में हिन्दी व्यंग्य की वर्तमान स्थिति की चर्चा करते हुए प्रेम जनमेजय के महत्वपूर्ण स्थान को रेखांकित किया। उन्होंने कहा कि हिन्दी व्यंग्य में आर्थिक विसंगतियों का ऐसा विवेचन नहीं मिलता है जैसा इस सकलन में है।



उन्होंने प्रेम की व्यंग्य भाषा की प्रशंसा करते हुए कुछ व्याकरणिक दोषों की ओर भी ध्यान दिलाया।

गोपाल चतुर्वेदी ने कहा कि प्रेम जनमेजय का राधेलाल एक महत्वपूर्ण पात्र है। राधेलाल इस देश का आम आदमी है। वह नक्करखाने की तृती है। अपने विशिष्ट अंदाज में प्रेम जनमेजय ने कभी व्यंग्य के बाण खुद चलाए हैं और कभी राधेलाल के माध्यम से। आयातित आधुनिकता की उपभोक्ता संस्कृति और मानवीय सरोकारों का संघर्ष प्रेम के व्यंग्यों की उर्वर भूमि है। राधेलाल उस लड़ाई का घायल नायक है। महेश दर्पण ने कहा कि प्रेम जनमेजय की व्यंग्य भाषा में गल्प का मजा है। ये रचनाएं आज की छोटी दुनिया का क्लोज अप बन गई हैं। गोविंद व्यास ने अपने अंदाज में कहा कि प्रेम के व्यंग्यों में क्रोध नहीं, गहरी संवेदना है। यह रचनाएं पढ़ने में जितनी सुंदर लगती हैं उतनी ही सुनने में भी। डा. रत्नाकर पांडेय ने कहा कि प्रेम के सादृश्य विधान के कारण इन्हें व्यंग्य का माघ कह सकते हैं। इसकी रचनाओं में हमें हमारे समाज का उत्थान-पतन, संगति-विसंगति, सब कुछ मिल जाता है। डा. गोपाल राय ने व्यंग्य की सामयिक स्थिति का उल्लेख करते हुए प्रेम जनमेजय की सशक्त भूमिका की चर्चा की। डा. विजय अग्रवाल ने कहा कि पुलिस इनका रुचिकर विषय है और इस पर जितने भी व्यंग्य लिखे हैं वे श्रेष्ठ बने हैं। उमाशंकर मिश्र ने कहा कि विसंगतियों या चरित्रों पर व्यंग्य करते हुए भी प्रेम जनमेजय की भाषा अशिष्ट नहीं होती है। वह शिष्ट भाषा के व्यंग्यकार है। सुभाषचंदर ने कहा कि प्रेम जनमेजय एक गंभीर और चिंताधर्मी व्यंग्य लेखक हैं। जहां व्यंग्य कथा के माध्यम से आता है वह श्रेष्ठ है पर जहां व्यंग्य निबंध के माध्यम से आता है वहां कम प्रखर है। राधेश्याम तिवारी ने विद्रूप परिस्थितियों के विरुद्ध प्रेम जनमेजय के आक्रमण पर ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने आधुनिक कविता और व्यंग्य को जोड़ते हुए प्रेम के व्यंग्यों में असीम संभावनाओं को रेखांकित किया। हरीश नवल ने आवरण की प्रशंसा की तथा संकलन में आई व्यंग्य सूक्तियों की ओर ध्यान आकर्षित किया। गोष्ठी का कुशल संचालन संस्था के महासचिव दिविक रमेश ने किया। इस अवसर पर राजधानी के अस्सी से अधिक साहित्य-प्रेमी उपस्थित थे

प्रस्तुति: हरीश जोशी

## मोहन सपरा की कविताएं अनुभवों की इबारत हैं

पिछले दिनों उर्दू व हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार डा. सादिक ने मोहन सपरा के पुरस्कृत काव्य संग्रह 'बरगद को कटते हुए देखना' पर साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मंच 'लोकधारा' द्वारा डॉ. ए.वी. कालेज, नकोदर के प्रांगण में आयोजित विचार गोष्ठी में कहा कि सपरा की

कविता अनुभवों की इबारत हैं।

अपने अध्यक्षीय भाषण में डा. नरेन्द्र मोहन ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि मोहन सपरा की कविताएं गहरे केन्द्रीय बोध की कविताएं हैं। 'संवादगाथा' में तनाव को जिस आत्मीय धरातल पर ताना गया है, ऐसा बहुत कम कविताओं में देखा गया है।

श्री सुरेश सेठ ने मोहन सपरा के निरन्तर रचनाधर्मी होने की बात करते हुए कहा कि सपरा ने भाषा, व्याकरण और संवेदना के स्तर पर इस संग्रह के जरिये अपनी विशिष्ट पहचान दी है। डा. हरमहेन्द्र सिंह बेदी को सपरा की कविताएं सतलुज और व्यास के नजदीक बैठ कर लिखी गई कविताएं लगीं और पंजाब के परिवेश को कवि ने जिस तरह से अपनी कविता में अनुस्यूत किया है—यह उपलब्धि उन्हें विशिष्ट अनुभव हुई।

उर्दू के शावर एवं आलोचक अजीज परिहार की दृष्टि में कवि ने भाषा, अनुभव और काव्य शैली के स्तर पर एक नए मुहावरे का सृजन किया है।

मुग्रसिद्ध कवि श्री दिविक रमेश ने मोहन सपरा की कविताओं में अभिव्यक्ति के स्तर पर सच्चाई के कारण सहज सम्प्रेषण की शक्ति का जिक्र करते हुए कहा कि इन कविताओं में कवि की कला-क्षमताएं भी कवि के प्रति आश्चर्य करती हैं। उन्हें लगा कि जब तक संवादहीनता की स्थिति के बावजूद संवाद करने की स्थिति बचाई और बनाई जाती रहेगी, संघर्ष सफल ही होगा।

इससे पूर्व श्री राजेन्द्र उपाध्याय ने अपने प्रपत्र में स्वीकार किया कि मोहन सपरा १९६९ से एक सतत संघर्षशील आम आदमी की कविता लिख रहे हैं। वे जन के सरोकारों को जन की भाषा में और जन की लय में उठाते हैं—यह उनकी कविता की बड़ी सफलता है।

डा. सुभाष रस्तोगी का मानना था कि ये कविताएं बिना कोई नारा उछाले यथास्थिति के खिलाफ एक माहौल पैदा करती हुई पाठकों को सम्बोधित होती हैं। उन्होंने यह भी कहा कि 'बरगद को कटते हुए देखना' की कविताएं भाषा और तथ्य के धरातल पर नितान्त सम्प्रेष्य हैं।

तत्पश्चात् डा. तरसेम गुजराल ने कहा कि यह काव्य-संग्रह भारतीय समाज के उत्पीड़न, बहुदिशाओं में बंटे संघर्ष और भारतीय समाज में फैले आतंक और हिंसा का प्रतीक है। जीवन और यथार्थ को समझने के लिए सपरा को गोल-मोल शब्दों की ज़रूरत नहीं पड़ती। आज के विघटनकारी मूल्यों पर वह सीधे प्रहार करते हैं।

इससे पूर्व श्री सिमर सदोष ने मोहन सपरा का परिचय देते हुए उनके इस संग्रह की कविताओं को व्यवस्था के खिलाफ अपना प्रतिरोध जताने वाली कविताएं बताया। उन्होंने यह भी कहा कि सपरा ने जिन पगडंडियों पर कविताधर्मिता की यात्रा शुरू की थी आज वे पगडंडियां सड़क का रूप धारण कर चुकी हैं और 'बरगद को कटते



हुए देखना' इस यात्रा का अनूठा उदाहरण है।

पंजाबी के शायद कंवर इम्तियाज़ ने मोहन सपरा पर लिखा एक शब्द-चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा कि उनकी कविता एक बड़े फलक पर मूल्यांकन की मांग करती है।

अन्त में गीता डोगरा, सविन्दरजीत सवी, डा. आर. धवन, डा. विमरा तथा बृटाराम द्वारा कविता पाठ प्रस्तुत किया गया। समारोह के प्रारम्भ में लोकधारा के प्रधान गुरचरन अरोड़ा ने साहित्यकारों तथा अतिथियों का स्वागत किया और अन्त में डी.ए.वी. कालेज नकोदर के प्रिंसिपल श्री धनीराम ने धन्यवाद दिया। मंच-संचालन मंच के सचिव श्री विनोद सागर ने किया।

प्रस्तुति: विनोद सागर

## ‘कहीं जरा सा....’ का लोकार्पण समारोह

पिछले दिनों बीकानेर के आनंद निकेतन में युवा कथाकार मुकेश पोपली के प्रथम कहानी संग्रह ‘कहीं जरा सा....’ का लोकार्पण वरिष्ठ कथाकार एवं उपन्यासकार यादवेंद्र शर्मा ‘चंद्र’ ने किया। इस अवसर पर अपने संबोधन में उन्होंने मुकेश पोपली की कहानियों को सहज बोधगम्य बताते हुए कहा कि सरल, सहज शैली में कलात्मक पक्ष पर भी पकड़ बेहद मजबूत होनी चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि भविष्य में युवा लेखक से और भी सुरुचिपूर्ण रचनाओं की अपेक्षा है।

विशिष्ट अतिथि समालोचक डॉ. देवीप्रसाद गुप्त ने मुकेश पोपली में रचना विधान की पूर्ण समझ बताते हुए कहा कि उनकी कहानियों में अनुभूति की प्रमाणिकता और कथा रस का सामर्थ्य प्रबल रूप से उपस्थित है।

कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए एडवोकेट उपध्यान चंद कोचर ने ‘कहीं जरा सा....’ की कहानियों को संवेदनात्मक बताते हुए कहा कि प्रत्येक कहानी में पठनीयता है और आत्मा की तलाश को महत्व दिया गया है।

लोकार्पित पुस्तक पर व्यंग्यकार व कथाकार बुलाकी शर्मा ने अपने पत्र वाचन में मुकेश पोपली की कहानियों को अजाने-अपरिचित संसार की नहीं, वरन् हमारे जाने-पहचाने संसार की रचनाएं बताते हुए कहा कि उन के कथा-पात्र हमारे बीच के सामान्य पात्रों की तरह जहां मुट्ठी भर सुख पाकर निहाल हो जाते हैं, वहीं क्षणिक दुःख भी उन्हें असहनीय लगता है।

कथाकार डा. मदन सेनी ने ‘कहीं जरा सा....’ पर अपने पत्रवाचन में कहा कि संग्रह की सभी कहानियों में पाठक को बांधे रखने की अचूक क्षमता है। इनको आद्योपांत पढ़ना और सूक्ष्म संवेदनाओं की अनुभूतियों से गुजरना बेहद सुखदायी है।

समारोह में वरिष्ठ कथाकार हरदर्शन सहगल ने अपनी पाठकीय टिप्पणी में कहा कि मुकेश पोपली की कहानियां पढ़ते हुए पाठक

उद्वेलित और भाव विह्वल हो उठता है।

कार्यक्रम में डा. आदर्श सक्सेना की प्राप्त लिखित टिप्पणी का वाचन रतन श्रीवास्तव ने किया जिसमें ‘कहीं जरा सा....’ में संकलित कहानियों के बारे में विस्तृत विचार प्रस्तुत किए गए।

साहित्यिक संस्था ‘आराधना’ एवं ‘नेगचार’ पत्रिका द्वारा आयोजित इस लोकार्पण समारोह में सरल विशारद, नवनीत पांडे, कुलदीप जनसेवी, कविता मुकेश, वत्सला पांडे, नीरज दर्दया, गोपाल चन्द्र सिंघल, मालचन्द तिवाड़ी, संगीता शर्मा, अनिरुद्ध उमट, रमेश हर्ष आदि अनेक वरिष्ठ व युवा साहित्यकार उपस्थित थे। मुकेश व्यास ने अपनी विशेष टिप्पणियों के साथ कार्यक्रम का सफल संयोजन किया।

इस समारोह से पूर्व ‘नेगचार पुस्तक प्रदर्शनी’ का उद्घाटन किया गया। प्रदर्शनी के संयोजक नाटककार दयानन्द शर्मा ने बताया कि इस त्रिविध संयोजन में बीकानेर संभाग के लेखकों की हिन्दी व राजस्थानी भाषा की पुस्तकें प्रदर्शित की गई हैं।

प्रस्तुति: कविता मुकेश

## महाकवि बिहारी पुरस्कार 1998 समारोह

हिन्दी काव्य साहित्य में उल्लेखनीय योगदान के लिए वर्ष 1998 का ‘‘महाकवि बिहारी पुरस्कार’’ सर्वश्री मुकुट सक्सेना (हिन्दी-उर्दू), चन्द्र कुमार सुकुमार (हिन्दी-राजस्थानी), और तारु शेखावाटी (राजस्थानी-हिन्दी), को राजस्थान की राजधानी स्थित साहित्यिक संस्था मित्र परिषद की ओर से आकाशदीप महिला महाविद्यालय के संयुक्त तत्वावधान में दिनांक 16-1-99 को राज्य के शिक्षा मंत्री श्री बी.डी. कल्ला द्वारा प्रदान किया गया।

समारोह के मुख्य अतिथि सूचना एवं जनसम्पर्क निदेशालय के पूर्व निदेशक डा. मनोहर प्रभाकर थे एवं अध्यक्षता डा. अमर सिंह राठौर, अतिरिक्त निदेशक सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, राजस्थान सरकार ने की।

इस पुरस्कार के तहत एक प्रशस्ति पत्र, एक सरस्वती की कांस्य प्रतिमा, श्रीफल, शॉल एवं नगद धनराशि के साथ सम्मानित साहित्यकारों को साफा पहनाकर संस्था का चौदहवां महाकवि बिहारी पुरस्कार समारोह बड़ी भव्यता के साथ सम्पन्न हुआ।

इस अवसर पर शिक्षा मंत्री ने कहा कि सद् साहित्य के माध्यम से वर्तमान पीढ़ी की सृजनात्मक शक्ति का विकास किया जाना चाहिए।

डा. मनोहर प्रभाकर ने सृजन से जुड़ी संस्थाओं को सशक्त बनाने के साथ-साथ साहित्यकारों को भी पत्रकारों के समान विशेष सुविधाएं उपलब्ध कराये जाने का सुझाव रखा।

डा. रमाशंकर शर्मा

मन्त्री, मित्र परिषद झोटावाडा, जयपुर



कृति साहित्यकार

डॉ. सुदर्शन मजीठिया के समग्र  
साहित्य एवं व्यक्तित्व का

मूल्यांकन करने वाली महत्वपूर्ण कृति

सुदर्शन मजीठिया:  
सृजन के धरातल

अभिव्यंजना द्वारा शीघ्र प्रकाश्य

अभिव्यंजना के दो नये प्रकाशन

स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी व्यंग्य:  
सृजन की यात्रा

संपादक

डा. सुदर्शन मजीठिया: डा. बालेन्दुशेखर तिवारी

हिन्दी के 80 व्यंग्यकारों की रचनाओं का एक अनूठा संग्रह जो हिन्दी व्यंग्य साहित्य का लगभग समग्र चित्र प्रस्तुत करता है। संपादकद्वय द्वारा लिखित लम्बी भूमिका सहित।

पृष्ठ: 400 मूल्य- 300/- (सजिल्द)  
150/- (पेपर बैक)

हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन

डा. सुधाकर अदीब

उत्तर प्रदेश सिविल सेवा के अधिकारी डा. सुधाकर अदीब द्वारा रचित आलोचनात्मक कृति जिसमें हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन तत्व के विविध रूपों का चित्रण बड़ी प्रामाणिकता से किया गया है।

मूल्य: 250/-

अभिव्यंजना

बी- 70/72, डी. एस. आई. डी. सी. काम्पलेक्स

लारेंस रोड, दिल्ली-110035.



# संचेतना बुक क्लब का लाभ उठाइए

## संचेतना के जागरूक पाठकों के लिए एक आकर्षक योजना

संचेतना के देश में असंख्य पाठक हैं। असंख्य शिक्षण-संस्थाओं में संचेतना वर्षों से जा रही है जहाँ इसकी प्रतियों को सजिल्द करा कर संजोया जाता है। हमने संचेतना की सहयोगी संस्था अभिव्यंजना प्रकाशन के साथ मिलकर पुस्तक-प्रेमी पाठकों के लिए यह आकर्षक योजना तैयार की है। 50 रुपये भेज कर आप संचेतना के वार्षिक ग्राहक बनीए और निम्नलिखित पुस्तकों में से कोई भी/कितनी भी मनचाही पुस्तकें आपके मूल्य पर मँगवाएँ। डाक-खर्च भी हमारे द्वारा दिया जाएगा। मूल्य मनीआर्डर द्वारा अग्रिम भेजें। वी.पी.पी. भेजने की व्यवस्था नहीं है। 50 रुपये से कम की पुस्तकें साधारण डाक द्वारा और अधिक की पुस्तकें रजिस्टर्ड डाक द्वारा भेजी जाएंगी।

### कहानी संग्रह

धूप की उँगलियों के निशान	महीप सिंह	125.00
चर्चित कहानियाँ	महीप सिंह	40.00
इक्यावन कहानियाँ	महीप सिंह	150.00
सहमे हुए	महीप सिंह	60.00
इक्यावन कहानियाँ	विष्णु प्रभाकर	100.00
इकतीस कहानियाँ	कुसुम अंसल	150.00
पते बदलते हैं	कुसुम अंसल	25.00
चिनारों की आग	शामा	125.00
तेतीस कहानियाँ	सिम्ली हर्षिता	300.00
घरों से मकानों तक	गुरनाम गिल	80.00
जिदा पल मुर्दा पल	बचिंत कोर	45.00
गिरोह तथा अन्य कहानियाँ	आनन्द अस्थाना	30.00
नया मोड़	कमलेश बरब्शी	25.00
उधार की जिन्दगी	वसंत प्रभा	35.00
अँधेरी साँझ में	वसंत प्रभा	30.00
एक दिन का सुलतान	गुरुमुख सिंह जीत	25.00
तीन दिन का बेईमान	सविन्द्र सिंह उप्पल	25.00
आसमान दूर है	गुरुवचन सिंह	100.00
काली छोटी मछली	समद बहरंगी	40.00
काला नवम्बर	सं. सुरेन्द्र तिवारी	100.00
ग्रामीण परिवेश की श्रेष्ठ कहानियाँ	डॉ. सुभद्रा	40.00
खोई हुई खुशबू	सं. नरेन्द्र मोहन	40.00
श्रेष्ठ कहानियाँ	कुसुम अंसल	75.00
प्रवासी पंजाबी कहानियाँ	सं. महेन्द्र धींगड़ा	80.00

### कविता

सबूत क्यों चाहिए	इन्दु जैन	90.00
धुएँ का सच	कुसुम अंसल	25.00
विरूपीकरण	कुसुम अंसल	35.00
सच कहती हूँ	सुनीता जैन	70.00
एक और दिन	सुनीता जैन	25.00
पीली धूप का टुकड़ा	शामा	100.00
मुक्त कर दो	कीर्ति केसर	50.00
तुम मुझे झेल नहीं पाओगे	अरुणा कपूर	60.00
लेखिकाओं की प्रतिनिधि कविताएँ-83	संकलन	30.00
लेखिकाओं की प्रतिनिधि कविताएँ-84	संकलन	30.00

### उपन्यास

यह भी नहीं	महीप सिंह	60.00
मजिले	मनजीत हेयर	80.00
सम्बन्धों के किनारे	सिम्ली हर्षिता	35.00
यातना जिविर	सिम्ली हर्षिता	75.00
एक और पंचवटी	कुसुम अंसल	35.00
शिखर और गूँथ	गुरुमुख सिंह जीत	55.00
प्रश्नों के रेगिस्तान	कु. इन्दिरा	35.00
चेतना की परते	शकुन्तला दुबे	35.00
सभे घट राम बोले	गुरुवचन सिंह	35.00

### आलोचना/निबन्ध

कथाकार महीप सिंह	सं. डॉ. गुरुचरण सिंह	150.00
आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में महानगर	डॉ. कुसुम अंसल	200.00
हिन्दी उपन्यासों में प्रज्ञासन	डॉ. सुधाकर अदीव	250.00
कबीर ग्रंथावली में प्रेमा भक्ति	डॉ. शकुन्तला श्रीवास्तव	150.00
कुसुम अंसल का कथा साहित्य	नगमा जावेद मलिक	90.00
लेखक और अभिव्यक्ति		
की स्वाधीनता	सं. डॉ. महीप सिंह	60.00
साहित्य और दलित चेतना	सं. डॉ. महीप सिंह,	
	डॉ. चन्द्रकान्त वादिवडेकर	120.00
समकालीन हिन्दी कहानी:		
स्त्री-पुरुष सम्बन्ध	सुनंत कोर	80.00
हिन्दी कहानी: समकालीन परिदृश्य	डॉ. सुखवीर सिंह	50.00
मध्यकालीन बोध: मानवीय प्रयोजन	डॉ. भगवान दास वर्मा	30.00
साहित्य, संस्कृति और सम्प्रेषण	डॉ. भगवान दास वर्मा	60.00

### नाटक/व्यंग्य/विविध

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी व्यंग्य :		
सृजन की यात्रा	सं. सुदर्शन मजोठिया,	300.00
	डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी	
शहीद ऊधम सिंह	सत्येन्द्र श्रीवास्तव	25.00
रेखाकृति	कुसुम अंसल	100.00
पालतू	भगवान अटलानी	20.00
भंस के आगे बौन	रामावतार चेतन	22.00
गंजित दर्शन	श्याम गोइन्का	40.00
रेसे जैसे कुछ हुआ ही नहीं	सरोज वशिष्ठ	75.00
श्राउड	कु. इन्दिरा	40.00



## अब नियम नहीं, नियति चाहिए

संकेतना का मार्च 99 (पूर्णांक-147) अंक मिला। पिछले अंकों में साहित्य में माफिया सरगम रहा। निश्चित रूप से बहुत-सी सच्चाइयों को पढ़कर कुछ लोगों में ईमानदारी की भावना कौंध गई होगी। लेकिन इस अंक में 'पुरस्कारों को पारदर्शी कैसे बनाया जा सकता है' पर जो सामग्री दी गई उससे कोई ठोस निष्कर्ष सामने नहीं आ रहा।

करीब-करीब सभी लेखकों ने अपना-अपना रोना रोया है। जो लोग पुरस्कार डकार गए हैं उन्होंने भी यही स्वीकार किया कि पुरस्कार बिना जान-पहचान या बिना किसी हितैषी की सिफारिश के मिल नहीं सकता। पुरस्कार यश का एक अंग है। यश के प्रचार-प्रसार में भी वहीं माफिया (सचिवों, निर्णायकों, अफसरों, मित्र विद्वानों आदि का) काम करेगा जो किसी कृति को पुरस्कृत करवाता है। ऐसी स्थिति में हेतु भारद्वाज का यह कहना "बहुत जरूरी है कुछ दिन के लिए पुरस्कार बन्द कर दिए जाएं" समस्या का निदान नहीं हो सकता। जहां तक जनमत, पाठकों या लेखक समूह को निर्णायक बनाने की बात है तो वह भी ठीक नहीं क्यों कि यदि ये निर्णायक बना दिए गए तो इनकी भी खरीद-फरोख्त होने लगेगी जैसे राजनीति में होती है। जो लोग नियमों को संशोधित करके संतुष्ट होना चाहते हैं वे भूल रहे हैं कि बेईमान कोई न कोई तरीका निकाल ही लेता है। अन्ततः कमलेश सचदेव का ही कहना सही है कि "कागज पर छपे नियम आवाज़ नहीं उठा सकते। समस्या नियमों के होने की नहीं, उनका पालन होने की है।" नियम तो इतने हो गए हैं कि अब हमें नियम नहीं, नियति चाहिए। लोग अपना-अपना गेबां झांक कर देखें कि वे कितने ईमानदार हैं।

वीरेन्द्र आस्तिक

एच-60, गंगा विहार, कानपुर

## कोई पुरस्कार विवाद से परे नहीं

संकेतना का नया अंक (पूर्णांक 147) पाकर प्रसन्नता हुई। साहित्यिक पुरस्कारों पर आपका विचार गंभीर है। पुरस्कारों की प्रक्रिया को अधिक पारदर्शी एवं विश्वसनीय बनाया जाना चाहिए—इससे कौन इनकार करेगा? पर होता क्या है? गुटबंदी, धांधली एवं भाईचारा। क्या ऐसा कोई पुरस्कार हमारे देश में है जो वाद-विवादों से परे हो? कोई भुक्तभोगी पुरस्कृत हस्ती ही कह सकती है कि सचमुच होता क्या है। आप कुछ पुरस्कृत-अपुरस्कृत लेखकों की रायें भी मंगवाइएगा। तभी पहचान पाएंगे कि कौन कितने पानी में है।

वी.डी. कृष्णन नम्पियार

विलूवाथु कावुभगम, तिरुवल्ला (केरल)

## माफिया राज की अपसंस्कृति

'साहित्य में क्या माफिया सरगम है?' संकेतना की ओर से यह मुद्दा उठाकर जिस साहस, निष्पक्षता तथा चिंता का परिचय दिया गया है, वह न केवल आदरणीय है बल्कि आज के जमाने के साहित्य में फैल चुके पूरे गिरोह को बेनकाब करने की एक दुर्लभ पहल भी है। इस मुद्दे पर बहस में भाग लेकर दर्जन साहित्यकारों-पाठकों ने जिस मानवीय तथा साहित्यिक-सामाजिक चेतना का परिचय दिया है वह निस्संदेह माफियाई संस्कृति में फल-फूल रहे दलालों, चापलूसों, घासलेटी साहित्यकारों के हौसले पस्त करती है। इस बहस में भाग लेने वाले तमाम साहित्यकारों-पाठकों के प्रति आभार व्यक्त करना आवश्यक है उससे कहीं अधिक 'संकेतना परिवार' को बधाई देने की जरूरत है जिन्होंने एक ऐसा मुद्दा उठाया जिसकी पीड़ा से ज्यादातर साहित्यकार पीड़ित थे मगर अपनी पीड़ा को वाणी नहीं दे पा रहे थे। कल तक के इक्का-दुक्का माफिया आज बहुतायत में पाए जाने लगे हैं। हर कमजोर

को दबाना, अनुचित तरीके से लाभ अपने सहकर्मी के साथ मित्रता का रचकर नुकसान पहुंचाना आदमी के चेहरे का यह धिनौना सच अब मार्ग और सामान्य हो चुका है। मगर साहित्य लेकर पत्रकारिता, काव्य सम्मेलन, मुद्रा से लेकर धार्मिक प्रवचन-सत्संग और से लेकर सामाजिक-धार्मिक आयोजनों तक तत्कालों की ही चलती है। अपने प्रति को उखाड़ फेंकने की चालें चलना बात दी चुकी है। आज कहां नहीं है राजा। राजनीति में तो यह धिनौना अखियाय कर ही चुका है, मगर अब में सक्रिय माफिया भी कम धिनौने लगे

रचनात्मक सृजन, लेखन, कि

संसार इतना गंदा हो जाएगा, सहसा नहीं होता। मगर 'गुट' जब गिरोह का संपादकीय के तहत संकेतना ने माफिया के खिलाफ ऐलाने जंग करके पर्दाफाश का जो बीड़ा उठाया है, वह निस्संदेह के माहौल में वंदनीय है।

अनामी शरण

मयूर विहार, फेज-3, दिल्ली

## संस्कृतिकर्मियों को गिरेबान में डालने की जरूरत

साहित्य से जुड़े लोगों के दिमाग प्रश्न वर्षों से घूमते रहे हैं, उन्हें संकेतना केन्द्र में खड़ा कर दिया है। आपने संकेतना में कितना सही लिखा है कि संस्कृति की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न लगे हैं। से ज्यादा दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति कोई नहीं आज इस पूरे तबके को अपने निमित्त झांक कर देखने की जरूरत है।

कमलेश सचदेव के लेख में पूरे की चयन प्रक्रिया पर अच्छी खोजें गई हैं पर यह स्पष्ट है कि वह कागज पर ही है। वास्तव में चयन

तब हो  
वाली  
करता  
रिमोट  
है जिस  
तो पड़  
कितानें  
पुरस्कार  
लावे  
पुरस्कार  
उसने  
यह ला  
रहा था  
ला दिये  
यह ब  
मैं  
छापने व  
के लिए  
सच कह  
फिर भी  
हर युग  
और ये  
स  
यह अधि  
है। आप  
मिलने व  
परवाह



तरह होता है जो शायद राजनीति में होने वाली बहुत बड़नाम सौदेबाजी को भी मात करता है। कहीं न कहीं इन ठेकेदारों का रिमोट कंट्रोल प्रकाशकों पर भी काम करता है जिससे प्रतिभाशाली रचनाकारों की कृतियां तो पड़ी रह जाती हैं और निहायत लचर किताबें न सिर्फ प्रकाशित होती हैं बल्कि पुरस्कार के लायक भी 'समझ' ली जाती हैं।

राकेश भारतीय

एफ-117, प्रगति विहार हास्टल,  
लोदी रोड, नई दिल्ली

### लावे को सतह पर ला दिया है

'संचेतना' ने अपने पिछले अंक में पुरस्कारों के संबंध में जो मुद्दा उठाया है उसने हिन्दी जगत में सनसनी फैला दी है। यह लावा भीतर-भीतर लम्बे समय से उबल रहा था, आपने इसे दिशा देकर सतह पर ला दिया है। हार्दिक बधाई!

एन. सिंह

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,  
देवबंद (उ.प्र.)

### यह बीड़ा उठाए रखिए

मैंने लिखने का साहस किया और आपने छापने का! सच कहूं, यह दौर सुविधाएं पाने के लिए बिछ-बिछ जाने वालों का है। इसलिए सच कहने का साहस दुर्लभ होता जा रहा है। फिर भी हताशा इसलिए भी नहीं आती कि हर युग में ऐसे लोग मुट्ठीभर ही रहे हैं। और ये ही परम्परा बनते हैं, कबीर जैसी।

साहित्य माफियाओं के विरुद्ध आपका यह अभियान आपके लिए भी नुकसानदायक है। आपको अब कोई बड़ा पुरस्कार नहीं मिलने का, हां! क्या कहा! आपको इसकी परवाह ही नहीं! तब तो ठीक है। वरना

पुरस्कार के लिए तो लोग पता नहीं क्या-क्या कर बैठें।

बहरहाल, एक बार फिर हिम्मत के साथ सच कहने का—कहते रहने का जो बीड़ा आपने उठा लिया है, उसे उठाए रखिए। हम लोग हैं पीछे। 'जोर लगा के हड़याऽऽऽ' कहते हुए!

गिरीश पंकज

जी-31, नया पंचशील नगर, गयपुर (म.प्र.)

### पुरस्कार हमेशा मित्रता या गुप से ही निर्णीत नहीं होता

संचेतना का मार्च '99 का अंक मिला है इस अंक में पुरस्कारों की प्रक्रिया और इनकी विश्वसनीयता आदि को लेकर कुछ लेखकों के जो विचार प्रकाशित किए गए हैं, उनमें द्रोणवीर कोहली के विचार भी 'धूमिला छवि पुरस्कारों की' उपशीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। श्री कोहली लिखते हैं— 'अभी पिछले दिनों बिहार से मुझे 'चौखट' उपन्यास के लिए 'राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह पुरस्कार' दिए जाने की सूचना मिली। मैं हैरान हू कि मेरा कौन ऐसा मित्र है जिसने मेरे नाम की संस्तुति की।'

कृपया श्री कोहली को बता दिया जाए कि सिर्फ मित्रता पर ही पुरस्कारों के लिए अनुशंसाएं नहीं होतीं। उनकी अनुशंसा मैंने की थी और श्री कोहली से मेरा परिचय भी नहीं है। वे शायद मुझे जानते भी न हों। उनका 'चौखट' उपन्यास निश्चय ही अच्छा उपन्यास है, इसलिए मैंने पुरस्कार-हेतु अनुशंसा की।

पुरस्कार हमेशा मित्रता या 'गुप' से ही निर्णीत नहीं होता।

रामधारी सिंह दिवाकर

निदेशक

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद

(उच्च शिक्षा विभाग, बिहार सरकार)

आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग

पटना-800 004

संचेतना के आगामी अंक में

### हिन्दी मानस और नारी लेखन

किसी भी समाज का मानस लम्बी अवधि में उसके धार्मिक/सांस्कृतिक संस्कारों, समाज को नियंत्रित करने वाली विधियों और फिर सामाजिक अन्तर्सम्वन्धों से बनते और पुष्ट होते हैं। अमृश्य समझी जानी वाली जातियों के सम्वन्ध में यही हुआ और नारी के सम्वन्ध में भी।

आज हिन्दी में लेखिकाओं द्वारा रचित साहित्य गुण और मात्रा की दृष्टि से उस स्थिति में है जिसे उपलब्धि की श्रेणी में रखा जा सकता है। किन्तु क्या हिन्दी का (पुरुष) मानस उसे पूरी सहजता से ग्रहण कर पा रहा है? क्या पुरुष अहमन्यता यहां भी आड़े आती है? हिन्दी के बहुत से आलोचक/समीक्षक/लेखक कभी उदारता, कभी कृपा, कभी शोषण और कभी बहुत नाक-भौं चढ़ाते हुए इसकी चर्चा करते हैं। ऐसी मानसिकता की चरम विकृति का परिचय देते हुए कुछ लोग यह भी कह देते हैं कि अनेक लेखिकाओं की चर्चा उनके नारी होने के कारण ही अधिक होती है।

क्या नारी लेखन की चर्चा और उसकी सहज स्वीकृति में वही सदियों पुराना मानस काम करता है जो नारी को सभी प्रकार की जीवन स्थितियों में पुरुष से दोयम दर्जे का स्थान देता है?

संचेतना के आगामी अंक में इस विषय पर प्रबुद्ध जनों के विचार।

साथ ही

कृती साहित्यकार डा. रामदरश मिश्र के अपनी आयु के 75 वर्ष पूरे कर लेने पर उनके सृजन को समर्पित विशेष सामग्री।



## हीरा डोम अछूत की शिकायत

सितम्बर 1914 की 'सरस्वती' में पटना के हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' प्रकाशित हुई। यह भोजपुरी में है और सम्भवतः उस भाषा में लिखी हुई यह एकमात्र कविता है जो आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। यह कविता उनके पास भेजी गई थी क्योंकि कविता के ऊपर कोष्ठकों में छपा है—'प्राप्त'। हिन्दी में इससे पहले (और बाद को भी) किसी डोम बन्धु की लिखी कविता देखने में नहीं आई।

हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी,  
हमनी के सहेबे से मिनती सुनाइबि।  
हमनी के दुख भगवनओं न देखताजे,  
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि।  
पदरी सहेब के कचहरी में जाइबिजां;  
बेधरम होके रंगरेज बनि जाइबि।  
हाय राम! धरम न छोड़त बनत बाजे,  
बेधरम होके कैसे मुंहवा देखाइबि॥1॥  
खंभवा के फारि पहलाद के बंचवले जां,  
ग्राह के मुँहे से गजराज के बचवले।  
धोती जुरजोधना कै भइआ छोरत रहै,  
परगट होके तहां कपड़ा बढ़वले।  
मरले रवनवां के पलले भभिखना के,  
कानी अंगुरी पै धैके पथरा उठवले।  
कहंवा सुतल बाटे सुनत न बाटे अब,  
डोम जानि हमनी के छुए से डेरइले॥2॥  
हमनी के राति दिन मेहनत करीलेजां,  
दुइगो रुपयवा दरमहा में पाइबि।  
ठकुरे के सुखसेत घर में सुतल बानी,  
हमनी के जोति जोति खेतिया कमाइबि।



हकिमे कै लसकरि उतरल बाने  
जेत उहओं बेगरिया में पकरल जाई  
मुंह बान्हि ऐसन नोकरिया करत बाने  
ई कुलि खबरि सरकार के सुनाइबि।  
बभने के लेखे हम भिखिया न मांगव  
ठकुरे के लेखे नहि लउरि चलबि।  
सहुआ के लेखे नहि डांडी हम मारव  
अहिरा के लेखे नहि गइया चोराइबि। (चराइबि)  
भंटऊ के लेखे न कबित हम जोरव  
पगड़ी न बान्हि के कचहरी में जाइबि।  
अपने पसिनवा कै पइसा कमाइबि।  
घर भर मिलि जुलि बांति चोंटि खाइबि।  
हड़वा मसुइया कै देहियां है हमनी के  
औकरे के देहियां बभनओं के बाने  
ओकरा कै घरे घरे पुजवा होखत बाने  
सागरे इलकवा भइलै जजमाने  
हमनी के इनरा के निगिचे न जाइले  
पांके में से भरि भरि पिअतानी पाने  
पनही से पिटि पिटि हाथ गोड़ तुरि दाने  
हमनी के एतनी काही के हलकानी?



# हिन्दी मानस और दलित लेखन

इस स्थिति के प्रति कुछ संतोष व्यक्त किया जा सकता है कि आज हिन्दी संसार में दलित लेखन को लेकर अच्छी-खासी चर्चा है और इस चर्चा में दलित वर्ग से आए हुए लेखक/बुद्धिजीवी बहुत खुलकर भाग ले रहे हैं, उन्हीं के साथ कुछ गैरदलित लेखक भी पूरी संजीदगी के साथ इस चर्चा के भागीदार बन रहे हैं। यह अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण बात है कि दलित वर्ग समाज में अपना योग्य स्थान प्राप्त करने, अपने प्रति सहस्राब्दियों से निरन्तर किए जाने वाले अन्याय का प्रतिकार करने और यथास्थिति बनाए रखने वाले सभी प्रयासों को पूरी तरह निष्फल करने के लिए जागरूक हो रहा है। इस जागरूकता की प्रतिछाया राजनीति के साथ ही साहित्य और संस्कृति क्षेत्र की गतिविधियों में उभर कर आए, यह स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी।

किन्तु हिन्दी समाज (पूरे भारतीय समाज) के उस मानस में कैसे सेंध लगे जो कितनी ही सदियों से लोहे और पत्थर की अभेद्य दीवार की तरह अविचलित खड़ा है। इस मानस में दलित वर्ग का बिम्ब एक ऐसे घृणित व्यक्ति का बिम्ब है जिसे सिर्फ गाली का पर्याय ऐसे बनाया जा सकता है। चमार, भंगी, चांडाल आदि सदियों से केवल दलित जातियां ही नहीं हैं, वे ऐसी गालियों के रूप में प्रयुक्त होती हैं जिन्हें सर्वर्ण वर्ग के प्रबुद्ध और प्रगतिशील व्यक्ति भी बोलते तनिक भी हिचकिचाहट नहीं अनुभव करते हैं, आज भी।

साहित्य से एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। जयशंकर प्रसाद का नाटक 'चंद्रगुप्त' महत्व और कलेवर की दृष्टि से सर्वाधिक स्वीकृत और चर्चित नाटकों में है। यह नाटक देश-विदेश के हिन्दी पाठ्यक्रम में अनेक दशकों से लगा हुआ है। इस नाटक की विषयवस्तु क्या है? चाणक्य/चंद्रगुप्त के समय इस देश में ब्राह्मण-बौद्ध विवाद और कलह अपने चरम पर था। समाज के पिछड़े वर्गों, शूद्रों में बौद्ध धर्म अपने ऊंच-नीच और वर्ण-व्यवस्था विरोधी मत के कारण लोकप्रिय हुआ था और राजसत्ता भी इस वर्ग के हाथों में आ गई थी जिसे सहन कर पाना वर्णव्यवस्था समर्थक चाणक्य के लिए विष-घूंट की तरह था। चाणक्य जैसे व्यक्ति के लिए सिकन्दर अथवा सैल्यूकस जैसे विदेशी इतने घृणास्पद नहीं थे, जितना नीचकुल में जन्मा और बौद्ध धर्म का अनुयायी मगध सम्राट नंद था। प्रसाद का यह नाटक वर्ण-व्यवस्था

पोषक ब्राह्मण को महिमामंडित तो करता ही है, बौद्ध और शूद्र को पृष्ठ दर पृष्ठ अपशब्दों और गालियों से प्रताड़ित करता है। नंद के सामने खड़ा होकर चाणक्य घोषणा करता है—“समय आ गया है कि शूद्र राजसिंहासन से हटाए जाएं और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त हों।”

ऐसे कटु वचन सुनकर जब नंद किसी प्रतिहार को आज्ञा देता है कि इसकी (चाणक्य की) शिखा पकड़कर इसे बाहर करो तो चाणक्य की प्रतिक्रिया है—“खींच ले ब्राह्मण की शिखा! शूद्र के अन्न पर पले हुए कुत्ते! खींच ले। परन्तु यह शिखा नंद कुल की काल-सर्पिणी है।” एक स्थान पर सुवासिनी अमात्य गक्षस को बताती है कि चाणक्य ने कठोर व्यंग्य करते हुए उससे कहा—“वेश्याओं के लिए भी धर्म की आवश्यकता थी, चलो अच्छा हो हुआ, ऐसे धर्म (बौद्ध धर्म) के अनुकूल पतितों की भी कमी नहीं है।”

यह नाटक बार-बार बौद्ध धर्म का खंडन करता है, उसे वेश्याओं, पतितों और शूद्रों का धर्म बताता है। चाणक्य की इस मान्यता का पोषण इस नाटक द्वारा होता है कि राष्ट्र का शुभचिंतन केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं... बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार के लिए पूर्ण नहीं हो सकती। नाटक की ध्वनि यह है कि बौद्ध होना, ब्राह्मण-विरोधी होना और देशद्रोही होना एक ही बात है।

प्रसाद का यह नाटक केवल एक कृति ही नहीं है, एक मानसिकता है जिससे हिन्दी मानस ग्रसित है। ऐसी मानसिकता को दलित साहित्य के प्रति सहृदय और संवेदनशील बनाना कितना दूभर कार्य है जिसके लेखक शूद्र हैं और (अधिसंख्य) बौद्ध हैं।

इसलिए मुझे यह बात अधिक महत्वपूर्ण नहीं लगती कि आज चारों ओर दलित साहित्य की चर्चा हो रही है, अथवा उसके प्रति बड़े-बड़े सम्मानित आलोचक, समीक्षक और प्राध्यापक अपनी सद्भावना व्यक्त कर रहे हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि इस मानसिकता से कैसे छुटकारा पाया जाए! कैसे तुलसीदास से लेकर जयशंकर प्रसाद तक द्वारा रचित उस साहित्य से हिन्दी की नई पीढ़ी को बचाया जाए जो वर्ण-व्यवस्था, ऊंच-नीच, सर्वर्ण-शूद्र, ब्राह्मण-बौद्ध (और आधुनिक संदर्भ में हिन्दू-मुसलमान) समस्या और सम्बन्धों के प्रति अपना पुगतनफकी रवैया अपनाए हुए है?

*Handwritten signature*



## डा. श्यौराज सिंह बेचैन हिन्दी मानस सहृदय नहीं है

दलित लेखन अथवा दलित वर्ग से आए लेखकों के प्रति हिन्दी मानस के सहृदय होने का कोई प्रश्न नहीं उठता। क्योंकि यह मानस खासकर साहित्य पर वर्चस्व रखने वाला मानस सवर्ण हिन्दू मानस है जिसका स्वभाव और संस्कार वर्ण-चेतना से निर्मित है। इस मानस की खूबी ही यह है कि यह लोकतांत्रिक कायदे-कानूनों से परहेज रखता है। हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध व्यक्ति संस्कृत साहित्य की उसी परंपरा से आए हैं जिसमें श्लोकों की रटन्त को विश्वगुरु होने की योग्यता माना जाता है।

हिन्दी का सवर्ण समुदाय दलितों के प्रति गहरी घृणा से भरा हुआ है। वह यदि कहीं उदार दिखता है तो वह अपनी ही स्थिति के लिए ऐसा प्रदर्शन बाहरी तौर पर करता है। वे कहीं सुधरे ही हैं तो दलितों के हक में बने कुछ संवैधानिक कायदे-कानूनों के दबाव में सुधरे हैं। परन्तु उतने नहीं सुधरे जितने कि एक लोकतांत्रिक देश के लेखकों या प्राध्यापकों को सुधरना चाहिए। उनकी प्रगतिशीलता या तो राजनैतिक स्वरूप की है अथवा अपने सवर्ण दायरों तक संकुचित।

ऐसी स्थिति में इस बात पर विचार कौन करेगा और क्यों करेगा कि हिन्दी पाठ्यक्रम में जो कुछ पढ़ाया जाता है वह न केवल सवर्ण मानसिकता से भरा हुआ होता है बल्कि दलितों के प्रति कटुता भी व्यक्त करता है।

पढ़ाने वाले सवर्ण हिन्दू ही हैं जिनका विशेषकर हिन्दी विभागों पर उस तरह का कब्जा है जिस तरह किसी के बाप-दादा विरासत में जायदाद छोड़ जाते हैं। ये लोग इतने अलोकतांत्रिक हैं कि इस बात की कल्पना भी नहीं कर पाते कि जिन सुख-सुविधाओं पर वे पसरे पड़े हैं उनमें दलितों का हिस्सा भी है... बल्कि उनके खून-पसीने से ही लहलहा रही है आपके आरामगाहों की बगीची। वे अपनी सुविधाओं को कम क्यों करना चाहेंगे? हालांकि इस वर्ण परंपरा के कारण ही दलित साहित्य की मुख्य धारा से बाहर है और नतीजा यह है कि साहित्य केवल खास जातियों के अनुभवों को ही बार-बार सामने ला रहा है। इस बहुलतावादी संस्कृतियों के देश में अनेक-रंगी फूल खिलने ही नहीं दिए जा रहे।

जब तक शैक्षिक पदों पर दलित की भागीदारी पूरी नहीं होगी, साहित्यमंचों पर आरक्षण लागू नहीं होगा, देश की साहित्य पर दी जाने वाली अनुदान पुरस्कार-राशियों में से दलितों का हिस्सा उन्हें नहीं मिलेगा, ये घोटाले चलते रहेंगे।

पाठ्यक्रम में दलित साहित्य हिन्दी वाले नहीं रख सकते क्योंकि एक तो वे अयोग्य लोग हैं, उन्होंने केवल अपने संस्कारों की

जानकारियों को अपना ज्ञान समझ लिया है; दूसरे दलितों से घृणा रखने के कारण वे उनकी रचनात्मक खूबियों से परिचित भी नहीं हैं। आज का युग विषय-विशेषज्ञता का युग है। स्पेशलाइजेशन किसी एक विषय में ही सम्भव माना जाता है। ये सब सवर्ण साहित्य के विशेषज्ञ हैं, दलित साहित्य का क ख ग नहीं जानते। तो ये क्या पाठ्यक्रम में दलित साहित्य को रखेंगे और क्या ये पढ़ाएंगे। मजबूत में ये यह करने भी लगे तो संभालेंगे कम, बिगाड़ेंगे ज्यादा। वैसे ईमानदार छात्र बनकर दलितों के बीच जाकर अध्ययन करने के बजाय ये मूर्ख गुरुओं की तरह दलित साहित्य के अधिकारी विद्वान के तम में स्वयं को पेश करेंगे जिससे दलित साहित्य के तेवर भोथरा कर दलितों के विकृत रूप में प्रस्तुत किए जाने की आशंका बढ़ेगी। दलितों के तम में फर्जी दलित कविताएं और दलित कहानियां लिख या लिखवा कर खुद का ही साहित्य कोर्स में लगा लेंगे। कुछ नहीं तो कुछ कम रचनाएं चुनकर उनका संकलन छपवा लेंगे और खुद संपादक बन जाएंगे। कुल मिलाकर दलितों की अनुपस्थिति में ये दलित साहित्य के साथ मनमाना बलात्कार करेंगे।

पिछले दिनों पाठ्यक्रम के बारे में डा. धर्मवीर ने एक सुझाव रखा था कि जिस तरह हिन्दी में सूरदास, तुलसीदास पढ़ाए जाते हैं उसी तरह 'एम इन दलित साहित्य' की डिग्रियां विश्वविद्यालयों में देने चाहिए।

हमें लगता है कि दलित साहित्य अध्ययन के लिए स्वतंत्र विभाग खोले जाएं और अछूतानंद, बिहारीलाल हरित, डा. धर्मवीर, मोहनदास नैमिशराय, कंवल भारती और ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्य में अध्ययन पर स्नातक, स्नातकोत्तर और पी-एच. डी की उपाधियां दी जाएं।

पर यह काम स्थापित सवर्ण हिन्दू क्यों करेंगे? दक्षिणपंथी सवर्ण तो खुले विरोधी होंगे ही, वामपंथी सवर्ण दलित को धकियाकर दलित नेता बन जाएंगे। उद्देश्य दोनों का दलित साहित्य को निष्कर्ष करना है।

हिन्दी का सवर्ण लेखन अपने स्वभाव के अनुसार ही दलितों से आए लेखक के प्रति हृदयहीनता प्रकट करता है। वह सहृदय नहीं सकता। यह उसकी अपनी खूबी है।

हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रम में व्याप्त इस वर्चस्ववादी मानसिकता से लोहा लेना आसान नहीं है। हिन्दी साहित्य का हिस्सा बन कर दलित साहित्य उसी तरह बहिष्कृत रहेगा जैसे हिन्दू धर्म का कर्म अंग बन कर दलित समाज रहा है। अस्तु उसे स्वतंत्र अस्तित्व देना है। वास्तविक प्रगतिशील लोग सवर्णों में से भी सहयोग कर सकते हैं। किन्तु यह संभव नहीं कि सवर्ण मानसिकता दलित लेखन को नष्ट दे पाए।



इन विपरीत परिस्थितियों में जब विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों पर दलित-विरोधी मानसिकता का हिन्दू या मुस्लिम भवर्ण बैठा हो तो दलित साहित्य अपना महत्वपूर्ण स्थान बना सकता है अथवा नहीं? इस प्रश्न का जवाब नकारात्मक नहीं हो सकता क्योंकि जीवन-साहित्य युद्धों और संघर्षों के बीच से ही निकलता है। दलित लेखकों को यह ऐतिहासिक गौरव मिला है कि वे मुक्ति-संघर्ष की चारहजार वर्ष पुरानी परंपरा में पैदा हुए हैं। उनका लक्ष्य गैर-भामूली और महान है। इसलिए यह शंका पैदा करना कि दलित साहित्य कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं बना पाएगा, गलत है। जब देश में साहित्य-संघर्षों में दलित आगे बढ़ रहा है, राजनैतिक चेतना बढ़ रही है, शिक्षा और मीडिया में वे अपनी स्थिति को लेकर अभूतपूर्व बेचैनी के दौर से गुजर रहे हैं; उधर दलितों के सिर उठाने और उनमें अधिकार-चेतना होने के कारण उन पर जुलूम बढ़ रहे हैं तो इस द्वन्द्व का नतीजा हर बार असफलताएं ही नहीं देगा। मुख्य बात यह होगी कि दलित अब की बार यह साबित करने में सफल होंगे कि वे हिन्दू धर्म का अंग नहीं हैं, वे हाशिए का समाज नहीं हैं बल्कि वे स्वतंत्र और पृथक् समाज हैं। इस पृथक्ता की धर्म, संस्कृति और साहित्य से पुष्टि होगी।

अब गैर-दलित नेतृत्व के शिक्षा-संस्थानों, पत्र-पत्रिकाओं और साहित्य-गोपक सरकारी योजनाओं से अपेक्षा इतनी है कि वे जाति विशेष के साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य कह कर लादना छोड़ें और दलितों की भागीदारी के साथ स्वयं को राष्ट्रीय स्वरूप की संस्था साबित करें। दूसरे मोर्चे पर दलित अपनी पृथक्ता को सुदृढ़ आधार दें, यही विकल्प सोचा जा सकता है। हिन्दी वालों में सुधरने की सम्भावनाएं कम हैं, वे येन-केन प्रकारेण यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं।

बदलाव भी वे इस सवर्ण से हटकर उस सवर्ण के पक्ष में ही चाहते हैं, दलितोन्मुखी परिवर्तन उन्हें मान्य नहीं है।

इसलिए जरूरी हो गया है कि दलित अपनी रचनात्मक पहचान के लिए सचेतन और सामूहिक प्रयास करें।

## डा. चमन लाल हिन्दी मानस में दलित लेखन के प्रति उत्साह है

इस समय दलित लेखन की चर्चा मराठी साहित्य तक सीमित न रहकर लगभग पूरे भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश तक व्याप्त हो चुकी है, जोकि स्वागत-योग्य स्थिति है। प्रश्न यह उठाया गया है कि भारतीय मानस और विशेषतः हिन्दी मानस का दलित लेखन के प्रति क्या रुख है? लेकिन इससे पहले प्रश्न यह बनता है कि क्या

कोई अमूर्त भारतीय मानस या हिन्दी मानस अस्तित्व में है? या फिर जिसे भारतीय मानस या हिन्दी मानस कहा जाता है, वह क्या है? क्या वह एकरूप है? उदाहरण के तौर पर अधिकांश मध्यवर्गीय हिन्दू घरों का आदर्श तुलसीकृत रामचरितमानस है, जिसका पाठ वे धार्मिक श्रद्धा-भावना से करते हैं। इस पाठ से उसके संस्कार भी बनते हैं, एक सामान्य दुकानदार या सफेदपोश हिन्दू कर्मचारी के लिए तुलसी का यह कथन कि—'ढोल गंवा शुद्ध पशु नारी ये सब ताड़न के अधिकारी' उसके संस्कारों का अंग बना हुआ है। यदि ऐसे हिन्दू या हिन्दी मानस के सामने दलित लेखन प्रस्तुत किया जाएगा तो ज़ाहिर है कि वह तो इस लेखन के खिलाफ डंडा लेकर ही खड़ा होगा। लेकिन इसी विशाल हिन्दी मानस के सामने कबीर का यह कथन कि—'तू वामन वामणी जाया/ तो आन बाट काहे नहीं आया भी काफी प्रचलित है। ज़ाहिर है कि इस कथन से प्रभावित मानस के लिए दलित लेखन वंदनीय होगा।

एक तीसरी स्थिति भी हो सकती है कि हिन्दी मानस का एक ऐसा अंश भी हो सकता है जिसके लिए तुलसीदास भी महान हैं और कबीर भी। ज़ाहिर है कि ऐसा मानस दलित लेखन के प्रति दुविधाग्रस्त होगा और यदि उसे इसके प्रति नज़रिया स्पष्ट बनाने को कहा जाएगा तो ज्यादा संभावना है कि वह तुलसीदास की ओर ज्यादा ढलेगा और कबीर की ओर कम अर्थात् उसे दलित लेखन सौन्दर्यविहीन लेखन लग सकता है।

वास्तव में भारतीय या हिन्दी मानस को एक अमूर्त इकाई के रूप में देखना ही गलत है। सही मायनों में हर स्थिति में वर्चस्ववादी सामाजिक राजतंत्र समाज के सांस्कृतिक मूल्यों को निर्धारित व नियंत्रित करती है और यह भी उतना ही सच है कि इन वर्चस्ववादी शक्तियों व इनके द्वारा नियंत्रित सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति हर युग व हर स्थिति में प्रतिरोध भी ज़रूर होता है, क्योंकि मानव सभ्यता व संस्कृति का अब तक का इतिहास वर्चस्ववादी सामाजिक शक्तियों द्वारा अल्पमत में होकर भी बहुमत व बहुजन का सामाजिक आर्थिक-सांस्कृतिक शोषण किया जाता है व बहुमत व बहुजन को उसके उचित मानवीय सम्मान व गरिमा से वंचित रखा जाता है। और ऐसी वर्चस्ववादी शक्तियों के विरुद्ध कभी सार्ताकस विद्रोह करते हैं, कभी कबीर तो कभी-कभी आधुनिक काल में दलित लेखन या इससे पहले प्रविशील या जनवादी लेखन या दलित लेखन के साथ ही नारी केन्द्रित लेखन या विश्व में ब्लैक लेखन लेखन के उपरोक्त सभी रूप वर्चस्ववादी विरुद्ध प्रतिरोध का लेखन करते हैं, प्रतिरोध के लेखन का वर्चस्ववादी शक्तियों द्वारा भी ज़बर ज़बर प्रतिरोध किया जाता है और इस घात-प्रतिघात द्वारा किसी भी समय के मानस के संस्कार बदलते व पुनः निर्धारित



होकर नया रूप लेते हैं। दलित लेखन के प्रति यदि तथा कथित हिन्दी मानस, जो वास्तव में वर्चस्ववादी व शोषक सामाजिक शक्तियों द्वारा नियंत्रित मानस है, का रूख नकारात्मक रहा है, यदि उसका विश्वविद्यालयों या सांस्कृतिक केन्द्रों-साहित्य अकादमियों आदि से उचित स्वागत-सम्मान नहीं किया गया है तो यह यथार्थ को समझी जाने वाली स्थिति है। ज्यों-ज्यों दलित लेखन अपनी ऊर्जा और सार्थक्य से अपने प्रतिरोध को तोत्र कर रहा है, त्यों-त्यों वर्चस्ववादी शक्तियों के किले में संध लग रही है और समाज में दलित लेखन को व्यापक मान्यता मिल रही है। हिन्दी मानस जिसे आम तौर पर प्रतिक्रियावादी मानस समझा जाता है, जिसने बीस वर्ष पहले दलित लेखन की चर्चा को खारिज कर दिया था, आज उसी हिन्दी मानस में अनेक स्तरों पर टेसे केन्द्र बन कर हैं, जहां दलित लेखन ने अपनी पहचान स्थापित कर ली है। साहित्य अकादमी पुरस्कार दलित लेखन पर मिलने शुद्ध हुए हैं। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय व इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय नई दिल्ली ही नहीं, देश के अनेक विश्वविद्यालयों में दलित लेखन पर गोष्ठियां हो रही हैं, उसे सिलेबाद में शामिल किया जा रहा है और उस पर व्यापक शोध भी करवाई जा रही है।

पिछले दो तीन सालों में कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला हजारीबाग, जालंधर, दिल्ली आदि अनेक जगहों पर दलित लेखन पर गंभीर गोष्ठियां हुई हैं व इस समय सह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी मानस समूचे रूप में या व्यापक रूप में दलित लेखन के प्रति उदासीन है। वर्तन स्थिति यह है कि हिन्दी मानस के बड़े अंश में दलित लेखन के प्रति उत्साह व उत्सुकता है तथा यदि दलित लेखन अपनी वस्तु के साथ-साथ कलापक्ष को भी साथ लेता है तो संभवतः इक्कीसवीं सदी का पहला मात्र दलित लेखन के वर्चस्व का होगा। दलित लेखन के सामने भी इस समय कई चुनौतियां हैं, उसे केवल वर्चस्ववादी ब्राह्मणवादी उत्थजाति अभिमान की शक्तियों का ही सामना नहीं करना है, बात एक महान मानवतावादी लेखन परंपरा के अंग के रूप में जातिविहीन शोषणविहीन व पूरी मानवता के सम्मान व गरिमा पर आधारित सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों का सृजन भी करता है, जिन मूल्यों ने पुराने वर्चस्ववाद को समाप्त कर सारे मानवतावाद का वर्चस्व स्थापित करना है। यह गंभीर व दूर आंखों का लक्ष्य है, जिसमें केवल दलित लेखन ही नहीं, नाटीवादी लेखन प्रभावशील जनवादी। क्रांतिकारी लेखन भी दलित लेखन के सहभागी वह संगी है। दलित लेखन को संकीर्णता से बच कर सच्चे मानवतावाद का फंडाबरदार बनना है, जिसके लिए भूमि उर्वर है और समय उपयुक्त।

## ओमप्रकाश वाल्मीकि हिन्दी समीक्षा और दलित साहित्य

हिन्दी समीक्षा अपनी त्रासद स्थितियों से गुजर रही है। कई प्रकार के व्यामोह और भ्रम के आवरणों में लिपटी यह समीक्षा साहित्यिक उपलब्धियों के सकारात्मक रूप को स्थापित करने के बजाय नकारात्मक को ही बढ़ा रही है। समीक्षकों की राय और मान्यताओं में विरोधाभास भरे हुए हैं। 'उत्कृष्टता' एवं 'पवित्रता' के नाम पर जातीय संकीर्णता और साम्प्रदायिक मूल्यों को स्थापित किया जा रहा है।

इस आलोचना में प्रमुख तर्क होता है मुख्यधारा का, जो वास्तविक अर्थों में सर्वगण मुख्य धारा है, जो अपनी रचनात्मक स्वायत्तता लेकर सदैव आत्ममुग्ध होती रही है। इस आत्ममुग्धता की सबसे प्रबल मान्यता है कि जिसे वह अपना सौंदर्य-बोध समझती है, वही सार्वभौम मूल्य होता है। कला और शिल्प के प्रति भी यही धारणा है।

मुद्राराक्षस भी मुख्य धारा को सर्वगणों की दुनिया मानते हैं। उस कहना है कि 'यह साहित्य की मुख्यधारा अंततः सर्वगण पुंश्रु साहित्यकारों की ही दुनिया है और स्त्री जाति या दलित जातियों की रचना संसार को अलग से मान्यता नहीं देती। ज्यादा से ज्यादा उन्हें अपनी एक छठी उंगली की तरह स्वीकार कर सकती है जिस रक्त उसका शरीर ही देता है।'

इस मुख्य धारा पर टिप्पणी करते हुए राजेन्द्र यादव कहते हैं कि 'स्वतंत्रता से पहले, लगभग 90 प्रतिशत हिन्दी साहित्य की मुख्य धारा पटना, बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ, इन्हीं चार-पांच शहरों तक सीमित रही है...सनातनता में रहने वालों की यह कैसी असंवेदनशीलता है कि आसपास कुछ भी घटित होता रहे, मुख्यधारा का साहित्य दसियों साल उसका नोटिस ही नहीं लेता...शायद यही कारण है कि अधिकांश हिन्दी लेखन या तो जीवनहीन है या भयानक रक्ताल्पता का शिकार। अपनी इस कमजोरी को वह बौद्धिक घटाटोप से पूरा करता है।'

इसीलिए हिन्दी समीक्षा की यह एक वैचारिक त्रासदी है कि विकृति की भाषा गूढ़, आध्यात्मिक तत्वज्ञान से भरी हो, वह समीक्षकों को श्रेष्ठ लगती है। और जिसमें आम आदमी का साधारण रोजमर्रा की भाषा में, अपना दुख-सुख, व्यथा व्यक्त कर रहा है, वह समीक्षकों को कमजोर, कच्चेपन की रचना लगती है। जिसमें साधारण जीवन की साधारण भाषा हो, वह निकृष्ट है। हिन्दी समीक्षा की वास्तविकता है, जो साहित्य की व्यापकता को नकार रही है।

ऐसे अनेक समीक्षक हिन्दी में स्थापित हुए जो अपने निजी स्वार्थों के दायरों में बंधकर पारस्परिक हितों को ही सर्वोपरि मानते हैं।



है। ऐसे ही समीक्षकों ने दलित साहित्य और दलित चेतना का विरोध कर मानव मूल्यों का मखौल उड़ाया। 'नया पथ' (अंक 26, जनवरी 1998) में प्रकाशित 'बातचीत: दलित-चेतना और दलित साहित्य' में डा. नामवर सिंह से काशीनाथ सिंह, दुधनाथ सिंह, परमानन्द श्रीवास्तव और सुधीर कुमार सिंह की बातचीत में यह तथ्य उभर कर आता है। इस बातचीत की 'भाषा' ध्यान देने योग्य है। हिन्दी साहित्य के ये विद्वान, समीक्षक, मठाधीश जिस भाषा में, जिस लहजे में बोल रहे हैं, वह हिन्दी समीक्षा का निकृष्टतम रूप है।

साहित्य के माध्यम से हमें समाज और वस्तुजगत को वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय ढंग से समझने की कोशिश अथवा मनुष्य की स्वतंत्रता, गरिमा और व्यक्तित्व का विकास करने के लिए समान अधिकारों जैसे मानवीय मूल्यों की पक्षधरता स्थापित करनी चाहिए थी। लेकिन हुआ ठीक इसके विपरीत। जनवादी और प्रगतिशील मूल्यों के नाम पर कुछ ऐसे मूल्यों का प्रचार-प्रसार होता रहा जो बाह्य रूप में तो बहुत ही आकर्षक लग रहे थे, लेकिन भीतर ही भीतर वे सामंती, पूंजीवादी एवं वर्ण-व्यवस्था-समर्थक मूल्यों की ही स्थापना कर रहे थे। परिवर्तन की प्रक्रिया लगातार धीमी पड़ रही थी जो यथास्थिति बनाए रखने की पक्षधर थी।

ऐसे ही समीक्षकों ने उन रचनाओं और कृतियों को स्थापित कर साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों में शामिल किया जो मानवीय मूल्यों के नकारात्मक पक्ष को उजागर करती थीं। चाहे प्रेमचन्द की कहानी 'कफन' हो या अमृतलाल नागर का उपन्यास 'नाच्यो बहुत गोपाल', निराला की कविता 'राम की शक्ति पूजा' हो या फिर गिरिराज किशोर का उपन्यास 'परिशिष्ट'।

ओमप्रकाश ग्रेवाल का मानना है कि 'आठवें दशक से पहले सभी साहित्यकार इस बात के कायल हो गये हैं कि किसी भी साहित्य-कृति को समझने के लिए इतना भर जरूरी है कि हमारे सामने पृष्ठ पर जो शब्द हैं, उनके समुचित प्रभाव को अवधानपूर्वक ग्रहण किया जाये तथा उनके सामूहिक अर्थ व्यापार से जो विशिष्ट अंतर्ग्रथित संरचना उभरकर आती है उसे पहचान लिया जाए।'

इस पद्धति के आधार पर लिखी गई समीक्षाएं उन तमाम स्थितियों और अनुभवों को नजरअन्दाज करती रही हैं जो किसी भी रचना के परिवेश और वैचारिक मूल्यों को उजागर करती हैं। किसी भी रचनाकार के अनुभवों की विशिष्टता को समझने के लिए आवश्यक है उसके जीवन से संबंधित अन्य जानकारी भी हासिल की जाए। किसी रचनाकार को प्रेरित करने वाले मुख्य कारकों, उसके उद्देश्यों, उसके अपने निजी जीवन के अंतर्द्वंद्वों, संघर्षों को अनदेखा करके किया गया मूल्यांकन गलत निष्कर्षों को जन्म देता है। हिन्दी समीक्षा इन खतरों से ठकराने से डरती रही है। इसीलिए हिन्दी में उन रचनाकारों को निकृष्ट

माना गया है जो वर्तमान के अंतर्द्वंद्वों और संघर्षों से ठकराने का साहस पैदा करते रहे हैं।

इसका प्रभाव पाठक पर भी नकारात्मक ही पड़ता है। वह भी समीक्षक के नजरिये को ध्यान में रखकर रचना के कथ्य और कथन को अलग-अलग देखने की कोशिश नहीं करता। किसी भी कृति में संप्रेषित होने वाले अनुभव की सार्थकता को ठीक से समझने के लिए हमें उसकी आंतरिक संरचना के विभिन्न घटकों पर ध्यान केंद्रित करके उनके परस्पर संबंधों को अपनी कल्पनाशक्ति, संवेदनशीलता तथा विश्लेषण-बुद्धि के सहारे समझकर उसके वैचारिक पक्ष और सामाजिक संवेदनाओं को उजागर करना होता है।

हिन्दी समीक्षकों ने साहित्य और राजनीति का एक ऐसा भ्रम पैदा कर दिया है जो किसी भी रचनाकार को वर्तमान के संघर्ष से विमुख कर देता है। राष्ट्रीय फलक पर होने वाली महत्वपूर्ण घटनाओं, जिनसे समाज और राष्ट्र की विकास-यात्रा प्रभावित होती है, को अनदेखा कर देने की प्रवृत्ति हिन्दी लेखकों में विद्यमान है। इक्का-दुक्का रचनाकारों को छोड़कर अधिकांश रचनाकार अतीत से बंधे दिखाई पड़ते हैं। ऐसे ही समीक्षक साहित्यिक मूल्यों को सामाजिक मूल्यों से भिन्न मानते हैं।

ओमप्रकाश ग्रेवाल कहते हैं कि 'साहित्यिक मूल्यों को सामाजिक मूल्यों से इस आधार पर भिन्न बनाया जाता है कि साहित्य में जिन मानवीय मूल्यों की स्थापना होती है, उनमें सत्य और शिव का अनूठा एकाकार हो जाता है। कोई भी सफल साहित्य कृति एक ऐसे स्वतः संपूर्ण संसार की पुष्टि करती है। जहाँ पाठक सामाजिक बंधनों, पक्षपातों एवं संकल्पों से जकड़े रहते हैं, शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से कृति द्वारा संप्रेषित मानवीय अनुभवों को ग्रहण नहीं कर पाते हैं।'

हिन्दी साहित्य समीक्षा का यह दृष्टिकोण साहित्य को एकांगी बनाता है क्योंकि साहित्यकार का परिवेश सामूहिक प्रयासों से बदलता रहता है। सामाजिक व्यवस्था द्वारा निर्मित इस परिवेश को बदलने के संघर्ष लगातार चलते रहते हैं। कभी यह गति तीव्र हो जाती है, कभी धीमी। यह एक जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया है। ऐतिहासिक प्रक्रिया के इस द्वन्द्व को समझने के लिए जहाँ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की वैज्ञानिक पद्धति कारगर साबित हुई है, वहीं भारतीय संदर्भों में डा. अवेडकर और ज्योतिबा फुले के जीवन-संघर्ष ने दलित चेतना को जन्म दिया है। इसी संघर्ष और दलित चेतना को आधार बनाकर दलितों ने ब्राह्मणवादी वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध संगठित होकर कड़ा संघर्ष किया है जिसकी वैचारिक अभिव्यक्ति दलित साहित्य के रूप में उभरकर साहित्य जगत में जीवंतता ले आई है। यह केवल साहित्यिक मूल्यों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि एक आन्दोलन के रूप में सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक जीवन को भी प्रभावित कर रही है।

साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की पक्षधरता के पीछे भी यही दृष्टिकोण है। हिन्दी समीक्षा के सामंती मूल्य साहित्य को एकांगी बना रहे हैं।



साहित्य, समाज, राजनीति एक दूसरे के पूरक हैं। समाज में व्याप्त पूर्वाग्रहों, खोखले आदर्शों, मानव-विरोधी मूल्यों तथा असमानता पर आधारित समाज-व्यवस्था का विरोध दलित चेतना के प्रमुख सरोकारों में है। इसीलिए अपने पूर्व साहित्य की पुनर्व्याख्या आवश्यक है क्योंकि समाज-व्यवस्था की जड़ें जीवन की गहरी पतों में छिपी हुई हैं।

पारंपरिक समीक्षा में अंतर्निहित मानदंडों से दलित साहित्य की समीक्षा संभव नहीं है। इस पर अनेक बार प्रश्न उठे हैं। परंपरावादी समीक्षक इस आरोप पर तिलमिलाते हैं। डा. गजानन चहवाण का कहना है कि 'काव्य समीक्षा की प्रभावकारिता और उसके लिए प्रयुक्त उपकरणों का निर्णय एवं उल्लेख कविता के स्वस्थ विकास की दृष्टि से ही नहीं, कवि की अलग पहचान की दृष्टि से भी आवश्यक होता है। समीक्षा से सामान्यतः यह अपेक्षा की जाती रही है कि वह साहित्य लता की पोषिका बने। समीक्षा साहित्य-लता के पोषण के अनुकूल तभी बन सकती है, जब समीक्षक कवि की दृष्टि, मंतव्य एवं मानदंडों को निश्चित करे। सब कवियों के लिए एक जैसे मानदंड नहीं हो सकते। जो जिन उद्देश्यों से रची गई है, उन्हीं के आधार पर उसका मूल्यांकन किया जायेगा। दलित कविता का उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना नहीं है। वह कार्य के लिए प्रवृत्त करने वाली कविता है। वर्ण और जाति प्रथा के आधार पर फैलाई गई विषमता के विरुद्ध उसने संघर्ष की भूमिका अपनाई है।'

दलित कविता के संदर्भ में डा. गजानन चहवाण का उपरोक्त कथन सही है। पारंपरिक समीक्षा दलित कविता के अंतर्निहित मूल्यों, जीवन-आदर्शों को सही-सही विवेचित करने में असमर्थ है। उसमें उठाए गए प्रश्नों को विश्लेषित करने का दृष्टिकोण ही कई प्रकार के गलत निष्कर्षों को जन्म देता है। आज का हिन्दी समीक्षक दलित रचनाओं को अपनी उन्हीं स्थापित मान्यताओं पर माप रहा है।

यह आम धारणा है कि विश्वविद्यालयों और शिक्षण संस्थाओं के पाठ्यक्रमों में व्यवहृत कोई भी रचना पवित्र एवं उत्कृष्ट होती है। उसका रचनाकार महान मान लिया जाता है। साथ ही यह धारणा भी मान्य हो जाती है कि उस रचनाकार ने अपनी रचनाओं से उस काल विशेष की साहित्यिक धारा को प्रभावित किया होगा। इसलिए विश्वविद्यालयों या शिक्षण संस्थाओं में पढ़ाए जाने वाली इन साहित्यिक रचनाओं पर जब बातचीत या बहस होती है तो उसका अर्थ परंपरा का समर्थन अथवा विरोध करना भी माना जाता है। इस कार्य को विश्वविद्यालय से जुड़ा बौद्धिक समाज ही करता है जिसमें छात्रों को भी अहम भूमिका होती है।

ऐसे भी उदाहरण हैं जब इन बहसों की प्रक्रिया में कुछ पारंपरिक आलोचक और अध्यापक उस रचना-विशेष को व्यर्थ घोषित कर देते

हैं जिसमें साहित्य की धारा को आगे ले जाने की क्षमता होती है।

दलित साहित्य की दृष्टि में अतीत एक स्याह पृष्ठ है, जो सिर्फ घृणा है, द्वेष है, उदात्त मानवीय संबंधों की गरिमा का विखंडन है। हर एक प्रसंग, घटना दैनिक वासना बनकर रह गई है। दलित साहित्य अतीत के इस खोखलेपन से परिचित है। अतीत के आदर उसे झूठे और छद्म दिखाई पड़ते हैं जिन्हें वह उतारकर फेंक दे चाहता है ताकि भारतीयता की सच्ची और सजीव पहचान उभरे। दलित साहित्य ने इस उदात्त भाव को मुखरता से अभिव्यक्त किया है।

युगो-युगों से प्रताड़ित, शोषित, साहित्यिक संस्कृति से वंचित मानस जब स्वयं को साहित्य के साथ जोड़ता है तो दलित साहित्य उसकी निजता को पहचानने की अभिव्यक्ति बन जाता है। हारिशे-कर दिए गए इस समूह की पीड़ा जब शब्द बनकर सामने आती है सामाजिकता की पराकाष्ठा होती है। सदियों से दबा आक्रोश शब्द आग बनकर फूटता है। तब भाषा और कला की परिस्थितियाँ सीमाबद्ध करने में असमर्थ हो जाती हैं।

पारंपरिक साहित्य के छद्म और नकारात्मक दृष्टिकोण के वह निर्मम है। दलित रचनाकार लुक-छिपकर या घुमा-फिराकर कहने का पक्षधर नहीं है। उसके लिए कल्पना और घोखों पर आधारित पद्धति और उसके मापदंड त्याज्य हैं। अंतर्संबंधों और परिवेश वस्तुपरक व्याख्या दलित साहित्य में आरोपित नहीं है, बल्कि और स्वाभाविक है।

भाषा की आक्रामकता और आक्रोश का अतिरेक दलित कवि की शक्ति है। यहां अविश्वसनीय, काल्पनिक चरित्र, प्रतीक, निरर्थक और मिथक नहीं हैं। रोजमर्रा के जटिल जीवन से उपजे, नैसर्गिक जीवन-लय से अभिव्यक्त उपादान हैं, जो अंतिम और शाश्वत हैं, समय के साथ परिवर्तित होते हैं। निरन्तर नए होना प्रकृति है। इसी के अस्तित्व पर दलित साहित्य सवाल उठाता है।

दलित साहित्य की आंतरिक चेतना में निराशावाद और भाव्य नहीं है। वर्ण-व्यवस्था के प्रति उसका कठोर रुख है। उसे विखंडन समाज में समानता, भाईचारा और स्वतंत्रता की भावना स्थापित करने दलित चेतना के सरोकारों में शामिल है। यह वह बिन्दु है जो गैर-दलितों द्वारा लिखे गए और दलितों द्वारा लिखे गए दलित लेखों की सीमा-रेखा है। नागार्जुन की 'हरिजन-गाथा' कविता का उदात्त अप्रासंगिक नहीं होगा। इस कविता में कवि ने मार्मिक शब्दों में दलित के हथियार उठाकर व्यवस्था को पराजित करने की संभावना व्यक्त की है। कवि की सहानुभूति दलितों के साथ है। इसमें संदेह या अविश्वास की गुंजाइश भी नहीं है। भाषा में जिन प्रतीकों, बिम्बों और संकेतों द्वारा कवि ने अपनी अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है, वे दलित चेतना



देवेन्द्र चौबे

## दलित पाठ का अर्थ

हिन्दी का 'दलित पाठ' एक साहित्यिक पाठ है, जिसकी सामाजिक साहित्यिक स्वीकृति-अस्वीकृति की चर्चा पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी क्षेत्र में विचार और बहस के केंद्र में है। एक तरफ इसकी स्वीकृति का कारण जहां अब तक के साहित्य में अनुपस्थित जाशिये के लोगों के वास्तविक जीवन की पहली बार अभिव्यक्ति माना जा रहा है, वहां दूसरी तरफ कुछ विचारक ऐसे भी हैं जो पिछले तीन-चार दशकों में विकसित नई बाजार-व्यवस्था और उपभोक्तावाद को नकारते हुए यह मानकर चल रहे हैं कि प्रत्येक काल के साहित्य में पारंपरिक ढंग से लगातार कुछ ऐसे पाठ लिखे जाते रहे हैं जिन्हें पाठक एक 'साहित्यिक पाठ' के रूप में सहज स्वीकार कर लेता है। इन पाठों के निश्चित स्वरूप और मानदण्ड क्या होने चाहिए, इसकी तरफ ये विचारक संकेत नहीं करते हैं बल्कि उसे उत्कृष्ट और पवित्र मानते हुए विश्वविद्यालय जैसी शैक्षणिक संस्थाओं में जोड़कर स्थापित करने की कोशिश करने लगते हैं। अखिर ऐसा क्यों होता है? क्यों लोग पाठ को शैक्षणिक संस्थानों में जोड़ना चाहते हैं? वस्तुतः समाज की यह आम धारणा होती है कि शिक्षण संस्थाओं में व्यवहृत पाठ लगभग उत्कृष्ट और पवित्र होते हैं क्योंकि उनके रचयिता (आम तौर से) बड़े और महान् होते हैं। इसलिए जब किसी विश्वविद्यालय अथवा शिक्षण संस्थानों में पढ़ाए जानेवाले साहित्यिक पाठ पर बातचीत या बहस होती है तो उसका एक अर्थ परंपरा का समर्थन अथवा विरोध करना भी माना जाता है। शब्दों और वाक्यों की बनावट तथा भाषा के कलात्मक सौंदर्य की चर्चा तो उसके बाह्य आवरण होते हैं जो बहस को और तेज बनाते हैं। मूल बात है, वह पाठ और उसका संदर्भ, जो किसी भी रचना के होने या न होने की घोषणा करता है। इसलिए इस प्रक्रिया में ऐसे साहित्यिक पाठ का समर्थन किया जाता है जिसमें पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था के प्रति सामंजस्य और सहानुभूति की दृष्टि होती है तथा ऐसे पाठों का विरोध—जो व्यवस्था की क्रूरताओं और दमनपूर्ण नीतियों का खुलासा करते हैं। यह काम विश्वविद्यालय और उससे जुड़ा बौद्धिक समाज अधिक करता है, जिसे समाज में 'उदार व्यक्तित्व वाला' मनुष्य माना जाता है।

कई बार बातचीत अथवा बहस की इस प्रक्रिया में कुछ पारंपरिक आलोचक और अध्यापक उन पाठों को भी व्यर्थ और बकवास घोषित कर एक विचित्र स्थिति पैदा कर देते हैं जिनमें साहित्य को आगे ले जाने की क्षमता होती है। आज हिन्दी के दलित पाठ (Dalit Text) के साथ ऐसा हो रहा है। आज दलित पाठ को एक अपूर्ण गद्य

धार को कुंद करते हैं। यह इस कविता का विरोधाभास है। 'मनुष्य', 'भाग्य-दुर्भाग्य' ऐसे ही शब्द हैं। 'हरिजन गाथा' में क्रांति का निष्कर्ष है कि क्रांति के बाद दलित नई ऋचाओं और वेद का गायक होगा, यहां यह शंका निराधार नहीं है कि कवि का आग्रह 'वेद' और 'ऋचाओं' के प्रति क्यों है। मनुस्मृति में दर्ज दंड-विधानों के बाद कोई भी दलित स्वयं को मनुष्य स्वीकार नहीं करता। 'हरिजन-गाथा' कविता दलित चेतना का विस्तार नहीं करती, बल्कि एक भावुक अभिव्यक्ति, जिसमें सहानुभूति का अंश ज्यादा है, बनकर रह जाती है।

सर्वर्ण रचनाकारों ने दलित संवेदना और सहानुभूति की जो रचनाएं लिखी हैं, जरूरी नहीं कि वे किसी आंतरिक बदलाव के कारण ही जन्मी हों, या फिर आंतरिक दबावों ने इन रचनाओं को जन्म दिया हो। बाहरी दबाव भी हो सकते हैं। प्रेमचन्द की कहानी 'ठाकुर का कुंआ', 'सद्गति', 'दूध का दाम' और अमृतलाल नागर के उपन्यास 'नाच्यो बहुत गोपाल' की संवेदना क्या एक जैसी है? गिरिजाज किशोर के उपन्यास 'परिशिष्ट' और जगदीश चन्द्र के उपन्यास 'धरती धन न अपना' के नायक तमाम सम्मान संवेदनाओं, ऊर्जाओं और संघर्षशीलता के बावजूद अपनी चरित्रिक संभावनाएं खो देते हैं, यथास्थिति बनाए रखने में उनकी आंतरिक छटपटाहट ठंडी कर दी जाती है। संवेदनाओं के स्तर पर झकझोर देने वाली इन रचनाओं में प्रतिकार की वैयक्ती, उग्रता, बदलाव की आकांक्षा क्यों नहीं दिखाई पड़ती? क्यों खो जाती है वह छटपटाहट जो बदलाव को जन्म देती है? सामाजिक विषमता, परस्पर लूट-खसोट, सत्ता के गलियारों की चमचागिरी, भ्रष्टाचार, शिक्षा-संस्थानों की धांधलियों से बचकर कब तक कन्नी काटेते रहेंगे हिन्दी रचनाकार। सीधे-सीधे समस्याओं से जुझने के बजाय क्यों जरूरी समझते हैं 'कला' के मुखौटे पहनना? हिन्दी समीक्षा इन स्थितियों को रेखांकित करने के बजाय इसमें सहयोग देती है। इसीलिए राष्ट्रीय समस्याओं पर हिन्दी लेखक लगभग मौन धारण किए रहते हैं, कुछ अपवादों को छोड़कर। ये अपवाद भी वे हैं जो मुख्य धारा से बाहर हैं।

हिन्दी साहित्य में समाजशास्त्रीय समीक्षा का नितांत अभाव है। जैसे-जैसे समाजशास्त्रीय दृष्टि, भौतिकवादी दृष्टि पर विचार किया जाएगा, वैसे-वैसे जीवन के प्रश्न, उनका भीषण स्वरूप, उनके विरुद्ध संघर्ष, इन सबकी पड़ताल साहित्य में होगी। इसके लिए रचनाकारों, कलाकारों को सामाजिक जीवन में व्याप्त तुच्छता, विषमता और अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करना होगा। आज का हिन्दी साहित्य मुद्दोभर लोगों की डच्छा-आकांक्षा और खोखले आदर्शों को प्रतिबिम्बित करने वाला साहित्य है।



मानकर उसकी मनमानी व्याख्या की जा रही है। विरोध में उठने वाली आवाजें मुख्यतः पारंपरिक आलोचकों और विश्वविद्यालयों के अध्यापकों की ही होती हैं जो यह भ्रम फैलाते हैं कि साहित्य का यह अपूर्ण गद्य वर्षों से चली आ रही परंपरा को नष्ट कर देगा; नष्ट कर देगा उन चरित्रों, विचारों और संदर्भों को, जिन्हें अब तक हम श्रेष्ठ और महान् समझते आ रहे थे। यह खत्म कर देगा उन विशिष्ट परंपराओं को जिन्हें हम अभेद्य, अखण्ड और सर्वव्यापी मानते आ रहे थे। साथ ही यह नष्ट कर देगा उस अनुशासन को भी जो समाज को शिष्टाचार की सभ्यता सिखलाता है। जबकि ऐसा कुछ भी नहीं है। क्योंकि दलित साहित्य के आने से न तो तुलसीदास के 'रामचरितमानस' की महत्ता कम होने वाली है और न ही वेदव्यास के 'महाभारत' अथवा 'श्रीमद्भगवद्गीता' की, न ही प्रेमचंद के 'गोदान' की और न ही फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' की।

वास्तव में साहित्य के इतिहास में प्रारंभ से ही ऐसी रचनाओं और विचारों के विरोध की कोशिश दिखाई पड़ती है, जिनमें सामंजस्य के विपरीत विद्रोह और विरोध की चेतना अधिक होती है। यह चेतना ही पारंपरिक आलोचकों और अध्यापकों को परेशान करती है। परिणामस्वरूप ये आलोचक और अध्यापक दलित पाठ जैसे नए साहित्य और नए विचार की नकारात्मक व्याख्या करते हुए उससे समाज, खासकर छात्रों के लिए अनुयोगी करार देते हैं। विचार-विमर्श की इस प्रक्रिया में उनका सबसे बड़ा तर्क यह होता है कि यह नया साहित्य और नया विचार अधूरा है, उसका गद्य अपूर्ण है, पाठ अतार्किक और अव्यवस्थित है। जबकि, अगर वह गद्य अधूरा है या पाठ और उसकी भाषा अतार्किक और अव्यवस्थित है तो उससे नकारने के बदले विचार और बहस का केंद्र बनाया जाना चाहिए और एक हद तक उसे ठीक करने की कोशिश की जानी चाहिए। जबकि ऐसा कुछ भी नहीं हो रहा है। बल्कि भाव, भाषा और विचार के स्तर पर आज दलित साहित्य की मनमानी व्याख्या की जा रही है। उन मुद्दों, साहित्यिक विचारों और सिद्धांतों को विचार-विमर्श का केंद्र बनाया जा रहा है जो दलित पाठ का अर्थ खोलने के बदले, उसे संकुचित और अपठनीय घोषित करते हैं। ठीक उसी तरह से, जिस तरह से एक जमाने में कबीर के 'पाठ' की मनमानी व्याख्या की गई और भाव, भाषा-विचार के स्तर पर उसे अव्यवस्थित, असाहित्यिक एवं अतार्किक घोषित किया गया।

वास्तव में 'दलित पाठ' की मनमानी व्याख्या को देखते हुए अब यह जरूरी हो गया है कि इस पर व्यवस्थित ढंग से बातचीत की जाए। कारण, दलित पाठ एक विशेष पाठ है। भारतीय (हिन्दू) वर्ण-व्यवस्था (की पक्षपातपूर्ण और दमनकारी नीतियों) के खिलाफ दलित समाज की

यह एक रचनात्मक अभिव्यक्ति है और इस पर रचनात्मक तरीके से ही बातचीत होनी चाहिए। उदाहरण के लिए 'उत्कृष्टता' और 'पवित्रता' दो ऐसी अभिव्यक्तियां हैं जो दलित पाठ के सांकेतिक अर्थ तथा वर्ण व्यवस्था-केंद्रित समाज की विसंगतियों को खोलती हैं। अगर हम पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित दलित कृतियों पर ध्यान दें तो यह कह सकते हैं कि अपने आप स्पष्ट हो जाएगी। चाहे वह आत्मकथात्मक कृतियों में ओमप्रकाश वाल्मीकि कृत 'जूटन' हो या मोहनदास नैमिशराय कृत 'अपने-अपने पिंजरे', कथाकृतियों में जयप्रकाश कदम कृत 'छात्र' (उपन्यास) हो अथवा प्रहलाद चंद्र दास कृत 'पुटुस के फूल' (कहानी-संग्रह), काव्यकृतियों में ओमप्रकाश वाल्मीकि कृत 'बस बहुत हो चुका' हो या श्यामराज सिंह बेचैन कृत 'क्रांच है' हो सोहनपाल सुमनाशर कृत 'सिंधु घाटी बोल उठी' हो या मलखान सिंह कृत 'सुनो ब्राह्मण', आलोचनात्मक कृतियों में डा. धर्मवीर कृत 'कबीर के आलोचक' हो अथवा माताप्रसाद कृत 'हिन्दी काव्य' दलित काव्यधारा' आदि। ये और ऐसी अन्य अनेक कृतियां दलित पाठ का अर्थ स्पष्ट करती हैं। इतना ही नहीं, ये कृतियां भारतीय समाज और संस्कृति की परंपरा के उस नए पाठ से हमारा परिचय कराती हैं जिसमें जीवन और ऊर्जा के साथ ही दमन और शोषण के खिलाफ तीव्र प्रतिरोध है। इसलिए दलित पाठ मात्र एक साहित्यिक पाठ नहीं है, बल्कि यह भारतीय समाज के उस हिस्से का जीवंत दस्तावेज है जो सदियों से जीवन की मुख्यधारा के अंदर हाशिये की ज़िंदगी व्यतीत करने को विवश रहा है। साथ ही पठनीयता की दृष्टि से भी दलित पाठ के अंदर यह क्षमता है कि पारंपरिक साहित्यिक पाठ से कदम बढ़ाकर वह उन पाठकों को भी अपनी ओर खींच सके, जो अब उससे दूर हो चुके हैं और कुछ नया पढ़ना चाहते हैं। उस नए पाठ को, जो सड़क से चली आ रही वर्चस्व की संस्कृति के खिलाफ लिखा जा रहा है क्योंकि इस संस्कृति में कई ऐसी अवधारणाएँ हैं जो मनुष्य और मनुष्य के बीच भेद करती हैं, उस व्यवस्था को अपना आदर्श रूप मानने वाले जिसमें दमन के खिलाफ विद्रोह और प्रतिरोध करना सामान्य अपराध (की तरह) माना जाता है। इसलिए मूल्यांकन के पारंपरिक प्रतिमानों के आधार पर दलित पाठ की व्याख्या संभव नहीं है। दलित पाठ के वास्तविक अर्थ को जानने और समझने के लिए पाठ के अर्थ से ही मूल्यांकन के प्रतिमान ढूँढ़ने और गढ़ने होंगे। बाहर के प्रतिमान अथवा विचार हमेशा दलित पाठ के वास्तविक अर्थ को उलझाएंगे क्योंकि उनकी मान्यताएं और प्रतिमान स्थिर हैं। और स्थिर प्रतिमान तथा मान्यताएं कभी भी नए साहित्य की सही व्याख्या करने में सक्षम नहीं होतीं, पहल जरूर कर सकती हैं।



डा. एन. सिंह

## क्रमानुसार अध्ययन शेष है

हिन्दी दलित साहित्य की परम्परा का क्रमानुसार अध्ययन शेष है।

हिन्दी दलित साहित्य के सन्दर्भ में एक धारणा यह प्रचलित है कि यह मराठी दलित साहित्य की देन है। जबकि हिन्दी में दलित साहित्य का आविर्भाव बहुत पहले ही नाथ और सिद्धों के समय में हो गया था। इन नाथ और सिद्धों में कई दलित जातियों से सम्बंधित थे। उन्होंने वर्णव्यवस्था और ब्राह्मणवादी व्यवस्था का विरोध अपनी वाणी में किया था। यदि इसे भी हम छोड़ दें, तो भी भक्तिकाल में निर्गुण काव्यधारा के कई कवि दलित जातियों से सम्बंधित हैं। इनमें रैदास का स्वर तो बहुत ही स्पष्ट है। उन्होंने वर्णव्यवस्था की जड़ पर ही प्रहार किया है—

‘रैदास एक ही बृन्द सौ सब ही भयो वित्थार।

मूर्ख हैं जो करत हैं, वरन अवरन विचार॥’

इसी धारा के दूसरे कवि कबीर ने ब्राह्मण को फटकारते हुए कहा है—“जो तू ब्राह्मण बामणी जाया, आन बाट हवै क्यों नहीं आया।” इस प्रकार वर्तमान हिन्दी दलित साहित्य की एक पूरी परम्परा है। जिसका क्रमानुसार अध्ययन किया जाना शेष है।

अभी जिसे कहा जा रहा है कि हिन्दी में दलित साहित्य की चर्चा अपने शिखर पर है। सच बात यह है कि अभी भी किसी दलित लेखक का कोई बहुत महत्वपूर्ण उपन्यास नहीं आया है। कुछ कविता की पुस्तकें, एक-दो कहानी संग्रह तथा दो-तीन आत्मकथाएँ ही आ पाई हैं। जिन पर बराबर चर्चा होती रहती है। अभी हिन्दी दलित साहित्यकारों को बहुत मेहनत करने की आवश्यकता है।

हिन्दी का मानस सदैव ही ब्राह्मणवादी रहा है। उसने ऐसा ही हिन्दी का पाठ्यक्रम भी बनाया है, जिससे विद्यार्थी में वही संस्कार पनपें। इधर 1936 के बाद साहित्य में मार्क्सवाद के प्रवेश के बाद उसकी प्रवृत्ति में थोड़ा-बहुत अन्तर आया और कबीरदास जैसे लोगों को पढ़ाया जाने लगा। आज भी लोग प्रेमचन्द के नाम पर नाम-भौं सिकोड़ते हुए विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में देखे जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में मुझे नहीं लगता कि हिन्दी में दलित साहित्य और दलित साहित्यकारों के प्रति कभी रुचि रही होगी।

एक ओर जब “सारिका” (1975) सं. कमलेश्वर ने दो दलित साहित्य विशेषांक निकाले और फिर “संचेतना” सं. डा. महीप सिंह, का भी दलित साहित्य विशेषांक आया तो हिन्दी साहित्य में उनका पर्याप्त स्वागत किया गया। क्योंकि ये दोनों ही विशेषांक, मराठी दलित साहित्य को रेखांकित करते हैं। लेकिन जब हिन्दी के दलित लेखन में उभार आया, तो साहित्य के पहलू कलम की

तलवार लेकर खड़े हो गए। इधर दलित लेखक अपनी सभाएं करते, तो उधर सर्वर्णवादी और मार्क्सवादी अपनी सभाएं करके प्रेमचन्द, निराला, अमृतलाल नागर और गिरिजाज किशोर आदि को दलित साहित्य का प्रतिनिधि लेखक घोषित करते। परिणाम यह हुआ कि प्रेमचन्द को लेकर दलित लेखकों और मार्क्सवादियों का विवाद काफी लम्बा चला। इसकी वजह क्या थी? ये लोग हिन्दी में दलित लेखन को पचा क्यों नहीं पाए? इसका एक स्पष्ट सा कारण है कि जब तक यह ब्राह्मणवाद को गाली-गलौज दूसरे के दरवाजे पर (दूसरी भाषा में) हो रहा था, तो ठीक था। लेकिन जब अपने दरवाजे पर (अपनी भाषा में) होने लगा, तो उन्हें अपने और अपनी भाषा के सामन्ती संस्कार याद आने लगे। इस पवित्र भाषा में (जिसकी माँ देव भाषा है) यह भेदस साहित्य भला कैसे सम्मान पा सकता है। एक दूसरा कारण भी था—ये दलित लेखक पुस्तकों के सम्बंध में भी अपनी आवाज उठाने लगे हैं। कि केन्द्रीय साहित्य अकादमी और हिन्दी भाषी प्रदेशों के हिन्दी संस्थान करोड़ों रूपए लेखकों को प्रति वर्ष बांटते हैं उसमें दलित लेखकों का हिस्सा कहां है? कोई कोदी, विड़ला या साहू जैन अपना धन किसे और कैसे देता है, इससे हमारा कोई सरोकार नहीं, लेकिन सरकारी धन अंधे की रेवड़ी क्यों कर होना चाहिए, यह इसलिए कभी शिल्पविधान और कभी सौन्दर्यशास्त्र को लेकर दलित साहित्य के नकार की एक लम्बी प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। जिसका प्रत्युत्तर दलित लेखकों ने दिया। तीसरा कारण एक और है—दलित साहित्य ने पाठ्यक्रम में भी अपना दखल प्रारम्भ कर दिया। मेरे प्रत्यावेदन पर उत्तर प्रदेश सरकार ने दलित-साहित्य को उत्तर प्रदेश के समस्त विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाना अनिवार्य कर दिया। जिस केवल कुमायू विश्वविद्यालय, नैनीताल ने ही स्वीकार किया। इससे सर्वर्ण लेखकों को अपने आर्थिक हितों पर कुटाघात होता नजर आने लगा। जिसके कारण वे इसके विरोध में खड़े हो गए। मुझे इस समय पक्का तो याद नहीं है, लेकिन डा. मनोज पाण्डेय, (जो हिन्दी दलित साहित्य के समर्थक समझे जाते हैं) ने दलित साहित्य को पाठ्यक्रम में लगाए जाने के सवाल पर एक गोष्ठी में कहा था—कि पाठ्यक्रम तो एक म्यूजियम है, जब चीजें पुरानी हो जाती हैं, तो उन्हें वहां रख दिया जाता है। दलित म्यूजियम तो जीवन्त साहित्य है, इसे तो जनता के बीच में रहना चाहिए।” यह छद्म विरोध नहीं तो और क्या है।

एक अन्य कारण भी है—आज हिन्दी के बड़े से बड़े लेखक के सम्मुख पाठकों का अभाव मुंह बाए खड़ा है। वह आलोचकों के माध्यम से पत्र और पत्रिकाओं में प्रायोजित चर्चा-परिचर्चा कराकर लोकप्रियता अवश्य हासिल कर लेता है। लेकिन कहा तक? वह भी केवल लेखकनुमा पाठकों तक ही सीमित रहता है। आम पाठक की नजर तब भी उस तक नहीं पहुंच पाती! अच्छी से अच्छी पुस्तक का पांच सौ प्रतियों का संस्करण, यदि सरकारी खरीद में न आए तो वर्षों न बिके।



लेकिन दलित-साहित्य, सरकारी खरीद में तो बिल्कुल नहीं बिकता, किन्तु उसे पाठकों की कमी नहीं है। वह आवाम तक पहुंच रहा है। तभी तो विश्व पुस्तक मेले की रिपोर्ट में लिखा गया था कि एक ओर जहां हिन्दी प्रकाशक अपने बुक स्टालों पर खरीददारों की बाट जोह रहे थे, वहीं दलित-साहित्य के बुकस्टॉल पर खरीदारों की भीड़ लगी थी।” इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करने पर लगता है कि दलित साहित्य के विरोध का कारण उसका वैचारिक आधार तो है ही, आर्थिक आधार भी है।

रही बात दलित साहित्य के आलोचकों की सहृदयता प्राप्त करने की, तो इस सिलसिले में मुझे ‘उच्च अध्ययन संस्थान’ शिमला द्वारा दलित साहित्य और अश्वेत लेखन समकालीन प्रवृत्तियाँ विषय पर आयोजित एक सेमिनार (अक्टूबर-1997) की याद आती है जिसमें मुझे भी भाग लेन का अवसर मिला था। इस सेमिनार में पढ़े जाने वाले शोधपत्रों के लिए किसी दलित लेखक की कृति का समालोचनात्मक अध्ययन भी एक विषय था। लेकिन किसी भी विद्वान ने किसी दलित लेखक की कृति पर शोध लेख नहीं लिखा था। केवल मैंने ही ओमप्रकाश बाल्मीकि की आत्मकथा ‘जुटन’ पर अपना आलेख पढ़ा था। इसके बाद के समीक्षा परिदृश्य पर दृष्टिपात करने से मुझे ऐसा आभास होता है कि किसी हिन्दी समालोचक की सहृदयता दलित साहित्य प्राप्त कर सकेगा मुझे इसमें सन्देह है। लेकिन उपाय भी हमने सोच लिया है। जिस प्रकार प्रगतिवादियों ने एक दूसरे की कृतियों पर टिप्पणियाँ लिखी थी उसी प्रकार दलित लेखक भी एक दूसरे की कृतियों का तटस्थ मूल्यांकन कर रहे हैं। मुझे खुशी है कि अभी तक किसी भी दलित लेखक की कोई कृति ऐसी नहीं है, जिस पर टिप्पणी न छपी हो, चाहे वह हमारी किसी लघुपत्रिका में ही क्यों न छपी हो। वैसे जिनकी वैचारिक स्थापनाओं का हम विरोध कर रहे हैं, उनसे हम मान्यता मिलने की उम्मीद क्यों करें! फिर भी जो लोग अपनी प्रतिबद्धताओं के कारण हमारा समर्थन कर रहे हैं जैसे श्री राजेन्द्र यादव, रमणिका गुप्ता, डा. महीप सिंह और डा. देवेन्द्र दीपक आदि हम उनका हृदय से स्वागत करते हैं और उनके आभारी हैं।

हिन्दी दलित साहित्य आने वाले समय में हिन्दी की मुख्याधारा हो जाएगा, जैसा कि मराठी में हो गया है। जैसा कि मैंने अपने एक साक्षात्कार में कहा था कि ‘हिन्दी साहित्य का बासीपन दूर कर रहा है दलित साहित्य’ (देखें सुमनलिपि, मासिक, बम्बई, अक्टूबर-नवम्बर-1993) मराठी के नाम पर दिए जाने वाले पुरस्कारों को यदि हम देखें, तो मराठी दलित लेखक ही सबसे आगे दिखाई देते हैं। साहित्य अकादमी की पत्रिका ‘समकालीन भारतीय साहित्य’ में मराठी का जो अनुवाद छप रहा है, उसमें भी मराठी दलित लेखक ही विशेषतः दिखाई देते हैं। भविष्य में यही स्थिति हिन्दी लेखन की होगी। ऐसा मेरा विश्वास है।

डा. हरदयाल

## हिन्दी मानस और दलित साहित्य

भारतीय समाज—विशेषतः उत्तरी भारत का हिन्दी-समाज—अत्यन्त जटिल समाज है। शताब्दियों से न जाने कहां-कहां से किन्तु मानव-प्रजातियाँ अपनी परम्पराएँ और संस्कार लेकर इस समाज में घुलती-मिलती रही हैं और इसका अभिन्न अंग बनती रही हैं। फलतः यह समाज इतने अन्तर्विरोधों और असामान्यताओं का पुंज बन गया है कि इसे ठीक-ठीक समझ पाना और इसके मुख्य लक्षणों को निर्धारित कर पाना लगभग असम्भव है। इसलिए बहस चाहे भारतीयता को लेकर हो या हिन्दुत्व को लेकर, वह अन्धों का हाथी बनकर रह जा रहा है और उसकी समाप्ति ‘नेति-नेति’ पर ही होती है। इसी समाज के एक व्यवस्था प्रदान करने के लिए और इसे नियमित करने के लिए वर्ण और जाति का विधान किया गया और स्मृतिकारों ने वर्णों और जातियों के लिए नीति-नियम निर्धारित किए। वर्णों और जातियों के एक सोपानिक क्रम दिया गया। सबसे ऊपर ब्राह्मण, उससे नीचे क्षत्रिय, उससे नीचे वैश्य और सबसे नीचे शूद्र। ये वर्ण मूलतः जीविकाजन के लिए अपनाए गए व्यवसायों पर आधारित थे, किन्तु बाद में वे जन्मगत हो गए और समाज में व्यक्ति की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता की पहचान उसका जन्म बन गया। कोई पढ़ने-पढ़ाने या यज्ञ करने-कानों का कार्य करे या न करे, अगर वह ब्राह्मण मां-बाप की सन्तान है तो पूज्य होगा और यदि कोई शूद्र मां-बाप की सन्तान है तो बड़े-से-बड़े विद्वान होने पर भी पूज्य नहीं होगा। वर्ण भी अनेक जातियों-उपजातियों और गोत्रों में बंटे हैं और उन जातियों आदि में उच्चावचता का सोपानिक क्रम बना हुआ है।

आधुनिक काल से पूर्व तक का भारतीय समाज मूलतः स्थिर और अगतिशील समाज था, यद्यपि पूर्णतः स्थिर, अगतिशील या अपरिवर्तित यह कभी नहीं रहा। समाज की उस मध्यकालीन अवस्था में प्रायः सभी अपनी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति को अपनी निराला मानकर स्वीकार कर लेते थे और सन्तुष्ट रहते थे। विद्रोह के स्वर उस समय भी उभरते थे और समाज में हलचल भी मचाते थे, लेकिन उसे अस्थिर करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं थी। नाथों, सिद्धों और सन्तों के आन्दोलन भारत के मध्यकालीन समाज के प्रति विद्रोही स्वर के प्रतिनिधि हैं; लेकिन भारतीय समाज को वे कितना बदल पाए किन्तु आधुनिक काल में भारतीय समाज गतिशील और अस्थिर हुआ। वर्ण और जाति के आधार पर निश्चित व्यवसायों के बन्धन से व्यवसायों की संख्या बढ़ी और उनमें विविधता आई; कमवादा आस्था खण्डित हुई; व्यक्ति अधिक स्वचेतन हुआ; सामाजिक-राजनीतिक जागृति आई, आर्थिक क्रान्ति हुई; इत्यादि। इस सबके कारण शताब्दियों



से चली आ रही वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था सौपानिक क्रम में नीचे रहने वालों को न केवल अखरने लगी अपितु उनमें विद्रोह की भावना भी पनपने लगी। इस असन्तोष और विद्रोह ने जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में अभिव्यक्ति पाई। साहित्य का क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं है।

साहित्य के क्षेत्र में यह असन्तोष और विद्रोह-भाव सबसे पहले महाराष्ट्र में 'दलित-साहित्य' के रूप में सामने आया। मराठी में दलित-साहित्य मूल रूप से कथा-साहित्य और उससे भी अधिक आत्मकथाओं के रूप में सामने आया। यह साहित्य बहुत कलात्मक नहीं था। वहाँ उसे मराठी के स्थापित सवर्ण मध्यवर्गीय आलोचकों के विरोध का समना करना पड़ा, यद्यपि बाद में उसे अतिरेकपूर्ण प्रशंसा भी मिली। मराठी के बाद अन्य भारतीय भाषाओं में भी दलित-साहित्य की बात होने लगी। हिन्दी में तो दलित-साहित्य की चर्चा अब शुरू हुई है। इस दिशा में सबसे पहले 'संचेतना' ने 'दलित-साहित्य' को लेकर एक विशेषांक प्रकाशित किया। उसमें मुख्य रूप से मराठी दलित-साहित्य की रचनाओं के अनुवाद और उनकी चर्चा थी। तब तक हिन्दी का दलित-साहित्य नगण्य था और दलित वर्ग से आने वाले साहित्यकारों की संख्या नगण्य थी। 'संचेतना' का विशेषांक सम्पादित करने वालों में से कोई भी दलित नहीं था।

इसलिए जब हिन्दी दलित-साहित्य को लेकर प्रश्न उठते हैं कि क्या दलित लेखकों या दलित साहित्य के प्रति हिन्दी-मानस सहृदय रहा है? हिन्दी पाठ्यक्रम में जो कुछ पढ़ाया जाता है वह क्या सवर्ण मानसिकता और दलितों के प्रति कटु भाव को व्यक्त नहीं करता है? क्या हिन्दी का दलित साहित्य आलोचक वर्ग की सहृदयता प्राप्त कर सकेगा? इत्यादि; तब सारे परिदृश्य को दृष्टि में रखकर यह कहना पड़ता है कि हिन्दी-मानस, जिसमें दलित हिन्दीभाषियों का मानस भी शामिल है, वर्ण और जाति को लेकर साहित्य-क्षेत्र में अधिक उदार और निष्पक्ष रहा है। हिन्दी-भाषी समाज में दलित वैसे प्रतिष्ठित और अपमानित नहीं होते थे जैसे महाराष्ट्र तथा दक्षिण में होते थे। दलितों में शब्दशः अस्मृश्य तो केवल मेहतर थे। मोची या चर्मकार अस्मृश्य नहीं थे, यद्यपि वे न तो सवर्णों के कुएं से पानी भर सकते थे, न उनके साथ बैठकर खाना ख सकते थे, न उनके साथ कुर्सी या चारपाई पर बैठ सकते थे अन्य जातियों—धोबी, बड़ई, लुहार, कुम्हार, धोवर, नाई इत्यादि के लोग ऊँची जातियों पर अपनी जीविका के लिए निर्भर अवश्य थे, लेकिन अस्मृश्य कतई नहीं थे। यह हिन्दी-मानस की उदारता और सहृदयता का ही परिणाम है कि जब 'दलित' शब्द प्रचलित भी नहीं हुआ था और न दलितों में व्यापक चेतना ही जाग्रत हुई थी तब महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सितम्बर, 1914 ई. की 'सरस्वती' में हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' छपी थी। उस समय 'सरस्वती' में छपने के लिए बड़े-बड़े साहित्यकार तरसते

थे। हीरा डोम की यह कविता न ब्रजभाषा में थी और न खड़ी बोली में, अपितु भोजपुरी में थी। द्विवेदी जी ब्राह्मण थे और युग-नियन्ता थे। द्विवेदी जी का मानस क्या हिन्दी-मानस की उदारता और सहृदयता का घातक नहीं है? आधुनिक काल में जब हिन्दी में आलोचना का विकास हुआ तब आलोचकों ने दलितों के द्वारा लिखे गए साहित्य के प्रति उपेक्षा या विरोध का रुख नहीं अपनाया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यदि कबीर के कुछ पक्षों की निषेधात्मक आलोचना की तो कुछ पक्षों की अत्यधिक प्रशंसा भी की। उन्होंने कबीर की ओषा केशव की कहीं अधिक कटु आलोचना की है। कबीर को उन्होंने तुलसी, मुर या जायसी की टक्कर का कवि नहीं माना और यदि कविता की कलात्मकता को ध्यान में रखें तो वे उतने बड़े कवि हैं भी नहीं—लेकिन उन्होंने उनकी उपेक्षा नहीं की; उनके महत्त्व को स्वीकार किया। कबीर के साथ किसी सवर्ण आलोचक ने इसलिए अन्याय किया हो या उनकी उपेक्षा की हो कि वे जुलाहे थे, उसका हिन्दी में कोई प्रमाण नहीं है। एक नई कसौटी अविष्कृत कार उन्हें महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित करने वाला कोई दलित हिन्दी आलोचक नहीं है, अपितु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी है।

इस सबको दृष्टि में रखने पर यह प्रश्न वेमानी हो जाता है कि क्या हिन्दी का दलित साहित्य आलोचक वर्ग की सहृदयता प्राप्त कर सकेगा? यदि कोई दलित वर्ग से आने वाला रचनाकार श्रेष्ठ रचना प्रस्तुत करेगा तो हिन्दी में उसे निश्चय ही स्वीकृति मिलेगी। हिन्दी का सम्पादक, प्रकाशक या आलोचक रचनाकारों की जाति या उनके वर्ण की छानबीन करने के बाद रचना का विवेचन या मूल्यांकन नहीं करता। हिन्दी में गुटबाजी है और उसके आधार पर खूब उठापटक भी होती है, रचनाकारों को जमाया और उखाड़ा भी जाता है, चर्चा के केन्द्र में भी लाया जाता है और उपेक्षा भी खूब की जाती है, लेकिन उसका आधार जाति, वर्ण, धर्म या सम्प्रदाय नहीं है, सवर्णता या दलितता नहीं है। उसका आधार तो व्यक्तिगत सम्बन्ध है, रचनाकार-विशेष की साहित्येतर पद-प्रतिष्ठा है। अगर कोई प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री या अन्य मंत्री कुछ लिखता है तो उसकी निगधार और अतिरेकपूर्ण प्रशंसा करने वाले तमाम लोग निकल आते हैं। यही स्थिति बड़े अफसरों की रचनाओं की होती है। लेकिन कुसी से हटते ही उन्हें कोई नहीं पृच्छता। इस प्रवृत्ति के तमाम उदाहरण हमारे सामने हैं। असल में साहित्य तथा साहित्येतर बौद्धिक क्षेत्रों में महत्त्व रचना का होता है, रचनाकार का नहीं। कालजयी रचना होती है, रचनाकार नहीं। किसी आलोचक के बनाए न कोई रचनाकार बनता है और न उसके बिगाड़े बिगड़ता है। अगर दलित वर्ग से आने वाला कोई रचनाकार यह शिकायत करता है कि उसकी उपेक्षा इसलिए की जा रही है कि वह दलित वर्ग का है तो यह गलत है। ऐसी शिकायत तो अन्य तमाम रचनाकार भी करते रहते हैं। साहित्य के समकालीन परिदृश्य में प्रत्येक रचनाकार के लिए



आवश्यक है कि उसमें आत्मविश्वास हो, धीरज हो, प्रतीक्षा करने का माददा हो, अपने और अपनी रचना के प्रति मोहग्रस्तता कम हो, तटस्थता अधिक हो। श्रेष्ठ रचना दबेगी नहीं यह तय है, लेकिन रचना की श्रेष्ठता का निर्णय रचनाकार नहीं करेगा, उसके पाठक, आलोचक और काल करेंगे।

जहां तक हिन्दी-साहित्य के पाठ्यक्रमों में पढ़ाई जाने वाली सामग्री का प्रश्न है, उसका महत्त्व अवश्य है। छात्र प्रारम्भिक कक्षा से लेकर उच्चतम कक्षा तक जो कुछ पढ़ते हैं, उससे उनके संस्कार बनते हैं। हिन्दी और अन्य भाषाओं के पाठ्यक्रमों के निर्धारण में तरह-तरह के निहित स्वार्थ कार्यरत रहते हैं। हो सकता है कि कुछ पाठ्यक्रमों में ऐसी रचनाएं भी रखी गई हों, जो दलितविरोधी हों; लेकिन सामान्यतः तो ऐसा नहीं है। मैं अपने अब तक के अड़तीस वर्षों के अध्यापन-अनुभव के आधार पर यह कह सकता हूं कि मैंने हिन्दी-पाठ्यक्रम ऐसी एक भी रचना नहीं देखी जो दलितविरोधी हो या उनके प्रति कटु भावना जगाती हो। हां, ऐसी रचनाएं अवश्य देखी हैं जो उनके प्रति सहानुभूति जगाती हैं और बिना किसी भेदभाव के मनुष्य की समता और गरिमा की बात करती हैं। अगर पाठ्यक्रम में ऐसा कुछ कहीं पढ़ाया जाता है जो धर्म, वर्ण, जाति या अन्य किसी आधार पर किसी मानव-समुदाय के प्रति कटुता उत्पन्न करता है तो उसका तब तक विरोध किया जाना चाहिए जब तक उसे पाठ्यक्रम में से निकाल न दिया जाए।

हिन्दी-भाषी समाज की जो स्थिति है, हिन्दी-साहित्य की जो परम्परा रही है, शिक्षित हिन्दी-भाषी जन का जैसा मानस है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में दलित-साहित्य वैसा प्रबल नहीं बन पाएगा जैसा मराठी में बना है। हिन्दी में बदली हुई स्थितियों के कारण दलित वर्ग से आने वाले रचनाकारों की संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ेगी और उनमें से समर्थ और श्रेष्ठ रचनाकारों को वैसे ही स्वीकृति और सम्मान मिलेगा जैसे अन्य वर्णों से आने वाले रचनाकारों को मिलता है।

जय प्रकाश कर्दम

## सर्वर्ण मानसिकता दलित साहित्य के प्रति कभी सकारात्मक नहीं रही

दलित लेखन का सर्वर्णों द्वारा जितना अधिक विरोध हुआ है उतनी ही तीव्रता और शक्ति से पिछले कुछ वर्षों के दौरान वह उभरा है। और आज दलित लेखन निश्चित रूप से ऐसे मुकाम पर है जहां उसे न किसी के प्रमाण-पत्र की आवश्यकता है और न दयादृष्टि की। लाख अवरोधों-विरोधों के बावजूद यदि दलित लेखन स्वयं को

स्थापित करने में समर्थ हुआ है और अपने अस्तित्व का अहसास उसे साहित्य-जगत को कराया है तो यह उसकी अपनी ताकत है।

आज हर ओर से दलित साहित्य को साहित्य की एक नई धारा के रूप में स्वीकार किया जा रहा है, किन्तु ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जिनको दलित साहित्य को स्वीकारने में आज भी दिक्कत हो रही है। स्थिति यह है कि दलित मंचों पर आकर (अपने मंचों पर नहीं, क्योंकि वहां पर तो दलित साहित्य के लिए कोई जगह है नहीं) दलित साहित्य और चेतना के सबसे बड़े हिमायती और खुरखुर बनने वाले ये लोग मंच से उतरते ही ब्राह्मणवादी-सामंतवादी भाव बोलते हुए दलित लेखन को सिरे से नकारना शुरू कर देते हैं या फिर अपना पांडित्य झाड़ते हुए दलित लेखकों को नकार कर दलित लेखन के नाम पर गैर-दलितों के लेखन के पक्ष में प्रवचन देना शुरू कर देते हैं। दलित मंचों पर या दलितों के साथ वार्तालाप के दौरान वे दलित साहित्य में सर्वाधिक जीवंतता और सम्भावनाओं की बात करते हैं। उसे सर्वाधिक सार्थक लेखन बतलाएंगे लेकिन दलितों से अलग हो ही दलित लेखन उन्हें कूड़ा-कचरा दिखाई देने लगता है जिसका वर्तमान में कोई वजूद है, न भविष्य में कोई सम्भावना। ब्राह्मणवादी मानस सब कुछ अपने लिए चाहता है। सत्ता, सम्मान, सम्पत्ति सब कुछ वह अपने लिए चाहता है। और वह भी परम की सीमा तक ईश्वर, आत्मा से लेकर आनंद तक हर चीज उसे परम चाहिए। उसे कम पर उसे संतोष नहीं है। और चूंकि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक वर्चस्व तथा आत्मिक विकास और संतोष का ठौर जहां निहित है इसलिए ज्ञान के स्रोत को भी वह अपने तक ही सीमित रखना चाहता है। साहित्य ज्ञान के प्रसार का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र इसलिए हर हालत में साहित्य पर वह अपना एकाधिकार चाहता है। इसीलिए वह साहित्य के लोकतंत्रीकरण का विरोधी है। साहित्य को वह जाति की तरह बंद रखना चाहता है ताकि कोई दलित, चमार-चूहड़ा उसके भव्य भवन में प्रवेश न कर सके। यही वह वर्ण जो विद्या को देवी और विद्यालयों को विद्यामंदिर कहता रहा लेकिन उसने दलित को विद्यालय के पास तक नहीं फटकने दिया क्योंकि शिक्षा ही दलितों की मुक्ति का सूत्र और उनके वर्चस्व के लिए की कंठ की घंटी है। शूद्रों और अंत्यजों के लिए वेदों के पढ़ने, श्रवण या उच्चारण करने की वर्जना अकारण नहीं की गई थी। उनको संस्कृत पढ़ने से वंचित रखना भी इसी मानस की दलित-विरोध की नीति का एक हिस्सा था क्योंकि वेदों सहित सभी तथाकथित वेदों संस्कृत में लिखे हैं। यदि दलित और अंत्यज लोग संस्कृत भाषा ज्ञान प्राप्त कर इन ग्रंथों का अध्ययन कर पाते और इन सिद्धांतों निहित अपने शोषण के कारणों को जान पाते तो इतने लम्बे समय वे शोषित नहीं रह पाते। दलितों का अपने देवी-देवताओं के प्रति



## रमणिका गुप्ता कैसा है हिन्दी मानस?

प्रवेश तक इस मानस को कभी बर्दाश्त नहीं हुआ। कबीर और रैदास से लेकर सभी दलित संत निर्गुणी केवल इसीलिए रहे क्योंकि समुग की उपासना के लिए मंदिर में प्रवेश जरूरी था जिसका अधिकार उनको नहीं था।

जब मंदिरों में दलितों का प्रवेश सहज स्वीकार्य नहीं तो विद्या या साहित्य के मंदिर में ही भला कैसे? दलितों द्वारा मंदिर प्रवेश से मंदिर अपवित्र होता था और दलितों के साहित्य में प्रवेश से साहित्य की पवित्रता या शुचिता भंग होती है। साहित्य के इस मंदिर की पवित्रता और शुचिता की गारंटी इसी में है कि दलितों को इससे दूर रखा जाए। इसलिए दलित साहित्य को पाठ्यक्रम में लगाए जाने के मुद्दे पर भी मैनेजर पाण्डेय जैसा प्रगतिशील और दलित चेतना का तथाकथित समर्थक चिंतन यह कहकर दलित साहित्य का विरोध करता है कि 'पाठ्यक्रम तो अजायबघर है। चीजें जब पुरानी हो जाती हैं तो उन्हें अजायबघर में रख दिया जाता है। दलित साहित्य तो जीवंत है। उसको जनता के बीच रहना चाहिए। पाठ्यक्रम में शामिल हो जाने से उसकी जीवंतता खत्म हो जाएगी।' यदि पाठ्यक्रम में पढ़ाया जाने वाला साहित्य अजायबघर की वस्तु यानी अप्रासंगिक है तो मूर, तुलसी से लेकर प्रेमचंद, प्रसाद और निराला तक सबका साहित्य अप्रासंगिक होना चाहिए क्योंकि निरन्तर वह पाठ्यक्रमों में पढ़ाया जा रहा है। इस आधार पर रामचरितमानस सबसे अधिक अप्रासंगिक रचना होनी चाहिए लेकिन हिन्दी का कौन-सा प्राध्यापक, लेखक या मनीषी है जिसने रामचरितमानस को कभी अप्रासंगिक कहा हो। हजार उदाहरण और तर्क देकर उसकी प्रासंगिकता सिद्ध करने में सब एक दूसरे से बढ़कर हैं। सच्चाई यह है कि निरन्तर पाठ्यक्रमों में पढ़ाई जाने वाली रचनाएं समाज को भी प्रभावित करती हैं। क्या यही वजह नहीं है कि हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रमों में ऐसी रचनाओं की भरमार है जो सवर्ण मानसिकता का पोषण करती हैं। क्या दलित साहित्य को पाठ्यक्रम में शामिल किए जाने के इस प्रच्छन्न विरोध के पीछे यही मानसिकता नहीं है?

सच्चाई यह है कि सवर्ण मानस दलित चेतना के प्रति सकारात्मक और उदार न कभी रहा है, न है। कलात्मकता के आधार पर दलित साहित्य को खारिज करने वालों की तो कोई कमी रही ही नहीं है, अब दलित चेतना पर भी अंगुली उठाई जाने लगी है। गले में जनेऊ और मस्तिष्क में जाति के साथ जिन्दा रहने वाले हिन्दी मानस से दलित-विरोध के अलावा और उम्मीद भी क्या की जा सकती है जो न जयपुर उच्च न्यायालय के प्रांगण में मनु महाराज की मूर्ति की स्थापना पर कुछ बोलेता है, न पुरी के शंकराचार्य द्वारा जातिवाद के समर्थन पर और न बनारस के पण्डों द्वारा बाबू जगजीवन राम द्वारा अनावृत की गई सम्पूर्णानन्द की मूर्ति को दूध और गंगाजल से धोने पर।

आज दलित कलम ने प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया है। अस्सी के दशक से उसने हिन्दी में भी ज़ोरदार दमक दी तो साहित्यकारों में एक खलबली मच गई, खासकर हिन्दीभाषी साहित्यकारों में—चाहे वे शिष्ट अभिजात साहित्यकार हों चाहे प्रगतिशील या जनवादी। यह अलग बात है कि जहां शिष्ट या अभिजात साहित्यकार इसे साहित्य मानने से इंकार करते हैं वहीं प्रगतिशील एवं जनवादी साहित्यकार कुछ आपवाद छोड़कर, एक छद्म मुद्रा में अब इसे स्वीकारने लगे हैं लेकिन 'इफ एण्ड बट' (किन्तु-परन्तु) लगाकर। दरअसल अब वे इसे सीधे नकार तो सकते नहीं लेकिन इस पर अपनी परिभाषा थोपकर इसके लक्ष्य को पछाड़ने की कोशिश ज़रूर करते रहते हैं। इसके लिए वे कई तरीकें अपनाते हैं। एक तरीका तो यह है कि कोई दलित लेखक अपनी रचना में सीधे प्रश्न करे, तर्क करे और पूछे: '...कर दे तुम्हें मजबूर/रहने के लिए/ गांव-बस्ती से दूर/गंदगी के ढेर पर/ कृमि-कीटों के समान/तब उन्हें कैसा लगेगा?' (एन.आर.सागर) तो उसे तुरंत जातिवादी या प्रतिशोधात्मक साहित्य कहकर खारिज कर देना, उस पर घृणा फैलाने वाला, कटुता बढ़ाने वाला या वर्ग-तोड़क का बिल्ला लगा देना।

दूसरा तरीका जो वे अपनाते हैं वह है, हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकारों जैसे प्रेमचंद या निराला आदि को भी दलित साहित्यकारों की कतार में खड़ा कर, दलित लेखकों के महत्व को घटाने की चेष्टा करना। यहां तक कि तुलसीदास द्वारा वर्ण-व्यवस्था के समर्थन में कहे गए: 'ढोल, गंवार, शूद्र, पशु नारी/ ये सब ताड़न के अधिकारी' को भी तोड़-मरोड़ कर, अर्थ बदलकर पेश करते हैं।

यह सही है कि निराला या प्रेमचंद ने जो अपने समय में लिखा, वह वर्गवादी सोच के अनुसार समीचीन था। कतिपय पात्र भी दलित हैं। लेकिन उनका दृष्टिकोण दलित चेतना को प्रतिबिंबित नहीं करता। उनमें समाजवादी सोच है—सामंतवादी प्रथा के विरुद्ध विरोध है—पर कहीं न कहीं उनमें अवचेतन में सवर्ण मानसिकता मौजूद रहती है और यदा-कदा झांकी रहती है। प्रेमचंद ने मातादीन के मुह में गाय की हड्डी देकर दलित पात्र की क्रांतिकारिता को—उस कृति में तो—बहुत अच्छे ढंग से दिखाया है, लेकिन 'कफन' कहानी में वे घीसू व माधव का चित्रण करने में सवर्णवादी मानसिकता के शिकार हुए हैं। उन्होंने घीसू और माधव को ऐसे संवेदनाशून्य पात्र के रूप में पेश किया है जो घर में पड़ी मृत पत्नी को कफन बेचकर दारु पी जाते हैं।

हर भारतीय को सदियों से ब्रेनवाश किया जाता रहा है संस्कार के नाम पर। इस समाज में बचपन में ही, होश संभालते यह संस्कार



भर दिया जाता है कि "हम उच्च जाति के हैं और हमारे सभी अधिकार हैं—वे नीच हैं, निम्न जाति के हैं और हमारी सेवा के लिए बने हैं। उन्हें कोई अधिकार नहीं—और यह सामाजिक नियम ही नहीं है, यही धर्म, यही शास्त्रसम्मत है। यह तर्कातीत है।" ऐसे समाज की मानसिकता वाले हिन्दी लेखक, चाहे वह रामायण के रचयिता तुलसीदास हों या आज के नरेन्द्र कोहली—केवट को दीनहीन मूर्ख के रूप में ही पेश करेंगे।

ऐसा नहीं कि दलित कलम ने इसी युग में हिन्दी साहित्य का दरवाजा खटखटाया है। नाथ, बौद्ध और भक्त कवि, जो वास्तव में परिवर्तनकारी थे, जन-मानस में पैठ बना रहे थे—उन्होंने सूक्ष्म दस्तक दी थी। लेकिन भारतीय साहित्यकार ने कभी उसे सुना ही नहीं। उन्होंने उसे साहित्य ही नहीं माना। कबीर, मीरा, रैदास, दादू और नानक की क्रान्तिकारी वाणी को रहस्यवाद और भक्ति की सजा दे कर संत खाते में डाल दिया। गुरु गोरखनाथ को तो विकृत कर गोरख-धन्धे का पर्याय बना दिया और बौद्ध साहित्य में पौराणिक मिथकों से लैसक्षेपक जोड़ कर गौतम बुद्ध की मूल शिक्षा को ही विकृत कर दिया।

हिन्दी मानसिकता यह कभी बर्दाश्त नहीं कर पाई कि वर्ण-व्यवस्था के निचले डंडे पर बैठा कोई व्यक्ति महत्वपूर्ण हो जाए। इसलिए टीकाओं में—टिप्पणियों में—किंवदंतियां या क्षेपक जोड़ कर हिन्दी साहित्यकार उन्हें या तो विकृत करते रहे हैं—या फिर हड़पने का प्रयास करते आए हैं। ऐसे प्रसंगों से भरा पड़ा है सम्पूर्ण वाङ्मय।

इस सोच के तहत एक और भी हथियार इस्तेमाल किया जाता रहा है हिन्दी आलोचक-समीक्षक द्वारा। यदि वे किसी दलित साहित्यकार को उपेक्षित करके भी मार नहीं पाते—नकार के भी दबा नहीं पाते तो वे उसे अपने सांचे में ढाल कर, सुधारवादी रूप का ठप्पा लगा कर उसकी क्रान्तिकारिता नष्ट करने लगते हैं।

रैदास ने आज की सोच के समान समानता और समाजवादी सोच को अपने लेखन में अभिव्यक्त करते हुए कहा,

"ऐसा चाहूँ राज मैं, जहां मिले सबन को अन्न,  
छोटो-बड़ो सब सम बसै, रैदास रहे प्रसन्ना।"

लेकिन हिन्दी आलोचक भला कैसे पचा पाता उनकी क्रान्तिकारिता? उसने "प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी" को श्रेष्ठता के रंग से रंग डाला जिसमें आम आदमी गौण हो गया। रैदास ने जब कहा था 'कठौती में गंगा' तो उन्होंने गंगा के महात्म्य को नकारने का प्रयास किया था और 'मन चंगा' को गंगा से ऊंचा माना था।

रही बात दलित साहित्य के साहित्य में कोई महत्वपूर्ण स्थान बना पाने या आलोचकों की सहृदयता प्राप्त करने की—तो इसके दो पहलू हैं। एक तो विश्वस्तरीय पर औद्योगिक युग के बाद जब मनुष्य केन्द्र में (पहली बार) आया तो मानव-केन्द्रित मानवतावादी सोच उभरी। पूंजीवाद की जरूरतों की पूर्ति के कारण मनुष्य के श्रम का भी महत्व बढ़ा। श्रमिक वर्ग समूहों में उभरा और सामन्ती ढांचा चरमराया।

इसी काल में मनुष्य ने आजादी, भाईचारा और समानता की मुक्ति—जिसे बुद्ध ने चलाया था—का सूत्र पकड़ा। फ्रांस की क्रान्ति, अमेरिका के गृह-युद्ध (दास प्रथा से मुक्ति हेतु) और रूस की अक्टूबर क्रान्ति के रूप में यह मुहिम आगे बढ़ी। विश्व के प्रबुद्ध वर्ग ने इस सोच को ग्रहण किया। इसके प्रभाव से भारतीय बुद्धिजीवी भी अछूते नहीं रहे यहां तक कि कतिपय भारतीय सामन्त घराने और सन्त भी अपने-अपने कारणों से इसे जाहिरा तौर पर अपनाते नज़र आने लगे पर वे निरव्यवहार में मध्ययुगीन वर्ण व्यवस्था और धार्मिक आडम्बर से चिपके रहे। फलतः उनका आचरण दोहरी मानसिकता वाली संस्कृति के अनुरूप दोहरा हो गया। घर में पोंगापंथी—सार्वजनिक स्तर पर आधुनिक। इस दोहरे आचरण का शिकार प्रगतिशील जनवादी तत्त्व भी हो गया।

लेकिन आधुनिक बनने की होड़—प्रगतिशील कहलाने की ललक ने एक काम जरूर किया। अभिजात बौद्धिकों के मन में भी एक झटका भर दिया कि अगर वे जाहिरा भेदभाव बरतेंगे तो वे पिछड़े और मध्ययुगीन कहलाएंगे। इस भय के चलते भी उनके लिए दलित आन्दोलन को चाहते हुए भी नकारना मुश्किल होने लगा। राजनीति दबाव से भी वे और उनका साहित्य मजबूर हुआ। परिणामतः आज दलित साहित्य की चर्चा में भाग लेने लगे।

इस प्रश्न का दूसरा पहलू व्यावहारिक पक्ष का है। दोस्ती के बराबर के लोगों में होती है। यही व्यावहारिक सत्य भी है। अब भारतीय संविधान के प्रावधान के तहत आजादी के बाद दलितों में एक पीढ़ी, भले कम ही सही—कुछ रोजगार पाकर चेतन हुई और अपने बच्चों को शिक्षित करने लगी तो दलितों में काफी संख्या में लेखक भी उभरे। इस नई पीढ़ी के दलित लेखकों ने हिन्दी साहित्य में दया और सहानुभूति को नकारना शुरू कर दिया है। वे हिन्दी आलोचना की कसौटियां तोड़ कर अपनी कसौटियां तैयार करते हैं। उन्होंने अपना सौन्दर्यशास्त्र भी खुद गढ़ना शुरू कर दिया है। उन्होंने अपनी पत्रिकाएं भी निकालनी शुरू कर दी हैं। ऐसी स्थिति में अब दलित साहित्य को यह फिक्र नहीं रहेगी कि उसे कोई हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान देगा या नहीं। हिन्दी साहित्य की कसौटियां उसकी भाषा, यहां तक कि उसकी विधाएं भी दलित चेतना के अनुसार से छोटी पड़ती जा रही हैं। फिक्र तो आने वाले समय में हिन्दी साहित्यकार को होगी कि कहीं वह आउटनम्बर हो कर अप्रासंगिक बन जाए। आज हिन्दी साहित्यकार उनके मंचों पर जाने लगा है। हिन्दी आलोचक उनकी चर्चा में ही शामिल नहीं होते, उस पर साक्षात्कार देते हैं। वे बोलते ही नहीं, कलम भी चलाने लगे हैं। यह एक भागीदारी है या हृदय-परिवर्तन, कहना कठिन है—पर सत्य जरूर भले उनके पहले और आज के साक्षात्कार में दलित-विरोध दलित-समर्थन के परस्पर विरोधी वक्तव्य हों, पर वे इस विषय अब कन्नी नहीं काटते।



प्रमोद सिंह

## हिन्दी दलित लेखन का इतिहास

हिन्दी दलित साहित्य लेखन का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना हिन्दी के आविर्भाव का। हिन्दी का सर्वप्रथम समृद्ध साहित्य दलित लेखन ही था। इस संदर्भ में उल्लेखनीय है डोमपा, चमरपा, तंतिपा, शांतिपा, खटिकपा, मनिपा, निपादपा, लुहिपा, तेलिपा, कुम्हारपा, सरहपा, बाहपा तथा टेढ़पा। जिन बौद्ध संतों ने सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य का सृजन किया था, वे मूल रूप से चमार, डोम, धोबी, जुलाहा, धुना, दर्जी, खटीक, मछुआ, कहार, कुम्हार, निपाद, तेली, माली आदि अछूत और शूद्र जातियों से सम्बन्धित थे। उनकी रचनाएँ वेदों, पुराणों, स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में वर्णित वर्ण व्यवस्था, जाति-भेद, ऊँच-नीच, तीर्थ, स्नान, व्रत, आडम्बर, कर्मकांड, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य और आत्मा-परमात्मा आदि अनेकानेक अवैज्ञानिक और तर्क की कसौटी पर खरे न उतरने वाले विधि-विधानों के खण्डन और घोर विरोध से भरपूर हैं। बारहवीं शताब्दी के आते-आते दलित जातियों को शिक्षा के अधिकार से पूरी तरह वंचित कर दिया गया जिससे रैदास, कबीर, दादू, पीपा, सेना और सदन आदि चमार, जुलाहा, धुना, दर्जी, नाई और खटीक आदि जातियों में जन्मे परवर्ती सहजयानी बौद्ध संतों ने अपने पूर्ववर्ती बौद्ध संतों की तरह ही रचनाएँ कहीं पर शिक्षा के अभाव में जब उनका लेखन न कर सके तो अपने अनुयायियों को कंठस्थ ही करा दी और पीढ़ी दर पीढ़ी उनका प्रचार-प्रसार आज भी भारतीय मानस में हो रहा है। भारतीय मानस में दलित लेखन के प्रति रुचि सर्वदा रही है, इसका इतना प्रमाण ही पर्याप्त है।

भला हो हिन्दी मानस का, जिसने न जाने कौन-सा मापदण्ड अपनाया जिसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में पूर्ववर्ती बौद्ध संतों के लेखन को हिन्दी का अपभ्रंशकाल बताकर बड़ी चतुराई से हिन्दी लेखन से बाहर ही नहीं कर दिया बल्कि उसकी अल्पेष्टि करने का भी षडयंत्र रच डाला। परवर्ती बौद्ध संतों की रचनाओं का सम्पादन कर उन्हें तोड़मरोड़ कर अथवा उनके अर्थ ही बदल जाएँ इस प्रकार कागजों पर उतार दिया। सबसे बड़ा अपकृत्य उन्होंने यह किया कि उनका पुनर्नामकरण 'निर्गुणिया संत' उसी प्रकार कर दिया जैसे कि राजनैतिक खिलाड़ी गांधी ने दलितों का 'हरिजन' किया। तीसरे हिन्दी पर संस्कृत का ऐसा रंग चढ़ाया कि उसका मूल रूप ही बदल गया। इस रंगबाजी का मुख्य उद्देश्य यही रहा है कि किसी प्रकार बौद्ध संतों के लेखन को, जो एक सशक्त दलित लेखन है, हिन्दी से बाहर रखा जा सके।

बीसवीं शताब्दी में दलितों का खोया स्वाभिमान जाग उठा। बड़े विकट संघर्ष के बाद संवैधानिक अधिकार मिले। शिक्षित होने का अवसर मिल गया और एक बार पुनः बौद्ध संतों की परम्परा के

अनुरूप बौद्ध धर्म पुनर्जागरण के साथ ही बाबासाहेब डा. अम्बेडकर के क्रांतिकारी विचारों से सराबोर दलित लेखन का फिर से दरिया बहने लगा जिसमें हिन्दी मानस के किण्वरों पर पानी फिर गया और उनके माथे पर चिंता की रेखाएँ उभर आई हैं। अल्प समय में ही दलित लेखन ने महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है जिसकी परिणति ही यह परिचर्या है। दलित लेखन की परम्परा रही है लोकभाषा के माध्यम से लोकमानस का मार्गदर्शन। समानता व मानवता का ही प्रवक्ता रहा है सर्वदा दलित लेखन। अतः परिष्कृत भाषा, कला, श्रृंगार और अलंकार छटा के नाम पर उसे खारिज नहीं किया जा सकता। आखिर पांच प्रतिशत हिन्दी मानस उसे खारिज करने वाला कौन होता है? जबकि बहुजन हिताय साहित्य बहुजन में लोकप्रियता के सोपान चढ़ता चला जा रहा है? जिन्होंने हिन्दी के उद्गम का ठीक से अध्ययन किया है उन्हें ज्ञात है कि पालि भाषा के क्रमशः रूपान्तरण से हिन्दी भाषा अस्तित्व में आई जिसमें सर्वप्रथम दलित लेखन ही हुआ। पालि का रूपान्तरण प्राकृत में, प्राकृत का मागधी में एवं मागधी का रूपान्तरण हिन्दी में क्रमवद्धता से हुआ तथा भारत के अधिकांश हिन्दी क्षेत्रों की बोलचाल की भाषा में पालि से रूपान्तरित हिन्दी शब्दों का प्रयोग आज भी प्रचुर मात्रा में होता है।

वास्तविकता यही है कि हिन्दी पाठ्यक्रम में जो कुछ पढ़ाया जाता है वह न केवल सर्वर्ण मानसिकता से भरा हुआ होता है बल्कि दलितों के प्रति कुटुभाव भी व्यक्त करता है पर इस पर कोई विचार हुआ है, ऐसी जानकारी आज तक नहीं मिली। आखिर इस पर विचार क्यों हो? सब शैक्षिक संस्थाओं का संचालन और पाठ्यक्रमों का निर्धारण उन्हीं चतुर जनों के हाथों में है जो दलितों के प्रति पूर्वाग्रह से पीड़ित हैं। ऐसी स्थिति में एक दलित विद्यार्थी के मानस पटल पर वे यह अंकित करने में सफल हो जाते हैं कि उनके पूर्वज लेखन कला के प्रति उदासीन रहे और दलित-विरोधी लेखन को प्रत्युत्तर देने में प्रायः असफल रहे। दलित लेखन को आलोचक वर्ग से सहृदयता प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं है। दलित लेखन मात्र लेखन के कीर्तिमान स्थापित करने के लिए नहीं हो रहा है बल्कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया की एक सशक्त धारा है जिसमें आलोचना कुड़े की तरह बह जाती है। कोई भी आलोचक दलित साहित्य के प्रति जब सहृदयता का प्रदर्शन करेगा तो दलित लेखन को भली भाँति समझ लेना चाहिए कि वह कोई बड़ी उथल-पुथल मचाने का प्रयास कर रहा है। वर्तमान में दलित लेखन के प्रति सहृदयता दिखाने वाले अनेक सर्वर्ण मानसिकता वाले लेखक संघ सक्रिय हैं और वे कुछ सीमा तक दलित लेखन में फूट डालने और उनकी दिशा मोड़ने में सफल होते प्रतीत हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में दलित लेखकों की जिम्मेदारी हो जाती है कि ऐसी सहृदयता से सजग रहे तथा अपने सहगामियों को सतर्क भी करें।



## डा. वीरेन्द्र कुमार वसु दलित सोच की अभिव्यक्ति

आज समस्त देश संक्रमण-काल से गुजर रहा है। स्पष्ट है, लेखन पर भी उसका प्रभाव पड़ा है। वर्तमान समय में सर्वत्र दलित-चेतना उभार पर है। दलित-लेखन से जो अभिप्राय है वह अस्पष्ट तो नहीं, किन्तु कई विचारों को उकसानेवाला अवश्य है। एक दल यह मानता है कि दलित-साहित्य दलितों द्वारा, दलितों के लिए और दलितों का ही है तो दूसरा यह स्वीकार करने में संकोच नहीं करता कि गैर-दलित भी दलित-लेखन में संलग्न है।

इस संदर्भ में रैदास को न भूलना होगा, जिन्होंने बहुत पहले ही इसकी चेतना का सूत्र-संकेत दे दिया था। उनकी आत्म-स्वीकृति में दलित-जाति और उस जीवन से सम्पृक्त पीड़ाओं का स्पष्ट निदर्शन हुआ है। इधर लेखन-जगत में जो दलित-चेतना की लहर दौड़ रही है, वस्तुतः उसका बीज पहले से ही विद्यमान था। आधुनिक काल में गैर-दलित लेखकों और कवियों में नागार्जुन, अमृतलाल नागर, गोविन्द उपाध्याय, गिरिराज किशोर, शैलेश मटियानी, मन्मू भण्डारी सरीखे लेखक भी तो हैं ही। दलित-चेतना से समन्वित साहित्य का रचनाकार कोई भी हो, दलित अथवा गैर-दलित, फर्क क्या पड़ता है! असली बात तो यह है कि दलित-सोच की अभिव्यक्ति कहाँ तक सार्थक एवं सोद्देश्य है। रचनाकार की अभिव्यक्तियाँ यदि युग-सापेक्ष और जन-सामान्य की सही स्थितियों के चित्रण पर केन्द्रित हैं तो लेखक-कवि का वर्गीकरण सच्चे अर्थ में बेमानी है।

हिन्दी में मानस-पटल पर दलित-चेतना का उद्बोध अपने मूल रूप में हीरा डोम, निराला और प्रेमचन्द जैसे रचनाकारों से जागृत हुआ है। निम्नवर्गीय उपेक्षित पात्रों पर उनका ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित रहा। सन् 1960 ई. से मराठी में दलित आन्दोलन एक महत्वपूर्ण घटना है। 1980 तक आते-आते इसने धारा का रूप ले लिया। सन् 1996 का नागपुर का दलित-साहित्य गणु सम्मेलन इतिहासोल्लेख का अंश है उसके बाद तो दलित-साहित्य लेखन ने अपनी गति पकड़ ली।

वर्तमान में तो मराठी की तरह हिन्दी में भी दलित साहित्यकारों ने प्रायः प्रत्येक विधा में लिखना आरम्भ कर दिया है। बेशुमार कवि-लेखक इस क्षेत्र में सक्रिय हुए हैं। हम नहीं भूल सकते नैमिशरण, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, जयप्रकाश कर्दम, सुशीला टाकभौरे, शैलराज सिंह बेचैन, सूरजपाल चौहान, तारा परमार, लालचंद राही सरीखे स्थापित रचनाकारों को, जिन्होंने अपनी लेखनी से दलित-चेतना की प्रखरता को बढ़ाते चलने में अपनी सक्रिय और सराहनीय भूमिका निभाई है।

चाहे कविता हो या कहानी, उपन्यास हो या नाटक, लघुकथाएँ हो अथवा क्षणिकाएँ—साहित्य की कोई भी विधा अछूती नहीं रही है दलित-चेतना से। अब तो स्थिति यह है कि दलित-चेतना ने हिन्दी-मानस को गहरे रूप से प्रभावित कर दिया है। हम कह सकते हैं कि वह 'दलित' शब्द अब एक प्रकार से प्रतीक बन गया है— उनके लिए, जो शोषित-प्रताड़ित, तिरस्कृत, अवसर से च्युत, अधिकारों से वंचित, लाञ्छित-अपमानित कर हाशिये पर धकेले गए। इसीलिए कहना होगा कि लेखन में चिरोध का साहित्य स्पष्टतया दृष्टिगत है। वर्णताकांक्षे परिधि में प्रबुद्ध वर्ग भी समाविष्ट है। अब नए सिरे से उन्हें भी सोचने पर विवश होना पड़ेगा कि बहुत हो चुका एकपक्षीय विवेचना समय बदल चुका है, समानता का भाव प्रखर हो चुका है। बुद्धिजीवी वर्ग अंतर्द्वंद्व और अंतःकरण की भावनाओं से जूझ रहा है।

इन दलित-चेतना के प्रमुख कोण में महिलाओं के पक्ष पर भी विशेष रूप से ध्यान आकर्षित हुआ है। दलित साहित्य में महिलाओं की दशा एवं दिशा पर भी गंभीरतापूर्वक लिखा गया है। कई महिलाएँ भी लेखिका के रूप में प्रकाश में आई हैं।

## डा. तेज सिंह दलित साहित्य-विरोधी हिन्दी मानसिकता

इधर जब से हिन्दी क्षेत्रों में दलित साहित्य के फैलाव में तेज़ आई है तभी से उसके विरोधियों ने विरोध की प्रक्रिया को और तेज़ कर दिया है। ऐसा पहली बार नहीं हुआ है। इससे पहले मराठी में दलित साहित्य आन्दोलन का तीव्र विरोध हो चुका है। मराठी का दलित साहित्य वहाँ के सवर्ण साहित्य की उपेक्षा के बावजूद आगे बढ़ा।

हिन्दी क्षेत्रों में दलित साहित्य का विरोध दो तरह से किया जा रहा है—एक नकारात्मक विरोध, दूसरा सकारात्मक विरोध। नकारात्मक विरोध करने वाली ताकतें वे हैं जो सवर्ण मानसिकता से प्रसिद्ध हैं जो दलित साहित्य का उग्र विरोध इन्हीं ताकतों द्वारा किया जा रहा है जो दबे स्वर में छुआछूत और जातिगत भेदभाव का विरोध तो करती हैं पर उसे जन्म देने वाली वर्ण व्यवस्था का विरोध नहीं करती। दलित साहित्य का नकारात्मक विरोध करने वाले साहित्यकारों आलोचकों का तर्क है कि दलित साहित्य के विकास से साहित्य में ही विभाजन नहीं होगा बल्कि समाज में भी विभाजन हो जाएगा और इससे जातिवाद बढ़ेगा।



उनकी दृष्टि में दलित साहित्य आन्दोलन एक खास राजनीति के तहत चलाया जा रहा है। इस राजनीति द्वारा वह सत्ता पर कब्जा करना चाहता है। और वह खास राजनीति है—महात्मा फुले और डा. अम्बेडकर के सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन को आधार बनाकर दलित साहित्य आन्दोलन को आगे बढ़ाना। इसके विपरीत सर्वर्ण चाहते हैं कि साहित्य का विकास फुले-डा. अम्बेडकर के चिन्तन के आधार पर नहीं बल्कि गांधी-लोहिया के चिन्तन के आधार पर होना चाहिए, क्योंकि इनका रास्ता प्रेमपंथ का है जबकि दलितों का विरोध और विद्रोह का।

प्रगतिशील और वामपंथी सकारात्मक विरोध द्वारा दलित साहित्य का समर्थन इसी शर्त पर करते हैं कि जन्म से शूद्र या अछूत को ही दलित नहीं मानना चाहिए बल्कि उन्हें भी दलित माना जाना चाहिए जिनकी आर्थिक दशा ठीक नहीं है क्योंकि उन्हें भी दलितों जैसा सामाजिक अपमान झेलना पड़ता है। इसी आधार पर दलितों द्वारा और गैर-दलितों द्वारा दलित जीवन पर लिखे गए साहित्य को भी दलित साहित्य मानना चाहिए। निश्चय ही इसमें जाति की अवधारणा को त्यागकर वर्ग की अवधारणा को महत्व दिया जा रहा है जबकि सच्चाई यह है भारत की सामाजिक-राजनीतिक संरचना जातिवाद पर टिकी है। घर-बाहर से लेकर समाज तक वर्णव्यवस्था का जाल फैला हुआ है जिसमें सामाजिक स्तर पर गरीब सर्वर्ण को छुआछूत और जातिगत भेदभाव नहीं झेलना पड़ता है जैसे अछूत को यानी पूरे दलित समाज को झेलना पड़ता है। यहां मार्क्सवादियों की वर्ग की अवधारणा काम नहीं करती।

स्वयं प्रगतिशील और वामपंथी भी जातीय संकीर्णता के घेरे से बाहर नहीं आ पाते हैं। वे साहित्य और समाज में सामंतवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का तो विरोध करते हैं पर 'ब्राह्मणवाद' के जातिवादी चरित्र पर एक शब्द भी नहीं कहते, क्योंकि ब्राह्मण शब्द का विरोध करते ही उनकी पार्टियों के ब्राह्मण उनसे अलग हो जाएंगे। वामपंथी पार्टियों में भी सर्वर्ण ही नेतृत्व कर रहा है। दलित तो वहां सिर्फ दर्ी बिछाने का ही काम रहा है। यही वजह है कि आज शिक्षित दलित वर्ग वामपंथी पार्टियों से पलायन कर रहा है और उनसे अलग होकर दलित साहित्य के द्वारा जातीय अस्मिता की पहचान और स्वाभिमान के लिए संघर्ष कर रहा है।

दरअसल, दलित साहित्य-विरोधी हिन्दी मानसिकता वास्तव में सर्वर्ण मानसिकता है और सबसे बड़कर वर्णव्यवस्था और जातिवाद पर आधारित मानसिकता है। दलित साहित्य का एकमात्र लक्ष्य साहित्य और समाज में समानता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व आदि जनतांत्रिक और जनवादी मूल्यों की स्थापना करना है। दलित साहित्य इस दिशा में अग्रसर हो रहा है।

## अभिव्यंजना द्वारा प्रकाशित कुछ नए कविता-संग्रह

### सबूत क्यों चाहिए

(इंदु जैन)

समय चेतना को उजागर करती प्रख्यात कवयित्री इंदु जैन की नई कविताएँ।

मूल्य : 80 रु.

### मेरा होना

(कुसुम अंसल)

गहरी संवेदनशीलता के कारण मन को छू जाने वाली कुसुम अंसल की नई कविताएँ।

मूल्य : 70 रु.

### आरंभ से हाशिये तक

(अनिता वर्मा)

संवेदनाओं को आत्मसात करती और कविता में जीती अनिता वर्मा की नई कविताएँ।

मूल्य : 60 रु.

### अन्य महत्वपूर्ण कविता संग्रह

पीली धूप का टुकड़ा	शामा	100 रु.
सच कहती हूँ	सुनीता जैन	80 रु.
मुक्त कर दो	कीर्ति केसर	50 रु.
विरुपीकरण	कुसुम अंसल	35 रु.
तुम झेल नहीं पाओगे	अरुणा कापूर	60 रु.

### अभिव्यंजना

बो-70/72, डी.एस.आई.डी.सी. कामप्लेक्स लॉरेस रोड,  
दिल्ली-110035



डा. रमेशचन्द्र मिश्र

## नाट्य लेखन में वस्तु विन्यास : संदर्भ प्रताप सहगल के नाटक

‘आर्थिक एवं शैक्षिक स्थितियों के बदलने के साथ ही संबंधों में लैंगिक भेद की उपस्थिति की समझ पहले से कहीं गहरी हुई है। लैंगिक आधार पर छिड़े संघर्ष को अगर मानवीय स्तर पर रिज़ॉल्व न किया जाए तो संबंधों में टूटन और उस टूटन से उपजी यातना का कोई अंत नहीं।...संबंधों में आई दरारों और खाइयों को न पाटने की वजह से ही अजय, कान्ता और किरण यातना भोगने को अभिशप्त हैं।’ — ‘नहीं कोई अंत’ की भूमिका (प्रताप सहगल)

प्रताप सहगल के नाट्य-लेखन से मैं प्रायः पांच-छः वर्षों से जुड़ा रहा हूँ। ‘नाटक’ ख्यात वृत्तं स्यात् पंच सन्धि समन्वितम्’ जैसा कोई शास्त्रीय आधार इनके किसी नाटक में देखने को नहीं मिलता। वैसे भी, नायक-सम्बन्धी धीरोदात्त कल्पना आज के परिवेश में न तो व्यावहारिक है और न संगत ही, क्योंकि सामाजिक परिवेश में व्यक्ति वैचित्र्य जितना प्रभावी हुआ है, साहित्य-लेखन के क्षेत्र में भी उतना ही असरदार लगता है। दूसरी बात यह है कि प्रताप के प्रायः सभी नाटकों की, विभिन्न एजेंसियों द्वारा कई-कई बार प्रस्तुतियां हो चुकी हैं। पर, मंचन-कला की दृष्टि से ये नाटक बहुत चर्चित हुए हों अथवा मंच-प्रस्तुति का कोई नया कौशल, इनके लेखन-प्रयोग में लाया गया हो, ऐसा भी नहीं लगता। पर, प्रताप के नाट्यालेखों में उनके द्वारा चयन की गई ‘वस्तु’ और उसके ‘विन्यास’ ने सदा आकर्षित किया है। नाटक-लेखन में आज व्यक्ति की परिवेशगत स्थिति और उस परिवेश की प्रवृत्तियां नाटक के दर्शक और पाठक को अधिक आकर्षित करती जान पड़ती हैं। इधर, नाटक-लेखन में प्रताप का प्राथमिक मकसद वस्तु-विनियोजन के भीतर से ‘नाटक खड़ा करने का’ रहता है। यदि नाटक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में लिखा जाना है, तो वे इतिहास की विकीर्ण बातों को जोड़ने, अनुद्घाटित तथ्यों को उद्घाटित करने का निरन्तर प्रयत्न करते हैं। यही नहीं, ऐतिहासिक नाटकों के अनैतिहासिक पात्रों की सृष्टि में भी उनके कुल-शील, स्वभाव तथा पारिवारिक परिवेश की सृष्टि में वे अपनी कल्पना-शक्ति का पूरा उपयोग करते दिखाई देते हैं और यदि नाटक सामाजिक परिस्थितियों-दबावों को उजागर करने के लिए लिखा गया है, तो सृजित पात्रों की मानसिक तहों में से मनोवैज्ञानिक तथ्यों को उभारना उनका प्रथम लक्ष्य दिखाई देता है। यही कारण है कि उनके प्रमुख नाटकों का वस्तु-संयोजन पाठक को सुगुम्फित, रोचक और विश्वसनीय लगता है।

नाटक में वस्तु या कथानक के प्रभावी होने में उसके विचार-गुण के संश्लिष्ट होने तथा विश्वसनीय ढंग से विनियोजन करने का बहुत बड़ा हाथ रहता है। शास्त्रीय आधार पर लिखे गए नाटकों में यह कार्य कथानक की कार्य-अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और सन्धियों की योजना के द्वारा कर लिया जाता था। पुराने शास्त्रीय ढंग से लिखे गए नाटकों में कौतूहल, चमत्कार-सृष्टि अथवा असमंजस की स्थिति उत्पन्न करने के लिए वस्तु-विन्यास को उतार-चढ़ाव के विभिन्न तरीकों द्वारा व्यवस्थित कर लेना अच्छे नाट्य लेखक का गुण था। वस्तु-विधान में ऐसा कलात्मक सौष्ठव नाटक के प्रभाव को समष्टिमूलक बना देता है। आज नाट्य-लेखन के लिए रंग-कर्म की जानकारी ही नहीं, उसके प्रति जागरूकता भी वस्तु के प्रभाव को अग्रसारित करती है। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि प्रताप के नाटकों में वस्तु-विन्यास के सुस्त-दुस्त होने का प्रमुख कारण यह भी है कि वे लम्बे अर्से से रंग-कर्म से जुड़े रहे हैं। नाटक के मंचन की तैयारी से जुड़ना, मंचित होते हुए नाटकों को निरन्तर देखना आदि उनकी दैनिकचर्या का अंग-सा बन गए हैं। रंग-कर्म के प्रति जागरूकता का परिणाम उनके द्वारा प्रस्तुत नाटक-विन्यास में स्पष्ट दिखाई देता है। प्रताप के नाटकों में इस दायित्व-बोध की झलक उनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीक-चिह्नों की योजना में अथवा ध्वनि-प्रकाश को समवेत रूप में समेकित करके प्रस्तुत करने में देखी जा सकती है। ऐसा वे दर्शक-पाठक की मानसिकता एवं सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखकर ही करते दिखाई देते हैं।

पहली बात तो यह कि प्रताप ने अपने प्रमुख नाटकों के वस्तु-प्रस्तुतीकरण में ‘सेंसिबिलिटी’ अर्थात् पात्र-परिस्थिति, देश-काल सम्बन्धी विवेक का सर्वाधिक उपयोग किया है। सच तो यह है कि नाटक अपने आप में एक सर्वांगपूर्ण विधा है, जिसमें कथावस्तु के साथ पात्र एवं केन्द्रीय बौद्धिक रस की व्यंजना का भी विशेष योगदान



रहता है। वस्तु-प्रस्तुतीकरण में कथानक के आधिकारिक एवं गौण या प्रासंगिक प्रसंगों का भी मानसिक वर्गीकरण नाटककार की लेखकीय योजना में विद्यमान रहता है। इस दृष्टि से प्रताप के नाटकों का वस्तु-विन्यास सुगठित एवं सुव्यवस्थित दिखाई देता है। उन्होंने कथानक के आवश्यक अंश के मंचीय प्रस्तुतीकरण की पूरी संभावनाओं को तो ध्यान में रखा ही है, कथा के इतिवृत्तात्मक अंशों को भी कल्पना-व्युत्पन्नता एवं कौशलपूर्वक रोचक और विश्वसनीय बनाया है। उनके प्रमुख नाटक रंग बसन्ती, मौत क्यों रातभर नहीं आती, अन्वेषक तथा नहीं कोई अन्त इस दृष्टि से उदाहरणीय हैं। नाटककार की परिस्थितियों के प्रति जागरूकता तथा स्थितियों को आँखों से करने की क्षमता को इस सफलता का कारण माना जा सकता है। जागरूक नाटककार अपने परिवेश में, स्थितियों के बीच ही नाटक को होते हुए, उठते हुए देखता ही नहीं, उसे किसी हद तक जीता भी है। इस सम्बन्ध में नाटककार द्वारा अभिव्यक्त इस वैचैनी को समझना बहुत आवश्यक है, जिसमें उसके वैचारिक सोच से सीधे आमना-सामना होता है। अपने द्वारा अनुभूत सामाजिक समस्या को, परिवार की व्यावहारिक टूटन को सबसे पहले वह वैचारिक धरातल पर जीता है, तक कहीं उसकी प्रस्तुति करता है—

‘पहले वाले आलेखों में केतकी नहीं थी। केतकी आई—जन-संघर्ष आया। शिक्षा-व्यवस्था एवं दूसरे सामाजिक मूल्यों पर व्यांगपूर्ण स्थितियाँ एवं संवाद आए, तो लगने लगा कि नाटक अपने समय की नब्ज पर भी हाथ रख रहा है। अन्वेषक के दर्द को भी उकेर रहा है। कुछ सन्तोष हुआ।’ (भूमिका, अन्वेषक)

‘आर्थिक एवं शैक्षिक स्थितियों के बदलने के साथ ही संबंधों में लैंगिक भेद की उपस्थिति की समझ पहले से कहीं गहरी हुई है। लैंगिक आधार पर छिड़े संघर्ष को अगर मानवीय स्तर पर रिज़ाँत्व न किया जाए तो संबंधों में टूटन और उस टूटन से उपजी यातना का कोई अंत नहीं... संबंधों में आई दरारों और खाइयों को न पाटने की वजह से ही अजय, कान्ता और किरण यातना भोगने को अभिशप्त हैं।’ (भूमिका, नहीं कोई अन्त)

वैसे भी भारतीय ग्रामीण अंचल की चौपालों, नागरिक जीवन के गुक्कड़ों, गृहस्थ-जीवन के कमरों के भीतर भी विभिन्न सन्दर्भों में नाटक होते देखे जा सकते हैं। नाटक-रचना के भीतर वस्तु की सेंसिबिलिटी के बल पर नाटककार व्यावहारिक पक्षों के साथ ही सैद्धान्तिक पक्षों के सही और प्रभावी सन्तुलन को बनाए रखने में कामयाब होता है। सैद्धान्तिक पक्ष की तकनीक को तो रचनाकार श्रम और लगन से अर्जित कर लेता है, पर लेखन में नाटकीय सेंसिबिलिटी के अर्जन और विकास में, अर्थात् वस्तु-सौन्दर्य-सन्तुलन की धुरी या सुई को पकड़ पाने में निरन्तर श्रम-साधना और नाटकीय विवेक

अर्जित करने की अपेक्षा बनी रहती है। सेंसिबिलिटी की इस अन्तर्चेतना की शक्ति के बल पर ही लेखक ‘शब्द’ में हो रहे नाटक की शोध करता रहता है। नाटक-लेखन में प्रताप का अनथक प्रयास इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। ‘अन्वेषक’ नाटक के लेखन में यह निरन्तर स्पष्ट है कि रचनाकार ने परिस्थितिजन्य नाटक को, प्रयोग-धर्मी सन्दर्भ में किस प्रकार जिया और एक जीवन्त नाटक खड़ा किया है। ‘रंग बसन्ती’ नाटक के सन्दर्भ में भी यह लगता रहा है कि रचनाकार ने शब्द-संकेत और अपेक्षित निर्देशों के भीतर से, परिस्थितिजन्य नाटक को देखकर ही नाट्य-लेख में उसका उपयोग किया है। मेरी दृष्टि में ऐसा देखना या देख पाना ही नाट्य-लेख का परम पुरुषार्थ माना जाना चाहिए। ‘रंग बसन्ती’ में बोध का यह उभार काल कोठरी में पड़े भगत सिंह और उसके रक्षक चत्तर सिंह के साथ संवाद में भली प्रकार उभरा है—

भगत सिंह (मुस्कराकर): बाबा! आपकी इच्छा पूरी करने में मुझे कोई एतराज नहीं, पहले कहते तो,

चत्तर सिंह : तुझे इससे शान्ति मिलेगी।

भगत सिंह : नहीं, यह बुज़दिली है। आज तक नास्तिक रहा और अब... नहीं... लोग यही कहेंगे न भगत सिंह नास्तिक था... यह तो नहीं कि बुज़दिल और बेईमान था... मेरा धर्म, मेरा ईमान सब भारत है।’ (पृ. १९)

वस्तु-विकास एवं उसकी परिणति में कथा-फल के ‘अधिकारी’ के निर्णय का भी बड़ा महत्त्व रहता है। देखना यह होता है कि कथावस्तु का भोक्ता कौन है और क्यों? प्रताप के तीनों नाटकों—‘रंग बसन्ती’, ‘मौत क्यों रात भर नहीं आती’ और ‘अन्वेषक’ में वस्तु सम्बन्धी ऐसा भेद-संयोजन भली प्रकार अनुभव किया जा सकता है। तीनों ही नाटकों में प्रासंगिक कथा-वस्तु, आधिकारिक कथा की सहयोगी बन कर संयोजित हुई है। वस्तु का जो पक्ष उदात्त, ग्राह्य और मन्तव्य सम्प्रेषण में प्रभावपूर्ण होता है और जो भाव-दीप्ति में सहायक हुआ है, उसी को प्रताप ने अभिनय के योग्य माना है। रोप वस्तु की, ‘सूच्य’ मानकर, विभिन्न तरीकों से सूचना भर दी गई है। अभिनय अंश को, विभिन्न दृष्टिकोणों से दृश्य समझकर ही प्रताप ने अपने नाटकों में उस वस्तु का समुचित विस्तार किया है। कथन को प्रमाणित करने के लिए एक उदाहरण काफी है। ‘रंग बसन्ती’ नाटक में, सूच्य को कोरस रूप में, एक नाट्य युक्ति बना कर इस्तेमाल किया गया है। इस योजना के कारण नाट्य-व्यापार को खण्डित किए बिना ही लक्ष्य या मन्तव्य—‘लाहौर से कलकत्ता’ पहुंचने की सूचना दर्शकों को दे दी जाती है—‘चली रेल लाहौर से, पहुंच गई कलकत्ता।’ (पृ. 49)।

कथानक के वस्तु-विन्यास का प्रभाव, बहुत कुछ उसके विस्तार की रूपरेखा और संयोजन पर निर्भर करता है। अनावश्यक विस्तार से



वस्तुसंविधान में शैथिल्य उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। इस शिथिलता से बचने के लिए प्रताप बहुत जागरूक रहे हैं। वस्तु का उद्देश्य उनकी लेखकीय दृष्टि से कभी ओझल नहीं होता। उसी आधार पर वे वस्तु विस्तार की रूपरेखा बनाते हैं। ऐसे विस्तार भी उनके नाट्य-लेखों में, परिस्थितियों के समायोजन द्वारा ही ग्राह्य हुए हैं। वस्तु में सन्निहित परिस्थितियों की योजना को प्रताप मात्र वर्णन द्वारा प्रस्तुत नहीं करते। अपितु, परिस्थितियों को घटना से और घटना को प्रभाव से जोड़कर ही प्रस्तुत किया गया है। ऐसा प्रस्तुतीकरण, कार्य-कारण शृंखला की सूत्रबद्धता के कारण ही, दर्शक-पाठक की जिज्ञासा को तृप्त करता है। ऐसी स्थिति प्रताप के नाटकों के बीच से उजागर हुई देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए 'अन्वेषक' नाटक में आर्यभट्ट के साथ केतकी की बात अचानक नहीं आई। आयु, दरबार की परिस्थिति एवं शोधार्थी की मानसिकता को ध्यान में रखकर ही, मित्र जैसा व्यवहार करने वाला राजा बुध गुप्त उसके समक्ष प्रस्ताव करता है। उस कथन में बात की संस्कृति एवं मानसिक विषय की सूक्ष्मता को प्रताप ने एक संयमित विस्तार दिया है। इसके लिए 'अन्वेषक' नाटक (पृ. २८) में बुध गुप्त और आर्यभट्ट का संवाद पठनीय है, जिसमें लोकापवाद की बात कहते हुए बुध गुप्त ने केतकी सम्बन्धी आर्यभट्ट की मानसिक भाव-भूमिका को सहज ही दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया है।

प्रताप के नाटकों में परिस्थितियों के सृजन में एक कौशल देखा जा सकता है। परिस्थितियों के चित्रण में, प्रतिरोध और संघर्ष की स्थितियों को सजीव रूप में प्रस्तुत करने में नाटककार की अतिरिक्त जागरूकता का अनुभव किया जा सकता है। वास्तव में परिस्थितियों का चित्रण और उनके प्रतिरोध में खड़ी स्थितियों के कारण भी निरर्थक नहीं होने चाहिए। प्रताप के नाटकों में संघर्ष अथवा प्रतिरोध की स्थितियों का होना सकारण दिखाई देता है। यदि ऐसा नहीं होता तो नाट्य-वस्तु की सक्रियता खण्डित दिखाई देती, जो इनके नाटकों को पाठ्य और दृश्य दोनों ही स्थितियों में शिथिल या उबाऊ बनाती। कारण स्पष्ट है कि वस्तु-विस्तार के साथ ही, परिस्थितियों का ताना-बाना बुनने में प्रताप बहुत चौकन्ने रहे हैं। यही कारण है कि इनके नाटकों में आए स्वगत-भाषण यथासम्भव संयमित रहे हैं। इनके अल्प-विस्तार वाले स्वगत-भाषण, समय-प्रसंगानुसार यथास्थान आए हैं। एकाध स्थान को छोड़कर, आवृत्ति बहुत कम देखने को मिलती है। इन स्वगत-भाषणों की योजना में रेखांकित करने वाली बात यह कही जा सकती है कि इन्होंने सूच्य को 'दृश्य' नहीं बनाया। साथ ही इनके द्वारा कथा-संबंध को और अधिक सुगठित बनाने का प्रयत्न किया है। 'रंग बसन्ती' नाटक का एक उदाहरण देखिए, जिसमें नाटककार 'दृश्य लोप' के साथ, भगत सिंह की जिन्दादिली और सरकार द्वारा कैदियों

की जेल का स्थान बदलने की सूचना एक गायन-मंडली द्वारा देता जो सहज ही आगे की घटना की सकारणता से जुड़ जाता है—

गायन मंडली:—

'भगत सिंह की हिम्मत से सब में हिम्मत फिर जागी।

उठे पुराने शेर सभी ने मन से शंका त्यागी।

मियांवाली में शुरू लड़ाई पहुंच गई लाहौर।

जेल बदल दी, हुआ क्या आगे, करिए इस पर गौर' (पृ. ११)

अंक और दृश्य-विधान में प्रताप की दृष्टि यह रही है। दृश्य-विधान जितने कम किए जाएं, उतने अच्छे हैं। अंकों का कि तो प्रताप को भाया ही नहीं है। इसलिए एकाध नाटक को छोड़ इनके नाटकों में अंक-विधान है ही नहीं।

नाटक की प्रभाव-क्षमता बढ़ाने में वस्तु-अन्विति के महत्व कम नहीं आंका जा सकता। नाटक में यह अन्विति ही स्थान और के विस्तार को गति में समेट कर 'एक यूनिट' बनाने में सफल है। ऐसा करने में रंगकर्म की समझ का इस्तेमाल करके नाटक नाटक में निहित गति को निरन्तर उभारने में सफल होता है। 'बसन्ती' और 'अन्वेषक' इन दोनों ही नाटकों की रचना में प्रताप स्थान और समयगत दूरियों के ऐतिहासिक बोध के ताने-बाने से दर्शकों की चेतना को तत्कालीन वातावरण में ले जाने का सफल प्रयत्न किया है। वास्तव में वस्तु की व्याप्ति जितने बड़े भूभाग या कालखण्ड होगी, उतना बड़ा फलक समेटने में रचनाकार को कल्पना तब उतना ही लम्बा ताना पिरोना पड़ेगा। उक्त दोनों नाटकों के आलेख प्रताप इस बात पर विशेष जागरूक दिखाई देते हैं कि जो हो रहा वह वैसा ही क्यों हो रहा है। नाटकीय फलक की व्याप्ति की दृष्टि प्रताप सहगल का सद्यः प्रकाशित नाटक 'नहीं कोई अन्त' का फल देखने में तो कक्ष की दीवारों तक ही सीमित है, किन्तु उस प्रभाव-प्रस्तुति बहुत व्यापक है। बड़े-बड़े नगरों के मध्यमवर्गीय स्त्री-पुरुषों की 'साइकी' के आग्रह एवं विवशता को उन्होंने जिस भाषा में अभिव्यक्त किया है, संवादों में जैसे छोटे-छोटे वाक्यों के द्वारा कि को उभारा है, वह नाटक लेखन में मोहन राकेश के 'आधे आधे' नाटक के बाद महत्वपूर्ण विकास-सोपान कहा जा सकता है।

'आधे-अधूरे' की प्रमुख स्त्री पात्र सावित्री, पुरुष पात्र महेंद्र को मनोविज्ञान के धरातल पर दबोचे हुए सी दिखाई देती है। उसे आदमी का 'आधा चौथाई' अर्थात् अधूरा, लिजलिजा हुआ चिपचिपा-सा व्यक्तित्व बनाकर प्रस्तुत करता है। जबकि प्रताप समाज का अजय, समाज को उसी वर्ग से होते हुए भी एक दबंग, कठोर अपने शारीरिक सुख को ही सर्वोपरि मानता हुआ, स्त्रियों को बदल कर अंकशांयिनी बनाने में कहीं संकोच नहीं करता। वहां सारा जितनी एग्रेसिव और विचार-स्वातंत्र्य की पक्षधर है, 'नहीं कोई अन्त'



नाटक में पुरुष प्रधानता के कारण, अजय निष्ठुर आदमी के रूप में चित्रित हुआ है। वास्तव में मानवीय संबंध बड़े गहरे और जटिल होते हैं, विशेष रूप से स्त्री-पुरुषों के। इन संबंधों को जोड़ने-तोड़ने में जहां शरीर और विचार महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, वहीं उस शरीर में मन का जटिल संस्कार अर्थात् मनोवैज्ञानिक पक्ष भी जीवन स्थितियों एवं घटनाओं के साथ उत्तरदायी होता चलता है। इसीलिए संबंधों में वैचारिक भिन्नता होते हुए भी एक साथ रहने की विवशता भी देखने को मिलती है। इसी मूल विचार को प्रताप सहगल ने अपने इस नए नाटक 'नहीं कोई अंत' में प्रस्तुत किया है। इसमें स्त्री-पुरुष एक ही घर में रहते हुए भी दूरी एवं निकटता की परस्परता को, तनाव के साथ जीते हुए एक-दूसरे के पूरक भी बने रहते हैं और अनुप्रेरक भी। नाटक के अन्त में लेखक ने अजय (मुख्य पुरुष पात्र) के साथ, पीड़ित-अभिशाप कान्ता और किरण इन दोनों स्त्री-पात्रों के मुख से यह बात कहलाकर, एक प्रकार से नाटक के उद्देश्य को ही अभिव्यक्त किया है। अजय कहता है—'हम तीनों ही अलग-अलग हालात के शिकार हैं, पर हम तीनों की साइकी एक ही है। उसके रूप अलग हैं। आवाजें जुदा और हम तीनों ही एक अनवरत पीड़ा को भोग रहे हैं। तीनों ही पूछते हैं—कहीं है हमारी पीड़ा का कोई अन्त?' मंच पर घटित यह दृश्य-विषय निश्चित ही दर्शक के मन-मस्तिष्क को नगर-जीवन के ऐसे ही कुछ स्त्री-पुरुषों के प्रति सोचने के लिए विवश करता है। साथ ही नाटक में भाषा बोलचाल की होने के कारण नाटकीय भंगिमाओं को उजागर करने में अधिक समर्थ लगती है। अजय नरेश से जब यह कहता है कि अधिकार भावना को चुनौती देने वाली औरत मुझसे बर्दाश्त नहीं होती तो लगता है कि नाटककार स्त्री के ऊपर पुरुष के दुर्दम्य अधिकार की ही पक्षधरता कर रहा है, पर ऐसी बात नहीं है। जब कान्ता अजय के कुण्ठित मन के पन्ने पलटती है, तब भेद खुलता है। वह कहती है, 'मारना चाहते थे अपनी मां को, नहीं मार सके, हमें मारा। गाली देना चाहते थे अपनी मां को, नहीं दे सके, हमें दी। तुमने अपनी मां के अत्याचारों का बदला हम से लिया।' (पृ. 75) कुल मिलाकर 'नहीं कोई अन्त' नाटक स्त्री-पुरुष के बाइलोजिकल एवं फिज़िओलोजिकल द्रष्टे के माध्यम से मानव-मन की जटिलता एवं प्रवृत्तिगत विवशताओं को उजागर करने वाला सफल नाटक है।

यहां प्रताप के नाटकों के वस्तु-विन्यास के सन्दर्भ में प्रयुक्त भाषा के इस्तेमाल पर विचार करना भी समीचीन है क्योंकि भाषा का सम्बन्ध वस्तु की सम्प्रेषणीयता से जुड़ा रहता है, फिर नाटक चाहे पाठ्य हो या दृश्य। वैसे भी भाषा एक सामाजिक धरोहर है। इसीलिए सम्प्रेषणीयता की समस्या वैयक्तिक से अधिक सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। इस तथ्य से प्रताप सहगल भली भांति अवगत है। वे जानते और मानते हैं कि हर नाटक पूरे समाज के लिए नहीं बनता।

उसके स्वरूप को कोई कुशल सम्पादक अथवा निर्देशक ही देश-काल के अंचल की आवश्यकता के अनुरूप ढाल सकता है। पर, इस स्वरूप परिवर्तन व्यवस्था में नाटक के रंगमंचीय स्वरूप पर आंच नहीं आनी चाहिए। नाटक वास्तव में रंगमंच का पर्याय ही तो होता है और रंगकर्म में 'भाषा' एक्शन या गति की धुरी बनकर ही उपयोग में आती है। भाषा-प्रयोग के द्वारा यह प्रभाव बनाने में प्रताप का लेखक सफल कहा जा सकता है। इसके लिए उन्होंने प्रतीक-विषयों की ही सार्थक योजना नहीं की, ध्वनियों, रंगों तक का इस्तेमाल किया है। उदाहरण के लिए 'मौत क्यों रात भर नहीं आती' में सूत्रधार के नए सन्दर्भ में उपयोग द्वारा लेखक ने श्रोत्र-विषय की परिकल्पना में रेलवे लाइन, इंजन की सीटी की आवाज़, छुक-छुक-छुक के प्रयोग से धक्ककाती गाड़ी की गति, गाड़ी की हरकत, उसके निकट आते होने की अनुभूति और फिर अमित की चीख (पृ. 26) के द्वारा माहौल की गभीरता की प्रभावी प्रस्तुति की है। वास्तव में नाट्य वस्तु को पात्र अपनी विभिन्न मुद्राओं और स्थितियों द्वारा ही रूपायित करते हैं। रंग कर्म में ऐसा करते हुए पात्रों द्वारा की गई भूल को प्रेक्षक तो लेखक के अनुभव की भूल मानेगा, पात्र की नहीं। अर्थात् पात्र का कमज़ोर या अधूरा रूपायन, वस्तु की प्रस्तुति को तो शिथिल बनाता ही है, वस्तु-विन्यास क्षमता पर भी सीधा प्रश्न-चिह्न लगाता है। अतः लेखक को ऐसे संवादों में बहुत सावधान रहना पड़ता है। इसीलिए वस्तु-विकास के संवादों में प्रताप छोटे-छोटे वाक्यों को ही प्रमुखता देने जान पड़ते हैं। क्योंकि रूपायन को जीवन्त और प्रभावशाली भाषा ही बनाती है। प्रताप के नाटकों में शब्द-प्रयोग, वाक्यांश-प्रयोग एवं वाक्य-विधान बड़ा नम्रतुला दिखाई देता है। इससे मंचीय माहौल बनाने में बड़ी सहायता मिलती है। शब्द-प्रयोग एवं ध्वन्यंकन से प्रस्तुति को चित्रात्मक बनाने में बड़ी आसानी रहती है, शब्दों की ध्वन्यात्मकता का अपना प्रभाव रहता ही है क्योंकि चित्र को मूर्तन के घेरे में आबद्ध करने पर भी, ध्वनि के प्रभाव को सीमित नहीं किया जा सकता। इसीलिए वस्तु-विनिवेश के वाक्य-विधान, वाक्यांश-विधान में संवादमयता की स्थिति का होना आवश्यक है। मंच-प्रस्तुति में शब्द-विधान, वाक्यांश-विधान का जितना महत्त्व रहता है, ध्वनियों एवं उनके उच्चारण का महत्त्व उससे कम नहीं होता।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नाटक एक स्वतंत्र एवं मौलिक विधा है। इसलिए वह न तो मात्र कविता है और न कथा-कहानी या निबन्ध-लेखन। कविता का कल्पना और रूपक तत्त्व, कथा का वस्तु-तत्त्व, जीवन-व्यवहार की बातचीत से संवाद तत्त्व तथा ललित निबन्ध-लेखन से भाव और विचार तत्त्वों के विभिन्न पक्षों की जीवन्तता लेकर नाटककार मंचीय रूपायन को शब्दों में बुनता है। इसीलिए नाट्य-लेखन और उसके वस्तु-विधान में, स्थितियों की सपाटबयानी न होकर



संश्लिष्ट (कम्प्लैक्स्ड) मनीषा का विशेष महत्व रहता है। ऐसी मानसिकता के बिना न तो नाटक लिखा जा सकता है और न पढ़ाया जा सकता है क्योंकि जीवन में व्याप्त परिस्थितियाँ विशेषतः नागर जीवन की परिस्थितियाँ बड़े संश्लिष्ट रूप में सुगुंफित रहती हैं। ऐसी परिस्थितियों को केवल पात्र अथवा उनके संवाद ही उजागर नहीं कर पाते। लेखक उनके मूर्तन में शब्द, वाक्यांश, ध्वनि, रेखाओं के साथ ही रंग एवं प्रतीक-बिम्बों की योजना का इस्तेमाल करता है। इस सन्दर्भ में यह बात कहना भी उचित है कि वस्तु विनियोजना में लेखक की अभिधीत समस्या प्रायः क्षेत्रीय या दैशिक ही होती है, जैसा कि प्रताप के नाटकों में देखने को मिलता है पर, उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति को यूनिवर्सल बनाने का प्रयत्न भी लक्षित रहता है। इसीलिए नाटककार संश्लिष्ट स्थिति (कम्प्यूज्ड सिचुएशन) जब तक कम्प्यूज्ड रूप में ही क्रिएट नहीं करेगा, तब तक उसको परिस्थिति-सृजन में सफल नहीं कहा जा सकता। इसीलिए नाट्यलेखन में लेखक वस्तु को प्रभावी बनाने के लिए, अपने रंग-संकेतों द्वारा निर्देशक की भी सहायता करता रहता है। क्योंकि लेखक द्वारा दिए गए ऐसे निर्देशों का उपयोग, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में निर्देशक नाट्य रूपायन में करता ही है। इसीलिए तो रंग-कर्म को 'कम्पोज़िट आर्ट' कहा जाता है। इस निष्कर्ष से प्रताप भली प्रकार परिचित है।

नाटक में प्रतीक-बिम्बन प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह जानना भी आवश्यक है कि सफल बिम्ब-प्रस्तुति नाटक को प्रभावी तो बनाती है पर इस सन्दर्भ में ग्राहक की औसत मानसिकता को नज़रंदाज़ नहीं किया जा सकता। साथ ही नाट्य लेखक शास्त्र और लोक-अनुभव के साथ-साथ अपने निजी अनुभव की उपेक्षा भी नहीं कर सकता। नाट्य-लेखन के सम्बन्ध में इस बात को प्रताप ने स्थान-स्थान पर स्वीकार किया है। अपने निजी अनुभव के आधार पर, वे नाट्य-लेखन की सीमाओं में तरह-तरह के बदलाव की बात कहते भी हैं और करते भी रहे हैं। वैसे, असंभव की प्रस्तुति न तो रचनाकार द्वारा संभव है और न निर्देशक द्वारा। प्रस्तुति या प्रदर्शन की अपनी सीमाएं और समस्याएं भी होती हैं। यह बात प्रताप के लघु नाटकों पर भी लागू होती है। लघु नाटकों में कुण्डली, नकली दीवार, शुरुआत से पहले, अन्ततः पुल, ज़मीन का सवाल तथा अंग विकार आदि नाटकों में भी वस्तु के संश्लिष्ट पक्ष का सम्यक् रूपांकन हुआ है। आज नाट्य-लेखन और मंचन में जन-नाट्य मंच प्रस्तुति के अनेक तत्त्व प्रभावी बन कर उभरे हैं। इनका उपयोग भी प्रताप ने अपने नाटकों में वस्तु-प्रस्तुति के लिए किया है। वस्तु-अर्थ को प्रस्तुत और प्रशस्त करने के लिए ऐसे तत्त्वों का ग्रहण आवश्यक कहा जा सकता है।

ए-1/341, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

डा. विजेंद्र

## वीरेंद्र सिंह की आलोचना दृष्टि—संदर्भ 'साहित्य और साहित्येतर संवाद सूत्र'

डा. वीरेंद्र सिंह बीस-पचीस वर्षों से अंतःअनुशासनीय अर्थ-द्वारा साहित्य को जांचते-परखते रहे हैं। आज इस अभिगम की हर जगह महसूस की जा रही है। एलियट ने अपने प्रसिद्ध लेख 'फ्रन्टियर्स ऑफ़ क्रिटिसिज्म' (1956) में आलोचकों और कवियों बड़ी महत्वपूर्ण बातें कही हैं जैसे, 'यदि किसी आलोचक पर साहित्य के अलावा कुछ और कहने को नहीं है तो वह हमें महत्वपूर्ण नहीं दे पाएगा। क्योंकि वह जो कुछ भी कहेगा वह उल्टा होगा।' उन्होंने आगे कहा है कि 'कविताओं के अलावा कवियों अन्य अभिरुचियाँ भी होती हैं—अगर ऐसा नहीं है तो उनकी कविता सारहीन होंगी...' एलियट के अनुसार आलोचक को समग्र कविता होना चाहिए। ऐसा व्यक्ति जिसकी अपनी अवधारणाएँ हों, सिद्धांत और उस पर जीवन का विपुल ज्ञान और अनुभव हों।

साहित्य और साहित्येतर संवाद सूत्र में संकलित लेखों में फैला समय बहुत विस्तृत है। यानी आदि और मध्य काल के साहित्य से लेकर आज के साहित्य तक। पर ज्यादातर आलेख अलग-अलग कवियों या उनकी कृतियों या अलग-अलग आलोचकों की कृतियों अथवा उनके अभिगमों पर केंद्रित हैं। एक-दो आलेख कथा साहित्य पर हैं। कुछ आलेख सैद्धांतिक हैं, मसलन 'अंतःअनुशासनीय अर्थ और साहित्य', 'लोक चेतना का बदलता परिप्रेक्ष्य', 'सौंदर्यबोध वैज्ञानिक संदर्भ'। कुछ आलेख समकालीन कविता के बुनियादी संकेत पर हैं जैसे 'समकालीन कविता में विज्ञान बोध का स्वरूप', 'समकालीन कविता में कालबोध के आयाम', 'कविता और हमारे समग्र काल'। एक आलेख में उन्हें नाविक विद्रोह के संदर्भ में कविता की संवेदना का ज़रूरी सवाल उठाया है। विश्वकविता के संदर्भ में वीरेंद्र सिंह अफ्रीकी कवि, कविता और परिदृश्य का विवेचन किया है। हाल में लेख आधुनिक कविता और चित्रकला को लेकर भी है। इन आलेखों में खास बात है अंतः अनुशासनीय अभिगम से चीजे देखना, समझना और मूल्यांकित करना।

वीरेंद्र सिंह आलोचना के लिए 'आस्वादन' पहली शर्त है। अंग्रेजी में आस्वादपरक आलोचना के लिए अक्सर वाल्टर



का नाम लिया जाता है। उनके लिए कला जीवन की सेविका नहीं बल्कि स्वामिनी है। पर वीरेंद्र सिंह आस्वादन पर जोर देकर भी कला को—साहित्य को—मानव जीवन के उन्नयन और उसकी संवेदनागत समृद्धि तथा परिष्कृति का साधन मानते हैं। इसीलिए उनका कहना है कि आस्वादन में संवेदना और ज्ञानात्मक प्रक्रिया का जितना अधिक विस्तार होगा, आलोचना का क्षेत्र उतना ही व्यापक और बहुआयामी होगा। उनका संकेत है कि उक्त अभिगम पर आधृत आलोचना एक ऐसा जैविक रूप है जो पूर्वाग्रहों से बचकर चीजों और वस्तुओं की सही स्थिति पर बल देता है। यानी कृति के सम्यक मूल्यांकन के लिए आलोचक को 'तटस्थ संवेदना' बनाए रखनी होगी। अंग्रेजी के प्रख्यात आलोचक मैथ्यू आर्नेल्ड ने इसे 'डिसइंटेस्टिड एण्डेवर' कहा है। सवाल उठेगा कि पूरी सावधानी बरतने के बाद भी क्या हम अपनी अवधारणाओं और अभिरुचियों से इतने तटस्थ हो पाएंगे, क्या हमारी अपनी दृष्टि इसमें हस्तक्षेप नहीं करेगी। इसकी यह भी ध्वनि है कि किसी कृति को किसी खास विचारधारा या किसी खास दर्शन से प्रेरित होने पर पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता। यह तो सही है कि किसी कृति को किसी विचारधारा या दर्शन के आधार पर न नकारें। पर यदि कोई विचारधारा या दर्शन पतनशील या मानवविरोधी है तो क्या समग्रता में इसका प्रभाव कृति की उत्कृष्टता पर नहीं पड़ेगा? ऐसी हालत में यदि हम कृति को न भी नकारें तो भी कृति की उत्कृष्टता पर प्रश्नचिह्न लगेगा ही। इसीलिए वीरेंद्र सिंह का मानना है कि रचना में विचार या सिद्धांत को इस प्रकार समझें जिससे रचना के अर्थ-संदर्भ—कम या अधिक—सामने आए ताकि रचना का सम्यक मूल्यांकन हो सके। इसके लिए वे ज्ञान और संवेदना का समीकरण जरूरी मानते हैं।

वीरेंद्र सिंह की आलोचना-दृष्टि चेतना के द्वंद्वात्मक स्वरूप को स्वीकार करती है यानी चेतना की सत्ता निरपेक्ष नहीं है। वह बाह्य जगत से प्रभावित होकर उसे भी प्रभावित करती है। पर प्रभावित होकर अपनी सापेक्ष स्वायत्तता भी सुरक्षित रख पाती है। यही वजह है कि चेतना के सरोकार न तो सीमित हैं और न एकपक्षीय। यहां यह सवाल जरूर उठेगा कि चेतना यदि समाज-सापेक्ष है तो क्या वह समाज की वर्गीय स्थिति से अपने को निरपेक्ष रख पाएगी। यदि नहीं तो हमारी कृति का जैविक आभ्यंतर कहीं न कहीं वर्ग चेतना को बताएगा। चेतना की द्वंद्वात्मकता से ही लेखक की विश्वदृष्टि बनेगी। उसी से उसका बिंबविधान और सौंदर्यबोध प्रभावित होंगे। यहां तक कि उसकी भाषा और मुहावरे पर भी असर आएगा। इसलिए चेतना या दृष्टि पर जब भी विचार होगा तब वर्ग समाज में जीवित वर्गीय अंतर्विरोधों का सवाल जरूर उठेगा। इस संदर्भ में मुझे लुकाच के शब्द याद आते हैं

कि 'हर मनुष्य कलाकृति का उद्भव अपने समय के विशेष और वास्तविक विकल्पों से होता है। इन विकल्पों की गतिशील प्रयुक्ति में हमें दो बातों का ध्यान रखना होगा। एक तो कथ्य क्या है और उन विकल्पों के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या है। दूसरे, हमारे दृष्टिकोण को कृति में कितनी कलात्मकता से व्यक्त किया गया है।' मैं इस बात को इसलिए भी उठा रहा हूँ क्योंकि वीरेंद्र सिंह अपने उक्त अभिगम को एक 'दृष्टि' भी मानते हैं—जिससे विचार-संवेदन की भिन्न आयामी गतिशीलता पकड़ में आए। कहना न होगा दृष्टि का गहरा संबंध चेतना से है। चेतना का गहरा रिश्ता बाहर के अंतर्विरोधी संसार से है। इसी प्रसंग में हम उनके इस अभिमत को समझ सकते हैं कि यथार्थ और सत्य देखने की अनेक दृष्टियाँ हैं। पर देखना होगा कि इन दृष्टियों के वस्तुगत आधार क्या हैं। दरअसल मुख्य बात है यह देखना कि क्या लेखक ने सामाजिक संबंधों के प्रति संश्लिष्ट, गतिशील तथा विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाया है या फिर उसने अपने समय, परिप्रेक्ष्य तथा ऐतिहासिक संदर्भों की अनदेखी की है। इसलिए अगर हम किसी कृति को अपनी दृष्टि से देखने का विकल्प चुनें तो यह पूर्वाग्रह नहीं बल्कि उस कृति में पुनर्सृजित उस जीवन को ही खोजना है जिससे लेखक की दृष्टि निर्मित हुई है। हालांकि मूल्यनिर्णय देने समय हम कृति से बहुत कुछ ले लेते हैं, फिर भी कुछेक उन सामान्य बातों को ध्यान में रखना होता है जो हमने प्रतिमान के रूप में अर्जित की हैं।

'समकालीन कविता में विज्ञान बोध' आलेख में वीरेंद्र सिंह की स्थापना है कि आज काव्य की अनुभव-प्रक्रिया में फर्क आया है। ज्ञान-विज्ञान के प्रसार ने कवि की वैचारिक गतिशीलता और संवेदना को व्यापक और गहरा किया है। अतः कविता के कथ्य में अछूते और अप्रत्याशित आयाम जुड़े हैं। जैसे डा. विश्वंभरनाथ उपाध्याय की कविता में 'परमाणुओं की रासलीला' चित्रित है। वहां 'नाभिक के पास नर्तनशील / विद्युत कणों की गोपियाँ' हैं। उन्हीं की एक और कविता में, 'अंतरिक्ष में काले काले खंदक' है। बलदेव वर्मा ने हर भाव को 'वृत्त' की संज्ञा देकर एक गणितीय रूपाकार रचा है—जैसे, 'यदि रेखा गणित को देखे / तो हर भाव एक वृत्त है / क्रूरता के बिंदुओं को काटती / जोड़ती रेखा/ वृत्त में बदल रही है/ अच्छा है दर्द आकार ले रहा है।' कहने को ये सब सामान्य ब्यौरे लग सकते हैं। पर ध्यान देने की बात है कि यहां कथ्य बदला है। रूप भिन्न है। सौंदर्यबोध में भी अंतर है। आज की कविता में इसी गुणात्मक भिन्नता को समझने के लिए वीरेंद्र सिंह ने 'कविता में विज्ञानबोध के स्वरूप' का सवाल उठाया है। उनका मानना है कि बिना अंतःअनुशासनीय अभिगम को



अपनाए कविता में यथार्थ का यह अछूता आयाम व्याख्यायित कर पाना कठिन है। पर यहां ध्यान रहे कि कवि को वैज्ञानिक बोध के स्तर तक पहुंचने के लिए वैज्ञानिक घटनाओं या तकनीकी उपकरणों के नाम भर गिनासे से बहुत आगे जाना पड़ेगा। यानी उन्हें अपनी संवेदना का हिस्सा बनाना होगा।

वीरेंद्र सिंह की आलोचना-दृष्टि कालबोध पर उतना ही ध्यान देती है जितना विज्ञानबोध पर। दरअसल काल को हम घटनाओं, स्थितियों और मानवीय क्रियाओं में मूर्त होते देखते-पहचानते हैं। इसीलिए कवि काल का पुनर्सृजन-विचार-संवेदन तथा अनुभव-रूपाकारों के द्वारा कर पाता है। काल दिक् से युक्त है। अतः सब कुछ दिक् काल में ही घटित होता है। कवि दिक्काल से तटस्थ नहीं रह सकता। वीरेंद्र सिंह दिक्काल और कवि के रिश्ते को 'द्वंद्वात्मक' मानते हैं। यानी वह उससे अभिभूत होता है। उससे मुठभेड़ भी करता है। इसी प्रक्रिया में सभ्यताएं रची जाती हैं। समाज रूपांतरित होते हैं। कवि काल पर आरुढ़ होता है। उपाध्याय जी काल से संवाद करते हुए कहते हैं—'बता तू, कविता का क्या कर लेगा/जो तुझे कीलित करती है।' कवि शमशेर का एक काव्य संकलन ही है, 'काल तुझसे होड़ है मेरी'।

वीरेंद्र सिंह ने मुक्तिबोध की कविता के संदर्भ में इतिहासबोध का महत्वपूर्ण सवाल उठाया है। उनके अनुसार इतिहास मात्र तिथिक्रम या राजाओं का इतिवृत्त नहीं है। वह मनुष्य की बाह्य एवं आंतरिक सांस्कृतिक यात्रा है। वे मानते हैं कि मुक्तिबोध इतिहास की उस जनवादी परंपरा के कवि है जो श्रमिक की पीड़ा को भी 'लोकेंट' करती है। इसमें संदेह नहीं कि मुक्तिबोध बाह्य जगत को आभ्यंतरीकृत कर उसे कविता में पुनः सृजित करते हैं। पर वीरेंद्र सिंह के अनुसार मुक्तिबोध की आंतरिकता अस्तित्ववादियों की तरह स्वकेंद्रित न होकर संघर्षशील समाज-केंद्रित है। यानी उन्होंने विकसित होते इतिहास में निहित तीव्रतम अंतर्विरोधों को पहचानकर अग्रगामी शक्तियों को अभिचिह्नित किया है। यही वह प्रक्रिया है जिससे हम इतिहास को अपनी संवेदना में रचाते-पचाते हैं। इसी से अपनी परंपरा को विकसित कर उसे नवीकृत करते हैं। एक सजग कवि यह जानता है कि वर्तमान की जड़ें अतीत में होती हैं और भविष्य की वर्तमान में। अतः कवि के लिए इतिहासबोध का गहरा अर्थ है अपने अतीत की सार्थकता से वर्तमान को समझ भविष्य में झांकना।

'अफ्रीकी कविता का परिदृश्य' आलेख में वीरेंद्र सिंह ने वहां के कवि को उपनिवेशवाद से संघर्ष करते हुए दिखाया है। इस संदर्भ में उन्होंने बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है कि अफ्रीकी कविता ने ही नहीं

बल्कि समग्र अश्वेत कविता ने हमारे अभिजातीय सौंदर्यबोध को छिन्न-भिन्न कर नया 'जनवादी सौंदर्यबोध' रचा है। इससे हिन्दी के कवि सीख ले सकते हैं जो आजादी के पचास साल बाद भी अपने सवर्गीय अभिजात्य से मुक्त न हो पाने के कारण इस आंदोलित दुनिया को एक सुंदर-सा ऐसा दर्पण मानते हैं जिसमें हर तरफ उन्हें अपनी ही धुली-उजली शक्ल दिखाई पड़ती है।

'मुक्त बाजार और समकालीन कविता' आलेख में वीरेंद्र सिंह सुझाते हैं कि हर समय ने कवियों से सदा परिवर्तन के सकारात्मक रूप की कामना की है। रचनाकारों ने शोषण, दमन और अंधविश्वासों का विरोध किया है। आज के रचनाकारों से आलोचक की यह अपेक्षा है कि वे मुक्त बाजार की अधी दौड़ से बचें। वे अपने लोग, अपने धरती और जातीय जड़ों को पहचानें। कविता को चेहराविहीन न होने दें। कला, साहित्य और संस्कृति को बाजार की वस्तु होने से बचाए। वीरेंद्र सिंह को 'समकालीन युवा कविता' में बहुत-सी अच्छी बातें नज़र आती हैं। पर उसमें विचार के मथन का अभाव है।

'नाविक विद्रोह और कविता का संवेदन' इस संग्रह के महत्वपूर्ण लेखों में से एक है। यहां संकेत है कि कवि अपने समय के जनान्दोलनों से प्रेरित होकर उनके अभिप्रायों को कविता में चरितार्थ करे। आंदोलित और विक्षुब्ध होते समय से कवि न तो तटस्थ रहे, न अन्यमनस्क। लुकाच ने कहा है कि, 'साहित्य की सामाजिक अर्थवत्ता की प्रकृति ही ऐसी है कि वह अपने समय के आंदोलनों को प्रतिबिंबित करता है। चाहे आत्मगत रूप में वह कुछ और व्यक्त करना चाहता हो। आत्मगत इच्छा और वस्तुगत बाध्यता के बीच यह विरोध ही आधुनिकतावादी संकट के मूल में है।'

कुल मिलाकर वीरेंद्र सिंह की आलोचना-दृष्टि के केंद्र में लोकेन्द्र मुंड क्रियाशील मनुष्य ही है। उनकी कोई घोषित विचारधारा भले न हो पर वह सदा स्वस्थ और अग्रगामी मानव मूल्यों को समाज में प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं। उनके लिए रचना व्यक्ति और समाज के गुणात्मक रूपांतरण की आंतरिक प्रक्रिया को लगातार प्रभावित करने वाली जैविक शक्ति है। 'नाविक विद्रोह और कविता का संवेदन' लेख इस बात का प्रमाण है कि एक बड़ी रचना बड़े मानवीय संकल्प से जन्मती है। उसे प्राप्त करने के लिए वह सहायक भी होती है। वीरेंद्र सिंह उन गिने-चुने आलोचकों में से एक हैं जो अंतःअनुशासनीय आलोचना को व्यावहारिक बनाने के लिए एक मनस्वी लेखक की तरह साधनारत हैं।

साहित्य और साहित्येतर संवाद सूत्र: डॉ. वीरेंद्र सिंह; रचना प्रकाशन, जयपुर; संस्करण 1999; मूल्य 300 रुपये

सी-133, वैशाली नगर, जयपुर-302021



नंदलाल पाठक

## हिन्दी ग़ज़ल की बात

हिन्दी कविता की नवीनतम विधा के रूप में ग़ज़ल को अब मान्यता मिलती जा रही है। मध्ययुग से लेकर आधुनिक युग तक ग़ज़ल कई बार हिन्दी कविता के द्वार तक आ-आकर लौट गई है, किन्तु अब यह विधा अपनी उपयोगिता प्रमाणित कर चुकी है।

हिन्दी में ग़ज़ल का आगमन गीत की एकोन्युखता के प्रति विद्रोह है। गीत के पदों में जो पूर्वापर सम्बन्ध होता है, वह ग़ज़ल के शेरों में नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि ग़ज़ल का विद्रोह गीत के प्रति भी है। गीत में रचनाकार एक ही बात कह सकता है; जबकि एक ग़ज़ल में अनेक बातें कही जा सकती हैं। इसीलिए ग़ज़ल के शीर्षक नहीं होते। शीर्षक पर आधारित ग़ज़ल 'नज़्म' बन जाती है।

ग़ज़ल की दूसरी विशेषता है उसका गेय होना। छन्दहीन ग़ज़ल हो ही नहीं सकती। ग़ज़ल की ओर हिन्दी का वर्तमान झुकाव हिन्दी की गद्यात्मक कविताओं की नीरसता की प्रतिक्रिया से भी प्रेरित है। रागात्मक वृत्ति की तृप्ति करने में असमर्थ अतिवैदिकतापूर्ण पहेलीनुमा कविताओं ने भी ग़ज़ल को अपना प्रभाव जमाने का अवसर दिया। ग़ज़ल का विश्वास भाषणबाज़ी में नहीं है, वह तो मौन मर्मस्पर्श है। इस प्रकार ग़ज़ल हिन्दी की एक छन्दात्मक, भावात्मक और रागात्मक आवश्यकता की पूर्ति करती है। सामान्य पाठकों के लिए दुर्बोध, अज्ञेय और अगेय कविता द्वारा उत्पन्न शून्य को भरने में ग़ज़ल ने योगदान किया। संगीत तो बिना शब्द के जी सकता है क्योंकि वह स्वर पर आधारित है किन्तु शब्द को दीर्घजीवी होने के लिए गेयता का सहारा चाहिए।

'ग़ज़ल' मूलतः अरबी शब्द है लेकिन इस विधा का विकास अरबी से अधिक फ़ारसी में हुआ। उर्दू में ग़ज़ल फ़ारसी से आई और हिन्दी में उर्दू से। 'ग़ज़ल' शब्द से कभी तात्पर्य था—औरत से वार्तालाप। ग़ज़ल की मधुरता, कोमलता और शिष्टता पर इस अर्थ की स्पष्ट छाप है। समय के साथ इस शब्द का बहुत अर्थविस्तार हो गया है। अब तो ग़ज़ल औरत-मर्द, प्रिय-अप्रिय, मित्र-शत्रु, अपने-पराए, शांति-क्रांति, जीवन और जगत सबसे और सबकी बात करती है। युगीन संघर्ष और पीड़ा को रागात्मक अभिव्यक्ति देने में आज की ग़ज़ल पूर्ण समर्थ है।

हिन्दी में लिखी गई अधिकांश ग़ज़लें उर्दू ग़ज़ल का अनुकरण करते हुए लिखी गईं; जबकि आवश्यकता थी, उर्दू से प्रेरणा लेकर हिन्दी में हिन्दी की सामग्री से ग़ज़ल लिखने की। उर्दू के प्रतीक, मिथक, संकेत और संदर्भ अधिकांश विदेशी हैं। उनके बारे में हमारी समझ अधूरी है। उर्दू ग़ज़ल के कुछ बहुप्रचलित प्रतीकों और रूपकों पर ध्यान दीजिए। हम इनसे अर्धपरिचित हैं—

जन्नत, दोज़ख, जहनुम, महशर, कारवाँ, मंज़िल, कफ़स, आशियाना, सैयाद, बाग़वाँ, गुलची, शराब, प्याला, साकी, पैमाना, होश और जुन्न, सहरा, शमशीर, गैर, रक़ीब, हुस्न, इश्क, आशिक, माशूक, ज़ाहिद, शेख, क़यामत, रौतान इत्यादि।

इन्हें पूरी तरह जाने बिना इनका पूरा रस नहीं पाया जा सकता। अधूरे ज्ञान के कारण हिन्दी में ग़ज़ल की बद्दी नक़ल हुई। आवश्यकता है उर्दू ग़ज़ल से प्रेरणा लेकर भारतीय प्रतीकों, परम्पराओं और मिथकों को जीवन्त करने की, माँजने की और उनकी सांकेतिकता बढ़ाने की। लैला-मजनून, यूसुफ़-जुलैखा, शीरी-फ़रहाद इत्यादि की कहानियों की सांकेतिकता की गहराई में उतर पाना हमारे लिए न तो संभव है और न आवश्यक।

उर्दू काव्य-भाषा में एक लचक है, जो ब्रज और अवधी में तो है, किन्तु खड़ी बोली की कविता में नहीं है। ग़ज़ल में भाषा लचकती हुई चलती है, जबकि खड़ी बोली की शैली फेड़ करने की है। उदाहरण लीजिए। 'कोई जुलूस नहीं ऐसा जिसके साथ चलूँ', यहाँ 'कोई' का 'को' मात्रा की दृष्टि से लघु है। इसी तरह 'फिर मेरे द्वार पर आया कोई'। यहाँ 'कोई' का 'को' दीर्घ है। उर्दू ग़ज़ल की यह सुविधा भी विशिष्ट छन्दों की व्यवस्था से नियंत्रित है, जबकि हमने मनमाने प्रयोग किए हैं और इसीलिए हिन्दी की उर्दूनुमा ग़ज़लों में यति भंग होता रहता है। प्रयोग के अनुसार दीर्घ को ह्रस्व या लघु करने की अनुमति तनी हुई खड़ी बोली नहीं देती। हिन्दी कविता को बन्धन-मुक्त करने के



लिए ही मुक्त छन्द आया। इन बन्धनों में एक बन्धन सीमित तुकों का भी था। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने लिखा—

दिवस का अवसन समीप था  
गगन था कुछ लोहित हो चला।  
तरुशिखरों पर थी अब राजती,  
कमलिनी कुलवल्लभ की प्रभा।

इसमें 'चला' के साथ 'प्रभा' का तुक जोड़ा गया है। तुकों के लिए यह आदर्श स्थिति थी। आगे चलकर तुकों का क्षेत्र संकुचित होता गया और 'यथा', 'सर्वथा', 'अपने', 'सपने', 'भरोसा', 'समोसा' में तुक सीमित होते गए। 'दूरी' 'ज़रूरी' होकर 'मसूरी' जाकर रुक गई। हिन्दी कविता और विशेषकर हिन्दी प्रगीतों की तुलना में उर्दू

कविता का तुक संसार अधिक व्यापक है। 'जिंदगी' का तुक 'रोशनी' भी है। 'मिला होगा' के बाद 'खिला होगा', 'सिला होगा', 'गिला होगा' और 'काफ़िला होगा' के घेरे में न बंधकर उर्दू कविता ने 'खिला होगा', 'दिखा होगा', 'छिना होगा', 'दिया होगा', 'रिहा होगा' इत्यादि लिखा। व्यंजन पर व्यंजन नहीं भिड़ाए। सीमित तुक काव्य के कथ्य को भी सीमित कर देते हैं। गज़ल लेखन एक शिल्प भी है, जिसमें तुक, रदीफ़ और छन्द का उपयोग अनिवार्य है। अतः तुकों का क्षितिज-विस्तार आवश्यक है।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, हिन्दी-उर्दू में बहुत समानता है। दोनों का मूलाधार हिन्दी की खड़ी बोली है। वाक्यविन्यास की दृष्टि

से दोनों एक हैं। अन्तर है शब्दावली और शब्द के रूपविकास का। भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं की तरह हिन्दी में संस्कृत शब्द काफी हैं, जबकि उर्दू में संस्कृत शब्दों की कमी है और अरबी-फ़ारसी शब्दों की बहुलता है। दोनों भाषाएं एक-दूसरे से इतनी मिलती-जुलती हैं कि बिना अरबी-फ़ारसी शब्दावली के नागरी लिपि में लिखी गई उर्दू हिन्दी हो जाती है। यदि अमीर खुसरों की भाषायी उदारता का विकास हुआ होता तो हिन्दी-उर्दू का वर्तमान कुछ और ही हुआ होता।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में 'हरिऔध' जी ने काव्यभाषा का जो वैविध्य प्रस्तुत किया था, यदि उसे स्वीकार किया गया होता तो हिन्दी

भाषा की शैली आज अधिक सम्पन्न हुई होती। 'प्रिय प्रवास' की संस्कृतप्रधान भाषा शैली और 'बोलचाल', 'चुभते चौपटे', 'चोखे चौपटे' की मुहावरेदार जीवन्त भाषा की रचना एक ही लेखनी से हुई थी। हरिऔध के बाद मुहावरों की ओर हिन्दी का ध्यान नहीं गया, जबकि उर्दू मुहावरों को अपनाकर निखरती गई। हिन्दी कविता की भाषा में मुहावरों की जो उपेक्षा हुई है, वह हिन्दी कविता के आधुनिक काल की बहुत गंभीर दुर्घटना है।

एक भाषा दूसरी भाषा से शब्द उधार ले सकती है, किन्तु व्याकरण नहीं। उदाहरण के लिए हिन्दी ने अंगरेज़ी से जितने शब्द लिए हैं, उनका रूपविकास हिन्दी व्याकरण के अनुसार किया है। जैसे 'स्टेशन' से 'स्टेशनों', 'स्टेशन्स' नहीं; 'मशीन' से 'मशीनें', 'मशीन्स'

नहीं। उर्दू में आए अरबी-फ़ारसी शब्दों को अपना लेने में कोई हर्ज़ नहीं। हिन्दी में घुलमिल गए फ़ारसी के उपसर्ग और प्रत्यय भी हिन्दी की सम्पन्नता बढ़ाते हैं। ध्यान यह रखना होगा कि शब्दों का रूपविकास हिन्दी व्याकरण के अनुसार हो। शेर को शेरों कहना हिन्दी है, अशआर कहना अहिन्दी। शायर को शायरों कहना हिन्दी है, शुअरा कहना अहिन्दी। केवल हिन्दी ज्ञान के बल पर अरबी-फ़ारसी शब्दरूपों का सतर्कताहीन प्रयोग ख़तरे से खाली नहीं। ऐसी ही नासमझी के परिणाम हैं 'बावजूद भी', 'सवालातों', 'ख़िलाफ़त' (मुखातिफ़त के अर्थ में) जैसे हास्यास्पद और दयनीय प्रयोग। हिन्दी ग़ज़ल को फ़ारसी

सामासिकता से बचना होगा। 'दर्दें दिल' लेना भाषा के लिए सिरदर्द हो जायगा। अच्छा हो 'दिल का दर्द' लें। 'गंगा जल' को 'जले गंगा' न बनाएं। उर्दू भाषा के अनुकरण पर हिन्दी को मांजे और निखारे। उर्दू का अस्थानुकरण न करें। हिन्दी ग़ज़ल की भाषा कई प्रश्न उठा सकती है। जैसे—'ज़मीन', 'यकीन' को 'ज़मी' और 'यकी' लिखा जाए या नहीं? यदि लिखा जाए तो 'महीन' को 'मही' लिखने वालों को कैसे रोका जा सकता है। इन्सान, केमान, निशान, बयान को क्रमशः इन्सां, मकां, निशां, बयां लिखते समय कहीं हम हिन्दी सीखने वाले अहिन्दी भाषाभाषियों को गान, तान, दान और उड़ान को क्रमशः गां, तां, दां

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, हिन्दी-उर्दू में बहुत समानता है। दोनों का मूलाधार हिन्दी की खड़ी बोली है। वाक्यविन्यास की दृष्टि से दोनों एक हैं। अन्तर है शब्दावली और शब्द के रूपविकास का। भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं की तरह हिन्दी में संस्कृत शब्द काफी हैं, जबकि उर्दू में संस्कृत शब्दों की कमी है और अरबी-फ़ारसी शब्दों की बहुलता है। दोनों भाषाएं एक-दूसरे से इतनी मिलती-जुलती हैं कि बिना अरबी-फ़ारसी शब्दावली के नागरी लिपि में लिखी गई उर्दू हिन्दी हो जाती है। यदि अमीर खुसरों की भाषायी उदारता का विकास हुआ होता तो हिन्दी-उर्दू का वर्तमान कुछ और ही हुआ होता।



और उड़ा लिखने की झूट तो नहीं दे रहे हैं।

हिन्दी भाषा में 'यह', 'ये', 'वह', 'वे' की स्थिति स्पष्ट है। किन्तु ग़ज़ल में जो 'ये' और 'वो' आ गए हैं, उसकी संगति व्याकरण के वचन के साथ कैसे बिठाई जाए? यह प्रश्न भी विचारणीय है। 'पर' की जगह 'पे' का प्रयोग होता है। क्या गद्य की भाषा में अन्तर हो सकता है? उर्दू में 'ब्राह्मण' को 'बिरहमन' लिखा जाता है, प्रवाह में बहुत अच्छा भी लगता है। गेयता के लिए संयुक्त व्यंजनों को तोड़ना आवश्यक होता भी है। उर्दू ग़ज़ल की शब्दावली से मेल खाने के लिए हिन्दी शब्दों की वर्तनी पर अनावश्यक बोझ डालना कहां तक उचित होगा? क्या उर्दू लिपि जाने बिना हिन्दी ग़ज़ल का काम नहीं चल सकता? क़ ख़ ग़ और फ़ ध्वनियों का प्रयोग भी एक प्रश्न प्रस्तुत करता है। हिन्दी व्यंजन के पांच वर्गों के पंचम वर्ण का स्थान हमने माथे की बिन्दी को दे रखा है, किन्तु फ़ारसी से आगत ध्वनियों के नीचे

हरिऔध के बाद मुहावरों की ओर हिन्दी का ध्यान नहीं गया, जबकि उर्दू मुहावरों को अपना कर निखरती गई। हिन्दी कविता की भाषा में मुहावरों की जो उपेक्षा हुई है, वह हिन्दी कविता के आधुनिक काल की बहुत गंभीर दुर्घटना है।

बिन्दी लगाने में भूल से कैसे बचा जा सकता है? है कोई उपाय जो 'मज़बूर' को 'मज़बूर' होने से रोक सके?

हिन्दी कविता की सरिता का पाट बहुत चौड़ा है। उसमें छोटी-बड़ी अनेक धाराएं सम्मिलित हैं। कविता के अन्तर्गत आने वाली किसी भी विधा के बारे में आज यह नहीं कहा जा सकता कि बस यही कविता है। आप ऐसा अवश्य कह सकते हैं, यह भी कविता है। यह कथन ग़ज़ल पर भी लागू होता है। अवैध प्रेम का चित्रण अब ग़ज़ल के कथन का केन्द्र नहीं रहा। ग़ज़ल के दायरे में अब दर्द ही दर्द नहीं, व्यंग और पिघला हुआ आक्रोश भी है; पूरा जीवन है। वैसे ग़ज़ल की अपनी सीमाएं भी हैं। प्रबन्धात्मकता का भार वह नहीं उठा सकती है। फिर भी ग़ज़ल अब वहां पहुंच चुकी है, जहां से पीछे नहीं लौट सकती। उर्दू शायर गीत लिखने लगे हैं और हिन्दी के कवि ग़ज़ल। दोनों को अभी लम्बी दूरी तय करनी है।

अमिताभ

125, मॉडल टाउन, अम्बेरो (पं.),  
मुंबई-400053

## नन्दलाल पाठक की दो ग़ज़लें

घटा का कुछ तो दिल पिघले, पवन में कुछ नमी तो हो।  
हवा का कुछ तो रुख बदले, तपन में कुछ कमी तो हो॥

यहाँ हो जाय चाहे कुछ, मगर कुछ भी नहीं होता।  
कभी मुर्दा दिलों की बस्तियों में खलबली तो हो॥

वो महफ़िल है सियासत की, वहाँ क्या काम है मेरा?  
फ़रिश्ते हैं वहाँ सब, उनमें कोई आदमी तो हो।

उतारे कागज़ों पर पुल तो इतना देख लेना था॥  
जहाँ पुल बन रहा है, उस जगह कोई नदी तो हो।

यहाँ कितना अँधेरा है, मुझे मरघट हो पहुँचा दो।  
नहीं कुछ और तो जलती चिता की रोशनी तो हो॥

उसी को वोट हम देंगे, काफ़न जो मुफ़्त दे हमको।  
न जीते जी कभी जो हो सकी, मरकर खुशी तो हो॥

### 2

यहाँ अब साँस लेना यातना है।  
कोई रद्दोबदल हो कामना है॥

हवाएँ खूब दम साधे खड़ी है।  
किसी तूफ़ान की सम्भावना है॥

कहाँ से एकता की बात होगी।  
अलग हर एक का तम्बू तना है॥

न सुधरे है न सुधरेगी सियासत।  
समझदारों की ऐसी धारणा है॥

वो निकले हैं भला करने हमारा।  
हमे फिर लूटने की योजना है॥

हमेशा सत्य की ही जीत होगी।  
किसी कवि की मुनहरी कल्पना है॥



## कैलक्यूलेशन

वह अपने आपसे बातें कर रहा था। बहुत बार ऐसा होता है, वह बाहर से बिल्कुल चुप दिखाई देता है, पर उसके भीतर एक निजी संवाद चल रहा होता है।

‘सच, मैं खिलाड़ी नहीं हूँ—नाम है मेरा ‘प्रशान्त’ पर मैं नाम का ही प्रशान्त हूँ—बाहर से दिखाई देने में शान्त—भीतर विशुद्ध और आलोड़ित एक सीधा-सच्चा ईमानदार-सा आदमी जो खेल की चालाकियों को अपना नहीं सकता—अपने विरुद्ध हो नहीं सकता। सहज विश्वासी—जो शायद आज के कामयाबों की दुनिया में सबसे बड़ा दोष बन गया है—पर मैं इसे दोष क्यों मानूँ—मैं जो हूँ, सो हूँ—खेल के पैतरे मुझे नहीं आते तो क्या हुआ—खेलने वालों की कतार में तो मैं खड़ा हूँ—न सही उतना संतुलित जो हार और जीत में बराबर रह सके—मुझे शर्म क्यों आए कि मैं हार में उदास हो जाता हूँ और जीत में उत्तेजित... पर आज क्या हुआ—क्यों उदास हूँ? उदास नहीं, गुस्सा? न उदास, न गुस्सा, शायद असमंजस में हूँ—वजह? शायद पत्नी का बिना किसी कारण नाराज़ होना—सच कह रहा हूँ, गलती मेरी होती तो मैं पत्नी से माफी मांग लेता—सच, मुझे कोई ईगो प्रॉब्लम नहीं। आज मोहर्मा की छुट्टी थी—रात सोचा था, थोड़ा देर से उठेंगे—इकट्ठे चैन से अखबार देखते हुए देर तक चाय पिएंगे। सुबह उठा—पत्नी को उठाया तो उसने दूसरी तरफ मुंह कर लिया। सोचा, अभी और सोना चाहती है—मैं सैर के लिए चला गया—लौटा तो उठी हुई तो थी, पर जैसे ही मैंने चाय का नाम लिया, वह अनसुना-सा कर फिर बेडरूम में चली गई। सवाल चाय बनाने या न बनाने का नहीं—चाय बनाने में देर ही कितनी लगती है—न ही ऐसे कोई हैंगअप्स मुझमें हैं कि चाय बनाकर छोटा हो जाऊंगा—चाय बनाई—दो मगज में डाली और बाल्कनी में ले आया—इति को आवाज दी, पर वह नहीं आई।

सोचता हूँ, इति के नाराज़ होने की वजह क्या है—तो समझ में कुछ भी नहीं आ रहा। कल कॉलेज से यूनिवर्सिटी गया था। वहां विभाग में मेरे मित्र सिद्धेश सहाय का ‘गुस्सा’ नाटक पर लेक्चर था—विभागाध्यक्ष ने कार्यक्रम का संचालन करने के लिए मुझे आमंत्रित किया था। सिद्धेश ने परसों रात फोन करके कहा था सुबह उसे भी अपने साथ ले लूं क्योंकि उनकी गाड़ी उसकी पत्नी ले जा रही है। सिद्धेश की और मेरी, कॉलेज में इकट्ठी अपॉयन्टमेंट हुई थी—दोनों

की नाटकों में रुचि थी और सिद्धेश तो उन दिनों ‘एयर्ड नाटकों का मंचन’ विषय पर शोध कार्य कर रहा था। मैंने थियेटर सम्वन्धी इकट्ठे की हुई अपनी सारी सामग्री सिद्धेश को दे दी थी—पी-एच.डी की डिग्री मिलते ही सिद्धेश ‘जे.एन.यू.’ में एसोसिएट प्रोफेसर हो गया था—पर अलग-अलग यूनिवर्सिटी में पढ़ाते हुए भी दोनों की दोस्ती बरकरार थी—मैं सिद्धेश को जे.एन.यू. से ‘पिक अप’ कर साउथ कैम्पस (दिल्ली यूनिवर्सिटी) जाऊंगा, यह तो इति के नाराज़ होने का कारण नहीं हो सकता—दोस्ती के लिए इतनी छोटी-मोटी कीमत तो अदा करनी ही पड़ती है। हां, यह जरूर है कि जब मैंने इति से कहा था कि वह स्पेशल लेक्चर के लिए मेरे साथ चल सकती है, तो उसने कहा था—

‘सिद्धेश हो या उसकी पत्नी, उस मैन्यूपुलेटिव जोड़े के किसी भी काम में मेरी कोई रुचि नहीं, तुम इस्तेमाल होते हो तो होओ—मैं ताली बजाने के लिए नहीं आ सकती।’

पर मेरे यह कहने पर कि बैकेट के ‘वेटिंग फॉर गोदो’ का मंचन भी है, वह आने के लिए मान गई थी। पर आई वह केवल नाटक के मंचन के समय ही थी।

सिद्धेश तो लेक्चर के बाद चाय पीकर चला गया था—मैं इति के साथ नाटक देखने के बाद। तब तक तो इति बहुत खुश और सन्तुष्ट थी—गुस्से या उदासी का नाम भी उसके मुंह पर नहीं था बल्कि अपनी उत्तेजना में बैकेट के दर्शन पर बोल रही थी—संवादों को उद्धृत कर रही थी—‘आई कान्ट गो, आई विल गो ऑन, वाह क्या बात है जीवन की विसंगीतियों को सामने लाना कोई बैकेट से सीखे।’

तब तक तो वह नाराज़ नहीं थी—तब क्या घर वापिस लौटते रास्ते में कुछ हुआ था? हां, मैंने सीट पर पड़ी हुई पिम्मी की चिट्ठी को फाड़ा था—चिन्धियां सड़क पर नहीं फेंकनी चाहीं थीं, इसलिए डैशबोर्ड पर रख दी थीं—क्या इति ने उन्हें इकट्ठा कर पढ़ने की कोशिश की—पर उस चिट्ठी में तो नाराज़ होने लायक कुछ भी न था—अगर ऐसा-वैसा कुछ होता तो मैं उसके सामने ही चिट्ठी क्यों फाड़ता ?”

फिर भी वह जल्दी से बाहर गया—गाड़ी खोली—देखा, ऊकड़े वहां नहीं थे। हो सकता है गाड़ी साफ करने वाले लड़के ने उठाकर कूड़े में फेंक दिए हों—या, यह भी तो हो सकता है कि इति ने उन्हें



उठा लिया हो और 'पिम्मी की चिट्ठी' है—वस इसीलिए नाराज़? उसके दिमाग में इति के गुस्सा होने का कारण स्पष्ट हो रहा था—

“पर इति पिम्मी के बारे में सब कुछ जानती है। सब कुछ तो बता दिया था मैंने उसको—और वह यह भी जानती है कि पिम्मी के बारे में बात तक करना मुझे पसन्द नहीं।

यू उसने चिट्ठी में लिखा भी क्या था? यही कि दस-पन्द्रह साल के लम्बे अंतराल के बाद वह अमेरिका से दिल्ली आ रही है—पिता की मृत्यु तो पहले ही हो चुकी थी, मां दिल्ली से चंडीगढ़ वेंटे के पास चली ही गई थी। मेरे लिए जो वाक्य उसने लिखा था वह यह था कि



मैं उसके रहने के लिए किसी होटल में इन्तज़ाम कर दूँ। यू उसके आने की निश्चित तारीख चिट्ठी में नहीं थी।

चिट्ठी आर्डिनरी डाक से कॉलेज के पते पर आई थी—पहुँचने की निश्चित तारीख न होने से होटल की बुकिंग हो भी कैसे सकती थी। यू उस जैसी चुस्त स्मार्ट लड़की मेरा मतलब अब महिला के लिए यह सब कोई मुश्किल काम नहीं। मैंने भी पत्र को गंभीरता से न लेते हुए एक तरफ फेंक दिया था (हालांकि इस बाहरी व्यवहार के बावजूद मैं जानता हूँ, निश्चित तिथि की जानकारी होने पर मैं उसके लिए होटल रिजर्वेशन जरूर करवा देता—मजबूर हूँ अपने आप से)।

पड़ौस में रहती थी पिम्मी—बचपन में एक साथ खेलते थे हम लोग—हो सकता है एकाध साल छोटी रही हो मुझसे, या बड़ी भी हो सकती थी क्योंकि मां बताती थी—

“बचपन से ही उस्ताद थी पिम्मी। तुझे धौंस दिया करती थी—मेरा होम वर्क करके नहीं दोगे तो मैं तुम्हारे साथ नहीं खेलूंगी—जो सारे काम कर सके ‘घर-घर’ खेलने में हलवाई वही बन सकता है—घरवाली का काम बस काम करवाना है—फिर तुम मेरा होमवर्क क्यों नहीं करोगे...”

मेरे बड़े होने पर हंसते हुए मां पिम्मी की नकल उतार कर मुझे

मुनाया करती थी।

छुटपन की बातें तो याद नहीं मुझे, हाँ, ग्यारहवीं की याद है—मां-पापा चाहते थे मैं साइन्स लुं पर पिम्मी इनेक्टिव इंग्लिश और इकोनॉमिक्स ले रही थी—अंग्रेजी में तो मेरी रुचि थी पर इको मैंने पिम्मी की वजह से ली थी—त्रिस्तका परिणाम यह हुआ कि डिबेट मैं लिखता था और पुरस्कार पिम्मी जीतती थी। लिखना ही पड़ता था क्योंकि डान्स-पार्टी में मेरे साथ जाकर वह मुझे ऑक्साइज करती थी हालांकि अब मेरी समझ में आता है कि मेरा साथ होने की वजह से ही आगे-अकल उसे पार्टी में जाने की इजाजत दे देते थे।

बारहवीं में मुझे अंग्रेजी में उन्मासी प्रतिशत अंक मिले थे, पर इकोनॉमिक्स में मेरे नम्बर कम थे, पर डिबिजन फर्स्ट बन गई थी—पिम्मी मैकिंड डिबिजन में पास हुई थी—यू वह पढ़ती ही कहाँ थी—नाटकों में हिस्सा लेना, स्कूल में देर-देर तक नक़्का और आपन को बड़े-बड़े अभिनेता-कलाकार समझते लड़के-लड़कियों की टोली में सिगरेट फूँकना—मैं देख लेता और मना करता तो कहती—

‘देख यार, घर पर मत बताना बर्ना तेरी-मेरी दोस्ती टूट जाएगी!’ और हंसते हुए अपनी टोली में भाग जाती!

मेरा मन होता था अपनी मां को तो कम से कम बता दूँ पर मैं पिम्मी को दोस्ती को दांव पर नहीं लगा सकता था। न चाहते हुए भी उसके मन का-सा करने पर मैं विद्वश हो जाता था (मुझे अच्छी ही लगती होगी वह)।

एक ही कॉलेज में एडमिट हुए थे हम दोनों। अकल-आटी चाहते थे कि मेरे ही कॉलेज में उसे भी दाखिला मिल जाए। मुझे आनर्ज मिलता था और उसे पास कॉमर्स—वह भी इम्सलिए क्योंकि लड़कियों को पांच प्रतिशत की रियायत मिल रही थी और पिम्मी के पास तो एकटीविटीज के नाम पर ढेरों सर्टिफिकेट्स भी थे—मैं बहुत खुश था क्योंकि कॉलेज में पिम्मी के साथ इकट्ठा होने पर एक अजीब तरह का गर्व होता था मुझे।

वैसे कॉलेज में पहुँचकर उसमें भी कुछ सुखद परिवर्तन हुए थे। लग रहा था पढ़ने में मन लगा रही है—फट्टे मार्गें भी उसमें बन्द कर दिए थे—पर इस सब की पोल आभा—हमारी मित्र—के बर्ब-डे वाले दिन खुली—उस दिन मालूम हुआ कि यह सब भी उसकी अदा थी—वह खुद ही मुझसे कह रही थी—

‘यार तू तो जानता ही होगा न कि आजकल लड़कों का आई मीन तुम लोगों का लेटेस्ट क्रेज व्यूटी विय ब्रेन है और मैं तो जन्मजात इसका परफेक्ट कौमोनेशन हूँ—आभा के भाई के साथ थर्ड डिवर के उस चोखे (चश्मे वाले) लोरो ने शर्त लगाई है कि वह मुझे पटा लेगा और मैं फिर किसी और के साथ डान्स नहीं करूँगी—पर देख न मैं इतनी अच्छी और तेरे प्रति कमिटेड हूँ कि सबसे पहले और सबसे



ज्यादा तेरे साथ ही डान्स करूंगी—सिर्फ तुम मॉम-पाप को कन्विन्स कर दोगे कि पार्टी से हम दोनों देर में आएंगे।

पार्टीयां उस उम्र में किसे बुरी लगती है और फिर पिम्मी का साथ—अंकल से पूछा तो उन्होंने मेरे प्रति बहुत विश्वास रखते हुए कहा—‘देखो बेटा, पिम्मी को हम तुम्हारे भरोसे ही भेजते हैं—देर में आना है तो अपनी मो-बाईक न ले जाकर हमारी गाड़ी ले जाना।’ और मेरे ममा-पापा का कहना था—

‘अगर तुम्हारा रिजल्ट ठीक रहता है तो हमें क्या आपत्ति हो सकती है—बस इतना सावधान रहना कि पिम्मी की वजह से किसी पचड़े में न फंस जाना।’

पार्टी में पहुंचते ही पिम्मी आकर्षण का केन्द्र हो जाती थी—अजीब-अजीब किस्म की चुनौतियां लेने में उसे मजा आता था—मुझे घेर-घार कर अपनी बात मनवाना उसे खूब आता था—यूं किसी को भी इग्नोर तो नहीं करती थी वह, पर पार्टी में खास तौर पर मुझे बहुत भाव देती थी—यही वजह थी कि उसके चुलबुले जोक्स, बालों को झटका देकर इधर-उधर देखना या उसकी शोखियों में मजा लेना मेरी आदतों में शुमार हो गया था। दोनों बहुत इकट्ठा होते थे, इसलिए लड़कों में मैं किस्मत वाला या ‘लकी गाइ’ के नाम से जाना जाता था।

यूं इसी धोखे में मैं भी रह रहा था। पिम्मी का बी.ए. का रिजल्ट अच्छा नहीं आया था। उसने एम.ए. ज्वायन नहीं किया था। एन.एस. डी. में भेजने के लिए उसके मां-बाप तैयार नहीं थे—यूं वह मां-बाप को बिना बताए वहां इन्टरव्यू के लिए गई थी पर वहां उसका चयन नहीं हुआ था। आखिर उसने ब्यूटीशियन का कोर्स किया था। वह चाहती थी कि उसके मां-बाप पैसा इन्वैस्ट करें और वह एक अच्छा ग्लैमरस-सा ‘ब्यूटी पार्लर’ या ‘स्पा केअर पार्लर’ खोले। ऐसा कुछ वह कर नहीं सकी। वैसे मेरे साथ फिल्म देखने जाना—हमारे घर आना—मां के साथ गप्पें हांकना—देर रात तक हमारे घर पर मां-पापा को जोक्स सुनाना, सब जारी था।

मेरे मन में भी उसके लिए सम्मोहन मात्र नहीं बल्कि विश्वास जम गया था कि हम दोनों एक दूसरे के लिए हैं—आखिर ‘स्टैंडी’ होना और किसे कहते हैं? हां, जब तक मैं सैटल न हो जाऊं, मैं उसे प्रपोज कैसे कर सकता था! मां से बात नहीं की थी पर सब कुछ उनके सामने ही तो था।

एम.फिल. का डिजेंटेशन सबमिट कर जिस दिन मैं यूनिवर्सिटी से आया, मैंने पिम्मी से कहा—

‘देखो, इस जुलाई में मुझे लेक्चररशिप तो मिली हुई समझो। फिर शादी करने के लिए तैयार हो न मुझसे?’

तो टी.वी. वाले विज्ञापन की अदा में वह बोली—

‘शादी और तुमसे?’ और बालों को पीछे फेंकती, आंखों की

कोर से मुझ पर वार करती दरवाजे पर जाकर रुक गई थी और हँसते हुए एक वाक्य जोड़ रही थी—

‘शादी और लेक्चरर से, शीशे में शक्ल देखी है होंगे?’

मैं इसे उसका मजाक ही समझता रहा। एक दिन उसकी मां ने घर आई और मेरी मां से बोली—

‘पिम्मी की शादी फिक्स अप हो गई है—कॉम्यूनिटी क्लब क्लब सुब्रह्मण्य है—आपको, भाई साहेब और बेटे को मदद करने लिए जरूर आना है।’

पिम्मी ने मुझे भनक भी नहीं लगने दी और मैं उसके जिन्दगी के सपने बुनता रहा।

आई.एफ.एस. पति के साथ पिम्मी ब्रसेल्स चली गई, और न जाने कहां-कहां गई। उसकी मां से मां की बात होती थी। रोना मैं नहीं, न ही मैं उन दिनों को याद करूंगा।

मुझे वर्तमान में इति के गुस्से और पिम्मी के नए जाल, दोनों निपटना है।

वह उठा, दोनों मगज़ उसने उठाए। उन्हें किचन में रख आया। डाइनिंग टेबल पर इति लकी को मैथ्स करवा रही थी। अपनी स्टडी में गया और कागज़-कलम लेकर बैठ गया—

‘पिम्मी,

कॉलेज के पते पर तुम्हारी चिट्ठी मिली—लगा, पुराने कि जन्म में पहुंच गया हूं। काल की निरन्तरता में जीने के लिए संयम को सींचना होता है। मैं यह नहीं कह रहा कि मैं तुम्हारे बुकिंग नहीं करवाऊंगा—यूं तुम्हारी ही सुविधा के लिए अपने एक की ट्रेवल एजेंसी का पता भेज रहा हूं—सच मानो, मेरे सामने आ जाओ तो इतने लम्बे अन्तराल के बाद शायद मैं तुम्हें पहचान पाऊं। पिछले जन्म भी कहां याद रहते हैं हमें—’

उसने पत्र के नीचे ‘तुम्हारा’ लिखा, फिर उसे काट कर अपना नाम लिख दिया।

फिर उसने एक और कागज़ उठाया और एक नोट पत्नी के लिए लिखा—

‘इति

पिम्मी के नाम यह चिट्ठी मैंने लिखी है। तुम्हारे पास लिखा होगा—लकी से पोस्ट करवा देना। मैं बुक फेअर में जाने की सोच रहा हूं—चलना हो तो तैयार हो जाओ।’

उसने चिट्ठी और इति के लिए नोट को लकी को पढ़ा रहे के सामने रख दिया और खुद बाथरूम में नहाने के लिए चला

थोड़ी देर बाद बाथरूम से उसके गाने की आवाज़ आ रही

‘ठंडे-ठंडे पानी से नहाना चाहिए

कैल्क्यूलेशन आए या न आए—मैथ्स करना चाहिए—’

ई-230, अमर कॉलोनी, लाजपत नगर-4, नई दिल्ली-24



शरणकुमार लिंबाले

## घना अंधेरा

बली लकड़ियाँ चीर रहा था। कुल्हाड़ी की चोटें पड़ रही थीं। लकड़ियों के टुकड़े उड़कर इधर-उधर गिर रहे थे। लकड़ी चिर नहीं रही थी। बली सारी ताकत समेटकर कुल्हाड़ी चला रहा था। आधी लकड़ियाँ चिर गई थीं। अब आधी लकड़ियाँ चीरना शेष रह गया था।

बली सुबह से ही धूप में लकड़ियाँ चीर रहा था। उसे दो दिनों में पाटील की लकड़ियाँ चीरकर परसों सरपंच के घर लकड़ियाँ चीरने के लिए जाना था। गांव की लकड़ियाँ चीरना उसके जीवननिर्वाह का पेशा था। गांव में सभी लोग उसे लकड़हारे के रूप में पहचानते थे।

लकड़ियाँ चीरने की आवाज से कोठी की शांति भंग हो रही थी। कुल्हाड़ी की चोट से लकड़ी चिर रही थी। टुकड़े उड़कर दूर गिर रहे थे। बली लकड़ी में धंसी हुई कुल्हाड़ी निकाल रहा था। वह पसीने से नहाया हुआ था। उसके शरीर की नसें तन गईं। उसकी सांस फूलने लगी। हवा के झोंके से पसीने से भीगे हुए शरीर को ठंडक लगी। बली ने माथे पर आया पसीना पोंछ डाला और तमाकू को चूना लगाकर मलने लगा।

बली ने नूपुर की आवाज़ सुनी। उसका मन उल्लसित हो उठा। उसकी नज़र विचलित हुई। उसे कृष्णा मेमार की कही हुई बात याद आई।

कृष्णा मेमार अछूतों की बस्ती में शराब पीने के लिए आया था। उसे खूब नशा चढ़ा हुआ था। इसलिए वह चल नहीं सकता था। बहुत अंधेरा था। जोर से वर्षा शुरू हो गई थी। कृष्णा मेमार को कुछ नहीं सूझता था। बस्ती में कुत्ते भौंक रहे थे। इसी समय बली ने कृष्णा मेमार को सहारा दिया। उसे उठा लिया और उसके घर पर छोड़ दिया।

कृष्णा मेमार दूसरे गांव का था। पाटील की कोठी बनाने के लिए वह अपने पिता के साथ आया था। दो वर्ष से कोठी का काम चल रहा था।

बली कृष्णा मेमार के शब्द नहीं भूल सकता था। आज भी वे

शब्द उसे तेज़ाब जैसा जलता रहे थे। "पाटील की कोठी मैंने ही बनाई है। तुम्हें मालूम है? दिनभर कोठी बनाने का काम करता था और रात में वह अपने आप जमीन में धंस जाती थी। कोठी की दीवारों ऊपर नहीं चढ़ती थीं। कितना प्रयत्न किया तो भी काम आगे नहीं बढ़ता था। हम थक गए थे। पाटील जानकार आदमी ले आया। जानकार आदमी

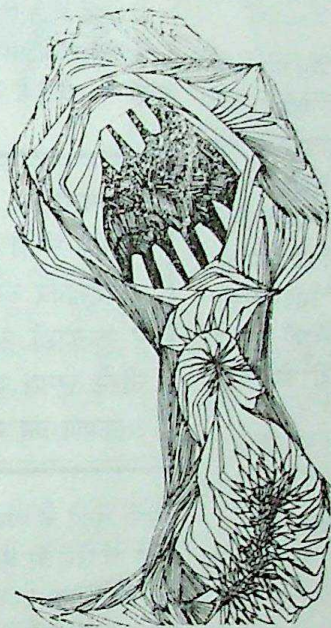
ने क्या कहा, मालूम है? कोठी का काम कभी भी पूर्ण नहीं होगा। यदि वह पूर्ण करना है तो कोठी में शांति करना चाहिए। शांति किए बिना काम आगे नहीं बढ़ेगा। शांति करने का अर्थ क्या है, मालूम है?" कृष्णा मेमार बोल रहा था। "जानकार आदमी ने क्या कहा? कोठी की नींव में ज़िंदा गर्भवती अछूत स्त्री को गाड़ देना चाहिए—दफना देना चाहिए। किसे गाड़ दिया था, मालूम है? अरे, तुम्हारी मां को। वह गर्भवती थी। तुम्हारे जन्म के बाद वह गर्भवती हुई थी।

"तुम्हारी मां खेत में से काम करके आ रही थी। उसके सिर पर घास का गट्टर था। पाटील के आदमियों ने उसे राह में ही रोक लिया। उसे उठाकर पाटील के बागान में ले गए। रात में उसे बंध रही कोठी में गाड़ दिया। जानकार आदमी मंत्र बोल रहा था और तुम्हारी मां का शरीर मौत के भय से

थरथर कांप रहा था। 'मेरे पेट में बच्चा है' कहकर पुकार रही थी, आक्रोश कर रही थी। तब से मैं शराब पीता हूँ।

"पाटील ने जानकार आदमी को पांच अंजलियाँ भरकर पैसे दिए। तुम्हारी मां मुंबई भाग गई—ऐसा समाचार गांव में फैला दिया। बाद में पाटील ने तुम्हारे पिता को जमीन का एक टुकड़ा दान में दिया। उस समय तू तीन-चार बरस का होगा।" कृष्णा मेमार सहमकर बोल रहा था।

बली भड़क उठा था। तृफान से सूखी पत्तियाँ उड़कर ऊपर जाएं और चकराकर नीचे आएँ, वैसी बली के मन की अवस्था हुई थी।





वर्षा, नारायणराव पाटील की अकेली लड़की, बड़ा लड़का आनंदराव। पंचायत समिति का उपसभापति। वह तहसील की राजनीति में उलझा हुआ था और तहसील के गांव में रहता था। सप्ताह में एक-दो बार जैसे भी हो, वह गांव का चक्कर लगाता था। पिछले वर्ष वर्षा की शादी हुई थी।

परसों कोख भरने का कार्यक्रम था। एक वर्ष में ही वर्षा का रूप बदल गया था। आकाश की तरह उसका शरीर भर आया था।

मेहंदी लगे उसके कोमल पैर, गोल उभरे नितंब, बादल की आड़ से चंद्र दीख पड़े वैसे चुनड़ की आड़ में उसका छिपा हुआ गर्भ। बली की नजर वर्षा के पेट के आसपास अटकने लगी। वह भड़क उठा था। गर्भवती वर्षा को देखकर उसे अपनी मां की याद आई। बली ने कुल्हाड़ी उठा ली। बेकाबू होकर लकड़ियां चीरने लगा। शत्रु की तरह वह लकड़ियों पर आक्रमण कर रहा था।

हमें भी पाटील की लड़की को उठा ले जाना चाहिए। उसे जमीन में गाड़ देना चाहिए और उस पर झोपड़ी बांध लेनी चाहिए। बली शक्ति लगाकर लकड़ियां चीर रहा था। कुल्हाड़ी पर कुल्हाड़ी पड़ रही थी। बली ने चिरी हुई लकड़ियां व्यवस्थित कीं। कुल्हाड़ी कंधे पर रखकर बैठक के दरवाजे में सीढ़ी के पास खड़ा रहा। "स्वामिनी! मैं चलता हूं। मुझे कुछ दो।" बली की आवाज़ कोठी में बिल्ली जैसी घुस गई। बली के अंगूठे को लकड़ी उड़कर लगी थी। उसका अंगूठा लहलुहान हो गया था। रक्त जम गया था। बली ने कुल्हाड़ी के दस्ते से मिट्टी खोदी थी। मिट्टी घोलकर जख्म पर लगा दी। थोड़े समय के बाद लक्ष्मी पाटलीण बाहर आई।

"सब लकड़ियां चिर गई?"

"नहीं, कल आऊंगा।"

"कल मेहमान आएंगे। कल फिर से नहीं बुलाऊंगा।"

"हां जी।"

बली ने अपनी धोती की कांछ आगे की।

लक्ष्मी पाटलीण ने उसमें जुआर डाल दी। कागज में लपेटकर पटियां दीं। बली का चेहरा आनंद से निखर उठा। वह लंगड़ाते-लंगड़ाते गहर आया।

वह अपने घर आया। उसका बाप बैठा बीड़ी पी रहा था। बली सके पास आकर बैठ गया। चोखा अछूत अपने लड़के की ओर अंता से एकटक देख रहा था।

"क्या दिया पाटलीण ने?"

"मुझे एक बात पूछनी है?"

"कौन-सी?"

"मां के विषय में।"

"क्या कहा?"

"मेरी मां को पाटील की कोठी में गाड़ दिया गया था, क्या यह

सच है?"

"सच है।"

"फिर मुझे क्यों नहीं बताया?"

"बता कर क्या होता? तू क्या उसे ज़िंदा कर देता?"

"मुझे मालूम तो होना चाहिए था।"

"अरे! सारे गांव को मालूम हुआ था उस समय। लेकिन पाटील का विरोध कौन करता। पाटील ने मुझे जमीन का टुकड़ा दिया और मुंह बंद कर दिया। मैं अकेला क्या कर सकता था? और तू भी क्या करेगा? जिसने कोठी बांधी, वह तो मर चुका और उसका लड़का नारायणराव कुछ दिन का मेहमान है। वर्ष-दो वर्ष में वह भी मर जाएगा। हम उससे क्यों झगड़ा करें?"

चोखा शांति से बीड़ी पी रहा था। बली बेचैन था।

आकाश में चांदनी निकल आई थी। हवा बह रही थी। बली चांदनी के उजाले में तूफानी गति से निकल पड़ा था। उसके हाथ का

बली की नजर वर्षा के पेट के आसपास अटकने लगी। वह भड़क उठा था। गर्भवती वर्षा को देखकर उसे अपनी मां की याद आई। बली ने कुल्हाड़ी उठा ली। बेकाबू होकर लकड़ियां चीरने लगा। शत्रु की तरह वह लकड़ियों पर आक्रमण कर रहा था।

हंसिया चांदनी के प्रकाश में चमक रहा था। वह पाटील के द्वारा दान में दी गई खेती की ओर निकल पड़ा था। हम पाटील का कुछ बिगाड़ नहीं सकते—यह भावना उसे बार-बार डंक मार रही थी। खेत में फसल झूम रही थी। बली खेत में पहुंचा। हंसिया खींचा। वह खेत में खड़ी फसल काट रहा था। भोर तक बली ने सारी फसल काट डाली।

बली चबूतरे पर आया। हंसिया सिरहाने लेकर वह सो गया। उसे नींद आ गई। दोपहर में उसे किसी ने जगाया। "बली! तुम्हारे खेत की सारी फसल किसी ने काट डाली है..." कहने वाले पर वह चिल्ला उठा और शांति से सो गया।

उसने नींद में सपना देखा। बली की मां कटी हुई फसल के ढेर बनाती है। फिर उसे आग लगाती है। उस आग में पाटील की कोठी जलकर मिट्टी में मिल जाती है। बली जब जागा तब धूप ढलने लगी थी। बली उठा और घर गया। चोखा अछूत झोपड़ी की दीवार से टेक लगाकर बैठा हुआ था। उसके सामने कुत्ता लेटा था। मुरगियां कुछ खा रही थीं। इतने में बली आया। उसने अपना मुंह पानी से धो डाला। बाप की ओर देखा। उसे अपने बाप पर दया आई। पाटील के खिलाफ वह



क्या कर सकता था? पाटील ने उसको भी मार दिया होता। मैं अनाथ हो जाता। लेकिन बाप ने मुझे छोटे से बड़ा किया। वह उस के पास जाकर बैठ गया।

आज कुछ काम नहीं था। बली घर में ही बैठा था। दोपहर का समय था। काम न होने पर वह ऊब गया था। वह गांव में गया। गांव में कोई तो काम देगा। इसलिए वह गांव में घूमने लगा। राह में एक-दो



स्त्रियां सामने आईं। बली ने एक तरफ होकर उन्हें राह दे दी। वह चौपाल के पास आया। चौपाल में लोगों की भीड़ इकट्ठा थी।

चौपाल में पंचायत बैठी थी। गांव वाले बैठे थे। बैठक पर पंच बैठे थे। सीढ़ी के पास लखू अछूत और येमा अछूत बैठे थे। नारायणराव पाटील हर एक जाति पंचायत में उपस्थित रहते थे लेकिन वे आज नहीं आए थे। उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था। लोग उनसे मिलने के लिए कोठी पर जाते थे।

बली का जी सन्न हो गया था। उसने कोठी की ओर देखा। कोठी इतनी ऊंची थी कि वह कहीं से भी देख पड़ती थी। उसे गर्भवती वर्षा की याद आई। उसका गोरा रंग, आकर्षक रूप उसे सताने लगता। हमें लकड़ियां चीरने के लिए कोठी पर जाना चाहिए, वर्षा आंगन में आनी चाहिए और लकड़ी की तरह उसे कुल्हाड़ी से चीरना चाहिए। उसका बच्चा पत्थर पर पटककर मार देना चाहिए। जो कुछ होता है, होने दो। बली प्रतिशोध से तड़प रहा था।

वर्षा की कोख भरने का कार्यक्रम था। संपूर्ण कोठी में बिजली की रोशनी चमक उठी थी। गांव भर को भोजन दिया गया था। बली को कोठी पर बुलाया था। कोठी की सीढ़ियां चढ़ते समय उसे अपनी मां की याद सताने लगी। वह ऐसे ही विचार में कोठी में गया। नारायणराव पाटील झूले पर बैठे थे। कोठी में मेहमानों की भीड़ थी। बली बैठक की सीढ़ी के पास जाकर लाचार होकर खड़ा हो गया था। उसकी नजर उसे खोज रही थी। हिंस्र पशु के समान उसकी नजर कोठी में घूमने लगी। वर्षा कहीं भी देख नहीं रही थी। कोठी का नौकर आया। वह

वर्षा की कोख भरने के कार्यक्रम में दिया हुआ मीठा भोजन पत्तल में लपेटकर ले आया था। बली ने लपेटो हुई वह भोजन की पत्तल ले ली। उसने पाटील को जुहार की और कोठी के बाहर निकल आया। कोठी के बाहर आते समय उसे लगा कि उसके पैरों में मन-मन की बेड़ियां डाल दी गई हैं।

यह मीठा भोजन यानी कि मां का श्राद्ध। वह दावानल के समान भयंकर रहा था।

बली कोठी की एक-एक सीढ़ी गतर रहा था और उसकी पलकें आसुओं से बेझिल हो रही थीं। उसे लगा था कि इस कोठी की दीवारें ध्वस्त कर देनी चाहिए और दीवार में शांति से सोई हुई मां को जगाना चाहिए, मां को पुकार लगानी चाहिए।

वर्षा अपने गर्भ के दिन गिनती नहीं होगी। लेकिन बली हर दिन गिन रहा था। वर्षा की प्रसूति जैसे-जैसे समीप आ रही थी, कैसे-कैसे वह त्रस्त हो रहा था। वर्षा गर्भवती है, हमें प्रतिशोध लेना चाहिए—इस विचार से वह उन्मेजित हो रहा था। अब नवां महीना समाप्त होगा। नौ दिन भी समाप्त होंगे और वह मां बनेगी। फिर से एक बार कोठी में आनंद का ज्वार आएगा।

नौ महीने समाप्त हो गए।

बली ने कंधे पर कुल्हाड़ी रखी और कोठी की ओर निकल पड़ा। अमावस्या के बाद की रात थी। चंद्रोदय नहीं हुआ था। आकाश में चांदनी कम थी। हवा धीरे-धीरे बह रही थी। सारा गांव शांति से सोया हुआ था। बली के पैरों में तूफान का संचार हो गया था। सिर में बिजली चमक रही थी। उसकी आंखें अनल के समान भयावह दीख रही थीं। अंधेरा गहरा लग रहा था। कोठी मृगजल के समान हिलोर ले रही थी।

बली ने कंधे पर रखी कुल्हाड़ी को प्रचंड आवेग से ऊपर उठाया और कोठी की दहलीज पर पूरे वेग से आघात किया। एक ही आघात में कोठी के उठान के दो टुकड़े हो गए और उठान उखड़ गया। बली क्रुद्ध होकर मजबूत कोठी के खानदानी दरवाजे पर एक के बाद एक आघात कर रहा था और दरवाजा ढीला हो रहा था। कुल्हाड़ी के बड़े-बड़े आघातों से कोठी कांप उठी थी। नारायणराव पाटील "कौन है, कौन है," पुकार रहा था। बली ने दरवाजे पर अन्तिम आघात किया और दरवाजा सीढ़ियों पर से लुढ़ककर जमीन पर गिर पड़ा। प्रचंड आवाज हुई। इस आवाज के पीछे से छोटे बच्चे का रोना सुनाई दिया।

वर्षा प्रसूत हुई थी

चंद्रोदय हुआ था।

बली वायु के समान अंधेरे में विलीन हो गया।

मराठी से अनुवाद—डा. के.जी. कदम



## सुखवीर सिंह तेजराना

# बिना लोक के लोग

सप्ताह भर की गंध निकालने के बाद साफ-स्वच्छ कपड़ों में हम निकले।

अलेल उम्रों के गागले शरीरों पर साफ-स्वच्छ कपड़े। स्वच्छ कपड़ों का प्रदर्शन शरीर, समाज की आवश्यकता और इसकी तह में उमंग। मन खिलने का क्या—झलक भर में उमड़ आए, न उमड़ने को शाही ठाट-बाट में राजी न हो। उमंग किसी की मोहताज नहीं है। जहां, जिस में, जब चाहे आ जाए। इस उमंग के वशीभूत हम मशगूल हुए चल रहे थे। यानी अपनी ही बातों में उलझे हुए।

गलियों में, गलियों के मोड़ पर इतना भी नहीं सोच पा रहे थे, छोटे-बड़ों को राम-रहीम कर लें।

चलते हुए जब हम चौधरी जगबीर को हुक्का पीते हुए छोड़, पांच-सात कदम आगे निकल गए, हमारी उमंग ने अपनी मस्ती में इतना भी नहीं सोचा, यह मोहल्ला चौधरियों का है। पूरा गांव ही है। इसे ध्यान में रखें। चौधरी जगबीर को भी उसी तरह न भूलें, जैसे कभी भूले नहीं थे।

स्वच्छ कपड़ों ने हमें कितनी बड़ी अलहडता सौंप दी थी। हमें अलहडता में देख कर चौधरी जगबीर ने एकाएक आवाज का गोला दागा, “अरैअ...ओ...चमार के... सुणि...।”

एकवचन में मैं बंद होता था। बड़ा था। कपड़े भी साफ थे। लाल सिंह मेरे से छोटा था। उसके कपड़े मेरे बराबर साफ नहीं थे। पर दागे हुए गोले का असर दोनों पर होना था।

हम भय से ठिठके और सोचा—चौधरी जगबीर को बिना राम-राम किए निकल आए है, ऐसी घटना दलितों के हित में नहीं होती। या तो इस पर तुरन्त ही एक्शन ले लिया जाता है अथवा आगे के लिए रिजर्व रख लिया जाता है...अच्छा देखेंगे...

पीछे मुड़कर हम दोनों चौधरी जगबीर के आगे पेश हुए। वे ऊंचे

चबूतरे पर खाट पर विराजमान थे। हम गली में थे। गली में से हमें पूरी बैठक दिख रही थी। बैठक का बीघे भर का क्षेत्रफल था। कई बैंसे की। हमें इतना निश्चित था, चौ. जगबीर मशीन पर घास काट कर आए है। उसके गंदे कपड़ों में घास की नम छींटे दिखाई दे रही है। हमारा ध्यान अपने कपड़ों पर गया। सप्ताह भर में कितने गंदे होते हैं। जगबीर के कपड़े इतने ज्यादा गंदे थे, दो सप्ताह से ज्यादा के...बिना धुले। मैंने पूछा... (दलित भाषा में, पर परम्परा के विपरीत), “के है... चौधरी साहब?”



चौधरी साहब कुछ देर तक सोने में लगे रहे। हम उनके मुंह की ओर ताकते रहे। हमारे अन्दर भय भरता जा रहा था।

‘के है...’ शायद वे इसके पंथ में लग गए थे।

‘के है’ के बदले उनके कान यह सुनने के आदी हैं, ‘के कहे थे, चौधरी साहब?’ यानी हम समर्पित हैं।

‘के है’ पर उनका चेहरा तमतमा गया था, उनके अन्दर जहर का तूफान उठा था। पर उसी क्षण गायब भी हो गया था। तो भी तूफान के एक कोने के उफान में वे बोले, ‘अरैअ... नू कहू-हू... यू गाम-राम है। अरै, गाम में लैंडी लारियां भी हैं। मका, धौले गुन हो कर गलियों में कू नी लिकड़ा-बड़का करते। चमारो, ज्यादा ही अंधाई लग गई दीकखै...। जावो...कुछ सोनो।’

उनके रावण-वचन हमने सुने, भावी चेतावनी के रूप में। हमारा उमंग, हंसी-खुशी क्षीण हो गई...हम वहां से गुम्म-सुम्म हो आगे बढ़े...खेतों की ओर।

विद्यार्थी जीवन में इतवार का दिन, इतवार में स्वच्छ कपड़े, स्वच्छ कपड़ों में उमंग, इस प्रकृति पर लगाम तो लगनी नहीं चाहिए। अक्सर लोग कहते हैं...बच्चे-बच्चे ही होते हैं...बच्चों में अलहडता होती है...बच्चे चौ. जगबीर के भी हैं, वे भी स्कूल-कालिजों में पढ़ते हैं। साफ-स्वच्छ कपड़े पहनते हैं। अलहडता उनमें भी होती है। और



ऊपर से वे मुस्टंडे भी होते हैं। पर हम दलित बच्चे थे।

हमारे अन्दर द्रष्टा था। खेत तो स्वतन्त्र प्रकृति है। किसी के खेत का बिना बिगाड़ किए, टहलने-घूमने पर भी भय होता है। लगना है, इस प्रकृति के ऊपर अदृश्य किसान छाया हुआ है। दलित के लिए घूमना-फिरना छुप-छुपा कर टट्टी होने तक सीमित है। टट्टी होने पर पावंदी इसलिए अधूरी है कि टट्टी खेत में खाद का काम करती है। बहुत बार पंचायत करके किसान लोग टट्टी होने पर भी पावंदी लगा देते हैं।

खेतों में गजवाहे की एक पुलिया पर हम दोनों भय में उदास मन बैठे थे।

जगबीर चौधरी की धमकी ने हमें सोचने के लिए विवश कर दिया था। खेतों की प्रकृति को देख-देख कर हमारे अन्दर दार्शनिकता जैसे भाव उत्पन्न होने लगे थे।

उदास बैठे हुए लाल सिंह से मैंने कहा, "मेरे भाई, इस प्रकृति में ये जो खेत हैं, इनमें हरियाली कौन भरता है?"

लाल सिंह ने मुस्करा कर उत्तर दिया, "खेतों में हरियाली किसान भरते हैं, इसलिए कि खेत किसानों के हैं।"

मैंने फिर कहा, "इन खेतों पर विभिन्न प्रकार की चिड़िया, कौवे, गीदड़, जंगली पशु क्यों ललचाते हैं?"

"भाई गोविंद राम... इन का ललचाना ठीक तो नहीं है। ये अनएथोराइड होते हैं। अनएथोराइड वे होते हैं, जिनकी कोई मातृभूमि नहीं होती, जन्मभूमि भी नहीं होती। इसलिए बिना जन्मभूमि के इनका ललचाना जितना अवैध है, उतना ही अनुचित भी है।"

लाल सिंह के उत्तर से मुझे संतोष-सा मिल रहा था। मैं आगे पूछने के लिए तैयार था, "पशु-पक्षी खेतों पर ललचाते हैं, आगा-पीछा देख कर, दांव लगा कर खेत खा भी जाते हैं। फिर तो वे किसानों के शत्रु हुए?"

"ये भी कोई जानने की बात है? निश्चित शत्रु है।"

"फिर किसान लोग, चौधरी लोग इन्हें क्यों नहीं सताते, उन पर क्यों नहीं अत्याचार करते, इनके घरों पर क्यों नहीं हमला करते और इनकी सुन्दर-सुन्दर बहू-बेटियों के साथ क्यों नहीं बलात्कार करते? इनके उजाड़ने की कोई प्लानिंग नहीं है?"

लालसिंह मेरे चेहरे पर नजर टेककर मुस्कराए और कुछ क्षणों बाद बोले— "सुनिए बड़े भाई, होता तो इनके साथ सब कुछ है, पर ये दलितों की तरह इतने निर्बल नहीं हैं। इतने अहदी, अज्ञानी नहीं हैं। ये बड़े तेज, चालाक, चुस्त होते हैं। खा जाते हैं और पीछे से टिली

लिली... ज़रूर... दिखा कर भाग जाते हैं। हालांकि कि ये बिना मातृभूमि, बिना जन्मभूमि के होते हैं पर वश में नहीं आते। हाँ, रही बात इनके उजाड़ने की, तो अलिखित, अनकही, अदृश्य साजिश चल रही है। फिर किसान स्वतन्त्र प्रकृति में स्वयं स्वतन्त्र दिखाई देगा। और भाई गोविंद, पशु-पक्षियों की बात छोड़ आपसी की कहो कुछ?"

मैंने गर्दन उठाई। खेतों की ओर में ध्यान हट पीछे ऊपर की ओर लगा, "हा भाई लालसिंह, ये जो हम देख रहे हैं गाँव, मिट्टी, ईंट, पत्थरों का, ऊँचा-नीचा, ऊँच-खाबड़, 'पहाड़ी-सा क्या है? जिसमें हम रहते हैं, कहते भर, पर न हम रहते-बसते हैं, न उसके हैं, न इसमें होते हैं। इसे गाँव क्यों कहते हैं?"

"गोविंद, हमारा-तुम्हारा, दलितों का रहना, होना अथवा न होना, हमारे रहते होने या न रहते होने से गाँव नहीं बनता, न होता है। गाँव का महत्व, अस्तित्व किसानों के साथ जुड़ा है। किसान गाँव हैं, गाँव किसान हैं।

"किसानों के खेतों के समान घर भी होते हैं। बीसों घर में बड़े-बड़े होते हैं। बड़े-बड़े भुम के कोठे होते हैं। गाय, बैल, भैंसों के बांधने के लिए बड़े-बड़े घेर, खरक होते हैं। ट्रैक्टर, ट्राली खड़े करने के लिए बड़े-बड़े दलान होते हैं।

उनके लम्बे-चौड़े ऊँचे दरवाजे होते हैं।

"और भाई मेरे, घर, घर, खरक छोड़ गाँव की गलियाँ चौधरी लोगों की होती हैं। लम्बे-चौड़े जौहड़, जौहड़ के चारों ओर खलिहान, मैदान, गोभरे, पंचायती, गैर-पंचायती जमीन किसानों की होती है। नहीं होती तो लट्ठ की पुजाई से होती है। मतलब है, एक-एक ईंच गाँव की जमीन चौधरी की होती है।

"और भी सुन ले, है तो तू मेरे से बड़ा पर तुझे आज सुनने में मजा आ रहा है। खेत, जमीन, गाँव चौधरियों की ही नहीं, उनके स्वतन्त्र बच्चों की भी स्वतन्त्रता मान कर चले। इनमें उनके बच्चे शान के साथ टहलते हैं, घूमते हैं, खेलते-कूदते हैं। अल्हड़ता करते हैं, मस्ती काटते हैं, दलित बच्चों को देखते हैं तो उन पर रोब जमाते हैं, धमकाते-सताते हैं। ऊँच, कहने को ये आधुनिक बच्चे, ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा के बच्चे, देश के भावी भविष्य के बच्चे, पीट-पीट कर अहंकारों के गंस्कारों में मजा लेते हैं, मान-मर्यादा प्राप्त करते हैं, ऊँचे बनते हैं।"

मैंने अपनी मुद्रा तोड़ पृच्छा, "ऐसा किसलिए है? भाई लालसिंह, यह भी बता दे। गरीब आदमी, या दलित कहो, उसे सताना, मारना-पीटना, उस पर अत्याचार करना, शक्ति के बल पर बहू-बेटियों से बलात्कार



करना ऐसा क्यों है?"

"समझे नहीं हो गोबिंद, इस बात को बता चुका हूं। छोड़े हुए जंगली जानवरों की बात फिर दोहराना चाहते हो तो सुनो। जंगल का भेड़िया, जंगल राज्य तंत्र में ही भेड़िया होता है। जबकि किसान जंगल और गांव का भी शासक होता है, और हर चौधरी होता है।"

"फिर तो लालसिंह, यह भी बताते चलो, गांव के गरीब और दलित और उनके दलित बच्चे, बड़े मजे की चीजें हैं।"

"अरे हां भाई—क्यों नहीं? पर तुम हो बड़े गुरु, बातों में से बातें पैदा करते जा रहे हो। करो बेशक, उत्तर देना आज मेरा कर्तव्य है।"

"भाई, मारना-पीटना, विभिन्न प्रकार के अत्याचार करना, दलितों के घर उजाड़ना, जलाना-फूंकना, बलात्कार और निर्मम हत्याएं—यह चौधरियों की लाभकारी खेती के समान है। खेती से पेट-पालन और सम्पन्नता होती है जबकि उत्पीड़ितों से मानसिक भूख मिटती है, आत्मिक संतोष होता है। इसलिए दलित अत्याचारियों के जीवन की अच्छी फसल है। जब चाहे तब काट लो।"

"पर भाई मेरे, अब किसान ने इसको उजाड़ने में भला समझ लिया है।"

"हां, सुनो और जो कहूंगा—यह अत्याचारों से भी बड़ा दुख है। हमारे-तुम्हारे परिवार वाले, जवान-जवान बहू-बेटियों, मासूम बच्चों, पढ़ने योग्य बच्चों को लेकर भट्ठों पर क्यों जाते हैं? शहर की मजदूरी के लिए, या मुकम्मिल तौर पर शहर की झुगियों में बसने के लिए? अनठौर—सड़कों के किनारे-किनारे पार्कों की बाउंडरियों के साथ-साथ, रेल की असुरक्षित पटरियों के साथ-साथ, या जहां ऊंची-नीची खड्ड-खाई जगह मिलती है, या कूड़े-करकट के ढेर पर, या नदी-नालों पर जीवन गुजारने के लिए क्यों मजबूर हैं? यह नहीं कि गांव की जमीन सिकुड़ कर छोटी हो गई है। यह नहीं कि उपज घट गई है। यह नहीं कि गरीब और दलित परिवार-जनों की संख्या बढ़ गई है और चौधरी लोग नापैद होने लगे हैं इसलिए पलायन होने लगा।"

"भाई गोबिंद, दुख तो बहुत बड़ा है। कहते हुए भी दुख होता है। जबकि गांव हर प्रकार की सम्पन्नता, हर प्रकार के विकास की ओर निरन्तर बढ़ रहे हैं, बिजली है, पानी है, खाद सब्सिडी है, बढ़ती हुई उपज है। रेडियो, टेलिविजन, फ्रिज, के चूल्हे गांव में आने लगे हैं, मोहल्ले में इंग्लिश मीडियम स्कूल खुल गए हैं, लड़कियां तक पैट पहन कर या हाफ-पैट में डांस करने लगी हैं। और जोड़े-जोड़े में डांस होने लगे हैं। यह सब कौन कर रहे हैं? अंगरेजी शराब कौन पी रहे हैं? गांव के शासक किसान, चौधरी हैं या कौन हैं? दलितों का

पलायन समझे? गांव में गुजारा नहीं होता, समझे।

"एक साजिश-भरी बात और भी है। गांव चौधरियों का होता है चौधरी लोग दलितों के अहित में पंचायतें करते हैं, पंचायतों में लोकतांत्रिक अधिकार उन्हें ही होता है। एक गांव की पंचायत में निर्णय पूरे देहाती प्रदेश का होता है। एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में भी फैसला लागू होता है। और सर्वमान्य होता है। दलितों से मजदूरी कराओ और मजदूरी मत दो।"

"भाई गोबिंद, जगबीरे ने चेतावनी दी है। यह चेतावनी चौधरियों की ओर से है। गांव में लौंडी-लारियां भी हैं। लौंडी-लारियां चौधरियों की ही होती हैं। हमें धौले-बुगम कपड़े नहीं पहनने चाहिए ताकि चौधरियों की लौंडियां हमारे ऊपर फिदा न हो जाएं।"

"विरोध करेंगे, बुरे कुत्ते जाएंगे, नहीं करेंगे, जीवन-भर गुलामी में रहना पड़ेगा। सो गांव छोड़ चलो, बिना कहे, बिना आज्ञा।"

"अभिप्राय यह है बड़े भाई किसानों को खेत छोटे पड़ गए गांव छोटे पड़ गए हैं, गांव की गलियारा घर छोटे पड़ गए हैं। उनकी दलितों के रोजगार, खान-पान

घर-मकान-जमीन पर टिक गई है, यह सियासी साजिश अनकही है। खुद अपने हित में दलित का उजाड़ना बुरा नहीं है। दलित मातृभूमिहीन, जन्मभूमिहीन जंगली पशु-पक्षियों के समान ही है। इसी गोबिंद राम..." मुझे जैसे होश आया हो, मैंने गर्दन ऊपर उठा इधर-उधर देखा, एक कंकड़ उठाकर जोर से पानी में फेंका—झम

उठते हुए लाल सिंह ने बात पूरी करनी चाही, "देश-वेश का भी बात छोड़ो, देश के शासकों की भी बात छोड़ो, शासकों के भी बात छोड़ो, देश भगा-दौड़ की चीज और शासक लुटेरे हैं। लूटो-खाओ का सिद्धांत देश में है, जो बिना कानून के चल रहा है।"

"और जगबीरे क्या चीज है? शक्ल-सूरत, सेहत, शरीर का कांटा। इसमें दिमाग होने का भी क्या मतलब? पर चौधरी है, किसान है, जात भी ऊंची है, तब सब कुछ ऊंचा है। देश की जड़ भी, भी जगबीरे है।"

"देश तो क्या, प्रकृति भी उसके वश में है। प्रकृति की खुशी उमंगें, उसकी मुट्ठी में बंद हैं। और हम देश की किस खेत की हैं। पन्द्रह-सोलह वर्ष की उम्र के विद्यार्थी... ऐसे क्रूर साम्राज्य में जब चाहे, जैसे चाहे, मसल दे। चलो अब यानी कि गांव की ओर

9/472-73 खिचड़ीपुर, दिल्ली-110091



सूरजपाल चौहान

## तबादला

उन दिनों मैं भारत सरकार के उपक्रम एस.टी.सी. नई दिल्ली में सहायक के पद पर कार्य करता था। मेरा आफिस जनपथ पर स्थित चन्द्रलोक भवन में था। इस भवन की तीसरी मंजिल से लेकर दसवीं मंजिल तक एस.टी.सी. का आफिस फैला हुआ था। सन् 1981 में सामान्य प्रशासन प्रभाग के टेलेक्स से मेरा तबादला सुरक्षा एवं रख-रखाव अनुभाग में हो गया था। सुरक्षा एवं रख-रखाव अनुभाग के एस.ओ. (सेक्शन आफिसर) एस. एल. कुकरेजा थे। मेरे इस आफिस में एस.ओ. को कार्यालय प्रबंधक (आफिस मैनेजर) के नाम से जाना जाता है। एस.एस. माधुर उप प्रशासनिक प्रबंधक, श्याम गुप्ता प्रशासनिक प्रबंधक एवं इनके ऊपर बी.एस. कंसरा। मुख्य प्रशासनिक पदों की एक शृंखला बनी हुई थी।

शुरू से ही मैंने आफिस के कार्यों से मुंह नहीं मोड़ा है। हमेशा से पूरी निष्ठा और लगन से कार्य किया है। उस समय मेरी उम्र लगभग 25-26 वर्ष रही होगी, शरीर में स्फूर्ति भी थी। सुरक्षा एवं रख-रखावों सीट-वर्क के साथ-साथ भागदौड़ का कार्य जैसे सिटिंग अरेंजमेंट, सफाई कर्मचारियों के कार्य को जाकर देखना, चौकीदारों की तैनाती को देखना आदि-आदि। मैं अपनी ऊर्जा से अधिक कार्य करता। नतीजतन मेरे अनुभाग के सभी छोटे-बड़े अधिकारी मुझे खूब प्यार करते।

प्रशासनिक प्रबंधक श्री श्याम गुप्ता तो मेरे काम से बहुत ही खुश थे। वे सभी प्रबंधकों/कर्मचारियों के सामने मेरी तारीफ करते न थकते। मैंने अपने काम से उनका मन जीत लिया था। एस.एल. कुकरेजा अब नाम मात्र के एस.ओ. थे। उसे इस बात का तनिक भी बुरा नहीं लगा कि सारा कार्य उससे छीनकर मुझे दे दिया गया। उल्टे वह तो खुश था कि आफिस के काम से उसकी जान छुटी। अब वह

पूरे-पूरे दिन आफिस में गायब रहता और अपना प्राइवेट कार्य करता।

मैंने पहले से ही उप प्रशा. प्रबंधक व प्रशा. प्रबंधक का मन जीत रखा था। वे दोनों समय-समय पर मेरी पीट थपथपाते थे। बहुत अच्छा लगता था मुझे शाबाशी पाकर।



श्याम गुप्ता एस.टी.सी. की विदेशी शाखा सिंगापुर में भी काम कर आए थे। बड़ा लम्बा-चौड़ा व्यक्तित्व था उनका। छ. फुट कद, चौड़ा माथा, ऊपर की सोंधे सधे बाल, सावला भारी-भरकम शरीर, मस्त हाथी की तरह डगमग-डगमग चलते थे वे। मैंने उनके साथ लगभग डेढ़ वर्ष कार्य किया था, लेकिन उन्हें कभी गुस्सा करते नहीं देखा था। एस.एस. माधुर ठीक श्याम गुप्ता के विपरीत। उसके सिर पर बाल इत्ने भर थे कि आराम से गिने जा सकें। वह आंखों में सुरमा डालकर आता था। उचक-उचक कर और कंधे मटका-मटका कर चलता तो बड़ी अजीब-सी उसकी आकृति बन जाती थी। अपने केबिन में सीट पर बैठे हुए वह भीगे

कौए की तरह पलकें झपकाता रहता। वह मुझसे तो कुछ न कहता, हॉ ग्रेड-1 जिनमें सफाई कर्मचारी, चौकीदार, चपरासी की श्रेणी के लोग आते, के पीछे हाथ धोकर पड़ा रहता था। चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी उसकी एक न सुनते। इन चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों और उप प्रशासनिक प्रबंधक के बीच मैं ठीक से ताल-मेल बैठाने का कार्य किए जा रहा था। सब कुछ ठीक-ठाक चल रहा था कि एक गेज कार्पेंटर सरदार बीर सिंह ने माधुर के सामने मेरा भंडाफेड़ कर दिया।

हुआ यूँ कि कार्पेंटर सरदार बीर सिंह एक गेज एस.एस. माधुर के कमरे में उसकी मेज ठीक कर रहा था, उसी समय मैंने अपने अर्ध निस्थ सभी चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों के समयोपरि-भत्ते (ओवर टाइम) का विवरण तैयार कर माधुर के सममुख रखा। वह उस समयोपरि भत्ते



पर हस्ताक्षर करते हुए सरदार बीर सिंह से बोला—

“सूरज बहुत अच्छा लड़का है... तुम्हारा ओवर टाइम, नाइट ड्यूटी अलाउन्स, शिफ्ट अलाउन्स आदि के बिलों का भुगतान समय पर करवा देता है... यह तुम्हारी शिकायत भी नहीं करता जबकि मैं जानता हूँ कि तुम्हारे में से कई लोग देर से आते हैं और आफिस से जल्दी भाग जाते हैं।”

“ओ साब जी, बहुत ही चंगा मुण्डा है... ऐं साडे नाल कम करन वाले रोहन लाल दा पुत्तर है।” सरदार बीर सिंह ने माथुर से कहा था।

“अच्छा, यह ग्रेड-१ रोहन लाल का लड़का है जो पहले झाड़ू लगाने का काम करता था।” एस.एस. माथुर ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कारपेंटर बीर सिंह से पूछा था।

“हां जी, ये रोहन लाल दा पुत्तर है... तुआनू नहीं पता!” सरदार बीर सिंह ने मेरी ओर देखते हुए माथुर से कहा।

“गरीब दा पुत्तर है, तां ही साडा ख्याल रखदा है।” उन दोनों का वार्तालाप जारी था और मैं चुपचाप माथुर के केबिन से बाहर चला आया था। माथुर को विश्वास नहीं हो रहा था कि एक सफाई कर्मचारी का बच्चा भी पढ़-लिख कर बाबू के पद तक आ पाएगा। उस समय हमारे कार्यालय में आरक्षण के नाम पर अनुसूचित जाति व जन-जाति के कुल मिलाकर एक सौ पैसठ प्रबंधक/कर्मचारी कार्यरत थे जबकि सामान्य वर्ग के प्रबंधकों/कर्मचारियों की संख्या लगभग ढाई हजार थी। दलितों में दलित कहे जाने वाले वाल्मीकि समुदाय के हम उस समय मात्र दो ही कर्मचारी थे। एक मैं और दूसरे बालकृष्ण। आफिस में बहुत दिनों तक सभी दलित साथी हम दोनों को भी जाटव समुदाय का ही समझते रहे। हमारे इस मुख्य कार्यालय में दलित समाज के अन्य वर्गों की लगभग 10-12 महिला कर्मचारी कार्यरत हैं। लेकिन आज आजादी के पचास वर्षों से अधिक बीत जाने के बाद भी एकमात्र महिला किरण ही स्टेनो के पद पर वाल्मीकि वर्ग से है जिसकी नियुक्ति सन् 1996 में हुई है।

एस.एस. माथुर को मेरे विषय में जानकर हैरानी हो रही थी। उसका व्यवहार अब मेरे प्रति बदला-बदला सा नजर आने लगा। मेरे द्वारा किए गए आफिस के कार्य में वह रुकावटें डालने लगा। जिस दिन से एस.एस. माथुर को पता चला कि मैं एक सफाई वाले का लड़का हूँ, उसने मेरी इंटिग्रिटी पर शक करना शुरू कर दिया। मेरी ओर वह इस तरह देखने लगा था जैसे मैं कोई गलत कार्य कर रहा हूँ। एक रोज प्रशासनिक प्रबंधक श्याम गुप्ता ने मुझे केबिन में बुलाकर पूछा—

“तू रोहनलाल का लड़का है?”

“जी हां, वे मेरे पिता हैं।” मैंने कहा।

“कितना पढ़ा-लिखा है तू?”

“जी, बी.ए... एस.टी.सी. में ग्रेजुएट से कम तो लेते ही नहीं।” मैंने श्याम गुप्ता के सम्मुख सहजता से कहा था।

“मैंने सुना है कि शेडयूल्ड-कास्ट वालों के लिए तो दसवीं पास होने पर ही नौकरी मिल जाती है।”

“नहीं सर, हमारी एस.टी.सी. में सभी के लिए कम से कम स्नातक होना जरूरी है।” मैंने कहा।

“अच्छा चल ठीक है, हां मुन, काम ठीक से करना... जग में कुछ गड़बड़ की तो अपने यहां से ट्रांसफर करवा दूंगा।” प्रशासनिक प्रबंधक श्याम गुप्ता ने आंखों पर ऐनक चढ़ाते व फाइल पर नज़र दौड़ते हुए मुझसे कहा था।

मैं चुपचाप नीची गर्दन किए केबिन से बाहर आ गया। सोच रहा था—एस.एस. माथुर ने श्याम गुप्ता साहब को भी बता दिया कि मैं कौन हूँ। मेरी जाति के विषय में जानकर ही गुप्ता जी ने मेरे साथ इस तरह का व्यवहार किया। जो व्यक्ति मेरे आफिस के कार्य से खुश था, हरदम मुझ पर प्यार उंडेलता रहता था, सभी छोटे-बड़े अधिकारियों के सामने मेरी तारीफ के पुल बांधता फिरता था, आज यह जानकर कि मैं... मुझसे नफरत करने लगा। चौथी मंजिल से तीसरी मंजिल तक मैं सीढ़ियां उतरने में मानो मुझे साल लग गया हो। बड़ा भारी मन लेकर मैं अपनी सीट पर आकर बैठ गया, साथी पी.एल. भटनागर ने मेरे लटका चेहरा देखते हुए पूछा—

“क्या श्याम गुप्ता से डांट खाकर आ रहा है?”

“...भला श्याम गुप्ता साहब इसे क्यों डांट मारेंगे... यह तो उनका प्यारा असिस्टेंट है।” पास ही बैठे स्टेनो दर्शन लाल, स्टेनो ने चुटकी लेते हुए पी.एल. भटनागर से कहा था। वे मुझ पर निश्चय साधकर आपस में बातिया रहे थे, लेकिन मुझे उन दोनों की बातें सुनाई नहीं पड़ रही थीं। वस, उन दोनों का मुंह चलता नजर आ रहा था क्योंकि मैं तो सोच में डूबा हुआ था कि ब्रह्मराक्षस आज फिर मेरे पीछे पड़ गया।

चन्द्रलोक भवन की छठी मंजिल पर एस.टी.सी. का कार्मिक प्रभाग था। उस समय उस कार्मिक प्रभाग में दो मुख्य कार्मिक प्रबंधक कार्यरत थे। एक थे—श्री वी.एन. सिंह जिनके बारे में सुन रखा था कि वह देश के पूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय श्री लाल बहादुर शास्त्री जी के दामाद हैं और दूसरे थे श्री बी.एन. राँवा वी.एन. सिंह की मेज का मरम्मत कारपेंटर बीर सिंह कई बार कर चुका था, लेकिन पुरानी हेली के कारण वह ठीक नहीं हो पा रही थी। वी.एन. सिंह ने अपने लिए एक नई मेज खरीदने के लिए सामान्य प्रशासन प्रभाग को ‘डिमांड-नोट’ लिखकर भिजवाया था। प्रशासनिक प्रबंधक श्याम गुप्ता और उस प्रशासनिक प्रबंधक एस.एस. माथुर ने मुझसे गोदरेज कम्पनी से एक नई मेज खरीदने के लिए कहा। मेज खरीदने के काम में दस-पन्द्रह



दिन का समय लग गया था। इसी दौरान महाप्रबंधक (कर्मिक) श्री एन. आर. सरकार कार्यालय से रिटायर्ड हो गए। उनके कमरे से मेज़ निकाल कर वी.एन. सिंह के कमरे में लगवा दी थी। कुछ दिनों बाद नई मेज़ आ गई। मैं मजदूरों के साथ नई मेज़ लगवाने वी.एन. सिंह के केबिन में गया तो वी.एन. सिंह ने उसे अपने केबिन में लगवाने से मना कर दिया, यह कहकर कि अब उन्हें मेज़ की आवश्यकता नहीं है, वे एन.आर. सरकार वाली मेज़ से काम चला लेंगे। दरअसल एन. आर. सरकार वाली मेज़ बहुत ही सुन्दर और लंबी-चौड़ी थी। मैं नई टेबल को मजदूरों से उठाकर स्टोर में जमा करवाने ले ही जा रहा था कि सामने से मुख्य कर्मिक प्रबंधक श्री वी.एन. रॉव आते दिखाई दिए। उन्होंने चमचमाती हुई मेज़ को देखकर मुझसे पूछा कि इसे कहाँ लिए जा रहे हो? मैंने उन्हें पूरा विवरण बताते हुए कहा कि यह मेज़ वी.एन. सिंह के लिए खरीदी गई है, अब उन्होंने इसे लेने के लिए मना कर दिया है। मैंने वी.एन. रॉव को बताया कि मैं इस मेज़ को स्टोर में जमा कराने के लिए जा रहा हूँ। रॉव साहब मेरी बात सुनकर बोले—“यह मेज़ मेरे कमरे में लगवा दो, मेरी भी टेबल बहुत पुरानी है और कई जगह से सनमाईका भी उखड़ा हुआ है।”

मैंने वी.एन. रॉव से प्रार्थना के स्वर में कहा कि वह सामान्य प्रशासन प्रभाग को एक ‘डिमांड-नोट’ लिखकर भिजवा दें तो इस पर आगे की कार्रवाई हो सकती है। मैं आपको बिना डिमांड-नोट के यह मेज़ जारी नहीं कर सकता। रॉव साहब ने मुझे थोड़ी देर रुक जाने को कहा। उन्होंने तुरन्त ही इन्टरकाम पर उप प्रशासनिक प्रबंधक श्री एस. एस. माथुर से सम्पर्क साधा और अपने कमरे में मेज़ रखवाने को कहा। माथुर उस समय वी.एन. रॉव को मना नहीं कर सका। माथुर ने इन्टरकाम पर मुझे मौखिक आदेश देते हुए मेज़ वी.एन. रॉव के कमरे में लगवाने को कह दिया। मुझे तो आदेश की प्रतीक्षा थी। आदेश पाते ही मैंने नई मेज़ रॉव साहब के कमरे में लगवा दी।

लगभग 15-20 दिनों बाद मुझे एस.एस. माथुर ने अपने केबिन में बुलवाया। प्रशासनिक प्रबंधक श्याम गुप्ता पहले ही उपस्थित था वे दोनों पैट्री की बनी सरकारी चाय की चुस्कियों का आनंद ले रहे थे। श्याम गुप्ता ने आंखें तरेरते हुए मुझसे पूछा—

“वी.एन. सिंह के नाम जो नई टेबल खरीदी थी, वह कहाँ है?”

“सर, वो तो मुख्य कर्मिक प्रबंधक वी.एन. रॉव के कमरे में रखवा दी।” मैंने कहा था।

“किससे पूछ कर रखवाई?” श्याम गुप्ता के स्वर में उत्तेजना थी।

“...सर, मुझसे माथुर साहब ने कहा था।” मैंने माथुर की ओर देखते हुए कहा।

“मैंने कब कहा तुझसे...? साहब, यह सरासर झूठ बोल रहा है...”

मैंने नहीं कहा इससे कि वी.एन. रॉव के कमरे में नई मेज़ रखवा दे, यह जानबूझकर रखकर आया है।”

माथुर ने हिकारत की नज़रों से देखते हुए और नाक सिकाड़ते हुए कहा, “...यदि मैं तुझे वहाँ मेज़ रखवाने के लिए कहता तो क्या मैं तुझे लिखित आदेश न देता...दिखा तो मेरा लिखा आदेश कहाँ है?”

मैं असमंजस की हालत में उन दोनों के सामने खड़ा था। वे दोनों मुझे गंभीर पूर रहे थे जैसे कि मैंने कोई बहुत बड़ा पाप किया हो। तभी माथुर ने अपनी आंखों से ऐनक उतारते हुए और मेज़ पर रखे पेपरवेट को हाथ से घुमाते हुए श्याम गुप्ता से कहा—“सर, अब याद आया कि इसने वी.एन. रॉव को नई मेज़ क्यों दे दी, वी.एन. रॉव शेडयूल्ड कास्ट है ना और यह भी...। एक शेडयूल्ड-कास्ट दूसरे शेडयूल्ड-कास्ट के काम नहीं आएगा तो और कौन आएगा?” मैं एस.एस. माथुर की बातें सुनकर हतप्रभ था। मुझे तो यह पता ही नहीं था कि वी.एन. रॉव साहब शेडयूल्ड-कास्ट हैं। अपने मगार्डिनेट की बातें सुनकर श्याम गुप्ता के चेहरे पर कई भाव आ-जा रहे थे। माथुर ने अपने माथे पर सलवटे डालते हुए मुझसे फिर कहा—“नीच जात के लोग तो नीच ही होते हैं...तुने बिना किसी की अनुमति के यह काम क्यों किया?”

“सर, मैंने तो आपके कहने पर ही...”

“यू शटअप, गलती करता है और ऊपर से जवान लड़ाता है।”

माथुर ने बिना गलती के मुझे फटकारते हुए कहा। मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था। वे दोनों मेरी बात सुनने को कोई तैयार नहीं थे। मैं मुंह लटकाए हुए फिर अपनी सीट पर आकर बैठ गया और सोच में डूब गया—मैं ये सारी बातें मुख्य कर्मिक प्रबंधक वी.एन. रॉव को जाकर बता दूँ तो इन दोनों को नानी याद आ जाए। दूसरे ही पल मैंने सोचा—बात को बढ़ाने से क्या फायदा? शायद बड़े अधिकारी होने के कारण रॉव साहब मेरी बातों पर ध्यान ही न दें। वैसे भी अधिकतर बड़े-बड़े व ऊँचे-ऊँचे पदों पर विराजमान शेडयूल्ड-कास्ट अधिकारी अपने आपको शेडयूल्ड-कास्ट मानते ही कब है? ऐसे अधिकारी अपने आपको शेडयूल्ड-कास्ट मानें या न मानें लेकिन श्याम गुप्ता या एस.एस. माथुर जैसे सवर्ण लोग तो इन्हे शेडयूल्ड-कास्ट ही मानते हैं और मानते रहेंगे। मेरे मन में इस तरह के विचार आ-जा रहे थे कि तभी श्याम गुप्ता के चपरामी श्रीधरन ने एक कागज़ मेरे सम्मुख लाकर रख दिया। यह मेरे प्रशासनिक प्रभाग से दिल्ली शाखा, चाणक्यपुरी, नई दिल्ली तबादले के लिए आदेश था और इस ट्रांसफर-आर्डर पर हस्ताक्षर थे मुख्य कर्मिक प्रबंधक वी.एन. रॉव के।

डी-20, एस.टी.सी. कालोनी, महारौली रोड, नई दिल्ली-17



## स्वदेश भारती की दो कविताएँ कामना-नववधू

इसी तरह रात बीत जाती  
अंधेरे के अवगुण्ठन में छिपाए  
हंसी, आंसू  
दुःख, सुख  
प्राण-संवेदना की बांसुरी-लय पर  
संगीति-संगोपन-गान  
लय, स्वर से हृदय के तार-तार झंकृत  
कामोद्दीपन के गर्म विश्वास का पागलपन  
अंग-प्रत्यंग को अमर्यादित करता  
कितनी ही कलियों का पराग  
कितने ही फूलों का प्रस्फुटित अनुराग

कितने ही सूर्यों को  
हृदय में छिपाए  
मदमस्त होकर रात गाती  
कितनी ही स्मृतियों की थाती  
हृदय से चिपकाए  
अंधेरे में जन्म लेती  
कमल-कलियाँ  
अंधेरे में ही  
देश-देशान्तर  
गांव और शहर मनाते रंगरेलियां  
अंधेरे में ही  
सवेरे का जन्म होता

अंधेरे में ही  
जिस्म अपनी मर्यादा खोता  
अंधेरे में प्रतीक्षा करती है  
कामना-नववधू

प्रेम-हृदय कलश भर  
रति-संकेतों के निकष पर  
मधुमय मुस्कान सजाए  
काम-सर-संधान करती है।

## प्रेमिका की आखों में बैठी डरी हुई बिल्ली

जब देखता हूँ तुम्हारी आखों में  
उदासी से डरी हुई बिल्ली बैठी है  
दोनों पजे सामने समानान्तर किए  
मैं तुम्हारी उन्हीं आंखों की  
कुम्हलाई चमक देखता हूँ  
जिन पर मैंने जीवन के सभी सपने  
न्योछावर कर दिए  
जब देखता हूँ तुम्हारे होंठों पर  
अनबटी रस्सी पानी में भीगकर ऐंठी रहती है।  
एक आशियाना बनाया हमने मिलकर  
साथ-साथ जीने की कसमें खाई हमने मिलकर  
लेकिन कसमें खाने वाला क्षण  
माली बनकर अपनी झोली में  
अस्मिता के फूल चुन कर ले गया  
सुखों के दर्द, हमें पतझर का पीलापन दिया  
अब देखता हूँ तुम्हारे चेहरे पर  
असमय-मौसम का तूफान अपने तेज आवेग से प्रकंपित करता  
और डाल से टूटे पीले पत्ते की यंत्रणा सहता  
अब हमें प्रकृति से नहीं मिलती  
अच्छे से जीवन जीने की मंत्रणा  
हर समय मन में  
आशंका की विपैली छिपकली बैठी रहती है  
जब भी तुम्हारी आंखों में देखता हूँ  
उदासी डरी हुई बिल्ली की तरह बैठी रहती है।

22 बी. प्रतापादित्य रोड  
कलकत्ता-700026

## शुभदा पांडेय की कविता मल्हारी आलाप

मौसम के सुर में घुला मल्हारी आलाप  
बूंदों से धुलते रहे, धरती के सन्ताप  
खिड़की-दरवाजे सभी बंद किए थे आज  
छींटें यादों के मगर, सुना रहे पदचाप



अनगिन पक्षी नापते, हैं आकाशी राह  
प्रकृति स्वयंवर में हुआ, खंड इंद्र का चाप

मीन-मुद्रिका से मिले, बिछड़े हुए कगार  
दुष्यन्ती स्मरण से, मिटा शकुन सन्ताप

घायल था मन का तना, मिटे आत्म अभिलेख  
हरियाली स्पर्श दे, लिया लता ने ढांप

असम विश्वविद्यालय  
शिलचर (असम)— 788011

## कार्तिकनाथ गौरीनाथ ठाकुर की दो कविताएं प्यार की ठूठ

ढोलक नहीं बजा पाने पर भी गरीब की भूख  
उस पर लगा चुकी है आस, शायद इस हालत में  
हम विपर्यय के आ चुके हैं बाहुपाश में  
अब अपने में जोश भी नहीं  
बच पाया है कि मनहूस रात को  
हिम्मत जुटाकर मजाक मजाक का  
दिन कहकर चिढ़ा सकूँ—

फिर भी एक गाय  
दूसरी गाय की देह चाट सकती है क्या  
वैसा नाटक  
हमारे और तुम्हारे बीच में  
शुरू नहीं हो सकता है  
प्यार की ठूठ कुछ तो इजहार करे  
मेरी बची-खुची  
अस्मिता के सिर पर  
अपनी उंगलियां तो फेरती रहे—

## उपहार

उन्हें तो इस कदर इस हादसे पर भी करनी होगी  
पहले अन्यथा मेरे इर्द-गिर्द भविष्य में  
लगने वाली आग का भी नहीं  
हो पाएगा कोई हल जब कि नन्हे-नन्हे

आश्वासन भी पछी की तरह उड़-उड़कर  
थकने लगे हैं  
एक डाल के बाद दूसरी  
डाल केवल बन चुकी है वक्त का  
अन्तराल  
वैसे में क्या कोई मान भी पाएगा सम्बन्धभाषा  
अथवा  
अमीमांसित वक्त का आधार—

अपनी आकस्मिक कमी और दर-दर की  
टोकर खाने वाली गुमनामी का कोई  
शगरत के नाम पर पीटना चाहेगा  
ढिंढोरा शायद तब तलक उनकी  
तरफ से जारी हो जाएगा  
मेरी प्रतिबद्धता के खिलाफ निषेध  
या फिर घनघोर रात के बाद  
कमल में बहस शुरू करने वाली  
सुबह ही  
मेरे लिए होती रहेगी  
गन्धलोलुप उपहार

कवितीर्थ  
बी देवधर (बिहार)

## बंगला कवि नीरेन्द्रनाथ चक्रवर्ती की कविता एक दिन यह सब होगा, तभी तो

एक दिन हो जाएंगे सारे योद्धा उदास।  
एक दिन हो सकेंगे समस्त वृद्ध दुखहीन, इसीलिए।  
एक दिन समस्त धर्म पाएंगे, भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थ।  
एक दिन समस्त शिल्पी बनाएंगे, कल्पना की प्रतिमा।  
एक दिन समस्त स्त्रियां आंखों के इशारे से कहेंगी, आओ।  
एक दिन समस्त धर्मानुयायियों की उतार कर वर्दी  
निष्पाप बालक कहेंगे, हा हा।  
एक दिन यह सब होगा, इसीलिए अभी भी  
निकलता है सूर्य, होती है वृष्टि और लिखी जाती है कविता।

अनुवाद : चंद्रप्रभा पांडेय  
जो-3, मस्जिद मोट, ग्रेटर कैलाश-2  
नई दिल्ली-48



## डा. गुरचरण सिंह रचना कर्म और रचनाकार का दायित्व

डा. त्रिभुवन राय पाश्चात्य तथा भारतीय काव्य शास्त्र के विद्वान हैं। काव्य चिंतन: विविध आयाम पुस्तक के प्रथम खंड में डा. राय 'काव्य' शब्द की उत्पत्ति, कवि तथा काव्य के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के मतों का वर्णन करते हैं। काव्यशास्त्र पर लिखी प्रत्येक पुस्तक में इन विषयों पर पर्याप्त चर्चा हुई है। 'काव्य और सहृदय', 'काव्य के पारम्परिक प्रतिमान' तथा 'सौन्दर्य चिंतन की भारतीय परम्परा' में वे ऐसा कुछ नहीं कहते जो हमें नई दृष्टि से सोचने-विचारने का अवसर प्रदान करे। इन निबन्धों में यदि कुछ नया है तो वह है भारतीय और पाश्चात्य काव्य चिंतन में समान बिंदुओं की ओर संकेत। पाश्चात्य चिंतन में निरन्तरता है। भारत में आचार्यों के साथ ही यह चिंतन-परम्परा भी अवरुद्ध हो गई। नया चिंतन हमें 'पाश्चात्य' ही मिला और हमने भी खुद को उसी के अनुरूप ढालने में गौरवानुभव किया है।

कविता की चिंता व्यक्ति में निहित मानवता को उभारना है। जीवन कर्म तथा आनन्द के आधारों के विरुद्ध आज जो भी हो रहा है कविता उसका विरोध करती है। डा. राय धूमिल, रघुवीर सहाय तथा कुमार विकल की कविता से उदाहरण देकर इस बात की पुष्टि करते हैं। डा. राय का मानना है कि अच्छी रचना के लिए कवि प्रतिभा के साथ अध्ययनशील प्रवृत्ति आवश्यक है। कवि में अद्भुत निरीक्षण शक्ति तथा विभिन्न अनुशासनों का ज्ञान होना चाहिए। कवि वही लिखता है जो वह स्वयं होता है। डा. राय के मतानुसार स्वच्छन्दतावादी दृष्टि शास्त्रवादी दृष्टि से बिल्कुल विपरीत है, क्योंकि रचना प्रकाश में आते ही अपनी अलग सत्ता धारण कर लेती है। अलग सत्ता धारण करके ही वह आह्लाद तथा प्रेरणा का कारण बनती है। सहृदय को काव्य से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। पुस्तक में काव्य की रचना प्रक्रिया तथा 'साहित्य में प्रतिबद्धता का प्रश्न' पर भी विचार किया गया है। रचना प्रक्रिया को उसकी जटिल प्रकृति के कारण शब्दों में नहीं बांधा जा सकता। डा. राय का मत है कि साहित्य को समाज के प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिए।

पारम्परिक भारतीय काव्य प्रतिमानों में सर्वाधिक प्राचीन रस का प्रतिमान है। डा. राय ने भरत मुनि से रामचन्द्र शुक्ल तक रस की क्या स्थिति रही है इस पर गम्भीरता से विचार किया है। वे अलंकार को कविता का केन्द्रीय बिंदु नहीं स्वीकारते। इसके साथ ही आचार्य

आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त तथा काव्य-औचित्य पर भी डा. राय अपना मत प्रकट किया है। भारतीय काव्य प्रतिमानों को डा. राय ने वर्गों में विभक्त किया है—कथ्यपरक प्रतिमान तथा कला परक प्रतिमान, ध्वनि कथ्यपरक प्रतिमान है तो अलंकार, रीति, वक्रोक्ति कलापरक

'सौन्दर्य चिंतन की भारतीय परम्परा और आज की हिंदी कविता' निबंध में वामन ने सौन्दर्य को अलंकार के पर्याय के रूप में प्रस्तुत किया है तो आनन्दवर्धन ने काव्यगत चारुता के रूप में। इस प्रकार लावण्य और सौन्दर्य पर्यायी ध्वनि को आनन्दवर्धन ने अभिव्यंजक अभिव्यंजक दोनों रूपों में प्रस्तुत किया है। भारतीय आचार्यों ने प्रत्येक या परोक्ष रूप में सौन्दर्य पर विचार तो किया है पर उसे स्वतंत्र रूप के रूप में पल्लवित होने का अवसर नहीं मिला।

आचार्य शुक्ल अन्यायी, अत्याचारी, शोषक शक्तियों के प्रतिरोध में खड़ी प्रगतिकामी शक्तियों के संघर्ष में सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं तो मुक्तिबोध की दृष्टि में जीवनानुभव के गुणात्मक परिवर्तन में सौन्दर्यानुभूति की सत्ता निहित है।

'निराला के मिथक काव्य' निबन्ध में डा. राय ने 'राम की शक्ति पूजा' तथा 'तुलसीदास' पर विचार किया है। दोनों में निराला का आत्ममंथन मिलता है। निराशा और आशा, पराजय बोध, और विजय कामना के बीच का द्वंद्व एवं संघर्ष इन रचनाओं में उभरा है। निराला का मानना है कि मुक्ति के लिए जातीय गौरव की सुरक्षा एवं सत्ता की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष जरूरी है।

'छायावादी काव्य में नारी' में प्रसाद का कवि नारी के प्रति पुनर्जागरण की एकांत भोगवादी दृष्टि का विरोध करता है। प्रसाद नारी को सेवा एवं करुणा की प्रतिमूर्ति मानते हैं। निराला की दृष्टि में नारी समाज का मेरुदण्ड है तो पंत ने नारी को देवी, मां, सहचरी और प्रेमिका कहा है।

डा. राय ने नरेन्द्र शर्मा तथा भवानी प्रसाद मिश्र की कविता के समझने का प्रयास किया है। वे नरेन्द्र शर्मा की कविता के अधरे को पड़तालते हुए लिखते हैं कि कवि गोचर में अगोचर को दृष्टिमान चाहता है। कवि भवानी प्रसाद मिश्र काव्य के शब्दबद्ध रूप से आनन्द करके उसके मूल अमूर्त रूप तक पहुंचने का उपक्रम करते हैं। कुंवर नारायण 'आत्मजयी' में जीवन, मृत्यु तथा ईश्वर जैसे शाश्वत प्रश्नों का समाधान ढूँढने का प्रयास करते हैं। कुंवर नारायण



‘आत्मजयी’, नागार्जुन के कविता संग्रह ‘रत्नगर्भ’, महेन्द्र कार्तिकेय के ‘शब्द नहीं मिटते’ तथा निशांत केतु के ‘संगतराश’ की समीक्षाएं अन्तिम चार अध्यायों में दी गई हैं। पुस्तक के आखिरी निबन्ध में नवें दशक की हिंदी कविता पर विचार किया गया है। इस तरह यह पुस्तक समकालीन कविता को समझने में सहायक है।

‘इन्होंने कहा’ पुस्तक में सात वरिष्ठ साहित्यकारों से डा. राय की बातचीत को संकलित किया गया है। साक्षात्कार साहित्य की नई विधा है। साक्षात्कार के लिए पूरी तैयारी की जरूरत होती है। साहित्यकार या व्यक्ति विशेष, उसके जीवन तथा लेखन, उसकी विचार धारा आदि का पूरा ज्ञान होना आवश्यक है। तभी उससे ऐसा कुछ पूछा जा सकता है जिसका उसके साहित्य तथा जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध हो। पत्र-पत्रिकाओं में विशिष्ट व्यक्तियों के साथ जो साक्षात्कार प्रकाश में जा रहे हैं वे कुछ अधिक दे नहीं पाते क्योंकि न तो उनके प्रश्नों में पैनापन होता है और न ही विशिष्ट व्यक्ति की अधिक जानकारी। प्रश्न ऐसे होने चाहिए जो धीरे-धीरे कुरेदें तथा गहराई तक जाने का प्रयास करें। साहित्य को समझने के लिए साहित्यकार को जानना जरूरी है उसकी वैयक्तिकता, आत्मपरकता उसके साहित्य में प्रत्यक्ष का परोक्ष रूप में निहित होती है। इस दृष्टि से साक्षात्कार साहित्य को समझने का आधार सामने रखते हैं। डा. राय ने जिन विशिष्ट व्यक्तियों से बातचीत की है उनका संक्षिप्त परिचय तथा प्रकाशित पुस्तकों की जानकारी पहले दी है। इससे हिन्दी साहित्य को उनका योगदान तो स्पष्ट हो ही जाता है साथ ही उनके चिंतन क्षेत्र का भी परिचय मिलता है। डा. राय ने इन विशिष्ट व्यक्तियों के साहित्य, उनके चिंतन क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए ही उनसे प्रश्न किए हैं। इस तरह पिछले तीन-चार दशकों में साहित्य में, चिंतन में आया बदलाव भी इन साक्षात्कारों से स्पष्ट हो जाता है।

‘इन्होंने कहा’ में संकलित साक्षात्कार समय-समय पर लिए गए हैं। यशाल के साथ साक्षात्कार पच्चीस साल पहले का है तो विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के साथ कुछ समय पहले का। डा. राय का यह भी प्रयास रहा है कि ‘साहित्यकार के व्यक्तित्व, रचनात्मक वैशिष्ट्य एवं उसकी दृष्टि के आलोक में अपने समय, समाज और राष्ट्र को आन्दोलित करने वाली स्थितियों पर दो ठूक बात की जाए।’

पहला साक्षात्कार यशाल के साथ है। डा. राय साधारण सवाल पूछते हुए धीरे-धीरे यशाल को कुरेदने लगते हैं। डा. राय क्रांतिकारी आन्दोलन, यशाल की उसमें भागीदारी, क्रांतिकारी साहित्य के साथ-साथ लेखक और भाषा के रिश्ते आदि पर प्रश्न करते हैं। यशाल का मत है कि ‘विषयानुकूलता भाषा की कसौटी है। आंचलिकता का पुट भाषा

को जानदार बनाता है।’

इस्मत चुगताई का विचार है कि ‘नया बने रहने के लिए परिवर्तन और परिवर्तन के लिए पढ़ना जरूरी है।’ इस्मत चुगताई से नारी अस्मिता, नारी मुक्ति तथा वर्तमान राजनीति-सामाजिक स्थितियों पर बात की गई है। महावीर अधिकारी से बातचीत मुख्य रूप से राजनीति तथा साहित्य को लेकर हुई है। उनके उपन्यासों में चित्रित उन्मुक्त प्रेम के विषय में उनकी धारणा को जानने का भी प्रयास किया गया है। आनन्द प्रकाश जैन से उनके साहित्यिक दृष्टिकोण को जानने का प्रयास किया गया है। जैन का मानना है कि साम्यवादी दर्शन ने विश्व साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया है। उसके बाद अस्तित्ववाद ने। साहित्य और सौन्दर्य, साहित्यकार की प्रतिबद्धता, लेखक के गुण, साहित्य का चिरंतन और शाश्वत मूल्य अन्य प्रश्न हैं जिन पर डा. जैन ने अपनी राय व्यक्त की है। आनन्द प्रकाश दीक्षित समीक्षक-आलोचक हैं। इसलिए उनसे इसी विषय पर प्रश्न किये गये हैं। दीक्षित पुस्तक समीक्षा की अपेक्षा आलोचना कर्म को अधिक दायित्वपूर्ण मानते हैं। इसके साथ ही समीक्षा के क्षेत्र में व्यान राजनीति तथा खेमेबाजी पर भी डा. राय ने दीक्षित जी के विचारों को जानना चाहा है। डा. विवेकी राय कवि, कथाकार तथा आलोचक हैं। डा. राय ने साक्षात्कार के प्रारम्भ में साधारण प्रश्न किये हैं जिनका सम्बन्ध उनके जीवन, लेखन तथा विभिन्न साहित्यकारों के उन पर प्रभाव के साथ है। इस साक्षात्कार ने डा. राय ने विवेकी राय से ऐसे प्रश्न नहीं किए हैं जो उनकी रचना तथा रचना-प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हों या उनकी रचना को समझने में सहायक हों। पुस्तक में संकलित अन्य साक्षात्कारों की अपेक्षा यह साक्षात्कार कमजोर है।

पुस्तक का आखिरी साक्षात्कार कवि, कथाकार, आलोचक डा. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के साथ है। उन पर मार्क्सवादी विचारधारा का गहरा प्रभाव है। डॉ. उपाध्याय विभिन्न अनुशासनों के ज्ञान पर बल देते हैं, इससे कृति समझने तथा उसका मूल्यांकन करने में सुविधा रहती है।

उपाध्याय जी ने तंत्र-मंत्र, योग-साहित्य बहुत पढ़ा है। उनकी रचनाओं पर इनका प्रभाव है। डा. राय ने इसे भी पकड़ने का प्रयास किया है। उत्तर आधुनिकता पर बात करते हुए उपाध्याय जी ने विभिन्न विचारकों के मतों का उल्लेख करते हुए रचना को कैसे समझा जा सकता है, इस पर विचार किया है।

काव्य चिंतन: विविध आयाम: त्रिभुवन राय, परम प्रकाशन, मुंबई; सं. 1996; मूल्य : 150 रुपये  
इन्होंने कहा: त्रिभुवन राय, परम प्रकाशन, मुंबई; सं. 1996; मूल्य: 90 रुपये

6/15, अशोक नगर, नयी दिल्ली-110018



चंदन कुमार

# पाश की कविता के जीवंत सरोकार

पंजाबी कविता को परंपरा के संकीर्ण दायरे से निकालकर उसे एक नए रंग-रंग में ढालने का व्यापक आयोजन अवतार सिंह 'पाश' की कविताओं में दिखाई पड़ता है। वे पंजाब की लोक परंपरा को अपनी कविताओं में सन्निविष्ट करते हुए देखे जा सकते हैं, फिर भी वे परंपरा और प्रयोग के ऐसे संधि स्थल पर खड़े दिखाई पड़ते हैं जहां एक तरफ तो लोक-संस्पर्श है—देशी मिट्टी की सोंधी गंध है तो दूसरी तरफ कविता को राजनीतिक फतवे से बचा ले जाने की चिन्ता। इसी के बीच से पाश की सर्जनात्मकता अपना रास्ता चुनती और तय करती है। पंजाबी कविता को लोक-चेतना से संपृक्त रखते हुए उसे निरंतर प्रयोगशील बनाने की एक बेबाक छटपटाहट पाश में देखी जा सकती है। डा. कीर्ति केंसर द्वारा संपादित पाश का साहित्य के अंतर्गत संकलित कविताओं के कई रंग हैं, कई शेड्स हैं। जहां एक तरफ 'मैं अब विदा होता हूं' जैसी रोमानी कविता है, वहीं दूसरी तरफ 'उड़ते बाजों के पीदे', 'मेरे देश', 'वर्तमान के रूबरू' आदि कविताएं भी हैं जिनमें अपने वक्त की सच्चाई को कवि ने एक नए मुहावरे के साथ प्रस्तुत किया है। कवि का यह भी मानना है कि प्रत्येक आदमी अपने जीवन में जो कुछ देखता-सुनता और भोगता है—वह उसका अपना सच है और वह पूर्वस्थापित किसी भी सच से ज्यादा गहरा सत्य है। इस तरह सम्पूर्ण जीवन एक प्रयोग है और कवि स्वयं एक प्रयोगशाला है।

पंजाबी कविता का जन्म अपनी पुरानी परम्परा से हुआ है। इसलिए न तो वह ज्यादा प्रयोगशील बन सकी, न ही नई विधियों को अपना सकी और न विषयवस्तु को उसकी विशालता सहित ग्रहण कर सकी है। यहां तक कि पंजाबी कविता में राजनीतिक चेतना और सामाजिक बोध भी साथ-साथ नहीं चले। ऐसी स्थिति में राजनीतिक चेतना को तथाकथित पार्टी लेबलों से मुक्त करा कर उसे सामाजिक भावबोध के साथ संपृक्त करते हुए कवि ने अपने निजी अनुभव का साक्ष्य प्रस्तुत किया है। इस प्रक्रिया में कवि को दोहरे स्तर पर जूझना पड़ा है। इसीलिए ये कविताएं दोहरी सजा सहने के अनुभव की उपज हैं।

राजनीतिक सरगर्मियों से हाथ खींच लेने से कविता में अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का बढ़ जाना स्वाभाविक ही है। बावजूद इसके, कवि ने सिद्धावस्था के स्थान पर साधनावस्था को और प्रतिफल के स्थान पर प्रक्रिया को विशेष महत्व दिया है। इसी अर्थ में पाश प्रयोगशील और प्रक्रियाधर्मी कवि है।

संघर्षशील कविता का जुझारू कवि अवतार सिंह संधु संकीर्ण राजनीतिक सोच की बलि चढ़ा दिया गया। राजनीति कुटिलता, बनिए की कचहरी का अन्याय, थाने का आतंक, लोक के मंजीरे या सामाजिक-सिस्टम की बेड़ियां—सबमें उसे लोहा ही आया था। इस प्रकार के लोहे को काटने के लिए उसकी कविताएं के अंगारों-सी दहकती और लपटों-सी लपकती प्रतीत होती हैं।

पाश किशोरावस्था में ही नक्सलबाड़ी आंदोलन से जुड़ा था। अपनी पार्टी के लिए उसने 'लख-लख दा ए तेरा कख नी क्रि दीए कुल्लिए' जैसे लोकप्रिय गीत भी लिखे, किन्तु अन्ततः स्विकार किया कि पार्टी की पैतरेबाजी के साथ कविता का निर्वाह हो सकता। यही समय था जब उसकी कविता ने अन्तर्मुखी हो अपनी भरी-पूरी संवेदना को प्रकट करने के लिए मौलिक मुक्त जीवन विम्व और प्रतीक अपने जीवन की मिट्टी में से तलाश कि 'कामरेड नाल गलवात' में उसे कविता के 'कॉमरेडिज्म' से शिकायत है—

मुझे पता नहीं कॉमरेड

तूने शब्दों को क्या कर दिया है

उममें लिपटी हुई संवेदनाओं ने

बता तेरा क्या विगाड़ा था

पाश की नजरों में देश इतिहास या भूगोल नहीं, उसका हुकम टोला नहीं, देश के जिन्दा लोगों की चेतना और भावना का स्वरूप है। इसीलिए वह प्रश्न करता है कि—

हमने तो देश को जाना था

कुर्बानी जैसी वफा कोई

पर यदि देश

रूह की बेगार का कोई कारखाना है

यदि देश उल्लू बनने की प्रयोगशाला है

तो हमें उससे खतरा है।

कवि (जनता) को चाहिए थी देश की आज़ादी। आज़ादी अर्थ—आर्थिक, सांस्कृतिक, भावनात्मक और मानवाधिकारों की आतक तक फैला हुआ है; उस पूरे सिस्टम से आजादी, जो फूट के बीज है और एकता के गीत गाता है, जो भ्रष्ट है और नैतिकता को करता है, जो साम्प्रदायिक है और धर्म-निरक्षता का डिब्बो पीटता जो तानाशाह है और लोकतंत्र की बात करता है। 'मेरे देश' कविता में 'देश' को संबोधित करते हुए कवि प्रश्न करता है—



जम्हूरियत के पैरों में पड़े हुए मेरे देश  
हमारा फिक्र न करना  
प्रश्न तो ठीक बड़ा है  
कि—

छब्बीस सालों के सूखे में  
हम देशभक्त क्यों न बन सके  
पर मिट्टी ने खा ली है  
कई करोड़ बांहों की ताकत  
और कोई खा गया है  
किसानों के हिस्से की ऊर्जा  
हमारी आन के विरवे  
जिन्होंने फैल कर करनी थी तेरे  
मरुस्थलों पर छाँह  
टपतरों में पल रहे सांडों ने चर लिए

पंजाबी युवक वैसे भी चुपचाप सहने के आदी नहीं हैं। पूर्वज पीढ़ी अपने-आप को हर तरफ से बंद पाती है—उससे न बैंकों का कर्जा चुकता है न मंडी के दलाल की कमीशन, न फूड कारपोरेशन के अफसरों की घूस, न शाह का व्याज। नतीजा-जमीन बिकना, जल होना या गिरवी पड़ना। किसान की जवानी उग्रवादी बन कर मारती है—मरती है, जेलों में सड़ती है पर बनिया-व्यवस्था की बाँहें उससे भी ज्यादा मजबूत और लम्बी हैं। उनकी पीठ पर पुलिस-सुरक्षा बल और फौज है, और है भ्रष्ट शासन-व्यवस्था। पाशा ने बहुत पहले इसकी जड़ को देख लिया था। 'उड़ते बाजां मगर' कविता का यह अंश उसी बात की पुष्टि करता है—

जिन्होंने देखी है  
छतों पर सूखती सुनहरी छल्लियां (मक्का)  
और नहीं देखे मंडी में सूखते भाव  
वे कभी नहीं समझ सकेंगे  
कि कैसी दुश्मनी है—  
दिल्ली की उस हुक्मरान औरत की  
गांव की पैरों से नंगी उस सुनहरी लड़की के साथ।

पाशा अनुभवी कवि है। उनके बिंब और प्रतीक महज इसलिए सुंदर नहीं हैं कि वे मौलिक हैं, बल्कि इसलिए भी सुंदर हैं कि वे जीवित हैं, जीवन-संदर्भों से आए हैं। उनका स्वाद कविता में रचा-बसा है। उनमें कलात्मक चातुर्य नहीं है बल्कि है एक सीधी-सच्ची बेलाग टिप्पणी। पाशा की कविता अपनी सुगंधिता, सादगी, अपील की सुन्दरता, खरी संवेदना और अद्भुत संप्रेषणीयता के कारण विलक्षण है। हिन्दी में उनकी तुलना कर्मावेश धूमिल से की जा सकती है। लम्बी चुप्पी के बाद पाशा ने समकालीन स्थितियों में बुद्धिजीवियों के पलायन और उनकी निरपेक्षता पर चोट की 'सब तो खतरनाक' कविता में चेतनशील

जुझारू, मनोवृत्ति, दर्द को सहने का आमंत्रण और चेतन युद्ध की तैयारी—इन तीन बिन्दुओं को घेरती, छूती और मिलाती हुई पाशा की कविताएं व्यवस्था पर सीधे-सीधे चोट करती हैं और आदमी को लड़ने के लिए तैयार करती हैं—

सबसे खतरनाक होता है  
मुर्दा शांति से भर जाना  
न होना तड़प का  
सब सहन कर लेना  
सबसे खतरनाक होता है  
हमारे सपनों का मर जाना।

पाशा की कविता का सफर सादा किंतु सार्थक है। उसने लौह-कथा लिखी और रुढ़ियों पर चोट की। उसकी कविता में एक तरफ जहां मिट्टी की गंध समाई है। वहीं दूसरी तरफ व्यवस्था की जड़ता यात्रिकता, बनिया-संस्कृति, अमानवीयता आदि जीवन-विरोधी स्थितियों पर कशाघात भी किया गया है। नई, तरोताजा जवान भाषा। नए प्रयोग, नया विषय विचारों और संकल्पों की लोहे जैसी दृढ़ता और इन सबके ऊपर जीवन की संपूर्णता की गहरी समझ इन सब ने मिलकर एक विलक्षण काव्य-संसार की रचना की जो 'लौह कथा' 'उड़ते बाजां दे मगर' तथा 'सांडे समियां विच' संग्रहों और अन्य काव्य-रचनाओं तक फैला हुआ है। अपने साहित्यिक सफर के आखिरी पड़ाव तक भी कवि के मन में एक कसक-सी रह जाती है कि वह जो कुछ व्यक्त करना चाहता था, वह नहीं कर सका। यह रचनात्मक ईमानदारी बहुत कम कवियों में देखी जाती है। 'मैं अब विदा होता हूँ' शीर्षक कविता में कवि लिखता है—

मगर...तू यह सभी कुछ भूल जाना मेरी दोस्त  
सिवा इसके  
कि मुझे जीने की बड़ी लालसा थी  
कि मैं गले तक जिन्दगी में डूबना चाहता था  
मेरे हिस्से का भी जी लेना मेरी दोस्त!  
मेरे हिस्से का भी जी लेना....।

इस तरह यह जीवन की अदम्य लालसा का कवि सदा-मर्वदा के लिए विदा हो गया किन्तु जिस जीवन को वह जी रहा था और जिस वह जीना चाहता था उसका एक समूचा संदर्भ अपनी पूरी रचनात्मक ऊर्जा के साथ उसने अपनी कविताओं में रख छोड़ा है जो युगो-युगों तक प्रेरणा का स्रोत सिद्ध होंगे।

पाशा का साहित्य: स. डा. कीर्ति केसर, नवराज प्रकाशन, दिल्ली, स. :1997; मूल्य 100 रुपये

हिन्दी विभाग,

ज़ाकिर हुसैन स्नातकोत्तर सांध्य महाविद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, नई दिल्ली-2



डा. मधु सन्धु

## सुषम बेदी का उपन्यास 'इतर'

हिन्दी कथा-साहित्य में आश्रमों-मठों के कुत्सित पक्ष और वहां बैठे महाराज, स्वामी, बाबाजी, महन्त, मठाधीश आदि के अवमूल्यित रूप का चित्रण सर्वप्रथम फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला' आंचल में मिलता है। मठ के मठाधीश या महन्त वहां के साधुओं के मुखिया और मठ की सारी जायदाद के एकमात्र उत्तराधिकारी होते हैं। 'आश्रम' शब्द ऋषि-मुनियों के निवास स्थल अथवा तपोवन को ध्वनित करता है। यहां मुखिया को बाबा (पितामह, वृद्ध पुरुष), महात्मा (संन्यासी, विरक्त, महान् आत्मा), स्वामी जी (मालिक, प्रभु, ईश्वर) आदि कहा जाता है, परन्तु इनमें से अधिकांश का वास्तविक रूप कुछ और ही होता है। इनके वास्तविक रूप को कुछ और उजागर करता है सुषम बेदी का उपन्यास 'इतर'।

'इतर' उपन्यास में वर्षों से विदेश में रह रहे कुछ परिवार हैं— भारतीय दृष्टि से अत्याधुनिक, अति सम्पन्न, उन्नति के उच्चतम शिखर को छूते हुए। ये वे परिवार हैं, जिन्होंने भारत में कभी अन्धविश्वास नहीं पाले थे। कभी किसी बाबा, पंडित, तांत्रिक या पूजास्थल के प्रति अन्धश्रद्धा नहीं रखी थी। एक तांत्रिक बाबा रामानन्द एक पत्नीनुमा स्त्री के साथ न्यूजर्सी में अपना ऐसा मायाजाल फैलाते हैं कि अनेक भारतीय और विदेशी अपनी सुधबुध खो उस चकाचौंध में चुंधिया जाते हैं। करन जेनेवा से मैनहेटन फोन करता है, "बहुत पहुंचे हुए बाबाजी हैं, अब न्यूजर्सी में ठहरे हैं। टैलीफोन पर सेक्रेटरी से समय तय करते हैं।" डाक्टर-सर्जन अभिषेक मानवीय सीमाओं को जानता है। इसीलिए पत्नी की डायबिटीज को बाबा जी की हीलिंग पावर से ठीक करने का बहाना ले उन्हें आजमाना चाहता है। जस्सी की दुकान में घाटा पड़ रहा है। ब्रजेन्द्र को कैंसर है। कामिनी के पति का बिजनेस मंदा पड़ गया है। जॉन और मेरी के कोई सन्तान नहीं है। पिरोनी की पत्नी को कैंसर है। राजेन्द्र और कामिनी का बेटा एन्डर्मल है। हीरों का व्यापारी जयंत, कपड़े का व्यापारी गुजराती—सभी बाबा जी के पास अपने-अपने दुःखों से मुक्ति पाने के लिए आते हैं। बाबा जी अपने चमत्कारों से सभी को प्रभावित करते हैं। वे उंगली चटका कर शूगर चेक करते हैं। हीलिंग सैशज लगाते हैं। फूल को मुट्ठी में दबाकर दूध निकालते हैं। गुलाब को मुट्ठी में रखते हैं और मुट्ठी खोलते हैं तो वहां सिंदूर होता है। पानी के गिलास को रक्त में बदल कर खूनी आत्माएं पकड़ते हैं। वे बिना काटे ऑपरेशन करते हैं। कहते हैं, पैतालीस हजार डाक्टरों की आत्माएं उनके बस में हैं। आत्माओं को बुलाकर पर्ची पर जवाब लिखवाते हैं। कोई नहीं जानता कि स्वामी रामानन्द के पास इस दृश्य जगत् से इतर कोई शक्ति है,

ट्रिक है या जालसाजी मात्र है।

'इतर' का आरम्भ नायक के धीरोदात्त, धीरप्रशान्त परिवार होता है और बीच-बीच में जब पूछा जाता है, "बाबाजी आप हैं," तो भी नायक धीरोदात्त, धीरप्रशान्त नायक के उच्चासन पर आसीन दिखाई देता है। आहिस्ता-आहिस्ता रहस्य खोलती लेखिका ने धीरललित, धीरोदात्त नायक के अनेक संदर्भ प्रस्तुत किए हैं। नहीं क्या कर दिया है सुषम ने कि घर-घर पूजा पाने वाले, गली-मुहल्ले से दक्षिणा बटोरने वाले, हर प्रभात-संध्या को श्रद्धालु की भीड़ में दैवी आसन पर बिराजे बाबाजी रसातल में धूलि-धूलि होते दिखाई देते हैं। बाबाजी की दैवी शक्ति की प्रथम प्रकृति रूपा है। वे प्रभावशाली व्यक्तित्व के स्वामी हैं और उनकी आंखें एकदम जादू से बांध लेने वाला आकर्षण हैं। गहरा सांवला रंग, काले कंधों तक लम्बे बाल, जिनकी आगे की लटें पूरी तरह सफेद हैं। उनके पास कोई दैवी शक्ति या संसार को बेवकूफ बनाने का एक अर्जित शक्ति है।

बुद्धिजीवी, साधनसम्पन्न, उच्चवर्गीय लोग अपने जीवन के धंधे के जोखिम, अस्थिरता, अनिश्चितता, रोग आदि से घबराए बाबाजी के प्रभामण्डल में आ जाते हैं। उनके मायाजाल के किस्से में सहायक होते हैं। वे उनके लिए धन-सम्पदा के, ढेर लगा देते हैं। स्वामी रामानंद जानते हैं कि वही मंदिर, आश्रम, मठ, दरगाह आदि एक महत्वपूर्ण होती है, जहां ज्यादा कंचन की वर्षा होती है। उस लक्ष्य विश्वकल्याण नहीं, आत्मकल्याण है। इसीलिए वे अमेरिकी बार-बार ट्रस्ट और अपना आश्रम बनाने की बात कहते हैं। वे सम्पत्ति एवं निरन्तर धन-वर्षा चाहते हैं। स्वामी रामानन्द हीलिंग सैशज करते हैं, लेकिन कोई फीस नहीं लेते हैं। पत्नी रूपा को अपने मरीजों के साथ शापिंग के लिए भेज देते हैं। लम्बी ड्राइव और मनोरंजक स्थलों का आनंद लेते हैं। यहां तक कि दूसरों के बिकवा अपने लिए आश्रम का आयोजन करते हैं। उनकी गुरुद्वारा ठीक वैसी ही है जैसे गुरु द्रोण ने एकलव्य का अंगूठा ले लिया था। अल्पना के शब्दों में एक मुफ्त किन्तु खाल उतार स्वास्थ्य सन्तान उन्होंने खोल रखा है जबकि रूपा का कहना है कि अपना या अपने संबंधियों का इलाज करने की शक्ति उनके पास नहीं है।

यश की तीव्रकाक्षाएं उनके अन्दर हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति चाहते हैं। अल्पना से कहते हैं तुम्हारी जिह्वा पर तो सरस्वती



है। विश्वख्याति पाने के लिए जर्नलिस्ट निकोल से अपने पर पुस्तक लिखने का आग्रह करते हैं। 'दूसरी दुनिया' में उनके चमत्कार छप चुके हैं। इंडिया के इस 'होली मैन' से मिल कर आने वाला प्रत्येक व्यक्ति दुविधा का शिकार हो जाता है। संदेह-असंदेह की यह अवस्था उसे इतना खामोश कर देती है मानो किसी शॉक-ट्रीटमेंट से गुजरा हो।

स्वामी रामानंद को पत्नी नहीं, कामिनी चाहिए। रूपा का साथे जैसा साथ उनके लिए अनिवार्य है। पता नहीं वह पत्नी है, प्रेमिका या रखैल। वे अल्पना के शरीर का भोग तंत्रविद्या द्वारा करते हैं। विभूति दिन-रात उनके कमरे में बैठी रहती है। एयर इंडिया की लड़कियों में भी वे शायद देवदासियां दृढ़ रहे हैं। निकोल पर बलात्कार जैसा ऐसा आक्रमण करते हैं कि उन्हें जेल की हवा खानी पड़ती है। अनेक युवतियों से समान अनुराग रखने वाला यह दक्षिण नायक-सा पुरुष शठ, धृष्ट और अधम की कोटि में आता है। लड़कियां ही बाबा जी के बाल काटा और सेट किया करती हैं।

उनके पास धीरप्रशान्त नायक की दिव्य दृष्टि नहीं, धूर्त नायक की डिप्लोमेसी है। बाबा जी मनोविज्ञानवेत्ता हैं। चतुर हैं। वे सबकी प्रशंसा करते हैं। जयंत से कहेंगे—“जब तक आप नहीं पहुंचेंगे हम आरती शुरू नहीं करेंगे।” विभूति से—“तुम तो साक्षात् अन्नपूर्णा हो। तुम्हारे जैसा बढ़िया खाना कोई नहीं बना सकता।” अल्पना से—“तुम्हारी जिह्वा पर तो सरस्वती बैठी है अल्पना, बहुत सुन्दर बात कर लेती हो।”

स्वामी रामानंद दोगला पुरुष है। पत्नी रूपा के मुंह पर बड़े-बड़े मजबूत हाथों से थपड़ जमाकर, “तुम चुप करोगी या नहीं, हरामजादी” कहकर, उसे गहन उदासी और शून्यताबोध में छोड़कर भी उसके तामसिक मन की कोई भी छाया चेहरे पर नहीं मंडराती। वह वैसे ही शांत और प्रसन्न मुद्रा में भक्तों की महफिल में भाषण देने पहुंच जाता है। चेहरे पर चढ़ा धीरप्रशान्त स्वामी का मास्क धीरोद्धत रूप को छिपाए रखता है। रामानंद स्वयं को गुरु और भगवान कहलाने वाला एक दरिदा है।

अर्थ, काम और यश को बटोरने में स्वामी रामानंद इतना व्यस्त है कि जयंत एक दिन पूछ ही लेता है—“बाबाजी आपका काम भक्तों को कष्ट देना है या उनके कष्ट हरना है।” जयंत को नवरात्रों के हवन पर मिर्गी के दौर पड़ने लगते हैं। व्यापार बंद हो जाता है। उसकी पत्नी विभूति आत्महत्या कर लेती है। अभिषेक का पेशा ठण हो जाता है। पहले उसका घर गिरवी पड़ता है और फिर बिक जाता है। बाबाजी का कार्य तो अपनी कुटिलताओं से मानवीय दुर्बलताओं का लाभ उठाना मात्र है। लगता है, इंसान को ठगने की हर विद्या में निष्णात व्यक्ति के लिए एक सम्मानित नाम, ‘बाबाजी’ है।

‘इतर’ में कुछ और भी पुरुष पात्र आए हैं। पति के रूप में जयंत अधम पुरुष है। वह विभूति से घर और बिजनेस का काम भी करवाता

है और ऊपर से मारपीट भी करता है। करन सात वर्ष इकट्ठे रहने पर भी निकोल से शादी नहीं करता। अभिषेक मूर्ख है। घर तक बेच देता है। व्यभिचारी बाबाजी को पुलिस से बचाता है। माधव चाकर है, मूर्ख है, मन्दबुद्धि है।

इसके विपरीत ‘इतर’ के सभी स्त्री पात्र इस पुरुष (नायक) प्रधान उपन्यास में स्पृहणीय भूमिका लिए हैं। अल्पना के पास वैज्ञानिक दृष्टिकोण और पारदर्शी बुद्धि है। वह पति अभिषेक की तरह प्रयोगधर्मी नहीं। प्रथम झलक में ही दूध का दूध और पानी का पानी पहचानने की दृष्टि उसके पास है। उसे बाबा जी से कोई सिद्धि नहीं लेनी। वह जानती है कि धर्म एक सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक जरूरत है और “कितनी आसानी से हम बेवकूफ बनने के लिए तैयार हो जाते हैं।” बाबाजी के दिव्य प्रभाव वाले व्यक्तित्व को नकारने की शक्ति मात्र रूपा में है। इसीलिए बाबा जी जब-तब उसकी चिंता करते देखते हैं। अन्ततः वह स्वयं बाबा जी बनने को निकल पड़ती है। निकोल ऐसे बाबाओं को जेल की हवा खिला सकती है। यहां तक कि गुजराती परिवार के बच्चों को मां-बाप की बाबाजी पर की जा रही फिजूलखर्ची कोंचती है और ये बौद्धिक बच्चे स्वामी रामानंद के मारे फ्राइड को वीडियो कैमरा द्वारा पकड़ लेते हैं।

‘इतर’ एक प्रश्नचिह्न है—स्वामी रामानन्द जैसे स्वामियों पर। ‘इतर’ एक चुनौती है अत्याधुनिक मनुष्य की चमत्कार-विश्वास भावना के लिए। यह कंचन-कामिनी से बचने की चेतावनी देने वाले ठग बाबाओं के विरुद्ध युद्ध का घोषणा पत्र है। मुग्न अन्धविश्वासियों को जागृत करने का प्रयास है।

सी-13, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर-147005 (पंजाब)

अभिव्यंजना द्वारा प्रकाशित गुरुबचन सिंह का कहानी संग्रह

## आसमान दूर है

वरिष्ठ कथाकार गुरुबचन सिंह की कहानियों का यह नवीनतम संग्रह हमारा परिचय हमारे आसपास से हो करवाता है। जिस माहौल में घनिष्ठ रूप से जुड़े रहने के बावजूद बहुत-सी जटिलताएं हमारी समझ और महसूस करने के दायरे से छूट जाती हैं, गुरुबचन सिंह उन्हीं को अपनी कहानियों में उठाते हैं। उनके पात्र एक ऐसी सीधी भाषा में पाठक से बात करते हैं जो उसकी बहुत जानी-पहचानी है। इसी सीधी भाषा से वे पाठक की संवेदनशीलता का विस्तार करते हैं।

पृष्ठ 160; मूल्य 100.00 रुपये



अश्विनी पराशर

## कामयाबी का रहस्य: मिस्टर टेन परसेन्ट

मिस्टर टेन परसेन्ट सुदर्शन मजीठिया का व्यंग्य संग्रह है। इसमें लेखक ने रिश्वत, कमीशन या सुविधा शुल्क के रूप में दस, बीस, पच्चीस, पचास या सौ प्रतिशत तक की हिस्सेदारी के व्यापक फैलाव को बड़े रोचक और अनूठे ढंग से एक बड़े भयानक राक्षस से प्रतीक पात्र के रूप में टेन परसेन्ट की संज्ञा से अभिहित करते हुए रेखांकित किया है।

हमारे यहां यह मान्यता है कि सारे पापी नरकगामी होते हैं। तो यह तथाकथित टेन परसेन्ट भी नरक वासी है लेकिन अपनी शांति और धूर्त प्रकृति के कारण यह स्वर्ग में संध लगा लेता है। स्वर्ग की हम सामान्यतया धर्म क्षेत्र के रूप में कल्पना करते हैं। वहां सभी सदाचारी और पुण्यात्माओं का वास होता है। लेकिन कामधेनु के दूध में भी जब पानी की मिलावट का आभास होने लगे तो देवराज इन्द्र को चिन्ता होना स्वाभाविक है। दरअसल मजीठिया अपनी व्यंग्य-कथा का प्रारम्भ ही देवलोक में भ्रष्टाचार और रिश्वत की आशंका और खतरे के खिलाफ सजग-कार्यवाही से करते हैं। इन्द्र का स्वर्ग में अप्रत्याशित परिवर्तन देखकर इतना पसीने-पसीने हो जाना कि पसीना पोंछने के लिए प्राइवेट सेक्रेटरी को छह फुट बाई छह फुट की चादर का प्रयोग करना पड़े—जहां पसीने की गुरुता को संकेतित करता है वहीं पौराणिक कथा में आधुनिक व्यवहार संकेतो-उपकरणों से रोचक वर्णनात्मकता का भी उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसमें उनके यूनियन, अर्जेंट मीटिंग, क्लास वन, टू थ्री देवतागण, शार्ट नोटिस, कमाण्डर इन चीफ, अटेंशन जैसे शब्द प्रयोग पूरे परिदृश्य को उनकी प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था के रूप में रूपान्तरित कर देते हैं।

महर्षि नारद भी आज के किसी काबीना या राज्य मंत्री से कम नहीं हैं। मंत्री जिस तरह हमेशा ही गुहार पड़ने पर बाथ रूम में समाधिस्थ पाए जाते हैं, उसी प्रकार नारद का इन्द्र द्वारा याद किए जाने पर सदा भ्रमण पर गए हुए हैं—का उत्तर राजनेताओं के चरित्र को ही उघाड़ता है। कमेटीज का बनना, गोल-मोल बात करना, स्थिति बिगड़ते देख आशवासनों से त्रस्त समाज को राहत देने के सारे आज के प्रयास देवलोक में भी प्रचलित पाकर पाठक अवश्य ही सरलता से तादाव्य कर लेगा, क्योंकि आम आदमी इन सभी स्थितियों से न केवल वाकिफ है बल्कि वह जानता है, 'गर्मी खाने से कुछ नहीं होता। हरदम ठण्डा लोहा ही गर्म लोहे को काटता है।' यह नाटकीय मुद्रा ऐसी धीर-प्रशान्त स्थिति है जिसे अमध्यस्थ की भूमिका का निर्वाह करने वाला आज का राजनेता सहज ही अपना कर ऐसा आचरण

करता दिखलाई पड़ता है मानों वह बड़ी से बड़ी समस्या समाधान कर देगा।

वस्तुतः लेखक स्वर्ग के शान्त एवं सुखमय माहौल में खलबली से घबराए इन्द्र की चिन्तातुरता और इस गड़बड़ी अव्यवस्था के मूल कारण मिस्टर टेन परसेन्ट के होने के बहाने की वर्तमान प्रशासनिक व्यवस्था और कार्यप्रणाली पर व्यंग्य के माध्यम से चोटकरना चाहता है। प्रश्न उठता है—यह रिश्वत घूस जैसा दुर्ग राक्षस समाप्त कैसे हो? कलियुग के जमाने में आम आदमी सुख और सुविधापूर्वक अपने नागरिक अधिकारों का प्रयोग करते सम्मानपूर्वक कैसे जीवन जिए?

“आपको अनुशासन से काम लेना होगा। देवताओं को आचरण और चरित्र को शुद्ध रखना होगा और नीतिवान बनना। शुद्ध-जीवन व्यतीत करना होगा। लोग कामयाबी के लिए लाभ उठाते हैं इसलिए उसका आगमन सबको अच्छा लगता है।”

पूर्वोक्त कथन असल में राजनेताओं (कलियुगी देवता) के लिए एक आचरण सूत्र के रूप में प्रयुक्त कथन भर नहीं, आज की राजनीति की प्रथम जरूरत है और मजीठिया इसे लेखकीय चिन्ता के रूप में फन्तासी के माध्यम से उठाते हुए स्वर्ग से मिस्टर टेन परसेन्ट को बोरिया बिस्तर सहित भगाने के उपक्रम में महामण्डलेश्वर गुरु ब्रह्मा नन्द आचार्य ठगेन्द्र को बुक करते हैं। उन्हें उचित पारिश्रमिक का प्रलोभन भी दिया जाता है। आचार्य की सहायता से स्वर्ग से अंतर्गत में फेंके गए ये मिस्टर....चक्रण करते घूमते हुए सशरीर जम्बूद्वीप में आ जाते हैं।

जम्बूद्वीप (भारत) तो ऐसा रमणीय और अनुकूल प्रदेश है कि कोई भी, थोड़ी समझ बूझ, चालाकी और थोड़ी-सी शक्ति के बल पर जम सकता है—शक, हूण, तुर्क, मुगल और अंग्रेज यहां ऐसे ही आकर जम गए।

“क्या देश है। यहां फलने-फूलने का स्कोप भी खूब है। फ्री फॉल। जो विदेशी आया यहां चार लात जमा कर स्वयं यहां जम गया वस्तुतः टेन परसेन्ट शुल्क के रूप में हर काम की कामयाबी का रहस्य है। और हमारे देश में आज उसी का बोलबाला है। स्वर्ग से निष्कासित यह मिस्टर टेनपरसेन्ट धरती पर जम्बूद्वीप में भी भारत में और भारत में भी एक टीन के टपरे पर गिरे—एक व्यंग्यकार के घर में। व्यंग्यकार के सिरे यहां व्यंग्यकार सत्यप्रकाश और टेन परसेन्ट के संवाद और भिन्न-भिन्न स्थलों के सर्वे के रूप में क्रमबद्ध ढंग में एक ऐसे नेटवर्क



में उलझे मिलते हैं कि लगता है—आवा का आवा ही चिंगड़ा हुआ है, कुएं में भांग पड़ी है।

समय-समय पर इन स्थितियों से सामना तो बुद्धिजीवी, कार्मिक, आम आदमी—सभी का पड़ता है पर मजीठिया ने बड़े श्रम से इस अव्यावहारिक व्यवहार प्रणाली को गहराई से विवेचित-विश्लेषित तो किया ही है, आज के समय में सफल व्यक्ति होने के लिए नए व्यवहार गणित और उसकी नई आचरण संहिता भी रचने का प्रयास किया है। कुछ दृष्टि-संकेत द्रष्टव्य हैं—

“प्रसाद, कीर्तन और परिक्रमा के तिकोने में फंस कर ही भक्त ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। अपने बनाये ईश्वर पर भरोसा रखो, फल की प्राप्ति अवश्य होगी।”

“मेरी (मि. टेन परसेन्ट) सहायता से यहां सच के सिवाय सब कुछ सच सच होता है।”

“वेतन तो हक है, ऊपरी कमाई तो ईश्वरीय वरदान है। सरकारी अफसर या बाबू वह पदार्थवादी होता है जो अपने पद को भुलाकर अर्थ अर्जित करता है।”

“सरस्वती अब लक्ष्मी की दासी है, परीक्षा के समय सहकारी प्रवृत्ति खूब फलती-फूलती है।”

“मेरे बिना कोई माई का लाल पुलिस से बच नहीं सकता।

“नकली दवाइयों की दुकान पर नकली बिल भी बनते हैं। स्वर्ग जाने का अंतिम स्टेशन अस्पताल है।”

जिस तरह से व्यंग्य और फनासी शैली का प्रयोग करते हुए मजीठिया ने देश के प्रशासनिक स्तर पर छापे मिस्टर टेन परसेन्ट का खाका खींचा है, इसमें कुछ स्थलों पर वे काफी पैने व्यंग्य कर गए हैं पर यह भी जाहिर है कि वे प्रकथन-वक्रता का ग्राफ शार्प नहीं रख सके। इससे हुआ यह है कि उनके इस पूरे व्यंग्य-कथा प्रयास में एक प्रकार की सपाटता बार-बार तकलीफ देती रही। व्यंग्य का एक गुण चुटीलापन भी है। वे कई बार चुटकियां लेते दिखाई पड़ते हैं मगर पाठक को समूचे विवरण और वर्णन में एकरसता अखरती हैं। व्यंग्य भी शाब्दी ही अधिक रहा। आर्थी व्यंजना के और अधिक पैनेपन की अपेक्षा है। बहरहाल, देश की समसामयिक दशा और दिशा की दृष्टि से उनके ईमानदार सरोकार को नकारा नहीं जा सकता। इस लिहाज से ‘मिस्टरटेन परसेन्ट’ एक सुपठनीय रचना बन गई है। इसमें प्रयुक्त अधिकांश ‘फिकरे’ काफी प्रचलित हो सकते हैं।

मिस्टरटेन परसेन्ट : सुदर्शन मजीठिया; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2/35, अंसारो रोड, दरियागंज, दिल्ली-110002; मूल्य : 75 रुपये।  
प्रथम संस्करण : 1998

34 कादम्बरी

19/9, गेहिणी, दिल्ली-110085

## कृती साहित्यकार

डा. सुदर्शन मजीठिया के समग्र  
साहित्य एवं व्यक्तित्व का

मूल्यांकन करने वाली महत्वपूर्ण कृति

## सुदर्शन मजीठिया : सृजन के धरातल

मूल्य  
200 रुपये

अभिव्यंजना

बी-70/72, डी.एस.आई.डी.सी. काम्पलेक्स  
लारेंस रोड, दिल्ली-110035



## कमलेश सचदेव

## दलित साहित्य 1999

जय प्रकाश कर्दम द्वारा संपादित 'दलित साहित्य 1999' दलित साहित्य की अब तक की स्थिति का लगभग पूर्ण परिदृश्य प्रस्तुत करता है। 'लगभग' इसलिए कि पचास दलित साहित्यकारों की रचनाओं के सम्मिलित होने के बावजूद ओमप्रकाश वाल्मीकि और मोहनदास नैमिशराय जैसे प्रमुख दलित साहित्यकारों की रचनाएं इसमें नहीं आ पाई हैं। इसके बावजूद यह वार्षिक प्रकाशन-आयोजन अपने आप में अत्यन्त विचारोत्तेजक और आंखें खोलने वाला है।

संपादकीय से ही ऐसे प्रश्नों को उठाने और उनसे टकराने का क्रम प्रारंभ हो जाता है जो दलित साहित्यकार के आक्रोश, जुझारू तेवर और गंभीर चिंतन को रेखांकित करते हैं। 'संचेतना' द्वारा साहित्यिक माफिया पर चलाई गई बहस के हवाले से कर्दम ने सरकारी संस्थाओं द्वारा दिए जाने वाले साहित्यिक पुरस्कारों में दलित साहित्यकारों के हिस्से की बात उठाते हुए कहा है—“दलित साहित्यकारों की यह मांग वाजिब क्यों नहीं होनी चाहिए कि साहित्य के नाम पर करोड़ों रुपये के सरकारी धन की इस वंदरबांट में उनका भी हिस्सा होना चाहिए और यह उनको मिले। क्योंकि यह राष्ट्र का पैसा है और दलित भी राष्ट्र का हिस्सा है। किसी भी रूप में सारा का सारा यह लाभ केवल गैर-दलितों तक सीमित नहीं रहना चाहिए।” यहीं से स्पष्ट होने लगता है कि दलित की वर्ग जाग्रत अधिकार-चेतना हर क्षेत्र में उसे उसका वाजिब हक दिलवाए बिना नहीं मानने वाली। दलितों द्वारा बौद्ध धर्म अपनाए जाने और धर्म मात्र को लेकर होने वाली बहस को जयप्रकाश कर्दम ने संपादकीय का दूसरा मुद्दा बनाया है। उन्हें लगता है कि विकल्प के तौर पर बौद्ध धर्म को अपनाने पर ही हिन्दू धर्म से दलित का सम्बन्ध-विच्छेद संभव है। दलित समाज अभी धर्म मात्र को अफीम का नशा समझकर उसके बिना जी सकने की स्थिति में नहीं है। जाति से बनी पहचान को मिटाने के लिए एक वैकल्पिक पहचान की आवश्यकता है। बौद्ध धर्म उसे इसके लिए सर्वथा अनुकूल प्रतीत होता है। इस समय उन्हें धर्म से नितान्त विमुख हो जाने की ओर प्रेरित करना उनके विद्रोह की भाँति को कुंद करना होगा।

सबसे ज्यादा तीखे तेवर और गंभीर चिंतन का अहसास वहां होता है जहां जयप्रकाश कर्दम अपने संपादकीय में ही कुछ प्रमुख साहित्यकारों द्वारा दलित साहित्यकारों की सुविधा-सम्पन्नता पर उठाए गए प्रश्नों का उत्तर देते हैं। इस संदर्भ में दो तरह की आपत्तियां

अक्सर उठाई जाती हैं—एक तो दलित साहित्यकारों को किन्हीं संस्थाओं से प्राप्त होने वाले धन को लेकर और दूसरे सुविधा-सम्पन्न दलित साहित्यकारों की दलित यातना को अभिव्यक्ति देने की क्षमता और पात्रता को लेकर। पहली आपत्ति पर कर्दम का तीखा जवाब है—“यदि किसी गैर-दलित को कोई विदेशी पुरस्कार या फ़ैलेंटा आदि मिलती है तो उसमें कुछ गलत नहीं होता, लेकिन यदि दलित को मिल जाए तो इसमें विरोध की गंध आती है। दलित लेखक को मिलता है तो वह विदेशी एजेंट है, गैर-दलित लेखक जो कभी-कभी चलते हैं वे किस बूते चल रहे हैं।” यह सही भी है। दलित लेखक को पीड़ा भी यहीं की उपज है और उसका लेखन इस पीड़ा को अभिव्यक्ति देने और निजात पाने का जो रास्ता खोज रहा है, वह भी यही उपज है और उपजेगा। उसके प्रेरणास्रोत कहीं बाहर नहीं हैं। सहायता अगर कहीं से आती है तो वह औरों की भाँति उसे स्वीकार लेता है। यह अधिकार उससे तभी छीना जा सकता है जब उसे को भी इससे वंचित किया जाए। दूसरी आपत्ति के उत्तर में कुछ लेखकों का सवाल उठाने के बाद कर्दम अपनी गंभीर सुचिंतित राय व्यक्त करते हैं—“असली चीज है अनुभूति, और सर्वाधिक प्रामाणिक अनुभूति हो सकती है जो भुक्तभोगी की जुबान या कलम से अभिव्यक्त हो सकती है। दलित लेखक चाहे अधिकारी हों या अध्यापक या कुछ और, सामाजिक आर्थिक उत्पीड़न और अपमान को उन्होंने अपने जीवन में किसी रूप में झेला है। और उस उत्पीड़न और उसकी प्रतिक्रिया पैदा आक्रोश की अभिव्यक्ति ही उनके लेखन का आधार है।”

आक्रोश, जुझारू तेवर और चिंतन का यह संतुलन प्रमोद सिंह धर्मवीर, एन. सिंह, सोहनपाल सुमनाथर और सुशील टांकभट्टों के लेखों में सबसे अधिक सध सका है। प्रमोद सिंह ने अपने लेख 'दलित साहित्य और चिंतन का मूल कहां' में दलित चिंतन की परम्परा सिंधुकालीन सभ्यता से जोड़ते हुए यक्ष देवता के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक चर्चा की है। आर्यों से संघर्ष के बाद यह लोक-परम्परा क्षीण हो गई लेकिन समाप्त कभी नहीं हुई। बुद्ध की विचार-सरणि इस लोक-संस्कृति का ही परिमार्जित रूप थी। तीसरी शताब्दी ई.पू. के मध्य तक यक्ष धर्म के वर्चस्व के समक्ष वैदिक संस्कृति लुप्त सी हो गई थी। दूसरी शताब्दी ई.पू. में वैदिक संस्कृति के अनुयायियों ने राजनैतिक सत्ता का अधिकार कर लिया और दोनों संस्कृतियों में संघर्ष प्रारंभ हो गया।



आज तक चल रहा है। जो बौद्ध धर्मानुयायी ब्राह्मणों की शरण में चले गए, उन्हें शूद्र का दर्जा मिल गया लेकिन जिन्होंने धर्म छोड़ना उचित नहीं समझा, उन्हें अछूत बना दिया गया। बौद्ध भिक्षु वज्रयानी सिद्ध और नाथपंथी साधुओं के नाम से भ्रमण करने लगे। इन्हीं सिद्ध और नाथपंथी साधुओं को वे पहले दलित साहित्यकार मानते हैं। इनकी विचारधारा ही आगे चलकर निर्गुणिये संतों की रचनाओं में परिणत हुई। बाद में डा. अंबेडकर ने अछूतों को उनकी समस्याओं का असली कारण समझाया और उनके निदान की दिशा दिखाई।

धर्मवीर ने नए ढंग से दलित वर्ग और दलित-साहित्य की परिभाषा की है। दलित, जो हिन्दू वर्ण-व्यवस्था से उसकी दी हुई तमाम गुलामी से स्वयं को मुक्त कर चुका है, एक पूर्ण मनुष्य है। दलित की परिभाषा वह है जो वह खुद देता है। उसके जीवन में भी प्रेम और उल्लास आता है और वह उसका साहित्य भी लिखेगा। वह केवल यातना और रोने-धोने को ही अपने पूरा जीवन क्यों मान ले? दलित साहित्यकार से उनका कहना है "जीवन को जगत में एक त्वाँहार मानें और वर्ण-व्यवस्था से शिकायत करने के बजाय उसके जनक से सीधे युद्ध करें। यदि ब्राह्मण उसके लिए जिम्मेदार है तो उसे वर्ण व्यवस्था का ऐसा घिनौना पात्र सिद्ध कर दें ताकि ब्राह्मण थर-थर कांप उठे और तौबा बोले कि अब ऐसा कुकृत्य नहीं करूंगा।"

अपने इसी लेख (दलित साहित्य की परिभाषा: समग्रता और पूर्णता की ओर) में धर्मवीर उदारवादी हिन्दू लेखक से दलित साहित्य के संबंध पर भी विचार करते हैं। उनका मानना है कि दलित साहित्य वही है जिसे दलित लेखक लिखता है (इस पर सभी दलित लेखक और विचारक एकमत हैं) और उदारवादी हिन्दू लेखक का साहित्य चाहे दलित के भले के लिए ही लिखा गया हो, उसका मूल्यांकन 'हिन्दू साहित्य' के नाते किया जाना चाहिए। उसे दलित के पक्ष में लिखा गया हिन्दू साहित्य कहा जा सकता है लेकिन दलित साहित्य नहीं। यदि उसे भी दलित साहित्य में परिगणित कर लिया जाए तो 'चोर पुआल में छिप जाएगा' और दलितों में भ्रम फैलाकर उनकी लड़ाई को दिशाहीन बना देगा। उदारवादी हिन्दुओं के उत्साह पर पानी छिड़कते हुए धर्मवीर का कहना है कि दलित साहित्य हिन्दू उदारवाद की कट्टरपंथ से लड़ने में सहायता कर सकता है लेकिन उदारवाद दलित साहित्य की कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। कारण उन्होंने नहीं बताया है पर इतना अवश्य कहा है, "इसमें उदारवादियों को अपमानित महसूस करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि जब उन्हें उनकी मजबूतियों का विश्लेषण कर बता दिया जाएगा तो वे, यदि सच में दलितों के हितैषी हैं तो, इस बात को स्वीकार लेंगे। इसमें उनकी परख भी है कि वे इन्तजार करें।"

धर्मवीर दलित आत्मकथाएं लिखे जाने के हिमायती नहीं हैं और

इसके लिए उनका तर्क यह है कि समाज में सम्मान प्राप्त करने के लिए दलित लेखक अपने घरों का फजीता करने और अपनी मां-बहनों के साथ हुए कुकृत्यों को सार्वजनिक करने की बजाय उपन्यास या कहानी में डालकर प्रस्तुत करें क्योंकि वह केवल एक व्यक्ति नहीं है बल्कि एक वृहत्तर दलित समाज और परिवार का अंग है। उनके परिवार और परिवेश में अन्य लोग भी हैं। उनका भी यह कहना है कि संसार की सारी शासक कौमें अपने परिवारों की अन्दरूनी बातें बचाकर रखती हैं।

एन. सिंह और सोहनपाल सुमनाक्षर के लेखों में दलित राजनीति और साहित्य के सम्बन्ध में काफी जानकारी दी गई है। कांग्रेसी दलित नेता जगजीवनराम के विषय में दोनों लेखों में कुछ बातें परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं। सोहनपाल सुमनाक्षर ने उत्तर भारत में दलित लेखन के स्थापित होने की जो राजनीति-समन्वित भीतरी कहानी बयान की है, वह जानकारी से भरपूर तो है ही, रोचक भी है। इसके अतिरिक्त 'स्वामी अछूतानंद और उनका साहित्य' (राजपाल सिंह 'राज') और 'दलित आन्दोलन से जुड़ी स्त्रियों के प्रश्न (सुशीला टांकमौर) भी प्रभावित करते हैं।

रचना पक्ष में कहानियां और लघुकथाएं सृजनात्मकता और आक्रोश के संतुलन को बनाए रख सकी हैं और उनमें से अधिकांश 'दलित' विशेषण लगाए बिना भी महत्वपूर्ण साहित्यिक कृतियां हैं। 'पड़यंत्र' (विपिन बिहारी), 'इन्कलाब जिन्दाबाद' (सत्यप्रकाश), 'स्टेट्स' (अजय यतीश), 'मागे जूता टांग-टांग' (अंगद किशोर), 'भूख' (विश्वजीत विश्वकिरण), दिक्कत (संजय कुमार गम्भीर) तथा 'द्रोणाचार्य जिन्दा है' (रत्नकुमार सांभरिया) ऐसी ही रचनाएं हैं।

समीक्षा के अंतर्गत प्रकाशित लेखों से दलित साहित्य की सीमाएं और संभावनाएं दोनों उभरकर आती हैं। मराठी में भी विशेष रूप से दलित आत्मकथाएं ही प्रकाशित चर्चित हुई थीं और कहानी संग्रह अपेक्षाकृत कम हैं। हिन्दी में दलित कविता लिखी तो खूब जा रही है लेकिन उसमें आक्रोश के अतिरिक्त कविता कितनी है, यह कहना मुश्किल है। 'दलित साहित्य 1999' के कविता-खंड के विषय में भी यही कहा जा सकता है।

कुल मिलाकर 'दलित साहित्य 1999' के संपादक का यह कहना बिल्कुल सही प्रतीत होता है कि 'विचार ही नहीं गुणवत्ता की दृष्टि से भी दलित साहित्य उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर है... दलित साहित्यकारों की एक पूरी जमात तैयार हो रही है जो आने वाले समय में दलित साहित्य के आन्दोलन को एक आयाम तक ले जाएगी।"

सी-25, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग, नयी दिल्ली-26



सुरेन्द्र तिवारी

## साहित्य से जुड़ी कुछ पत्रिकाएं

इस बार लघु पत्रिकाओं की चर्चा में सबसे पहले 'कथन' (सं. रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, 107, साक्षरा अपार्टमेंट्स, ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-63) की बात। करीब बीस वर्ष पहले इस पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ था और समझदार पाठकों तथा साहित्यिक जगत ने खुले दिल से अपनाया था। उच्च स्तरीय सर्जनात्मक और वैचारिक सामग्री, समसामयिक विषयों और समस्याओं पर संवाद, वाद-विवाद पूर्ण रचनाओं ने इस पत्रिका को एक विशिष्ट रूप दिया था। बीच में कई वर्षों तक इसका प्रकाशन संभव न हो सका, जो लघु पत्रिकाओं का निर्णय है, किन्तु अब इसका पुनर्प्रकाशन शुरू हुआ है।

'आकल्प' (सं. शोभनाथ यादव, यादव कालेज, जोगेश्वरी (पूर्व) मुंबई 60) की चर्चा 'संचेतना' में मैं पहले भी कर चुका हूँ, वह कविता अंक था। आकल्प के नये अंक ने एक बार फिर इस पर चर्चा करने के लिए मुझे विवश कर दिया। यह अंक 'बोल्ले बेख्ख विशेषांक' है। किसी महान रचनाकार पर विशेषांक निकालने का प्रयास प्रायः लघु पत्रिकाएं करती रहती हैं, 'आकल्प' ने भी किया है। किन्तु इस विशेषांक की विशेषता यह है कि इसमें ब्रेख की सिर्फ रचनाएं नहीं हैं बल्कि उनके समग्र लेखन और जीवन पर पूर्णतया प्रकाश डालने की कोशिश की गई है, जिससे ब्रेख का व्यक्तित्व और कृतित्व समग्रता के साथ उभर आता है। 'ब्रेख की जीवन यात्रा' (ज्ञानेन्द्र प्रकाश), 'ब्रेख की कविताएं' (शोभनाथ यादव), 'ब्रेख की वैचारिकता' (धर्मेन्द्र कुमार), 'ब्रेख के नाटक' (सरजूप्रसाद मिश्र), 'ब्रेख की रचनाओं का चयन' महत्वपूर्ण है। 'ब्रेख का रचना क्रम' इस अंक को और महत्वपूर्ण बनाता है। इस तरह के विशेषांक ही लघु पत्रिकाओं को एक नई पहचान देते हैं। ब्रेख की जन्मशती-वर्ष के अवसर पर प्रकाशित यह विशेषांक समूचे रचनाधर्मी जगत को अनुप्रेरित जरूर करेगा।

विशेषांकों की कड़ी में ही 'सामयिक वार्ता' (सं-किशन पटनायक, 14, सुग्रीम एनक्लेव, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-91) का 'शिक्षा विशेषांक' भी महत्वपूर्ण है। 'शिक्षा नीति का संकट' (अनिल सद्गोपाल), 'भारतीय शिक्षा पर अन्तरराष्ट्रीय अनुदा' का प्रभाव' (आर.एन. मेहरोत्रा), 'भाषा बोली व शिक्षा' (इलीना सेन), 'बजट की कसौटी पर शिक्षा के सरकारी वायदे (जंथाला बी.जी. तिलक), शिक्षा में सामाजिक पिछड़ापन (संजय कुमार) जैसे वैचारिक लेखों के साथ ही शिक्षाविद प्रो. कृष्ण कुमार से हुई बातचीत भी इस दिशा में एक संकेतक है। कृष्णकुमार द्वारा उठाए गए अनेक प्रश्नों में से सबसे महत्वपूर्ण है

'गांव में शिक्षा क्यों नहीं?' वे कहते हैं, "आम शिक्षा पर दो कोटि आयोग, राममूर्ति आयोग के पन्ने पलट डालिए। उसमें आम लक्ष्य की शिक्षा के प्रति चिंता पायेगी, अनुसूचित जाति-जनजाति अल्पसंख्यकों की शिक्षा के प्रति चिंता पायेगी परन्तु तर्कावेन पांच लाख गांवों वाले दुनिया के इस सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश में कृषि प्रधान देश होने का गौरव भी प्राप्त है, के 'गांव' के लिए शिक्षा का कोई मॉडल न इन आयोगों के पास है और न 'जनता के शासन' करने का दावा करने वाली हमारी सरकारों के पास। गांवों के लिए सत्तर फीसदी लोगों पर तीस फीसदी शहरी लोगों के ध्यान रखकर बनाए गए शिक्षा के मॉडलों को कोसना क्या बेइमानी नहीं है। इस तरह के ज्वलंत और समसामयिक प्रश्नों से जुझने और उन विचार करने की दिशा में पहल लघु पत्रिकाएं ही कर सकती हैं। 'सामयिक वार्ता' इस दृष्टि से उलेखनीय पत्रिका है।

रचना, आलोचना एवं शोध ग्रंथों के प्रकाशनार्थ समर्पित त्रैमासिक पत्रिका 'तलाश' (सं. /शैलेश जैदी, तलाश हिन्दी संस्थान, सिली लाइन्स, अलीगढ़) का पहला अंक मेरे समक्ष है। पत्रिका के प्रकाशक का उद्देश्य तो मुखपृष्ठ पर ही स्पष्ट है, किन्तु यह समझ से परे बात है कि शोध ग्रंथों का प्रकाशन एक पत्रिका में कैसे संभव है। किन्तु इस अंक को देखने के बाद इस शंका का समाधान कुछ-कुछ हो जाता है। जैसे इस अंक में दो भाग हैं। पहले भाग में गंधराज अहमद के शोध ग्रंथ भारत विभाजन संबंधी हिन्दी, उर्दू तथा पंजाबी कहानियों के कुछ अध्यायों को छापा गया है। 76 पृष्ठों में फैला यह अंश शुद्ध रूप से अकादमिक है। इसी तरह दूसरे भाग में स्वयं शैलेश जैदी ने 'सूरदास के रूहानी नगमों को उर्दू में कह सकते हैं, पर पत्रिका प्रकाशन की दृष्टि से उपयोगी नहीं माना जा सकता।

मुंबई से प्रकाशित मनस्वी (सं. /मुरली मोहन, एम-8, कृष्ण काम्पलेक्स, महारानी रोड, इन्दौर) एक नई पत्रिका है, जिसका तीसरा अंक मेरे सामने है। व्यावसायिक-व्यावसायिक के बीच फंसी यह पत्रिका का कलेवर किसी अंग्रेजी न्यूज मैगजीन की तरह है। चित्र, शिक्षा, कविता, कहानी, रम्य रचना, सिनेमा, परिवार सब कुछ समेटकर चलने वाली 'मनस्वी' हिन्दी पत्रिकाओं के बीच अपना स्थान बना पायेगी, यह तो अभी नहीं कहा जा सकता, परन्तु इस अंक में कुछ रचनाएं प्रभावित करती हैं। विशेष रूप से 'पश्चिम की राह' में भारतीय परिवार की वापसी' (आशारानी क्लौरा) और विद्यानिवास मिश्र से नर्मदाप्रसाद उपाध्याय की बातचीत। आज की पीढ़ी के लेखकों में लंकर मिश्रजी ने जो चिंता व्यक्त की है, वह विचारणीय है। कविता सामान्य है। रचनाओं के चयन में अभी संपादकीय कमजोरी (विवशता) नज़र आती है।

मुंबई से ही प्रकाशित एक और पत्रिका 'संयोग साहित्य' (सं.



मुरलीधर पांडेय, 105-बी, द्वारका भवन, बी.पी. क्रॉस रोड नं. 4, तलाव रोड, भायंदर (पूर्व) मुंबई-5) का रुझान पूरी तरह साहित्य की ओर है और कुछ चर्चित लेखकों का सहयोग भी प्राप्त है। मेरे पास तीसरे वर्ष का पहला अंक (जनवरी-मार्च 1999) उपलब्ध है, जिसमें पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु', हरिमोहन, चिरंजीत, नारायणलाल परमार, राजकुमार कुम्भज आदि की रचनाएं हैं। पत्रिका विचारात्मक और समीक्षात्मक ही ज्यादा है। कुछ कविताएं भी हैं किन्तु कहानी एक भी नहीं है। अच्छी रचनाओं का अभाव तो आज बड़ी पत्रिकाओं को भी झेलना पड़ रहा है तो फिर छोटी पत्रिकाओं को दोष क्या दिया जाए। फिर भी कोई भी पत्रिका अपनी पहचान तभी बना पाती है जब उसमें कुछ ताजगी दिखे, सोच का कुछ नयापन हो। 'संयोग साहित्य' को इस तरफ अभी प्रयास करना है।

'यू.एस.एम. पत्रिका' (सं. /उमाशंकर मिश्र, 68, तुगनगर, गजियाबाद) पिछले पन्द्रह वर्षों से प्रकाशित एक ऐसी पत्रिका है जिस का आज भी कोई स्वरूप नहीं बन पाया है। संपादक-प्रकाशक उमाशंकर मिश्र ने अपने नाम का संक्षिप्तीकरण कर पत्रिका का नामकरण कर दिया है, दूसरा रचनाओं के चयन में कोई दृष्टि नज़र नहीं आती, जैसे जो कुछ भी मिल गया। वही छाप दो। छोटी पत्रिकाओं का प्रधान गुण ही होता है रचना-दृष्टि, रचना चयन। पत्रिका में विज्ञापनों की भी भरमार है, जिससे पत्रिका के प्रकाशन का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। ऐसी पत्रिकाएं लघु कलेवर में भी व्यावसायिक पत्रिकाएं ही होती हैं।

और अंत में, एक व्यावसायिक घराने से प्रकाशित लघु पत्रिका 'अक्षर पर्व' (सं. /ललित सुरजन) देशबन्धु, प्रकाशन विभाग, रायपुर) की चर्चा इसलिए आवश्यक लग रही है कि कुछ ही समय में इस पत्रिका ने लेखकों-बुद्धिजीवियों के बीच अपनी अच्छी पहचान बना ली है। समीक्षा अंक पहले वर्ष का ग्यारहवां अंक ही है परन्तु रचनाओं के चयन में जो सजगता है, विविधता है, मुद्रण और ले-आउट में जो गुणात्मकता है उससे यह पत्रिका अपना एक अलग रूपरंग बनाने में समर्थ है। प्रस्तुत अंक में लाल बहादुर वर्मा का लेख 'जन पक्षधर संस्कृति की चुनौतियां', और रोहिणी अग्रवाल का 'खिड़की नहीं होगी तो दीवारें कैद न कर लेंगी?' काफी विचारेतेजक हैं। जयदेव तनेजा का लेख 'ब्रेख्त: एक सच एक सपना' अलग ढंग से ब्रेख्त के नाटकों और उनके रंगशिल्प को विश्लेषित करता है। यशपाल वैद की कहानी 'समवेत स्वर' भी पठनीय है। कुछ मिलाकर 'अक्षर पर्व' हिन्दी पत्रिकाओं में एक विशिष्ट पत्रिका सिद्ध होगी, इसमें संदेह नहीं। अगर इसका तेवर इसी तरह बना रहा तो 'कल्पना', 'ज्ञानोदय' जैसी पत्रिकाओं के समकक्ष भी पहुंच सकती है।

जी-23/270, सेंक्टर-7  
रोहिणी, दिल्ली-85

कथाकार महीप सिंह की समस्त कहानियाँ

## तीन खण्डों में

प्रथम खण्ड  
सुबह के फूलों की महक

द्वितीय खण्ड  
घिरे हुए क्षणों का संकट

तृतीय खण्ड  
संबंधों का सन्नाटा

अभिव्यंजना  
का गौरवशाली प्रकाशन



# एक नए भगवान का जन्म

बिहारीलाल जी सुबह-सुबह आ गए।

मैंने पूछा—“पंडित जी, समस्या कुछ गंभीर लगती है। आपको इस तरह सोच में डूबा मैंने कम ही देखा है।”

ऐसा लगा जैसे वह और अधिक सोच में डूब गए हों। बोले—“एक विचार कुछ समय से मेरे मन में उठ रहा था। सोचा, तुमसे शेरार कर लूं। बात कुछ गंभीर है और मेरे भविष्य की योजना का दारोमदार इस पर है।

मैं भी कुछ गंभीर हो गया। सोचा, बात कुछ इतनी गंभीर है कि बिहारीलाल जी का भविष्य इस टिका हुआ है। मैंने कहा—“पंडित जी, बताइए बात क्या है?”

वे बोले—“कालेज से रिटायर हुए मुझे पूरा एक बरस बीत गया है। यह बरस कैसे बीता, बस कुछ मत पूछो। मुझे यह अंदाज़ा नहीं था कि खाली समय मनुष्य की पीठ पर बिल्कुल अगिया बैताल की तरह आ कर बैठ जाता है। पहले सोचा था कि रिटायर होने के बाद कुछ नहीं करूंगा...बस आराम करूंगा। अब लगता है कि मेरे सारे संकट की जड़ यह आराम ही है...यह तो सचमुच हराम है...सच कहूं कि यह हरामी है। बस सारा दिन मेरे बाल नोचा करता है।”

मैंने कहा—“पंडित जी, आप कुछ काम क्यों नहीं शुरू कर देते। आपके दोनों बेटे नौकरी करते हैं। दुकानदार होते तो मैं कहता कि आप उनकी दुकान पर चले जाया करिए। मेरा ख्याल है कि आप पार्ट टाइम कोई जॉब पकड़ लीजिए।”

उनके चेहरे पर गुस्सा झलक आया—“कभी-कभी तुम बहुत घटिया बात करते हो। जिस पोजीशन से मैं रिटायर हुआ हूं, उसके बाद कोई ऐसा-वैसा जॉब करना क्या मुझे शोभा देगा?”

मैं कुछ शर्मिदा महसूस करने लगा।

“अच्छा, आपके मन में क्या विचार आ रहा है?”

“देखो...” वे थोड़ा सोचते हुए बोले—“इस उम्र में मैं दो ही काम कर सकता हूं। इन कामों में मेरी रुचि भी है, मेरी पात्रता भी है और ये मेरी प्रतिष्ठा के अनुरूप भी हैं।”

मैंने कहा—“पंडित जी, आपकी प्रतिष्ठा और रुचि के अनुरूप जो काम था, वह आप कर चुके हैं।”

“क्या मतलब है तुम्हारा?” वे भौंहे सिकोड़कर बोले।

“आप सारी उमर अध्यापक रहे। इसी कार्य में आपकी रुचि थी। इसी कार्य में आपने जो प्रतिष्ठा प्राप्त करनी थी, कर ली।” मैंने कहा—“मेरी मान्यता है कि अध्यापन एक बहुत नोबल प्रोफेशन है।

किन्तु यह काम व्यक्ति को एकदम नाकारा बना देता है। एक बार समय तक अध्यापक रह चुका व्यक्ति और कोई काम नहीं कर सकता हों...आराम से कहीं कुछ लेक्चर-वैक्चर देने का खुगाड़ बन जा वह उसके बूते की बात है।”

बिहारीलाल जी बहुत जोर से हंसे—“तुम ठीक कहते हो। रुचि और प्रतिष्ठा के अनुरूप जिन दो कामों की बात मैं तुम से कर जा रहा था, उन में एक तो राजनीति है...”

वे अपनी बात पूरी करें कि मैं बोल पड़ा—“राजनीति... जी, कॉलेज की राजनीति में थोड़ा-बहुत मुंह मार कर आप सोचने लगे हैं कि देश की राजनीति भी कर सकते हैं? कहावत है—बड़े बड़े जाएं गड़रिया थाह मांगें...क्षमा कीजिएगा, आप बीस कि कनौजिया ब्राह्मण हैं, गड़रिया नहीं हैं। मैं सिर्फ इतना कह रहा हूं देश की राजनीति आपके बूते की बात नहीं है।”

पंडित जी को गुस्सा आ गया। बोले—“तुम बड़े अहमक मुझे अपनी बात पूरी नहीं करने देते, बार-बार बीच में दाल-भात मूसरचंद की तरह कूद पड़ते हो। अरे भाई, इस देश की राजनीति बूते की नहीं है, यह मैं भी जानता हूं। लेकिन इस देश की धर्मनीति मेरे बूते की है।”

“धर्मनीति...?” मैं चौंका....“यह क्या बला है?”

“ध्वराओ मत...यह जयललिता नहीं है, समझने की कोशिश करो...।”

मैं हंसा—“समझाइए।”

“इस समय देश में दो धंधे बहुत फल-फूल रहे हैं—राजनीति, दूसरी धर्मनीति। किसी एक में भी यदि आप की पकड़ गई...तो बस करोड़ों के वारेन्यारे हैं। आपके चारो तरफ बेहिसाब लालची की भीड़ लगी रहती है। आप फूलमालाओं से लाद दिए जाते हैं। आपकी जितनी चाहें उतनी जय-जयकार होती है। और लक्ष्मी...वह आप पर बस...बरसती है। एक आम इन्सान को जीवन में इतना अधिक और क्या चाहिए?”

मैं सचमुच किसी अहमक की तरह उनका मुंह ताक रहा था। बोले—“मेरी पूरी योजना सूनी।” वे पूरे अध्यापकीय अंदाज में बोले—“एक अध्यापक को और कुछ आए न आए...भाषण देना आता ही है। घर से वह अपने विषय की पूरी तैयारी करके न भी आता तो भी वह घंटा-दो घंटा इस प्रकार धाराप्रवाह बोल सकता है कि विद्यार्थी का रोब खा जाए।”



मैंने कहा—“पंडित जी, सारी उमर आप भी अध्यापक रहे और मैं भी। हम लोग अपने धंधे के सारे गुर जानते हैं।”

“अब ये सारे गुर मुझे धर्मनीति में अपनाने हैं। इस बात में तुम्हें मेरा सहयोग करना है और...साझीदार भी बनना है।” उन्होंने इस तरह आंखें घुमाई जैसे बड़ी गूढ़ बात बता रहे हों।

मैंने कहा—“चलिए...आगे चलिए।”

वे बोले—“मैं धर्म-उपदेशक बनना चाहता हूँ।”

मैंने पूछा—“मेरा क्या काम होगा?”

“तुम मेरे प्रचारक बनोगे।”

“आप धर्म के प्रचारक...मैं आप का प्रचारक?”

“ठीक समझे।” वे बोले—“यह ऐसा धंधा है जो सारी उमर चलता है...जितना बूढ़े होते जाओगे उतना यह धंधा और निखरेगा...मरने के बाद तो यह धंधा और चमक जाता है, फिर पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है।”

मैंने कहा—“पंडित जी, आप की पैनी नज़र का मैं कायल हो गया। राजनीति के धंधे में वह स्थायित्व नहीं, जो इसमें है।”

“अरे...!” वे बड़ी हिकारत से बोले—“आज की राजनीति की तुम बात करते हो। इस क्षेत्र में प्रधानमंत्री बन जाना, सबसे ऊंची पदवी पाना है। परन्तु तुम देखते नहीं हो क्या रहा है। प्रधानमंत्री अपने पद पर एक साल भी बना रहे तो यह उसकी उपलब्धि मानी जाती है।”

“इस काम में मैं आपकी किस प्रकार सहायता कर करूंगा?” मैंने पूछा

“देखो, एक अच्छे पी.आर.ओ. के बिना न कोई सफल नेता बन पाता है, न अभिनेता और न ही धर्मनेता। सबसे पहले तुम मेरे धार्मिक प्रवचनों का आयोजन करोगे। इसका प्रारम्भ निम्न-मध्य वर्ग की कालोनियों से किया जाएगा।”

“निम्न-मध्य वर्ग से क्यों?”

“इसलिए कि उच्च-मध्य वर्ग के लोग जीवन में कुछ सफलता पा चुके होते हैं। उनके जीवन में सुरक्षा कुछ हद तक आ चुकी होती है। ऐसे लोगों को धर्म की...ईश्वर की आवश्यकता इतनी जल्दी महसूस नहीं होती जितनी निम्न-मध्य वर्ग के लोगों को। यह वर्ग तो आर्थिक संकट में सदा ही फंसा रहता है। निम्न वर्ग को भी ईश्वर की जल्दी जरूरत नहीं महसूस होती। वह दो वक्त की रोटी के चक्कर में ही फंसा रहता है और कैसी भी हालत में जीने का आदी होता है।”

मैंने कहा—“ठीक...आगे...।”

“प्रारम्भ में तुम मुझे पंडित बिहारीलाल शास्त्री कह कर प्रचारित करोगे और चारों तरफ यह बात फैलाओगे कि मुझमें बहुत बड़ी हीलिंग-पावर है। मेरे छू लेने से, माथे पर हाथ रख देने से और कान में मंत्र फूक देने से बड़े से बड़े रोग दूर हो जाते हैं।”

“फिर...?”

“तुम इस ढंग से प्रचार करोगे कि लोग अपने रोगों से छुटकारा पाने के लिए मेरे पास आने लग जाएं। स्त्रियों के अंदर ऐसा विश्वास पैदा करना बहुत सरल होता है। इसलिए उनके बीच विशेष रूप से ऐसा प्रचार होना चाहिए। तुम्हें दो-चार महिलाओं को भी अपने साथ मिलाना होगा जो घर-घर जाकर बताएंगी कि उनके अंदर कितनी भयंकर बीमारी थी, इलाज करा-करा कर वे दूर चुकी थीं...जीवन से पूरी तरह निराश हो चुकी थीं, किन्तु शास्त्री जी का स्पर्श पाते ही वे पूरी तरह निरोग हो गई हैं।”

बिहारीलाल जी कुछ गंभीर होकर सोचने लगे। मैं उन्हें एकटक देख रहा था। एकाएक मुझे उनके चेहरे पर एक धर्मोपदेशक की झलक मिलने लग गई।

वे बोले—“पंडित बिहारीलाल शास्त्री की कुछ चर्चा हो जाने के बाद मुझे आचार्य बिहारीलाल शास्त्री कहा जाएगा। पार्कों में, धर्मशालाओं में, खुले मैदानों में मेरे प्रवचनों का आयोजन किया जाएगा। यहां से हमारे कार्य में विज्ञापनबाजी शुरू हो जाएगी। मेरे प्रवचन से पूर्व ही आमपास के क्षेत्र में पर्चे बंटवाए जाएंगे। कुछ प्रमुख स्थानों पर कपड़े के बैनर लगाए जाएंगे, जिन पर लिखा होगा—अमुक दिन, अमुक समय, अमुक स्थान पर आचार्य बिहारीलाल शास्त्री का जीवन को नए अर्थों से भर देने वाला प्रवचन...आचार्य जी के स्पर्श मात्र से लाखों रोगग्रस्त लोगों को नया जीवन प्राप्त हुआ है। उनका प्रवचन सुनें और व्याधियों से मुक्ति पाएं...।”

मैंने कहा—“कपड़े के बैनर के लिए यह मैटर कुछ लम्बा होगा।”

“इसकी चिंता न करो।” वे बड़े आश्वस्त भाव से बोले—“छोटा-छोटा मैटर बनाकर कई बैनर बनेंगे। यह सारा काम तुम्हें ही करना होगा।”

“पोस्टर का आइडिया कैसा रहेगा?”

“पोस्टरबाजी अगले चरण में।” वे बोले—“कुछ समय बाद आचार्य शब्द भी हट जाएगा। उसकी जगह पूज्य बिहारीलाल शास्त्री लिखा जाएगा।”

“यह सब तो ठीक है पंडित जी, पर आप को ऐसे धार्मिक प्रवचन देने का कुछ अभ्यास तो है नहीं। आपने वर्षों तक आधुनिक हिन्दी कविता पढ़ाई है और छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद की रैतीली गलियों में भटक-भटक कर रेत से चांदी निकालने की कोशिश की है।”

“रेत से चांदी निकाल लाना बहुत मुश्किल काम है, यह तो तुम मानते ही हो। धार्मिक प्रवचन देना उससे कहीं आसान है।”

“धार्मिक प्रवचन आसान है?” मैंने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा—“धर्मोपदेशक को वेदों का, सभी शास्त्रों का ज्ञान तो होना ही



चाहिए।”

“तुम भूलते हो।” वे बोले—“इस काम में शास्त्रों की कोई लम्बी-चौड़ी जानकारी नहीं चाहिए। प्रवचन सुनने वाले मूर्ख श्रद्धालु क्या जानते हैं कि किस शास्त्र में क्या लिखा है? हमारे शास्त्र-निर्माता बहुत सयाने लोग थे। आम जनता को उन्होंने सदा अनपढ़ रखा और शास्त्र उस भाषा में लिखे जो किसी की समझ में न आए...सिर्फ उंगलियों पर गिने जा सकने वाले लोगों को छोड़कर...एक बात बताओ। फिल्मों के तुम बहुत शौकीन हो। एक फिल्मी गाना लिखने के लिए अधिक से अधिक पचास शब्दों की आवश्यकता होती है—जफ़ा, वफ़ा, मोहब्बत, प्यार, ज़िगर, दिल, जान, परदेस वगैरा-वगैरा। इसी तरह अच्छा धर्मोपदेशक बनने के लिए कुछ वाक्यों की जरूरत होती है। इस धंधे की अपनी भाषा है, अपने मुहावरे हैं। जो व्यक्ति इस भाषा का प्रयोग कर सकता है, उन मुहावरों को पकड़ सकता है वह पूरी तरह सफल होगा।”

“क्या मुझे भी इसका ज्ञान कराइए।” मैंने शिष्यवत् पूछा।”

वे बोले—“पहली बात यह जान लो कि आम आदमी किन बातों से डरता है। मृत्यु का डर सबसे बड़ा डर है। सफल धर्मोपदेशक इस डर को निरन्तर बढ़ाता है। वह बार-बार लोगों से कहता है—जीवन तो झूठा है...मृत्यु ही एकमात्र सच्चाई है...यह सदा हमारे चारों ओर मंडराती रहती है...इसके खूनी पंजे सदा हमारी गर्दन पर होते हैं...इसलिए हे मानव, यदि तू इस भय से मुक्ति चाहता है तो भगवान का सहारा ले...आदि-आदि।

दूसरी बात वह लोगों के सामने बार-बार यह दोहराता है कि यह संसार झूठा है...संसार के सभी सम्बन्ध झूठे हैं...धन-दौलत, बड़ी-बड़ी कोठियाँ, सारी शान-शौकत यहीं धरी रह जाएगी...तुम्हारे साथ कुछ भी नहीं जाएगा। इसलिए हे प्राणी, संसार का मोह त्यागो...माया बड़ी ठगनी है, उससे बचो और अपना मन प्रभु चरणों में लगाओ, उसी से तुम्हारा कल्याण होगा...।

तीसरी बात, एक सफल उपदेशक नरक-स्वर्ग की खूब चर्चा करता है। स्वर्ग की कम करता है, नरक की ज्यादा। वह नरक का ऐसा भय दिखाता है कि लोग पसीना-पसीना हो जाते हैं।

चौथी बात, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह लोगों को बात-बात पर यह समझाता है कि गुरु का क्या महत्व होता है। निगुरे को तो नरक में भी स्थान नहीं मिलता है। इस सम्बन्ध में संतों-भक्तों की जितनी भी उक्तियाँ हैं, उनका पूरा पुलिंदा सदा अपने पास रखता और उसका भरपूर इस्तेमाल करता है और बार-बार इस बात पर आग्रह करता है कि संदेह गुरु सदा तुम्हारे गमने होना चाहिए जिससे तुम जब चाहो, मार्गदर्शन प्राप्त कर सका। ऐसे ही और बहुत-से हथकंडे हैं। मैंने इनका गहराई से अध्ययन कर लिया है।”

मैं मुग्ध भाव से उन्हें निहारता हुआ बैठा था। मैंने कहा—“पंडित

जी, आप धन्य हैं। आप जैसा संत पुरुष, महात्मा, ज्ञानी उपदेशक इस संसार को प्राप्त हो जाएगा तो इसका कल्याण अवश्य-भाव है। “ऐसी बेट्टा दांते मत करो।” वे कुछ खीझ कर बोले—“मैंने आप भाड़ में। उसका कल्याण न पहले कोई कर सका है, न आगे कर सकेगा। इस समय मेरी रुचि सिर्फ इस बात में है कि इस संसार मेरा, और तुम्हारा भी, कुछ कल्याण कैसे हो।”

फिर वे बड़े उत्साह से बोले—“यदि मैंने यह धंधा बीस-पच्चीस वर्ष पहले प्रारम्भ कर दिया होता तो आज मैं कहां पहुंचा हुआ होता देश के हर कोने में तो मेरी भूम मची ही होती, इंग्लैंड, अमेरिका आदि देशों में भी मेरे लाखों अनुयायी होते। अब मुझे यह रास्ता खुल जल्दी तय करना है। आचार्य से संत, फिर परम संत, फिर ब्रह्मगुरु और फिर भगवान की स्थिति तक बहुत जल्दी पहुंचना है। शहर-शहर में मेरे प्रवचनों के विशाल सम्मेलन आयोजित होने हैं। जल्दी ही दूरदर्शन के लोकप्रिय चैनलों पर समय खरीदकर उनसे प्रवचन शुरू हैं। आगे चल कर हमें सैटेलाइट से अपना पूरा चैनल चलाना है।

मैंने कहा—“धन्य हो...भगवान विहारीलाल जी शास्त्री।”

वे झटपट बोले—“उस स्थिति तक पहुंचते-पहुंचते एकवचन ‘हम’ में बदल जाएगा। हमारे नाम के साथ के सभी पुछने-धीरे-धीरे उतर जाएंगे...लोग मुझे केवल भगवान विहारी लाल कहने पुकारेंगे।”

मैंने दोनों हाथ जोड़ कर उनके चरणों पर सिर झुकाया। उन्होंने अपना दाहिना हाथ मेरे सिर पर रखा और आशीर्वाद दिया—“तुम्हारा कल्याण हो...।”

मलयालम भाषा के बहुचर्चित लेखक

एन. पी. मोहम्मद का उपन्यास

शहतीर

केरल प्रदेश के मुस्लिम समाज के पारिवारिक जीवन के द्वन्द्वों को उजागर करने वाली महत्वपूर्ण कृति

मूल्य: 65 रुपये

अभिव्यंजना

बी-70/72, लारेंस रोड, दिल्ली-110035

संचेतना के ग्राहकों को आधी कीमत पर



## गोष्ठी वृत्त

## कारगिल के शहीदों को श्रद्धांजलि

दिल्ली कला कर्म की ओर से शिमला के कालीवाड़ी मन्दिर समीप में पांच जुलाई को एक श्रद्धांजलि कार्यक्रम आयोजित किया गया। इस साहित्यिक गोष्ठी में ईश अमितोज के निर्देशन में तीन कहानियों के मंचन के अलावा कविता पाठ का भी आयोजन था। कार्यक्रम के आरम्भ में अवतार एन.गिल ने अपनी ताज़ा रचना 'टाइगर हिल को चले सिपाही छाती पर लेते हैं वार' का पाठ किया। रेखा वशिष्ठ की कविता में उस पीड़ा को व्यक्त किया गया जिसे आज एक एक भारतवासी बड़ी शिद्दत से महसूस कर रहा है। प्रसिद्ध कथाकार एस.आर. हरनोट की कहानी श्रद्धांजलि हाल ही में घटी एक ताज़ा घटना पर आधारित थी जिसमें एक सैनिक की शहादत के बाद एक नवविवाहिता ने दुल्हन के रूप में अपने शरवीर पीत को अर्पण की कथा दिया था।

ईश अमितोज ने जैनेन्द्र कुमार की 'चालीस रुपए', पुष्पा जौहरी की 'नए क्षितिज' और सआदत हसन मंटो की 'टोबा टेक सिंह' कहानियों का सार्थक मंचन किया। आराम और हयाम की कमाई विषय पर आधारित 'चालीस रुपए' की प्रस्तुति को पंकज शर्मा और ममता शर्मा ने अपने सशक्त अभिनय से डबने से बचा लिया। 'नए क्षितिज' में हम एक ऐसी मां से मिलते हैं जिसका युवा बेटा अमेरिका पढ़ने जा रहा है। मां की भूमिका में ईश का अभिनय बेहद आश्चर्य व प्रभावशाली रहा। मंटो की कहानी टोबा टेक सिंह के गत वर्षों में अनेकानेक मंचन मैंने देखे हैं लेकिन इतनी अधिक सार्थक अनुचिन्तित और समसाययिक प्रस्तुत पहले देखने को नहीं मिली। कहानी को आज की विषम-विषादपूर्ण स्थितियों से जोड़ने के लिए कुछ संवाद जोड़े या बदले गए। ऐसा उन्होंने मंटो को चोट पहुंचाए बिना किया। 'टोबा टेक सिंह' जैसी कहानी बिना रूहानी तजुबों के लिखी ही नहीं जा सकती है। इस अनुभव को पाने के लिए मंटो पूरा एक महीना पागलखाने में रहे थे। निदेशिका ईश ने कहानी के यथार्थ, सहजता, घटनाओं की क्रमबद्धता, शब्दों के प्रयोग और कुशल चरित्र-चित्रण पर अपनी पकड़ बनाए रखी।

मंचन में ईश अमितोज रचित एक लम्बी कविता का पाठ पागलखाना अधिकारी और एक पागल की भूमिकाएं निभाने वाले राघवेंद्र राव ने बहुत ही भावपूर्ण ढंग से किया। भाषा कला और संस्कृति अकादमी के सचिव, लेखक और कवि जगदीश शर्मा ने भी अपनी अत्यन्त प्रभावशाली नई रचना का पाठ किया। हर युद्ध के साथ कुछ सुन्दर और पवित्र नष्ट हो जाता है। यह सच है कि जो चले गए वह लौट कर नहीं आते, पीछे रह जाती हैं उनकी राहों में प्रतीक्षारत आंखें और उनके प्रियजन। शहीद हुए वीरों के ऐसे ही परिवारजनों के नाम दिल्ली कला कर्म की महासचिव सरोज वशिष्ठ का सन्देश इस तरह था—

“वैसे तो मैंने मौत को बहुत नजदीक से देखा है मौत ही क्यों

मैंने ज़िन्दगी को भी बहुत नजदीक से देखा है।

अन्धकार में तेज़ हवाओं ने जब एक पत्ती को एक अचानक पेड़ से धरती पर गिरा दिया।

तो सदय धरती ने उसे निगमन कर लिया।

मैंने पूछा था धरती से, क्यों?

उसे उड़ने देती डूबर-डूबर

धरती थीर गम्भीर मौन रही थी

शायद धरती उसे आज़ाद देखना ही न चाहती थी

माना कि जन्म और मृत्यु का कोई इलाज नहीं पर दोनों के बीच के अन्तराल को भोगा तो जा सकता है।

यह भी माना कि ज़िन्दगी में सबसे बड़ी क्षति मौत नहीं है

सबसे बड़ा क्षय तो वह है जो हमारे ज़िन्दा रहते हमारे भीतर मर जाता है

वह मौत अगर मेरी मौत होती तो मैं

उससे कुछ न कुछ सीख लेती

लेकिन वह तो मेरा एक अंश था जो मर रहा था

मेरी ही सामने मुझे ही जाती हुई नज़रों से देखता हुआ

अपने भीतर एक भयंकर तूफान छुपाए हुए

खुद को आश्वस्त करते हुए

मैं अभी मरा नहीं

सामने एक पारदर्शी खिड़की है

उसमें से रोशनी छन कर भीतर आ रही है

अभी-अभी तो उसका रंग कानिमाय सफेद था

एकाएक काले रंग में सरोबोर कैसे हो गया?

इस तरह ज़िन्दा रहने के क्या माने?

कोई तर्कसंगत उत्तर नहीं है इस प्रश्न का

प्रश्न अपने आप में अचेतन है

काटों से लिपटे शहद को चाट लेना ही ज़िन्दगी है

ज़िन्दा रहना बहुत आसान है

मौन रह कर अनिष्टों को झेलना ही ज़िन्दगी है

ज़िन्दगी से भागने की इच्छा में क्या रोमान्स?

उसे तो अपनी गिरफ्त में थामे रखना ही है रोमान्स

एक और दिन अलसुबह सबेरे-सबेरे नींद खुलने का अमूल्य अनुभव

उसी का नाम है ज़िन्दगी

लेखकों, कलाकारों द्वारा प्रस्तुत इस यादगार शाम को एक दर्द भरी टीस में परिवर्तित करते हुए श्री वी.एल. शर्मा और उनकी धर्मपत्नी मौजूद थे। उनके तीन जवान बेटे उस समय कारगिल के अखंडोचित युद्ध में जुड़ रहे थे। उन्हें गुप्ति भेंट करके उनका अभिनन्दन किया गया—इस कामना के साथ कि उनकी ज़िन्दगी हमेशा फूलों की तरह महकती रहे। बेशक उस वक़्त उनकी ज़िन्दगी एक टिठके हुए पल में बदली हुई थी।

प्रस्तुति—सरोज वशिष्ठ



# संतोष गोयल के कहानी संग्रह पर गोष्ठी

'ऋचा' साहित्यिक मंच के तत्वाधान में सन्तोष गोयल के कथा संग्रह 'झूला' पर एक संगोष्ठी हिन्दी भवन में सम्पन्न हुई। प्रमुख वक्ता दिनेशनन्दिनी डालमिया, जगदीश चतुर्वेदी, डा. हरदयाल, मृदुला गर्ग, चन्द्रकान्ता थे। इनके अतिरिक्त डा. कमलकिशोर गोयनका, राकेशनन्दिनी डालमिया, कथादेश के सम्पादक हरिनारायण, गायत्री कमलेश्वर अनेक जाने-माने लेखक उपस्थित थे।

गोष्ठी के अध्यक्ष कमलेश्वर ने सन्तोष गोयल के कहानी-संग्रह 'झूला' की कहानियों को आज की उत्कृष्ट कहानियाँ स्वीकार करते हुए कहा कि ये कहानियाँ प्रौढ़ महिलाओं की उन समस्याओं को चित्रित करती हैं जो अब तक लगभग अनुपस्थित थीं। कमलेश्वर ने इन्हें बंधी-बन्धवाई अवधारणाओं से बाहर निकलती, नयी अवधारणाओं को रेखांकित करती यशपाल तथा मंटो की भाँति खूबसूरत अन्त वाली कहानियाँ माना। श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया के अनुसार ये कहानियाँ सुशिक्षित स्त्रियों की विकसित मानसिकता तथा उसके आस-पास के समाज की संकीर्णताओं के बीच तालमेल बैठाने का असफल प्रयास करते हुए व्यक्तित्व के संघर्ष की हैं, जो कहानी न होकर एक अलग अनुभव है। सन्तोष इन अनुभवों और अनुभूतियों को स्मृतिचित्रों के माध्यम से व्यक्त करती हैं। मानव मन के अन्तर्जगत से सम्पर्क स्थापित करती हैं तथा अपनी लहरों सी उठती-गिरती, तैरती भाषा की सहायता से अनायास ही मंजिल तक पहुँचती हैं।

जगदीश चतुर्वेदी ने इन कहानियों में एक अलगाव, कुछ हठधर्मिता कुछ नया कहने की बात देखी। बीसवीं शताब्दी की नारी के मन से संतोष की कहानियों ने साक्षात्कार किया है। इनमें आज की भागदौड़ भरी जिन्दगी में दम तोड़ते सम्बन्धों तथा आगे बढ़ने के चक्कर में अकेले पड़ते मानव की कथा व्यक्त की गयी है।

मृदुला गर्ग ने पिछले वर्षों के कहानी-लेखन में सन्तोष की कहानियों का स्थान निर्धारित किया तथा इनमें व्यक्त मनोविज्ञान को रेखांकित किया।

डा. हरदयाल ने इन्हें प्रौढ़ होती नारी के अकेलेपन की अनुभूति तथा उससे उत्पन्न कुण्टाओं की अभिव्यक्ति की कहानियाँ माना। इन कहानियों का अतिरिक्त वैशिष्ट्य इनकी पठनीयता है।

चन्द्रकान्ता ने इन्हें आज दौराहे पर खड़ी तनावग्रस्त स्त्री की वेदना की कहानियाँ माना है। एक ही व्यक्ति में ऐसा क्या होता है जो रिश्ते के बदलने के साथ ही उसके व्यवहार को भी बदल देता है, ये कहानियाँ मानव मन के इस अध्याय को खोलती हैं।

प्रस्तुति—स्वराज

भाषा विभाग (पंजाब) की ओर से वर्ष 1997 के सर्वोत्तम कथा साहित्य के पुरस्कार द्वारा सम्मानित

संवेदनशील लेखिका सिम्मी हर्षिता की  
कहानियों का विशिष्ट संग्रह

## 33 कहानियाँ

अछूती भावभूमि, विशिष्ट भाषा शैली और स  
रचनाशीलता के लिए सुपरिचित लेखिका की तें  
कहानियाँ एक साथ।

पृष्ठ	:	256
मूल्य	:	300 रु. (सजिल्द) 150 रु. (पेपर बैक)

अभिव्यंजना से लेखिका की पूर्व  
प्रकाशित कृतियाँ

धराशायी	(कहानी संग्रह)	16.00
सम्बन्धों के किनारे	(उपन्यास)	35.00
यातना शिविर	(उपन्यास)	75.00

## अभिव्यंजना

बी - 70/72, लॉरेंस रोड, दिल्ली - 110035



## संचेतना बुक क्लब का लाभ उठाइए

### संचेतना के जागरूक पाठकों के लिए एक आकर्षक योजना

संचेतना के देश में असंख्य पाठक हैं। असंख्य शिक्षण-संस्थाओं में संचेतना वर्षों से जा रही है जहाँ इसकी प्रतियों को सजिल्द करा कर संजोया जाता है। हमने संचेतना की सहयोगी संस्था अभिव्यंजना प्रकाशन के साथ मिलकर पुस्तक-प्रेमी पाठकों के लिए यह आकर्षक योजना तैयार की है। 50 रुपये भेज कर आप संचेतना के वार्षिक ग्राहक बनिए और निम्नलिखित पुस्तकों में से **कोई भी कितनी भी मनचाही पुस्तकें आधे मूल्य पर मँगवाइए।** डाक-खर्च भी हमारे द्वारा दिया जाएगा। मूल्य मनीआर्डर द्वारा अग्रिम भेजें। वी.पी.पी. भेजने की व्यवस्था नहीं है। 50 रुपये से कम की पुस्तकें साधारण डाक द्वारा और अधिक की पुस्तकें रजिस्टर्ड डाक द्वारा भेजी जाएंगी।

#### कहानी संग्रह

धूप की उँगलियों के निशान	महीप सिंह	125.00
चर्चित कहानियाँ	महीप सिंह	40.00
इक्यावन कहानियाँ	महीप सिंह	150.00
सहमे हुए	महीप सिंह	60.00
इक्यावन कहानियाँ	विष्णु प्रभाकर	100.00
इकतीस कहानियाँ	कुसुम अंसल	150.00
पते बदलते हैं	कुसुम अंसल	25.00
चिनारों की आग	शामा	125.00
तेतीस कहानियाँ	सिम्ली हर्षिता	300.00
घरों से मकानों तक	गुरनाम गिल	80.00
जिंदा पल मुर्दा पल	बचिंत कौर	45.00
अतीत से संवाद	बचिंत कौर	80.00
गिरोह तथा अन्य कहानियाँ	आनन्द अस्थाना	30.00
नया मोड़	कमलेश बख्शी	25.00
उधार की जिन्दगी	बसंत प्रभा	35.00
एक दिन का सुलतान	गुरुमुख सिंह जीत	25.00
तीन दिन का बेईमान	सविन्द्र सिंह उण्णल	25.00
आसमान दूर है	गुरुबचन सिंह	100.00
काली छोटी मछली	समद बहरगी	40.00
काला नवम्बर	सं. सुरेन्द्र तिवारी	100.00
ग्रामीण परिवेश की श्रेष्ठ कहानियाँ	डॉ. सुभद्रा	40.00
खोई हुई खुशबू	सं. नरेन्द्र मोहन	40.00
श्रेष्ठ कहानियाँ	कुसुम अंसल	75.00
प्रवासी पंजाबी कहानियाँ	सं. महेन्द्र धींगड़ा	80.00

#### कविता

सबूत क्यों चाहिए	इन्दु जैन	90.00
धुएँ का सच	कुसुम अंसल	25.00
विरूपीकरण	कुसुम अंसल	35.00
सच कहती हूँ	सुनीता जैन	70.00
एक और दिन	सुनीता जैन	25.00
पीली धूप का टुकड़ा	शामा	100.00
मुक्त कर दो	कीर्ति केसर	50.00
तुम मुझे झेल नहीं पाओगे	अरुणा कपूर	60.00
लेखिकाओं की प्रतिनिधि		
कविताएँ-83	संकलन	30.00
लेखिकाओं की प्रतिनिधि		
कविताएँ-84	संकलन	30.00

#### उपन्यास

यह भी नहीं	महीप सिंह	160.00
मजिले	मनजीत हेयर	80.00
समय हार गया	मनजीत हेयर	150.00
सम्बन्धों के किनारे	सिम्ली हर्षिता	35.00
यातना शिविर	सिम्ली हर्षिता	75.00
एक और पंचवटी	कुसुम अंसल	35.00
शिखर और शून्य	गुरुमुख सिंह जीत	55.00
प्रश्नों के रेगिस्तान	कु. इन्दिरा	35.00
चेतना की परतें	शकुन्तला दुवे	35.00

#### आलोचना/निबन्ध

कथाकार महीप सिंह	सं. डॉ. गुरुचरण सिंह	150.00
आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में महानगर	डॉ. कुसुम अंसल	200.00
डॉ. सुदर्शन मजीठिया : सृजन के धनतल	सं. डॉ. गुरुचरण सिंह	200.00
हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन	डॉ. सुधाकर अदीब	250.00
कबीर ग्रंथावली में प्रेमा भक्ति	डॉ. शकुन्तला श्रीवास्तव	150.00
कुसुम अंसल का कथा साहित्य	नगमा जावेद मलिक	90.00
लेखक और अभिव्यक्ति		
की स्वाधीनता	सं. डॉ. महीप सिंह	60.00
साहित्य और दलित चेतना	सं. डॉ. महीप सिंह,	
	डॉ. चन्द्रकांत बादिनदेकर	120.00
समकालीन हिन्दी कहानी:		
स्त्री-पुरुष सम्बन्ध	सुनंत कौर	80.00
हिन्दी कहानी: समकालीन परिदृश्य	डॉ. सुखवीर सिंह	50.00
मध्यकालीन बोध: मानवीय प्रयोजन	डॉ. भगवान दास वर्मा	30.00
साहित्य, संस्कृति और सम्प्रेषण	डॉ. भगवान दास वर्मा	60.00

#### नाटक/व्यंग्य/विविध

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी व्यंग्य :		
सृजन की यात्रा	सं. सुदर्शन मजीठिया,	300.00
	डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी	
शहीद ऊधम सिंह	सत्येन्द्र श्रीवास्तव	25.00
रेखाकृति	कुसुम अंसल	100.00
पालतू	भगवान अटलानी	20.00
भैर के आगे बीन	रामावतार चेतन	22.00
गंजत्व दर्शन	इशाम गोइन्का	40.00
ऐसे जैसे कुछ हुआ ही नहीं	सरोज वशिष्ठ	75.00
	कु. इंदिरा	40.00



## प्रतिक्रियाएं

## पुरस्कारों की पारदर्शिता: स्थिति और विकल्प

साहित्यिक रचनाओं के लिए दिए जाने वाले पुरस्कारों की संख्या इधर कुछ तेज़ी से बढ़ी है। अनेक लेखक भाति-भाति के पुरस्कारों से अलंकृत होकर कहीं संतुष्ट तो कहीं दूसरों की आंखों में खटकते दिखाई दे रहे हैं। लेखकों-कवियों में पुरस्कारों के प्रति मोह बढ़ा है और वे साहित्य-सृजन से अधिक पुरस्कारों के प्रति समर्पित दिखाई दे रहे हैं।

पुरस्कारों की विश्वसनीयता, चयन-प्रक्रिया की पारदर्शिता और सरकारी एवं राजनैतिक तंत्रों के हस्तक्षेप संबंधी चर्चाएं मुखर हो रही हैं। पुरस्कृत रचनाकारों के कृतित्व का तुलनात्मक विश्लेषण अनौपचारिक गोष्ठियों में जोर-शोर के साथ होता रहता है और साहित्य के क्षेत्र में बढ़ते हुए अन्याय के विरुद्ध संगठित होकर कुछ लोग आस्तीनें चढ़ाते देखे जाते हैं। आम धारणा यह बन रही है कि पुरस्कारों के लिए चयन बड़े ही अन्यायपूर्ण ढंग से होता है, जिसमें चयन समिति के 'सम्माननीय' सदस्य 'अंधा बांटे रेवड़ी...' के सिद्धांत के आधार पर मात्र अपने चमकों, सहायकों एवं अनुयायियों को ही देख पाते हैं... यह अन्याय इतना भयंकर है और इतने बड़े पैमाने पर हो रहा है कि उसे 'माफिया' की संज्ञा प्रदान की जा चुकी है।

इस स्थिति का विश्लेषण अनेक प्रश्न उठाता है, जैसे—पुरस्कार क्यों दिए जाते हैं? पुरस्कारों के लिए धन कहाँ से आता है? पुरस्कार के लिए लेखकों का चयन कौन करता है और उसे चयन करने का अधिकार कौन देता है? पुरस्कार के लिए चयन का आधार क्या है?

इन प्रश्नों के उत्तर लगभग हम सभी जानते हैं और संभवतः उनके विस्तृत उल्लेख की आवश्यकता नहीं। परन्तु जो हम सब जानते हैं उसमें थोड़े-बहुत मतान्तर भी होते हैं और कुछ आग्रह-पूर्वग्रह भी। प्रमुख बात यह है कि हर वर्ष पुरस्कार न पाने वालों की संख्या पुरस्कृत रचनाकारों की संख्या से कहीं अधिक होती है—और आज के प्रजातंत्रीय युग में यह बात बहुत महत्व रखती है। व्यक्तिगत निराशा जब एक वर्ग का आक्रोश बनकर उठे तो उसे गरिमा भी प्राप्त होती है और मंच की सुविधा भी। अधिकांश पुरस्कारों में चूंकि धन राज्य सरकारों का होता है, अतः उसके वितरण का सदुपयोग वैसे भी नागरिक का दायित्व बनता है।

लेकिन जो मूलभूत प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं, उनमें संभवतः सर्वप्रथम यह है कि क्या साहित्यिक रचनाओं का वस्तुपरक मूल्यांकन संभव है? प्रश्न यह भी है कि क्या चयन समिति को गठित करने की कोई ऐसी प्रणाली है जिससे सभी सहमत हो सकें? क्या बहुसंख्यक अपुरस्कृत लेखक किसी अन्य लेखक को पुरस्कार दिए जाने पर सहमत हो सकते हैं?

अपने आदर्शवाद में सहित्यकार भले ही यह कहता रहा हो कि साहित्य-सृजन अपने आप में एक पुरस्कार है, एक कठोर सत्य को दर्शाती एक यह कहावत भी है कि 'सरस्वती और लक्ष्मी का आपस में वैर है'। अब तो समाज में साहित्य की प्रतिष्ठा भी घटती जा रही है और साहित्यकार मात्र अपने साहित्य के बूते पर जीवन निर्वाह नहीं कर सकता। अच्छे साहित्य को प्रोत्साहित करने तथा सत्साहित्य के सृजन में लगे रचनाकारों को कुछ सहयोग देने के उद्देश्य से सरकार ने पुस्तकों की खरीद तथा पुरस्कारों जैसी योजनाएं बनाई होंगी, परन्तु लगता है कि दोनों ही क्षेत्रों में मात्र असंतोष एवं निराशा का वातावरण बना है। विश्वसनीयता, पारदर्शिता, हस्तक्षेप संबंधी प्रश्न पुस्तकों की सरकारी खरीदारी को लेकर भी उठ रहे हैं—उन पुस्तकों को लेकर जो मात्र पुस्तकालयों में धूल खाती हैं... जिन्हें कोई नहीं पढ़ता और जिनका लाभ लेखकों को कभी नहीं मिलता—सारा लाभ बस बिचौलिये ही पाते रहते हैं।

चयन-प्रक्रिया को विश्वसनीय, निष्पक्ष एवं पारदर्शी बनाने की पैरवी करने वाले और अनेक उपाय सुझाने वाले हम सभी संभवतः मन-ही-मन यह जानते होंगे कि निष्पक्ष चयन कोई आसान काम नहीं है। साहित्यिक रचनाओं के चयन के लिए न तो हम कोई प्रजातांत्रिक चुनाव-प्रक्रिया अपना सकते हैं और न 'दूध के धुले' चयनकर्ता कहीं से ढूँढकर ला सकते हैं। और फिर देश-स्तर के प्रजातांत्रिक चुनावों का रूप भी हमारे सामने है, जिनमें धन एवं शस्त्र-बल का ही नहीं, निम्न स्तर के हथकंडों का वर्चस्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

समाज में धन का खेल देखकर आश्चर्य होता है। क्रिकेट आदि में खिलाड़ियों को प्रतिदिन एक लाख रुपए मिल जाते हैं, विज्ञापनों में मॉडल भी प्रति मास लाखों कमाते हैं। टी.वी. पर कार्यक्रम देखने वालों को पुरस्कार रूप में कहीं मोटरकार

तो कहीं एक किलो सोना जैसे उपलब्ध है... और नंगा-भूखा सरस्वती-पुरुष पुरस्कारों के लिए लड़ता-झगड़ता दिखाई दे रहा है। यह सब इसलिए है क्योंकि समाज में साहित्य के लिए पैसा नहीं है... क्योंकि समाज पास साहित्य की समझ नहीं है... क्योंकि समाज में साहित्य का कोई स्थान नहीं रहा।

संभवतः अर्थप्रधान वातावरण में साहित्य की इसी दयनीय स्थिति को देखते हुए साहित्यिक लेखकों को कुछ आर्थिक सहायता देने की सोची होगी। लगभग चार दशक पहले पुरस्कारों की ऐसी व्यवस्था नहीं थी, मुझे याद निराला जी की आर्थिक स्थिति देखकर तो आवाज़ उठाई थी कि सरकार को उनके लिए करना चाहिए। निराला जी का तो एक उदाहरण है—अनेक लेखकों ने साहित्य को समर्पित करने के बाद भी अभाव-भरा जीवन पाया। उस सबके बाद भी सरकार ने कुछ किया, उससे लेखकों में असंतोष ही पैदा

बात मात्र पैसे की नहीं है... मुख्यतः साथ ही कुछ नाम होता है जो प्रकाशक के रूप में लेखक की साख बनाने में सहायक होते हैं। आज के युग में जहां धैर्य और निष्कामता की मूर्खता तथा ढिलाई समझा जाते हैं, अधिकांश लेखक जैसा-तैसा लिखकर किसी प्रकाशित होकर सफलता के सोपान फर्माते हैं। इसी प्रक्रिया में उन्हें कभी दूसरों की मदद सालती है तो कभी पुरस्कारों की विश्वसनीयता खटकती है।

आज हम लोग जब विश्वसनीयता की बात करते हैं, पारदर्शिता की बात करते हैं, हस्तक्षेप की बात करते हैं तो एक बार यह देखें कि कहाँ है, किस क्षेत्र में है विश्वसनीयता कहाँ है पारदर्शिता? कहाँ नहीं है हस्तक्षेप? कहने का अर्थ यह कदापि नहीं यदि समाज के अन्य क्षेत्रों में विश्वसनीयता है, पारदर्शिता नहीं है और राजनैतिक हस्तक्षेप तो साहित्य में भी वह सब स्वीकार्य होना निश्चित रूप से नहीं। परन्तु क्या यह सब कि अधिकांश लेखक आज राजनैतिक हस्तक्षेप बंटे हुए हैं और राजनैतिक प्रतिबद्धता उन्हें लेखकीय अथवा वैचारिक स्वतंत्रता से कहीं दूर है। आज लेखन की कसौटी क्या है? साहित्यिक रचनाएं जिन पत्रिकाओं में प्रकाशित होती हैं, जिस आधार पर उनका चयन होता है, क्या



प्रक्रिया में कहीं कोई विश्वसनीयता अथवा पारदर्शिता है? पुस्तकें जिस प्रकार प्रकाशित होती हैं, क्या उस प्रक्रिया में कोई निष्पक्षता, विश्वसनीयता अथवा पारदर्शिता है? अखिर अपनी प्रकाशित रचनाओं एवं पुस्तकों के आधार पर ही तो लेखक पुरस्कार के लिए अपनी अथवा अपने पक्ष के लेखकों की पैरवी करते हैं। क्या यह सच नहीं है कि पत्रिकाओं में ही संपादक, जिनमें अनेक ऐसे होते हैं जो मात्र वरीयता के आधार पर संपादक का पद पा जाते हैं, बहुधा अपने गुट एवं पक्ष के लेखकों की रचनाएं ही छापते हैं...और अनेक लेखक पैसा देकर प्रकाशकों से अपनी पुस्तकें छपवाते हैं?

राजनैतिक हस्तक्षेप की बात करें तो ध्यान सोवियत-लैण्ड नेहरू पुरस्कार की ओर भी जाता है। सोवियत-लैण्ड नेहरू पुरस्कार संभवतः भारत का सबसे पुराना प्रमुख पुरस्कार है जो विदेशी राजनीति का भारतीय साहित्य एवं जनजीवन में सीधा हस्तक्षेप रहा है। यह पुरस्कार चुन-चुनकर एक वर्ग-विशेष के लेखकों को दिया गया। तब किसने उठाया था विश्वसनीयता अथवा हस्तक्षेप का प्रश्न? किसने किया था विरोध?

प्रश्न फिर यह नहीं है कि क्या जो कुछ अनुचित पहले होता रहा, उसे होते रहने दिया जाए...। प्रश्न यह है कि अब जो हो रहा है उसका विकल्प क्या है? अंग्रेजी में एक कहावत है कि जनता जिसके योग्य हो उसे वैसी ही सरकार मिलती है। यही, कुछ सीमा तक, साहित्य के लिए भी सच है। चयन के लिए कोई न कोई समिति तो बनानी ही होगी...लेखक वर्ग जब तक ऐसे कुछ ईमानदार लेखक उत्पन्न नहीं कर सकता जो आगे बढ़कर चयन समिति को विश्वसनीय एवं पारदर्शी रूप प्रदान कर सकें, तब तक स्थिति ऐसी ही बनी रहेगी।

इस निराशा की स्थिति में हमें दो में से एक मार्ग चुनना होगा—या तो यह कि पुरस्कारों की प्रथा-परंपरा ही समाप्त कर दी जाए, अर्थात् पुरस्कार यदि मुझे नहीं मिले तो किसी और को भी न मिलें, और दूसरा यह कि हम पुरस्कारों की चिंता किए बिना अपने लेखन के प्रति समर्पित रहना सीखें।

क्या दूसरा विकल्प लेखकों के लिए अधिक सम्माननीय नहीं होगा?

डॉ. सीतेश आलोक प्रवक्ता निवास, इन्द्रप्रस्थ कॉलेज, दिल्ली

## बधाई एवं साधुवाद

'संचेतना' का जून 1999 का अंक मिला। दलित साहित्य सम्बन्धी सभी लेखकों सर्वश्री श्यामराज सिंह चौहान, ओमप्रकाश वाल्मीकि, चमनलाल, जयप्रकाश कर्दम, देवेन्द्र चौधे, डॉ. एन. सिंह, डॉ. हरदयाल, डॉ. वीरन्द्र कुमार वसु, डॉ. तेज सिंह को हार्दिक बधाई।

संचेतना-परिवार को भी इन लेखों के प्रकाशन पर साधुवाद। 'संचेतना' ने दलित साहित्य के सम्बन्ध में जो जनचेतना पैदा की है, उसके लिए यह प्रशंसा की पात्र है।

माताप्रसाद

पूर्व राज्यपाल—अरुणाचल प्रदेश

शेखपुरा, पो. कचहरी, जिला-जौनपुर (उ.प्र.)

## साहसिक कदम

'संचेतना' ने पुरस्कारों की राजनीति पर जो गहरा विवेचन प्रस्तुत किया और साहित्यिक पुरस्कारों के अंधी राजनीति के शिकार होते चले जाने पर जो सही मुकाम पर अंगुली रखी, आज के दौर में यह एक साहसिक कदम लगा, किन्तु कभी-कभी अन्धेरे में रोशनी की किरण की तरह कहीं-कहीं निरोपक्ष भाव से भी पुरस्कारों का चयन दिखाई दे जाता है, जैसा कि टोणवीर कोहली जी ने अंक-147 में उनके उपन्यास के पुरस्कृत होने की बात कही है। स्वयं मेरी काव्य-रचना 'शब्दों के जंगल और जुगनू' पर मुझे अन्तर्राष्ट्रीय कला एवं संस्कृति परिषद, नजीबाबाद से वर्ष 1996 का 'माता कुसुम कुमारी हिन्दीतर भाषी हिन्दी साधक सम्मान' प्राप्ति की सूचना मिली, तब आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक था।

जनवादी चिन्तक डॉ. देवराज से जब मैंने पूछा कि मेरा नाम किसने प्रेषित किया था, तब वे मुस्कराए और बतलाया कि कैसे उनकी संस्था राष्ट्रीय ख्याति के साहित्यकारों, चयनकारों के विवेक पर निर्भर करती है और सारी प्रक्रिया तीन विभिन्न कमेटियों पर आधारित होती है, जिसमें डॉ. बालशैरी रेड्डी, डॉ. वीरन्द्र सक्सेना, डॉ. अर्जुन शतपथी, जी.जे. हरिजीत, डॉ. कर्ण सिंह चौहान और प्रो. सियाराम तिवारी जैसे वरिष्ठ

योग सम्मिलित रहते हैं।

'हिन्दी मानस और दलित लेखन' भी सार्थक लगा, किन्तु दलित साहित्य पर विशिष्ट सामग्री और पैना विश्लेषण अभी अभीष्ट है। दलित साहित्य बनाम ब्राह्मणवाद या हिन्दी मानसिकता को पर्यायवाची मानना अति सरलीकरण है, भले ही उसके सामाजिक-ऐतिहासिक कारण रहे होंगे। मुंशी प्रेमचन्द को हमने भुला दिया शायद....?

डॉ. राकेश प्रेम

ए-228, रणजीत एवेन्यू, अमृतसर-143001

## वेवाक अभिव्यक्तियां

यह अंक (जून '99) भी आग उगल गया। समय की मांग के अनुरूप आपको यह अभियान रंग लाकर छोड़ेगा। आपकी वेवाक अभिव्यक्तियां सबको चौकन्ना-संचेत करती जा रही है। क्रांतिप्रया की नजर है आपकी। हैफ हो रहा है सबको। अद्भुत सफलता का संकेत है यह।

डॉ. वीरन्द्र कुमार वसु

एल.के. कॉलेज, सीतामढ़ी (विहार)

## मानव सर्वोपरि है

होगा डोम द्राग लिखी कविता 'अकूत की शिकायत' बहुत ही मर्मस्पर्शी है। किसी अच्छी रचना की सशक्तता बहुत ही बढ़ जाती है जब उसमें भोगा हुआ यथार्थ या जिसे कहते हैं—हड्डिबीती हो। चाहे वह रचना किसी दलित ने की हो, उसे पूरा सम्मान मिलना चाहिए। पाठक तो हृदयंगम कर लेगे पर साथ ही साहित्य के पुरोधाओं को रचनाकार की जाति-पेशे पर ध्यान न देकर रचना की गुणवत्ता को स्वीकार करना ही चाहिए।

'हिन्दी मानस और दलित लेखन' पर आपने अपनी ओर से 'चन्द्रगुप्त' नाटक को दोषी ठहराया है कि उसने हिन्दी मानसिकता को पूर्वाग्रहों से भर दिया है, यह उचित नहीं प्रतीत होता। जयशंकर 'प्रसाद' ने नन्दकालीन मगध का सामाजिक-राजनैतिक वातावरण नाटक में उभागा है, इससे यह कतई संदेह नहीं बनता कि बौद्ध धर्म वेश्याओं,



पतितों और शूद्रों का धर्म है या कि बौद्ध अच्छूत है। ब्राह्मणवाद अति की गन्दगी फैलाता है तो क्षत्रियों द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। अगर मार्क्सवाद/साम्यवाद भी नियमों से च्युत होकर गन्दगी फैलाएंगे तो नष्ट हो जाएंगे। मानव सर्वोपरि है, मानवता सर्वोपरि है। अगर दलितों का राज्य हो जाए और वे सवर्णों को काटना शुरू कर दें तो उनका भी वही हाल होगा। अन्याय ज्यादा नहीं चल सकता। सत्य की विजय-घोषणा इसी वजह से है।

जसवीर चावला

1083/43 बी, चंडीगढ़-160022

## ताजगी देता दलित साहित्य

दलित साहित्य पर केन्द्रित अंक स्वयं में गागर में सागर है। 'हिन्दी मानस और दलित लेखन' पर आमंत्रित विभिन्न लेखकों की राय भिन्न हो सकती है मगर इस सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता कि दलित साहित्य हिन्दी साहित्य के बासीपन को दूर कर रहा है। इस दशक में दलित साहित्य की मांग में आशा के विपरीत इजाफा हुआ है। पाठकों की बढ़ती तादाद ने दलित साहित्य के विरोधियों की नींद हराम कर दी है। सच यह है कि दलित साहित्य आज के भारतीय साहित्य की प्रवृत्ति बन चुका है।

अंगद किशोर

अनुमंडल रोड, जपला, जिला-पलामू (बिहार)

## साहस के लिए आभार

आपने पुरस्कारों के मुद्दे के बाद दलित साहित्य के प्रश्न को भी गम्भीरता और जिम्मेदारी से लिया, इसके लिए आपके साहस और योगदान के लिए आभार।

श्यामराज सिंह बेचैन

आवास विकास कॉलोनी, वसुन्धरा, गाजियाबाद

## आवश्यक मुद्दा

'संचेतना' का जून, 1999 अंक देखा। इस अंक में 'हिन्दी मानस और दलित लेखन' का जो मुद्दा उठाया गया है, उसकी आवश्यकता

बहुत दिनों से महसूस की जा रही थी। सूरजपाल चौहान का आत्मकथा-अंश 'तबादला' बहुत अच्छा लगा। इससे हकीकत का पता चलता है। बाकी कहानियाँ और कविताएँ भी प्रशंसा की पात्र हैं।

मंजर सुलेमान

डॉ. जाकिर हुसैन कॉलेज, दरभंगा

## संजीदगी से उठाया गया सवाल

'संचेतना' का यह अंक (मार्च, 1999) बड़ा ही महत्वपूर्ण और मूल्यवान है। 'संस्कृतिकर्मियों की विश्वसनीयता' को पढ़ा और फिर-फिर पढ़ा। आपने साहित्य-संसार के अन्दर बड़ा ही ईमानदारी-भरा सवाल उठाया है। मैं आपकी इस बात से सहमत हूँ कि 'यदि साहित्य अथवा सम्पूर्ण समाज से जुड़े किसी प्रश्न को पूरी संजीदगी से सामने लाया जाए तो लोग अपना गहरा सरोकार अवश्य व्यक्त करते हैं और उसके साथ अपनी सक्रिय भागीदारी भी जोड़ते हैं।' इस बात को मैं अपने तीन-चार साथियों को देखकर कह रहा हूँ जिन्होंने शीर्षक देखकर सम्पादकीय को यूँ ही पढ़ लिया था और बोले कि इस सम्पादक ने यह बहुत ही निर्मम सच्चाई सामने रखी है। जब साधारण कैदी पाठक को यह बात छू सकती है तो प्रबुद्ध व संवेदनशील पाठकों को गहराई से सोचने पर मजबूर करेगी।

सुधीर

कैदी नं. 307, केन्द्रीय कारागार, आगवाड, कांदोलिम, बार्देश, गोवा

## कबीर तुलसीदास से बहुत आगे है

'संचेतना' (148) में प्रकाशित डॉ. हरदयाल का लेख 'हिन्दी मानस और दलित साहित्य' पढ़ा। उम्मीद थी कि लेख पढ़कर कुछ प्रश्नों की संतुष्टि होगी, लेकिन हुआ इसका उलट ही। डॉ. साहब ने लिखा है कि 'शब्दशः अस्पृश्य तो केवल मेहतर थे....चर्मकार, धोबी इत्यादि नहीं।' इस पंक्ति से एक तो उनके शास्त्रीय ज्ञान का पता चलता है दूसरे उनकी उदारता का। विश्व हिन्दू परिषद की भाषा में यदि वे थोड़े से उदार और हो गए होते कि असली हिन्दू तो केवल मेहतर समाज है जिसने मैला इत्यादि साफ करने का

गंदा कार्य तो स्वीकार किया लेकिन मुसलमान होना नहीं तो फिर वे घोषणा कर सकते थे कि भारत में कभी अस्पृश्यता की प्रथा रही हो तो उनकी दूसरी टिप्पणी कबीर के सन्दर्भ में

जहां वे लिखते हैं कि कविता की कलात्मकता ध्यान में रखें तो कबीर उतने बड़े कवि नहीं। यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि कबीर के बड़े होने का प्रमाण क्या उसकी कलात्मकता ही है? यदि यह सत्य है तो फिर रीतिकारों ने तमाम कवि बहुत बड़े मानने होंगे लेकिन वे कबीर के बड़े कवि क्यों नहीं माने जाते जितने भक्तिकाल के? यदि भक्तिकाल को ही लें तो सूरदास तुलसी से बड़े कवि है अपनी प्रतिभा और कलात्मकता दोनों में। 'सूर-सूर तुलसी ससों' के उक्ति अकारण प्रसिद्ध नहीं है। तुलसी किसी न के स्थापक या सम्राट नहीं, लेकिन सूर वास्तव में रस के सम्राट हैं। परन्तु 'पूजिए विप्र ज्ञान गुण हीना' जैसी पंक्तियों ने तमाम विप्र समीक्षकों को मोह रखा है। तुलसी के इन्हीं रूढ़िवादी विचारों के कारण बहुत से रूढ़िवादी समीक्षक उन्हें बड़े कवि घोषित करते हैं। ऐसे तमाम आलोचक कबीर अपने रूढ़िवादी संस्कारों से निपट ले और उनके बाद कबीर को बड़ा या छोटा कवि कहने का कोशिश करें तो बेहतर होगा। लेकिन जब बड़े या छोटे का पैमाना जातीय भावना होगी तो कबीर निश्चित ही छोटे कवि होंगे, बड़े नहीं। परम्परागत से ग्रसित कवि तुलसीदास अपने तमाम अन्तर्द्वेषों के बावजूद अच्छे कवि हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, लेकिन आधुनिक विचारों में तैस कवि कबीरदास उनसे बहुत आगे जाकर खड़े हैं। संकीर्णता से ऊपर उठकर ही कबीर के सही रूप को समझा जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि किसी कवि को भी बड़ा या छोटा घोषित करना महज जातिवाद का ही नमूना है क्योंकि बड़े और छोटे के सिवाय और जातिवाद की सोच है क्या?

महेन्द्र बैनीवाल

153/II, आर. के. पुरम, नयी दिल्ली-22



अपनी ओर से

# हिन्दी मानस और नारी लेखन

पिछले अंक में जब संवेतना की ओर से यह घोषित किया गया था कि आगामी अंक का मुद्दा—‘हिन्दी मानस और नारी लेखन’ रहेगा तो यह प्रश्न भी सहज ही उभरा था कि क्या लेखिकाओं को जिन स्थितियों से गुज़रना पड़ता है, वे उनसे कुछ भिन्न हैं जिनसे इस देश की सामान्य नारी को गुज़रना पड़ता है? हमारे समाज में नारी की स्थिति क्या रही है और आज क्या है, इस सम्बन्ध में हमने संवेतना के सितम्बर-दिसम्बर 1996 अंक में एक मुद्दा उठाया था—‘सवाल है नारी की अस्मिता का’। उस अंक में अनेक लेखक/लेखिकाओं/समाज शास्त्रियों ने इस विषय पर अपने विचार व्यक्त किए थे और इसी संदर्भ में संवेतना का संपादकीय लेख भी था।

पिछले अंक में मुद्दे की चर्चा करते हुए यह कहा गया था कि किसी भी समाज का मानस लम्बी अवधि में उसके धार्मिक/सांस्कृतिक संस्कारों, समाज को नियन्त्रित करने वाली विधियों और फिर सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों से बनते और पुष्ट होते हैं। अस्मृश्य समझी जाने वाली जित्तियों के सम्बन्ध में यही हुआ और नारी के सम्बन्ध में भी।

यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि समाज की एक सामान्य नारी हो, दफ्तर में काम करने वाली हो, सिर पर बोझा ढोने वाली मजदूरनी हो, स्कूल-कॉलेज में पढ़ने वाली छात्रा हो या अन्य किसी भी क्षेत्र की महिला हो—पुरुष का रवैया, उसकी दृष्टि, उसका मानस जैसा सामान्यतः होता है, वैसा ही उस क्षेत्र में भी दिखाई पड़ता है जिसे हम ‘संस्कृति-संसार’ कहते हैं। यह समझा जाता है कि संस्कृति-कर्म व्यक्ति समाज के अन्य वर्गों की अपेक्षा कहीं अधिक संवेदनशील होते हैं, वे उस सोच और विचार के संवाहक हैं जिनसे समाज के स्वस्थ मूल्य निर्मित होते हैं, ये लोग व्यक्ति के सम्मान, उसकी गरिमा और उसकी स्वतन्त्रता के पक्षधर ही नहीं, उसके प्रहरी भी हैं।

किन्तु ऐसा है नहीं। आम औरत को अपने बॉस, अपने मालिक, अपने जीविका-प्रदाता और बाज़ारू लफंगों से अपनी रक्षा करनी पड़ती है जिनकी भूखी लोलुप आंखें एक शिकारी की तरह उसके चारों ओर मंडराती रहती हैं। क्या लेखिकाओं तथा संस्कृति कर्म से जुड़ी महिलाओं को भी उन जैसी घिनौनी स्थितियों को झेलना पड़ता है? यह स्थिति उसकी सारी रचनात्मक क्षमता की अवहेलना करके केवल इसलिए उत्पन्न होती है कि नारी होने मात्र से वे उस मानसिकता की शिकार बन जाती हैं जो पुरुष को जन्मतः विशिष्ट समझे जाने के कारण उत्पन्न होती है।

अनेक लेखिकाओं के अपने निजी अनुभव न केवल अंचभित और आतंकित करने वाले हैं, वे हमारे वे सभी मुलम्मे उतार देते हैं जो हमने अपने आप को गौरवान्वित करने के लिए अपने ऊपर चढ़ाए होते हैं। प्रकाशकों, संपादकों, आलोचकों, सहयोगी लेखकों, विशिष्ट स्थितियों में पैर जमाए साहित्य के मठाधीशों द्वारा साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में प्रवेश करने को उत्सुक, उसमें अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने की आकांक्षी महिलाओं का किस प्रकार शोषण करने का प्रयास होता है, कृष्णा अग्निहोत्री जैसी कुछ लेखिकाओं ने अपनी आत्मकथा में इसका उल्लेख किया है। इसमें सर्वाधिक विद्रूपतापूर्ण स्थिति यह है कि पहले कोई स्वनामधन्य लेखक अपनी विशिष्ट स्थिति और लोकप्रियता का लाभ उठाकर महिलाओं का भरपूर शोषण करने के लिए सभी प्रकार के लुभावने प्रपंच रचता है, बड़ी अबोध मुद्रा बनाकर अपनी पुरुषजनित लालसाएं पूरी करता है और फिर अपने संस्मरण लिखकर अपने आपको गर्वित महसूस करता है।

हम सभी एक ऐसे स्वस्थ समाज की कल्पना करते हैं जहां स्त्री-पुरुष उन्मुक्त मन से, कुंठारहित होकर एक दूसरे से मिलते हैं और एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हैं। ऐसे समाज में सहकारिता और सहभागिता ही महत्वपूर्ण होती है और सहकर्म का पुरुष या स्त्री होना हमारे मन की जकड़न नहीं बन जाता है। वहां किसी की प्रतिभा और उपलब्धि इसीलिए दोयम दर्जे की नहीं बन जाती है कि वह औरत है। और यह भी कि किसी को इसीलिए नहीं उछाला जाता है, अथवा अनावश्यक प्रश्रय दिया जाता है कि वह औरत है। ऐसा समाज सबसे पहले संस्कृतिकर्मियों के बीच पनपता है अथवा पनप सकता है। क्या रूढ़ मानसिकता में जन्मे-पले लोग, अपनी समस्त मृज्जन्शीलता के बावजूद, ऐसा स्वस्थ मन बना सके हैं?

संवेतना के इस अंक में बारह लेखिकाओं की प्रतिक्रियाएं दी जा रही हैं। अपने देश की नारी सदियों से अन्याय सहती रही है और चुप रही है। संस्कृतिकर्मी महिलाएं (विशेषरूप से हिन्दी मानसिकता में पली हुई) भी इसका अपवाद नहीं हैं। इसके बावजूद इन लेखिकाओं ने इस परिचर्चा में खुलकर भाग लिया है और अनेक खतरे उठाकर अपनी बात कही है। जिस देश में अन्याय को चुपचाप सहना ही स्वभाव बन गया हो, वहां ऐसी प्रतिक्रियाएं स्वागत-योग्य हैं।



• सुधा अरोड़ा

## महिला रचनाकारों की एक समानांतर मेनस्ट्रीम खड़ी हो रही है!

इसमें सन्देह नहीं कि पिछले चार दशकों से विश्व की हर भाषा में महिला रचनाकारों की संख्या में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हुई है और इसलिए आज हर भाषा के नारी लेखन को लेकर अलग से बातचीत करने की जरूरत महसूस की जाने लगी है। इन्हें स्वीकृति देने के साथ-साथ आरोपों के कटघरे में भी खड़ा किया जाता रहा है। कहा गया है कि इनके विषयों का दायरा बहुत सीमित है, इनके लेखन में वैविध्य नहीं है, ये सिर्फ घर की चौहद्दी में कैद समस्याओं पर ही अपनी लेखनी चलाती हैं। चूंकि घर और बाहर के क्षेत्रों में बाहर के मुकाबले घर को अपेक्षाकृत छोटा, सीमित, तंग और दोगम दर्जे का 'स्पेस' माना गया है, इसलिए महिलाओं के लेखन को या तो कम महत्वपूर्ण माना जाता है या उसका एक खास रियायत के साथ ही उल्लेख किया जाता है। यह कुछ-कुछ ऐसा ही है जैसे किसी कमजोर या अपुष्ट बच्चे को रियायत देकर उसके विकलांग होने को नज़रअन्दाज़ करते हुए उस पर सहानुभूति जताना। पचास के दशक के बाद की हिन्दी कहानी पर किसी भी गवेषणात्मक आलेख को उलट लीजिए, एक सिरे से लेखिकाओं के नाम गायब मिलेंगे। कहानी में आई किसी भी अवधारणा या प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए जो भी उदाहरण दिए जाते हैं, वे सब पुरुष लेखकों की कहानियों के माध्यम से ही दिए जाते हैं। हर शहर के हर सेमिनार में यह सेग्रिगेशन या अलगाव का रवैया अपनाया जाता है। या फिर हर आलेख के अन्त में आलोचक निहायत दरियादिली के साथ बतौर उपसंहार एक अन्तिम पैराग्राफ आज के महिला लेखन पर चर्चा कर देता है और महिला रचनाकारों की बड़ी तादाद से पांच-सात के नाम गिनाकर महिला रचनाकारों को उपेक्षित करता है। कहानी के समीक्षकों ने तो महिला लेखन को परिशिष्ट मानकर यह नाकेबंदी शुरू से कर ही रखी है, कुछ महिला रचनाकार भी इसकी हिमायती हैं कि लेखन लेखन होता है—नर या मादा नहीं! सिमोन द बुवा का एक उदाहरण याद आ रहा है कि 'एक लेखिका ने अपनी तस्वीर अन्य लेखिकाओं के साथ खिंचवाने से यह कहकर इन्कार कर दिया कि वह अपनी गणना पुरुष लेखकों में करवाना चाहती है।' अपने आपको पुरुष के रूप में स्वीकारना चाहने वाली और पौरुषीय उपलब्धियों तथा सम्मान का दावा करने वाली महिलाएं दरअसल पुरुष की नकल कर पुरुष जैसा होना चाहती हैं। यह चाह वास्तव में पुरुष के प्रति सम्मान और नारी सुलभ कमजोरी के प्रति सतर्कता के कारण ही स्त्री में पैदा होती है।

कुछ लेखिकाएं कहती हैं कि उन्हें दूसरे दर्जे के महिला आर्टिस्ट डिब्बे में डाल दिया जाता है, उनकी चर्चा 'मेनस्ट्रीम' में होनी चाहिए यानी हम यह मानकर चलते हैं कि पुरुष लेखक ही मेनस्ट्रीम लेखक है। इस मेनस्ट्रीम में शुमार किए जाने की चाह प्रकाशनात्मक पुरुष वर्चस्व को ही बढ़ावा देती है। जबकि (कड़वी?) सच्चाई यह कि महिला रचनाकारों की एक समानांतर मेनस्ट्रीम खड़ी हो रही है।

वर्तमान समय में हिन्दी कथा-साहित्य को एक महत्वपूर्ण है—महिला कथाकारों की कलम से अपने समय का सही आकलन करते हुए समृद्ध और विचारशील साहित्य का सृजन। एक समय जब महिलाओं के लेखन को घर-परिवार की चहारदीवारी में कैद और समाज की प्रमुख समस्याओं से कटा हुआ फुरसती लेखन मानकर एक विशिष्ट (या दोगम?) दर्जा देकर उसके साथ रियायती व्यवहार किया जाता था। यह स्थिति तीन दशक पहले के मराठी साहित्य में दलित लेखन की याद दिलाती है जब उसे सवर्णों द्वारा हेय दृष्टि में देखा जाता था। आज वही दलित साहित्य मराठी साहित्य की मेनस्ट्रीम में शामिल हो चुका है। यह सुखद है कि महिलाओं द्वारा रचे गए साहित्य का पिछले कुछ वर्षों से ऊर्ध्वमुखी विकास इस वक्तव्य को खारिज करता है कि पढ़ी-लिखी उच्च मध्यवर्गीय महिलाएं अपने सम्मान पतियों की संभ्रान्तता की बदौलत दुपहर की फुरसत में कल घसीटती हैं या चित्रकारी करती हैं। लेखक-संपादकों के ऐसे वक्तव्य पढ़कर देवोरा कैमरॉन की एक उक्ति याद आती है कि 'लेखक एक तंत्र है और अधिकांश तंत्रों की तरह इस पर भी शक्तिशाली वर्ग ने एकाधिकार जमा रखा है।'

रही बात आलोचना की तो हिन्दी आलोचना तो शुरू से ही पूर्वाग्रही और पक्षपातपूर्ण रही है। सिर्फ लेखिकाएं ही नहीं, बहुतेरे प्रतिभावान लेखक (सूची बहुत लम्बी है) भी इसके शिकार होकर हाशिए पर धकेल दिए गए हैं। वहीं बहुत से मीडियाकर्ता/आलोचक-पत्रकार भी पद, सत्ता तथा साहित्येतर कारणों से न सिर्फ वर्ग में बने रहते हैं बल्कि पुरस्कारों और सरकारी उपाधियों से विभूषित किए जाते हैं। इसमें भी सन्देह नहीं कि कुछ लेखिकाओं की चर्चा उनके नारी होने के कारण ही अधिक होती है क्योंकि हमारी लेखने-पढ़ने का आचार संहिता ने कुछ बाड़े बना रखे हैं और कुछ विषयों पर महिलाओं का कलम उठाना वर्जित मान लिया गया है। उन पर अगर कोई महिला कलम उठा ले तो उसे एक गलत किस्म की चर्चा का जोखिम उठाना ही होगा। इसमें आलोचकीय मानसिकता की चर्चा विवृति नहीं, पूर्वाग्रह ही आड़े आता है।

अब तक औरत पुरुष लेखकों की रचनाओं का विषय बनती रहीं हैं। उसकी व्यथा-कथा भी कवि या लेखकों द्वारा कही जाती रही। अब उसने स्वयं अपने बारे में कहना-बोलना शुरू किया है। यह एक



ऐतिहासिक बदलाव है जो बहुत पुराना नहीं है। इस बदलाव के प्रति सामंतवादी रवैया रखने वाले लेखकों-आलोचकों का प्रतिरोध तो बहुत स्वाभाविक है।

हिन्दी में नारीवादी लेखन की शुरुआत हो चुकी है और जब तक इसके लिए कोई दूसरी पारिभाषिक शब्दावली ईजाद हो, इस 'वाद' से खौफ खाने, बचकर मध्यममार्गी रुख अपनाने या परहेज करने की कतई जरूरत नहीं है।

### • सुनीता जैन

## शायद ही कहीं ऐसा रुग्ण मानस हो

### पहला किस्सा

मेरी पहली पुस्तक 'बौजू' (उपन्यास) छपकर आई है। मां को मैं उसकी एक प्रति देती हूँ। मां बहुत पढ़ी-लिखी नहीं है पर उसमें एक उदात्त नारी है। मेरी विधवा मां अपने हाथों की चार सोने की चूड़ियों में से दो उतार कर मेरे हाथ में पहना देती है। असीसती है। उसे लगता है, उसकी बेटी ने कुछ अनहोना किया है—कुछ अच्छा, कुछ महत्वपूर्ण!

कुछ दिन पीछे मां मिलती है। घबराई हुई है। कुछ डरी, कुछ शंकिता, कुछ-कुछ मेरे लिए चिन्तित। 'क्या हुआ?' पूछती हूँ। कहती है, सबसे बड़ा भाई और मझले की पत्नी आए थे। उपन्यास को लेकर बहुत आपत्ति कर रहे थे कि मैं उनकी कहानी—घर की कहानी बाहर कहने लगी हूँ। घर की बदनामी का कारण बनूंगी। मुझे सख्ती से रोका जाए। 'तुमने क्या कहा?' पूछती हूँ। मां रोने लगती है। 'चिन्ता मत कर उनकी जो तुझे करना है, कर।' वह कहती है।

### दूसरा किस्सा

मां की मृत्यु से तीन महीने पूर्व नवभारत टाइम्स (शायद मार्च 1994) में समाज में मांओं की गम्भीर स्थिति को लेकर मेरी एक कविता छपती है—

कितनी बूढ़ी हो गई है मां

कितनी अवस्था

पैर एक उठता है तो जैसे दूसरे को

होती नहीं खबर

हाथ एक उठता है उठा ही रह जाता है

मां देखती है निरीह, टुकर टुकर....

परिवार के एक पुरुष सदस्य की दृष्टि कविता पर पड़ती है और वे उसे काटकर रख लेते हैं। पहली जुलाई को मां नहीं रहती। अक्टूबर या नवम्बर में एक भाभी फोन करती है। उस कविता का हवाला देती है और कहती है कि मैं उन सबकी पब्लिक इन्स्टल्ट कर रही हूँ और वे मुझसे सम्बन्ध विच्छेद करती हैं। पूछती हूँ—'आप तो अखबार पढ़ती नहीं, कविता कहां से पढ़ ली?' (नहीं पूछती—कविता समझ

कैसे ली?) फोन पटकने से पहले वे कहती हैं—'फला सम्बन्धी ने लाकर दी।'

ये दोनों किस्से नारी लेखन को लेकर भारतीय मानस का खासा खरा चित्रण है। इसके पीछे एक लम्बी परम्परा है, या मानसिक तैयारी, जिसमें पूरा समाज सक्रिय है। जब विवाह-योग्य लड़की के गुण गिनवाए जाते हैं तो लड़कों या लड़के वालों को सबसे रुचने वाला गुण होता है—'अरे, गऊ है, मुंह में जुवान तो है ही नहीं।' इस जुमले की सामाजिक अर्थगर्भिता पर ध्यान दीजिए—

लड़की बोलेगी नहीं

बोलना नहीं जानती

जानती है कि उसे नहीं बोलना

राजी नरसिंहन का उपन्यास 'फारएवर फ्री' इसी तथ्य को लेकर है। नई-नई बी.ए. पास लड़की मुहागरात को पति के द्वारा नख-शिख परखी जाती है और पति ज्योतिष लगाता है कि तुम्हारे शरीर पर फलां चिह्न है, तुम विवाह के बाहर पुरुषों से रमण करोगी...। भयमारी लड़की जब कुछ बोलना चाहती है तो वह वितृष्णा से भर उससे अलग हो जाता है, कहता है—'तुम बहुत बोलती हो।' संभोग के क्षण में लड़की का बोलना उसकी सबसे भयानक कुरूपता है, इतनी भयानक कि पति की इच्छा ही मर जाए।

पति का नाम लैन से उसकी आयु का एक दिन घट जाता है, यह अक्सर लड़कियों को किसी न किसी रूप में सिखाया जाता है—कभी खुलासे में, कभी बस यह कह कर, 'छिः पति का नाम नहीं लेते।' 'सुनिए जी', 'ए जी' कहने वाली लड़की के मानस पर गौर किया जाए—वह कचहरी में अपनी पहचान क्या बताए, यदि पति का नाम (W/o) ही न बता सके? इसलिए वह समझ ले कि उसकी कोई पहचान नहीं 'कल्लू की मां' या 'लल्लू की चाची' के अतिरिक्त।

इतनी लम्बी तैयारी के बाद जब आधुनिक या कोई पुराना नारी (मीरा) कुछ 'बोलना' यानी कहना, यानी लिखना चाहती है तो पहली प्रतिक्रिया होती है—कहीं समीकरण विगड़ा है या मानसिक सन्तुलन या इसकी परवरिश वैसी नहीं हुई जैसी सम्भ्रान्त परिवारों में होती है। यानी 'वेअक्ल' है। मैं दावा करती हूँ कि हिन्दी क्षेत्र का शायद ही कोई पढ़ा-लिखा पुरुष लेखिका पत्नी का पति होने का दबाव (या शर्मिन्दगी!) सह पाता हो। अपवाद एकाध होंगे।

लड़की की जुबान जहां इतनी चालाकी से काटी गई हो—न बोलना, कम बोलना, कुछ न कहना जहां उसका बड़ा आभूषण हो, वहां लिखना, जो एक 'पॉलिटिकल एक्ट' है (वकौल सलमान रुशदी)—एक ऐसा काम जो यथास्थिति के विपरीत या उससे भिन्न सत्य को उद्घाटित करता है, एक बड़ी विपद् को आमंत्रण तो है ही। यह स्त्री 'लेखिका' है, सुनकर हिन्दी का सामान्य पुरुष और महिलाएं सामने तो मुंह बिचकाते ही हैं, पीठ पीछे ठहाके लगाते हैं। पुरुष



आलोचकों की शराबी शायों का सहर ही व्यर्थ हो जाए, यदि निन्दा पुराण में किसी 'लेखिका' को आड़े हाथों न लिया जा रहा हो या उससे भी आगे चलकर उसके निजी जीवन या उससे अपनी अपेक्षाओं को लेकर सीधे-सीधे निर्वसन न किया जा रहा हो।

इसी शहर के एक जाने-माने पुरुष पुरोधा ने पिछले वर्ष (सन 1998) की सर्दियों में एक बार रात के एक बजे फोन पर 'मैं बहुत पिए हुए हूँ और आपका एक गहरा चुम्बन लेना चाहता हूँ,' कहकर हिन्दी मानस का नग्न रूप ही चित्रित किया। तिस पर उसी सुबह सबेरे-सबेरे उनका एक और फोन—'माफी चाहता हूँ, आप चाहें तो हमारे यहां कुछ कविताएं छपने के लिए दे दें।'

स्पष्ट कर दूँ कि फोन करने वाले सज्जन मुझसे वय में बीस वर्ष छोटे तो हैं ही, मेरा उनसे कभी घर या दफ्तर तक में आना-जाना नहीं रहा। परिचय केवल बड़ी साहित्यिक गोष्ठियों तक। शायद ही किसी कल्चर में इतना भयानक पतन, इतना रुग्ण मानस मैंने देखा हो। इसमें महिलाएं और पुरुष दोनों समान रूप से भागीदार हैं।

इस फोन के भीतर की मानसिकता में झांकने पर जो स्पष्ट समझ में आता है, वह है—

'जो औरत लिखती है, वह घर की चारदीवारी की सुरक्षा में नहीं है। 'बोल' कर उसने अपने सम्मान की सीमारेखा का उल्लंघन कर लिया। अब वह एक क्रय योग्य वस्तु (Commodity) है जिसे जब चाहो, अपमानित-आमंत्रित कर लो।'

इसमें इसी कोटि की स्त्री की मानसिकता को भी जोड़कर पुरुष की सोच का नमूना कुछ यों बनता है—

'अपमान जैसी कोई बात हो ही नहीं सकती, क्योंकि छपास की मारी लेखिका छपने के लालच में, पुरस्कार के लालच में उसे अपमान मानेगी ही नहीं। न किसी से कहेगी।'

यह और बात है कि उस पुरुष से इस लेखिका ने कहा कि तुम्हारे जैसा निकृष्ट व्यक्ति जब तक उस पत्रिका में है, मेरा लिखा कुछ भी वहां नहीं छपेगा। न छपा।

यहां बात स्वयं को महिमामंडित करने की नहीं, एक बहुत गहरे रोग या मानसिक ग्रन्थि की है। दोयम दर्जे की आदी हो गई नारी को अपने लेखन पर स्वयं ही विश्वास नहीं। हिन्दी जगत में यह आकस्मिक नहीं है कि जो नाम नारी लेखन में बचे रहते हैं, उनमें से अधिकांश के पीछे साहित्येतर कारणों के ठोस प्रमाण हैं। किसी को आपत्ति नहीं कि नारी लेखन अतिरिक्त-परितोषित (Over-rewarded) क्यों है। सबको चिन्ता उपेक्षा की है। उपेक्षा कोई बुरी बात नहीं। किन्तु मैं 'अतिरिक्त परितोषण' पर अधिक ध्यान देना चाहूंगी। कृपापात्रों को अतिरिक्त परितोषित करना ही वह अचूक सामन्तवादी अस्त्र है जिससे हिन्दी मानस स्वयं अपनी और हिन्दी साहित्य की घोर क्षति करता है। अन्यथा क्या कारण है कि यह करोड़ों का खदबदाता समाज किसी

पुस्तक की मात्र पांच सौ प्रतियां भी पचा न पाता! जबकि इसी देश अरुंधती राय की पुस्तक की एक लाख और तसलीमा नसरिन की पुस्तक की इससे भी अधिक प्रतियां बिकीं। कारण यह कि अरुंधती राय या तसलीमा नसरिन हिन्दी मानस के लिए कोई खतरा नहीं। वे कभी भी बक-झक कर सकती हैं, भाई-बहन का संभोग दिखा सकती हैं, गाली-गलौज कर सकती हैं, पर हिन्दी की लेखिका यदि किसी द्वारा बलात्कारित पत्नी की यातना का मानस-चित्र तक वर्णित करे तो उसे 'अति अश्लील' करार देकर जेल तक भिजवाया जा सकता है। (चित्तकोवरा)।

जब 'चित्तकोवरा' जैसा काव्यात्मक उपन्यास, अश्लील कहा है और उसकी खुद्दा और स्वाभिमानी लेखिका को इसलिए कठोर में खड़ा किया जाता है कि वह अतिरिक्त-परितोषित महिलाओं की पंक्ति में बैठने वालों की पंक्ति में नहीं, तो इस रुग्ण मानस का कायाकल्प के लिए एक बहुत लम्बे आत्मनिरीक्षण-परीक्षण की टाक है। मुझे नहीं लगता कि ऐसा कभी भी संभव हो पाएगा। हिन्दी लेखन को इस बीच घर और सामाजिक मानस के दोहरे पाट में फँसा तो है ही। स्वयं अपनी लालसाओं और उद्देश्य दोनों के बीच धीरे की सीमारेखा खींचे रखना है। याद रखना है कि किसी के कृपा होने से उपेक्षित होना कहीं अधिक सम्माननीय है।

## • मृदुला गर्ग

### अहमन्यता या भय?

पुरुष आलोचक या समीक्षक की अहमन्यता या संकुचित सोच पर आपत्ति उठाते ही प्रत्युत्तर मिलता है, तो स्त्रियां खुद आलोचक क्यों नहीं लिखती? लिखें भी तो जरूरी नहीं है कि कोई मूलभूत अन्तर आए। कम-से-कम तब तक नहीं आएगा, जब तक वे पुरुष मानस से संचालित रहेगी। चाहे वह नकार के रूप में ही क्यों न हो यहाँ यह याद रखना चाहिए कि पुरुष मानस से हमारा मतलब पुरुष के मानस से नहीं, पितृसत्तात्मक समाज में स्वीकृत मानस से है। चाहे तो उसे पुरुषोचित कह लें। लम्बी अवधि से स्थापित होने के कारण अपने प्रभामंडल में पुरुषों को ही नहीं, स्त्रियों को भी समेटे रहता है। जब स्त्री आलोचना या समीक्षा करती है तो बहुत बार वह भी उस पुरुष मानस की शिकार रहती है जो एक छोर पर, हर स्त्री की रचना को हाशिये या पुनश्च में डाल देता है; और दूसरे छोर पर, रचना के स्त्री होने न होने को रचना के कथ्य और निर्वाह से ज्यादा अहम देने लगता है। दोनों स्थितियों में, रचना का पूर्वाग्रहयुक्त अवमूल्यन होता है, जो सही मूल्यांकन की जरूरत को नकार देता है।

कहा जाता है कि अपने अंतरंग अनुभवों और सहज प्रतिक्रियाओं



को ले कर स्त्रियाँ साहित्य में हाल-फिलहाल ही मुख्य हुई हैं, इसलिए पुरुष मानस को उसे जानने-परखने के लिए नए प्रतिमान और सिद्धान्त गढ़ने होंगे। यहां तक तो ठीक है पर इसके बाद अगला कदम यह होना पड़ेगा कि ये नए प्रतिमान पूरे समकालीन साहित्य पर लागू किए जाएं, केवल स्त्रियों द्वारा लिखे साहित्य पर नहीं। ऐसा नहीं हुआ और स्त्री व पुरुष लेखन को अलग कसौटियों पर परखा जाता रहा तो मूल्यांकन उतना ही पक्षपातपूर्ण और असंगत रहेगा, जितना आज है। क्या यह एकदम सीधी-तार्किक बात नहीं है कि अगर सचमुच आप मानते हैं कि स्त्रियाँ जो लिख रही हैं, वह स्वीकृत भावबोध, जीवन-दर्शन, इतिहास-दृष्टि व चेतना को नए अर्थ दे रहा है तो उसका असर पूरे साहित्य-लेखन और साहित्यालोचन पर पड़ना चाहिए।

चूँकि हम मन से परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते; केवल उदारमना कहलाने के लालच में स्त्री-विमर्श की बात करते हैं, इसलिए होता यह है कि स्त्री ठीक किस तरह पुरुष सत्ता का विरोध करे, वह भी पुरुष मानस ही तय करता है। 'स्त्री' उपसर्ग से विभूषित तमाम साहित्यकारों को एक खांचे, हाशिये या पुनश्च में घुसेड़ दिया जाता है। फिर अपेक्षा की जाती है कि वे उदार पुरुष-मानस के निर्धारित दायरे से बाहर जाकर विद्रोह न करें।

विद्रोह की विकृति देखनी हो तो पश्चिमी संस्कृति में देखें। जैसे ही वहां स्त्री ने अपनी सैक्सुएलिटी का इज़हार किया, पुरुष मानस ने नारी-मुक्ति के नाम पर उस पर अपनी पसन्द की सेक्स-केन्द्रित मानसिकता थोप दी। सेक्स के किसी भी रूप को 'न' कहना, उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति के विरुद्ध बना कर पेश किया जाने लगा। पुरानी से भी ज्यादा तकलीफ़देह जकड़न वाली नई छवि में उसे चरप्पा कर दिया गया। उस सामान्यीकृत मुखौटे को उतार फेंकने में उसे बरसों लग गए और सच कहें तो आज भी वह उससे मुक्त नहीं हो पाई है। जब भी कोई मुखौटा किसी पर चरप्पा किया जाता है तो उसका मतलब होता है—नैसर्गिक वैविध्य से इनकार। जहां विविधता की अनुमति नहीं होती, वहां स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। साहित्य के क्षेत्र में हुआ हर अन्याय कहीं-न-कहीं वैविध्य का हनन करता हुआ चला है।

इसमें शुबहा नहीं है कि स्त्री रचनाकारों की श्रेष्ठतम कृतियों की समीक्षा चर्चा व समीक्षा न करना, अन्याय है। उन्हें हाशिये में फेंकना अन्याय है। पर उससे भी बड़ा अन्याय तब होता है, जब उस हाशिये के भीतर अनेक अदृश्य हाशिये खींचे जाते हैं। और नकार के सरलीकृत, सामान्यीकृत स्वरूप से अलग पड़ने वाली, सशक्त स्त्री-रचनाओं को उनके हवाले कर दिया जाता है। रेखा खींच कर बनाया गया हाशिया कम-से-कम दीखता तो है। जब-तब, उस पर नज़र डाल कर सांस्कृतिक सत्ता अपनी अनुदारता पर आंसू बहा देती है, भविष्य में उदार होने का संकल्प कर लेती है। पर अदृश्य हाशिये में फिंकी नई राह तलाशने वाली सबल रचनाएं गुमनामी के गर्त में दम

तोड़ देती हैं। और दीखते हाशिये में से जब-तब चुनी जाती अपेक्षाकृत कमज़ोर या सतही रचनाएं पुरुष मानस के लिए सार्थक चुनौती नहीं बन पाती।

वैविध्य के जीवनोपयोगी महत्व को सबसे अच्छी तरह जैव-सम्पदा के उदाहरण से समझा जा सकता है। आज हर इन्सान जान चुका है कि जैव-सम्पदा की विविधता का नाश होता है तो प्रकृति में रोग और विकार उत्पन्न होने लगते हैं; पर्यावरण का हास होता है और अन्ततः जैविक सम्पदा स्वयं नष्ट होने लगती है। उसी तरह साहित्य-सम्पदा से भी जब वैविध्य का विनाश हो जाता है तो वह अशक्त, विकृत और मृतप्राय हो जाती है। साहित्य का तो सत्व और स्वत्व ही वैविध्य है। साहित्य लिखा ही इसलिए जाता है क्योंकि हम यथार्थ के एकांगी, विरूपित, सरलीकृत और तानाशाह स्वरूपों से संतुष्ट नहीं होते; उन पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं; उनमें इतर एक अधिक न्यायोचित और काव्यात्मक तर्क पर खरा उतरने वाला संसार बना देखना चाहते हैं। अपनी रचना में हम यथार्थ को परिमार्जित कर के वह संसार रचते हैं, जो अन्ततः यथार्थ को अपने सांचे में ढालने की पेशकश भी कर सकता है।

पता नहीं यह पुरुष की अहमन्यता है या उसका भय, जो उसे स्त्री रचनाकारों की उपलब्धियों को ग्रहण नहीं करने देता। हम जानते हैं कि जंगल में कोई नई प्रजाति घुस आती है तो सारे जानवर एकजुट होकर उस पर हमला बोल देते हैं। पर उसका आगमन फिर भी बरकरार रहता है तो धीरे-धीरे उसे बर्दाश्त करना सीख लेते हैं। स्त्री-उपलब्धि पुरुष मानस को कुछ इसी तरह आक्रान्त करती है। कुछ रचनाएं ऐसी होती हैं कि साहित्य-मानस जान जाता है कि इनसे निबटने के लिए उदार अनुकम्पा काफ़ी नहीं होगी। ये दिलोदिमाग को झिंझोड़ेंगी और नए सौंदर्यबोध और सिद्धान्त की मांग करेंगी और पुरुष मानसिकता में सृजित किए जा रहे साहित्य को नए सिरे से परखेंगी। बस इसी भय से विह्वल हो कर वह यथास्थिति को कायम रखने के लिए हर मुमकिन दांवपेंच लगा रहा है। एक दांव जो खूब लगाया जाता रहा है, वह है, अनेक में से एक या दो स्त्री-रचनाकारों को अलग करके अपने खेमे में पनाह देना। तमाम बाकी रचनाकारों को एक दड़बे में घुसा कर बाहर से ताला मार देना। और अपने खेमे की सहयोगी स्त्रियों को उनके पहरे पर तैनात रखना। बांट कर मिटाने का खेल हमारे साथ अंग्रेज शासकों ने इतना खेला कि देखा-देखी सभी भारतीय सत्ता-खिलाड़ी उसमें माहिर हो गए।

यह अहमन्यता नहीं, भय है। इसका एक सबूत यह है कि समीक्षक स्त्री की कृति की समीक्षा करते हुए अर्थ का अनर्थ करने को मजबूर होते हैं। संदर्भ से काट कर कुछ वाक्यों या पृष्ठों को लेते हैं और उन्हें रचना का कथ्य घोषित करके रचनाकार को निन्दित करने की कोशिश करते हैं। मैं सोचती थी, पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में शायद



कोई अन्तर आया हो, पर नहीं आया। अपने अनुभव में से उदाहरण दे रही हूँ। 1996 में मेरा उपन्यास 'कठगुलाब' छपा। 240 पृष्ठों में एक वाक्य है, जिसमें एक स्त्री प्रवक्ता नारी-मुक्ति आंदोलन पर टिप्पणी करते हुए सोचती है, इसका निदान समलैंगिकता नहीं है। 'पहल' पत्रिका के एक लेख में समीक्षक ने इस एक वाक्य के बल पर उपन्यास का कथ्य बनाया समलैंगिकता का समर्थन! उसकी भर्त्सना करके समीक्षा की इतिश्री कर दी गई। क्या यह वैसा ही नहीं है जैसा यह कथन कि चूंकि रामायण में एक स्त्री (सीता) का अपहरण दिखलाया गया है, इसलिए उसका कथ्य है स्त्री के बलात् अपहरण का समर्थन? सीता-अपहरण पर तो फिर भी कई पृष्ठ लिखे गए थे, यहां तो गाज एक वाक्य पर पड़ गई!

• राजी सेठ

## रचना की गुणवत्ता पूर्वाग्रहों को काट सकती है

'हिन्दी मानस और नारी लेखन' के मुद्दे को लेकर आपकी उठाई कुछ बातें सच हैं और कुछ सच नहीं भी हैं। लेखन स्वैच्छिक कर्म है, जब कोई व्यक्ति अपनी कर्मभूमि में उतरता है तो वह अपनी इच्छा से ऐसा करता है। तब उसके सुख-दुख भी उसी कर्म में शामिल होते हैं, अतः उन्हें लेकर लगातार पीड़ित मानसिकता में बने रहना कहां तक ठीक है। उससे लेखन का नुकसान ही होता है। लेखन कर्म के लिए आवश्यक तटस्थता और निष्कामता की मनोभूमि नहीं मिल पाती। निष्काम भाव का होना बहुत जरूरी है, क्योंकि लेखन की प्रकृति ऐसी है कि तुरन्त-फुरत फलदान नहीं देता। लिखते समय अपना अनुभव और ज्ञान, अपना एकांत और कलात्मक उपकरणों की क्रियाशीलता सामने होती है। इसी समन्वित समीकरण में से किसी गुणवंत स्तर की उपलब्धि हो पाती है जो अंततः साहित्यिक संसार में लेखक का दर्जा तय करती है। ये लेखन के क्षेत्र की सामान्य दशाएं हैं जो स्त्री-पुरुष दोनों पर लागू होती हैं।

स्त्रियों की जातीय स्थिति का मुद्दा वस्तुतः सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र का मुद्दा है जिसमें पुरुष-वर्चस्व की परंपरा, रूढ़ियां, आर्थिक स्तर, सत्ता-समीकरण, शिक्षा-दीक्षा, स्वायत्तता के अधिकार के मुद्दे कारण रूप में हैं जिन्होंने समाज में स्त्रियों के प्रति पक्षधर मानसिकता तैयार की और बहुत-सी प्रवृत्तियां जड़ जमाती गईं, जिनके विरुद्ध कई स्तरों पर संघर्ष जारी है। इसके जारी रहने के पीछे स्त्री का शिक्षित रूप और अपने स्वातन्त्र्य के अधिकार की समझ भी एक आधारभूत स्तर है जिसे लेखक स्त्री कई तरह से सम्भव बना रही है। स्त्रीत्व के

सामूहिक पक्ष पर विचार करते समय लेखक स्त्री को भी उस वैचारिक नीचे खींच लाना मुझे ठीक नहीं लगता, क्योंकि लेखक सामाजिक-सांस्कृतिक व्याधियों की बनाई स्त्री का पूरी तरह प्रतिनिधित्व नहीं करती। लेखक स्त्री शिक्षित, आत्मसम्मान, स्वतन्त्रमना, संघर्षशील और संकल्पवान है और अपने जागृत रूप से स्त्रियों की समस्याओं का समाधान रूप प्रस्तुत कर रही है। उसके हवाले से स्त्रीत्व के सामुदायिक 'क्षोभ का परीक्षण और पैरवी करना ठीक नहीं।

यह भी ठीक नहीं होगा कि स्त्रीत्व पर शोषण, अत्याचार, निर्यात की बात करते-करते हम लेखक स्त्री की लेखकीय कठिनाइयों को उसी झंडे के नीचे घसीट ले आएँ और उन सबीलों को उसी पीढ़ी मानसिकता से तय करने की कोशिश करें। उसकी कठिनाइयां अभिव्यक्ति पर आंतरिक अंकुश की कठिनाइयां हैं, जिनसे वह रचनात्मक रूप में अपनी तरह से निपटती है। एक स्वतन्त्रमना लेखक स्त्री को आकलन के दान-दया की जरूरत नहीं होती, न ही वह आलोचकों की कृपाकांक्षी होती है। धारा में खड़े होने के साहस और संकल्प के बिना तो वह अपने कर्म का निष्पादन नहीं कर सकती। आपके ही शब्दों को उठाऊँ तो 'स्त्री-लेखन को चर्चा और सहज स्वीकृति' न मिलने की शिकायत की गई है, पर यह जानना जरूरी है कि क्या उसे ऐसी गुंजाइश मिले कि ऐसा अनुग्रह चाहिए? क्या वह दान के धन से अपनी आस्था को अधुण्ण रखना चाहेगी? सोचना यह है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि स्त्री की जातीय समस्याओं के साथ इस मुद्दे को जोड़कर हम दूसरा गलती कर रहे हों और समस्या के असली केन्द्र से अपना ध्यान हटा रहे हों, क्योंकि स्त्री की समस्याओं को लेकर स्त्री-लेखक की भूमिका बिनकहे एक जागृत, सजातीय और उद्बोधक भागीदारी की है।

स्त्री-लेखन के आकलन के समस्या-पक्ष पर अगर ध्यान देना हो तो सोचना यह होगा कि लेखन में उसके सहयोगियों-सहकर्मियों के आकलन की क्या स्थिति है, कैसे मापदंड हैं और उससे कैसा आलोचकीय परिदृश्य उभर रहा है। सच्चाई यह है कि आलोचना के अपने-अपने गढ़ हैं, गुटबंदी है, शार्टकट्स हैं, पक्षधरता है, कहीं बिगुल बज रहा है तो कहीं सायास चुप्पी है। मनुष्य के मन की क्षुद्रताएं वहां भी उतनी ही उजागर हैं। रचना को उसका गुणात्मक परिश्रेय देते और उसे साहित्यिक संपदा में शामिल करने (या नकारने) का निष्पक्ष जनतांत्रिक वातावरण वहां नहीं है। इस संक्रमण में 'कृपा पाए' और 'कृपा से वंचित' दोनों तरह के लेखक शामिल हैं, और वे प्रस्तुत कटेगरीज़ बनाते हैं, इसमें स्त्री-पुरुष दोनों शामिल हैं। यह हो सकता है कि स्त्री को दोयम दर्जे का मानने का युगों पुराना संस्कार मनोवैज्ञानिक स्तर पर क्रियाशील रहता हो पर रचना की गुणवत्ता उसे काट सकती है, काटती भी है। यही कारण है कि इधर के स्त्री-लेखन के रचनात्मक योगदान को खूब खुलकर स्वीकृति मिल रही है। सोचने वाले लोगों पर



भी यह दायित्व आ रहा है कि वे पुरानी चिन्तन-आकलन धाराओं से मुक्त होकर परिदृश्य को निष्पक्ष होकर देखें। इस समय परिदृश्य पर उसरी पीढ़ी अपने योगदान का श्रेय पा रही है।

लेखक स्त्री सामूहिक स्त्रीत्व को तीखे भावबोध से संलग्न होकर खुली आंखों से देख रही है और अपने वर्ग की आन्तरिक जटिलताओं को उभार कर ला रही है। ऐसे में अपने बारे में एक अलगाववादी, आत्मपीड़क, वर्गागत रवैया अपनाना अपने विरुद्ध जाना है और अपनी क्षमताओं को कमजोर करना है। अच्छा हो यदि हम अपना ध्यान उधार के अटेंशन की बजाय अपने अवदान के विवेचनात्मक और गवेषणात्मक पक्षों पर लगाएं और हम में से ही कुछ लोग इस आकलन पक्षीय योगदान के लिए तैयार हों।

• कमल कुमार

## स्वतन्त्रता की कीमत चुकानी पड़ती है

सृजन के क्षण में स्त्री-पुरुष नहीं होते। एक सर्जक होता है वस! जिसके बारे में मुक्तिबोध ने तीन क्षणों का हाइपोथिसिस दिया है। पहला क्षण उत्कट और तीव्र अनुभव का क्षण, दूसरा पीड़ा से अलग फैंटेसी के रूप धरने का और तीसरा उसके शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया में सम्प्रेषण घटित होता है।

स्त्री जिजीविषावान प्राणी है। सरवाइवल इंस्टिंक्ट उसमें बहुत प्रबल होता है। इसीलिए वह चौतरफा दबावों, विरोधों, हिंसा आपाधापी, जहालत, जलालत के बीच भी जीवित रहती है। सारे विरोधों और अस्वीकृतियों के बाद रचती है और रचती चली जाती है। स्त्री में संतुलन बैठाने, समझौता करने और जटिलताओं से निपटने की अपूर्व क्षमता होती है। स्त्री के अन्तर्जगत पर बहिर्जगत हमेशा हावी रहता है। इसीलिए वह अपनी उपस्थिति भी महसूस नहीं कर पाती। समाज, सभ्यता, इतिहास, धर्म और संस्कृति की असंगतियों के बीच वह 'व्यक्ति' से 'जाति' हो जाती है। साहित्य का सृजन उसे अस्मिता की पहचान, निजता की रक्षा और वरण की स्वतंत्रता देता है। यह यात्रा बाहर से भीतर की यात्रा होती है, जो उसके भीतर एक गहरी आस्था जगाती है। उसके भीतर एक आंधी, एक आलोलन और मंथन चलता रहता है जो बहिर्जगत के यथार्थ से टकराता है और भाषा में परिणत होता है। स्वीकार और निषेध के दो छोरों के बीच साहित्य के द्वारा वह अपने को पुनः परिभाषित करती है। मध्यवर्ग की स्त्री का अन्तर्मन और भी अधिक कुंठाओं, वर्जनाओं और ग्रंथियों से भरपूर होता है। अपने सपनों और स्मृतियों के बीच वह यथार्थ की कीलों से लहलुहान बिलबिलाती है। यही स्त्री है जो साहित्य रच रही है। अपने को सृज रही है। साहित्य को जी रही है। अपने को जी रही है।

उसके भीतर विश्व है। ब्रह्माण्ड है। अपने सृजन द्वारा वह उसमें समन्वित होती है। दिशाओं को वेधती है और पृथ्वी से आकाश हो जाती है। स्व और समाज की विसंगतियों और अन्तर्विरोधों के बीच वह एक बड़े ऐतिहासिक सन्दर्भ को उद्घाटित करती है। स्त्री के साहित्य का जीवट देखना हो तो लोक साहित्य में देखना होगा। कहीं उमंग, कहीं आवेग, कहीं उत्साह की हिलोर, कहीं आत्मालाप, पीड़ा, पिछड़न और दलन की लय।

परिवर्तन की प्रक्रिया में उसने जीवन मूल्यों की नई व्याख्याएँ की हैं। अस्मिता के गंभीर प्रश्नों से टकराई है। अपनी गंदली सतह तोड़ी है और अपने भीतर के नए और स्वच्छ अर्थों को उद्घाटित किया है। अनाम हिन्दू महिला से बल्कि उसमें भी कहीं पहले से स्त्रियाँ लेखन में सक्रिय हैं। परिवर्तन की प्रक्रिया में उसमें अनेकानेक मोड़ आए। आधुनिक युग के पहले दौर में उसने सामाजिक विसंगतियों, असंगतियों, अनीतियों के विरोध द्वारा बाह्य यथार्थ को चुनौती दी। फिर वह अपनी ओर प्रवृत्त हुई, जहाँ सारे नियम, नियन्त्रण, गैतिरिवाज, कायदे-कानून व्यर्थ हो जाते हैं। उसका आत्मसुख और आत्मवृत्ति प्रमुख हो जाते हैं। आकांक्षाओं का एक नया संसार उसके सामने खुलता है। देहरी पर खड़ी झिझकती औरत देहरी लांघ बाहर आ जाती है। ये दमदार जीवन औरते हैं। कोई आन्दोलन-फान्दोलन नहीं करती। परंतु अपने निर्णय लेती है और परवाह नहीं करती कि कोई क्या कहेगा। इनमें विवेक की दीप्ति है (मंजुल भगत, मृदुला गर्ग के पात्र)। संक्रमणशील समाज में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध नैतिकता की कसौटी होते हैं और समाज और सांस्कृतिक अस्मिता के नियामक भी। आज के लेखन में औरत पात्र अपनी स्थिर निष्क्रियता के विरुद्ध अपने पक्ष में गवाही दे रही है। इसलिए स्त्री लेखन में एक नई रुढ़ि विकसित हुई—आक्रामकता और साहसिकता की। अरुणा सीतेश की कहानियों में स्त्री-पुरुष के बीच का आकर्षण मर चुका है। पति-पत्नी दो छोरों पर खड़े हैं। 'मर्सी किलिंग' में स्त्री अपने अपंग पति की मृत्यु की योजना बनाती है। अब स्त्री के लिए पुरुष या पति 'वह' नहीं रहा। इसलिए उसने अब पुरुष की दुनिया से अलग अपनी संवेदना के परिविस्तार के लिए नए अछूते कोने भी तलाशे हैं। इस्मत चुगताई की 'लिहाफ' के बाद 'किनारे' कहानी की कन्नो और पुष्पा है।

नवें दशक में ग्लोबलाइजेशन के विस्फोट के साथ परिवार, समाज और सांस्कृतिक अस्मिता सब दहल गए। पहले संयुक्त परिवार टूटे, अब एकल परिवारों में स्त्री के अपनी दिशा लेने से स्थिति बदल गई। अब वह अपनी इच्छा से जीना चाहती है। अपने लिए। वह बच्चे को जन्म देती है। पुरुष से संबंध बनाती है, उसकी अकेली संरक्षिका बनती है। सेक्स वर्कर बनती है। अर्थात् वह अपनी देह पर अपना अधिकार स्थापित करती है। पर सवाल यह है कि पिछला सब ध्वस्त करके वह जहाँ पहुंची है, वह भी कोई राजमार्ग तो नहीं। कुसुम अंसल



की 'उसके मोहरे' की नायिका अपनी इच्छा से विवाहित बाँस के साथ संबंध जोड़ती है। एक बच्चे को जन्म देती है। बाँस अपने परिवार में लौट चुका है, वह अकेली खड़ी है। पर इसे हार नहीं मानती। 'कैटलिस्ट' कहानी की स्त्री उससे आगे की है। पुरुष संबंध उसे फुलफिलमेंट देता है। इस संबंध से वह सारी वर्जनाओं और कुंठाओं से मुक्त हो जाती है। कोई अपराध-भाव नहीं। कोई प्रश्न नहीं। शांत परन्तु प्रफुल्ल। स्त्री का संघर्ष देह माने जाने के विरुद्ध शुरू हुआ था, पर आज वह फिर देह पर लौट आई है। सच्ची मानवीय नियति तक पहुंचने की उसकी चुनौती क्या हुई? न सही किसी मजबूरी से, मर्जी से ही सही। पर जमा हसिल क्या? क्या यह उत्तर आधुनिक नारी है—निस्तेज, स्वप्नहीन, शुष्क और अकेली? खैर, सारा नारी लेखन यहां खत्म नहीं होता।

एक प्रश्न यह भी है कि वे औरतें जो विद्रोह का साहित्य रचती हैं, कौन हैं? इनका स्टेटस क्या है? समाज और परिवार में इनकी प्रत्याशाएं क्या हैं? जीवन के प्रति इनकी एप्रोच क्या है? पाठक समाज के लिए यह जानना जरूरी है कि ये मध्यवर्ग की जागरूक औरतें हैं। अपने-अपने घरों में सुरक्षित और मर्यादित जीवन जीने वाली स्त्रियां। बौद्धिक व्यभिचार का लेखन रचतीं और अन्तर्विरोधों के बीच झूलती ये मानसिक एक्टिविस्ट औरतें हैं जो कभी अपनी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं करतीं परन्तु अपने जीवत पात्रों द्वारा महत्वाकांक्षा को भी मरने नहीं देतीं (राजी सेठ और सरयू के नारी पात्र)। साहित्य पहले स्त्री के लिए कवच बना, फिर आत्मान्वेषण और अब वह इसे हथियार की तरह इस्तेमाल कर रही है। इस हथियार से नए समाज की संरचना में लगी अन्याय और अत्याचार को मिटाने का उपक्रम कर रही है। पर ये स्त्रियां आक्रामक होकर भी फुसफुसी रह जाती हैं।

इनसे अलग बेफिक्र, निर्भीक और तरोताजादम औरतें हैं जो घर से बाहर अपने नए शौर्य की वाहवाही लूटती हैं परन्तु घर के भीतर अपने आलोक के प्रकाश तले अंधेरे से घिरी रहती हैं। इसीलिए विवेकवान औरतें अपने परकोटों में सुरक्षित अपने खिलाफ पड़यंत्र को पहचान कर गुरिल्ला वारफेयर खेलती हैं। ये वे चौकनी औरतें हैं जो विलोमों को झेलती 'स्वयं' होती हैं और परिणति वाली अस्तित्ववान औरतें उनकी महत्वाकांक्षाएं। इस फर्क को समझना जरूरी है। यह आज की स्त्री का संक्रमण है जहां वह संस्कार और द्वन्द्व में पहले से भी ज्यादा कम्प्यूज्ड है।

नारी लेखन मात्र कथा लेखन तो नहीं। तो भी कथा-साहित्य प्रमुख है, कविता कम और आलोचना कमतर। कविता स्त्री की संवेदना के निकट होने पर भी कम ही स्त्रियां इस क्षेत्र में हैं। जिन्होंने शुरू कविता से किया, वे भी अन्ततः कथा में चली गईं। कविता सृजन का क्रिस्टलाइज्ड फार्म होती है। प्रतिक्रियावादी लेखन करती स्त्रियों में शायद इतना धैर्य नहीं। अनुभूति के कंडेन्स होने तक रुका नहीं जा

सकता। स्त्री कवियों की कविता की उद्गमभूमि क्या है? कोई विचार, आंदोलन, भविष्य की आशा या क्या? त्रस्त अतीत और अनिश्चित वर्तमान की छटपटाहट, स्वप्न, स्मृतियों, और यथार्थ की यंत्रणा से निर्मित होती है कविताएं। कथा में वह समाज होती है परन्तु कविता में 'स्वयं' या 'व्यक्ति' हो जाती है। कविता में उतरता है घरेलू या निजी संसार। घर की ज्यामिति में उलझी चेतना। क्लिष्ट मनोग्रथियां, द्वन्द्वात्मक रिश्ते, नैतिक मान्यताओं के नए प्रतिमान। इन्हीं से निस्पृत होती है नई सांस्कृतिक चेतना जो सनातन चेतना पर चोट करती है। रोजमर्रा के जीवनानुभवों को कविताओं में तराशा गया। घर, लड़की, औरत, मां पर शृंखलाबद्ध कविताएं लिखी गईं, जिनमें दी गई छवियां दृष्टि, शाश्वत मूल्य उखड़े और नई छवियां उभरीं।

साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न समस्त साहित्य से जुड़ा एक गंभीर प्रश्न है जिसकी गंभीरता गैर-साहित्यिक निमित्तों से नष्ट हुई है। स्त्री लेखन के मूल्यांकन में भी वही गैर साहित्यिक घटक सक्रिय होते हैं जो उसके लेखन में होते हैं— जाति, समाज, वर्ग, संस्कार इत्यादि। यह समय मैनेजमेंट और मार्केटिंग का है। बाजारवाद का है। मीडिया का है। पुरुष वर्चस्व वाले इस समाज में समझदार स्त्रियां 'मगर' से बेर नहीं करती, बल्कि उससे 'अगर मगर' करती हैं। डोर उनके हाथों में देकर वे साहित्य के आकाश में पतंग हो जाती हैं; कुलाचे भरती पतंगें। साहित्य की महती इच्छा लिए वे जार्ज आरवेल या क, ख, ग के बाड़े में आ जाती हैं। वहां उन्हें बांध कर नहीं रखा जाता। वे मुक्त होती हैं और अराजकता फैलाने का अधिकार भी उन्हें दिया जाता है। वे अराजकता फैलाती भी हैं, कूटनीति करती हैं। जो कूटनीति नहीं करती, वे नहीं करती। अपनी स्वतंत्रता की कीमत चुकाती हैं और हाशिये पर चली जाती हैं। पर ठेंगे पर लेती हैं साहित्यिक आलोचक के व्यक्तिगत प्रतिमानों को, पुरुष आलोचकों की कुंठित मानसिकता को। साहित्य कोई जादू नहीं जो सिर चढ़ कर बोले। सृजन अन्तस् का धीमा प्रकाश है जो कोई धमाका नहीं करता। समय की तीव्र धारा में वही बच रहेगा, जो थिर होगा।

• नीलम महाजन सिंह

संघर्ष-पथ पर अभी बहुत चलना है

महिला होने के कारण मैं महिलाओं के साथ हो रहे सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक प्रहारों को, महिला के दृष्टिकोण से लिखती हूं। इससे पुरुषों की मानसिकता को कभी-कभी गहरा आघात भी पहुंचता है। लेखन कोई सरल मार्ग नहीं है। कफन सर पर लेकर, खतरे के अंगारों से जूझने की प्रक्रिया है। जब मैंने पत्रकारिता आरंभ की तो पूर्णतः यह समझ कर कि समाज के किसी भी क्षेत्र के समान यह भी



पुरुष-प्रधान ही है, इससे मुझे कोई झिझक नहीं हुई। लेखन का पथ एकाकीपन एवं तड़प का पथ है, जिसमें अनेक मानसिक प्रहारों को नीलकण्ठ करना पड़ता है।

सच तो यह है कि पत्रकारिता का एक 'माफिया' है, जो कि राजनेताओं की गोद में बैठ कर धन का संग्रह कर, लेखिकाओं पर प्रहार करता आ रहा है... वर्षों से... मात्र चेहरे बदलते रहे...। सत्य क्या है, असत्य क्या है, इसका निर्णय कौन करेगा? मैंने हर सामाजिक घटना पर भावनात्मक रोप प्रकट किया। विचारों के प्रवाह पर मेरे अन्दर की महिला की तड़पन का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। सोचा था, अपने ही घोष में पड़ी रहूँ, परन्तु महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों, समाज की दबी-दबी सिसकियों और व्यवस्था के सड़े-गले दोमकग्रस्त व्यवहार ने मुझे कर्तव्यबोध दिलाया। हर अकेली महिला को वीरान पथ पर ही चलना पड़ता है। पिछले बीस वर्षों में अनेक घटनाएँ घटित हुईं जिसके परिणामस्वरूप, समाज के बड़े-बड़े पहाड़ टूट-फूट गए। पुरुषों में 'पुरुषार्थ' ही नहीं बचा और शायद यह कहना गलत नहीं होगा कि मैं ऐसे अनेक पुरुषों से मिली जो 'पुरुषार्थ' के बाह्य आवरण में वास्तविक नपुंसक एवं लोभी लोमड़ थे। लेखन में तीव्रता के कारण, राजनेता भी, महिला लेखकों से डरे रहते हैं अनेक राजनेता पहले तो मेरे लेखन से बहुत प्रभावित हुए। फिर आहिस्ता-आहिस्ता मुझे यह महसूस हुआ कि मेरे लेखन के माध्यम से इनमें से हर एक दूसरे को धस्त करना चाहता था। धीरे-धीरे ये महामृत्युंजय के पके-सड़े फल के समान गिरते गए, क्योंकि इन पुरुषों में मात्र 'महिला-उपयोगिता' का ही सिद्धांत था। परन्तु मैं, एकाध वृत्ति को छोड़कर, इनकी असत्यता, सत्ता, धन एवं शक्ति से प्रभावित नहीं हुई तथा अपने लेखन का दुरुपयोग नहीं किया। परन्तु इन्हीं महामहिमों ने पुरुष लेखकों का एक गिरोह बना लिया तथा अपने व्यक्तिगत मिशनों को पूरा करने के लिए, उन्हें प्रलोभन दिए और कुछ नेता तो दुर्योधन एवं दुःशासन की नीचता की सीमाओं को भी पार कर गए।

फिर यह भी स्वीकार करना ही होगा कि पत्रकारिता में भी धन एवं 'मल्टीनेशनलों' के धन की आवश्यकता है और बड़े-बड़े अखबार एवं मैगज़ीनों को विचारधारा नहीं, 'लालाजी की बैलेंसशीट' देखनी अनिवार्य है। फिर राजनेताओं के साथ अखबार-मालिकों की दोस्ती तथा उन पर निर्भरता भी लेखन के सत्य को वाणीहीन करने में सफल है। राजनेता के इशारे पर लेखकों को रखा तथा हटाया जाता है। सहनशक्ति तथा सकारात्मक विश्लेषण करना भी कठिन हो गया है। पत्रकारिता में कैकेयियों एवं मंथराओं का नाश होना भी अनिवार्य है, जैसे कि दुःशासन एवं दुर्योधनों का। पुरुष एवं महिला तो काया मात्र है, असल चीज तो दृष्टिकोण है। इस गिरोह का जब तक पर्दाफाश नहीं होगा, माफिया महिला लेखन की स्वतंत्रता एवं निष्पक्षता को धोमा ज़हर देता ही रहेगा।

यह सत्य भी मैं स्वीकार करना चाहूँगी कि हिन्दी एवं अंग्रेजी लेखन में अनेक सिद्धांतवादी एवं आदर्शवादी पुरुष भी हैं जो सत्य-पथ की यात्रा में महिलाओं के सहायक रहे हैं। इन सत्यमार्गी पुरुषों के दृष्टिकोण ने मेरे जैसी जुझारू लेखिकाओं का मार्गदर्शन भी किया है। सभी पुरुषों की मानसिकता एक समान आकेशा भी घोर अन्याय होगा।

मैं अपने लेखन एवं विचारधारा द्वारा महिला सम्मान तथा नारी के प्रति आदर-भाव प्रदान कराने के लिए सतत प्रयत्नशील हूँ... लेखिका की सफलता की उड़ान तो सबकी दृष्टि में है, परन्तु परो पर भार का अहसास कुछ को ही है। संघर्ष-पथ पर, महिला लेखन की यात्रा अभी बहुत लंबी है... उद्देश्य प्राप्ति को तो अभी मरीचिका ही समझना है।

### • चन्द्रकान्ता

## लेखिकाएं अपनी रचनात्मक ऊर्जा बनाए रखें

नारी लेखन में अपनी लड़ाई आप लड़ती स्त्रियों के संघर्ष, द्वन्द्व, विरोध और पुरुष वर्चस्व वाले समाज के लिए सार्थक प्रश्न दर्ज हैं, अपनी अस्मिता की तलाश और निर्णय का साहस शामिल है। वह चाहे कुसुम अंसल के उपन्यास 'उसकी पंचवटी' की नायिका के लोक से हट कर लिए खमटोंक फैमले हों, चाहे चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'एक ज़मीन अपनी' की नायिका के खुद को प्रमाणित करने के लिए किए गए संघर्ष हों। यहां राजी सेठ के 'तत्सम' की वसुधा पुरुष को जांच-परख कर अपने निर्णय देती है, नासिरा शर्मा की 'शात्मली' आर्थिक क्षेत्र में सबल होकर भी घर-परिवार बचाने की कोशिशें करती है। यहां सिम्मी हर्षिता के 'यातना शिविर' के त्रास भोगती स्त्रियां हैं, मृदुला गर्ग के 'कठगुलाब' की देश-विदेश में बसी नारियां हैं, जो भिन्न संदर्भ-स्थितियों के बावजूद पुरुष की सामन्ती मानसिकता के विरोध में बज़िद अड़ी-डटी हैं। बार-बार तोड़े जाने पर भी हार न मानने वाली स्त्रियां सर्वत्र मौजूद हैं। कृष्णा सोबती, मनु भंडारी से लेकर क्षमा शर्मा, मैत्रेयी पुष्पा से जया जादवानी तक नारी लेखन का विपुल संसार साहित्य भूमि पर फैला है।

परन्तु क्या हिन्दी समाज नारी लेखन का सही मूल्यांकन कर रहा है? या निष्पक्ष समीक्षा की मानसिकता बन पाई है?

आजकल गढ़ और मठ टूट रहे हैं, समानाधिकार, समान दायित्व समय की ज़रूरत हो गई है। इस बदले परिप्रेक्ष्य में भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हमारा पुरुष-वर्चस्वप्रधान समाज स्त्री का भाग्य-नियता होने का भ्रम छोड़ नहीं पाता। मनु का दिया नज़रिया समीक्षकों, संपादकों और कई प्रबुद्ध लेखकों पर भी हावी है। यह विचित्र स्थिति है। वीडियो-कंप्यूटर युग में इंटरनेट का फैलता जाल, सूचना विस्फोट, उपभोक्तावादी तंत्र



पुराने मूल्यों को तेज़ी से ध्वस्त किए जा रहा है। साहित्य में उत्तर आधुनिकता का नारा उठ रहा है, साहित्य के भविष्य पर प्रश्नचिह्न लग रहे हैं, ऐसे समय में भी हमारा समाज मध्यवर्गीय रूढ़ नैतिकताओं वाली मानसिकता से मुक्त नहीं हो पा रहा। उत्तर आधुनिक के नारे लगाता है, पर आधुनिक भी नहीं हो पाता। जीवन के हर क्षेत्र की तरह लेखन के क्षेत्र में भी लेखिकाओं को बार-बार अग्नि-परीक्षाओं से गुजरना पड़ रहा है।

साहित्य संबंधी सेमिनारों-गोष्ठियों में कुछ स्वनामधन्य लेखक-संपादक, समीक्षक अपनी-अपनी और अपनों की गोष्टियां बिठाने में व्यस्त और ग्रस्त रहते हैं। नारी लेखन की चर्चा न के बराबर ही होती है। कभी-कभी कृपाभाव से एक-दो का जिक्र हो भी, पर अधिकांश को जानबूझकर नज़र-अंदाज़ किया जाता है। कृपाभाव के पीछे यह दंभ भी छिपा नहीं रहता कि 'हम चाहें तो तुम्हें सातवें आसमान पर बिठा सकते हैं, चाहें तो साहित्य की ज़मीन से ही उखाड़ सकते हैं।' कई दिग्गज तो एकाध को सिंहासन पर बिठाने के चक्कर में, दसियों प्रतिष्ठित सक्रिय रचनाकारों के लेखन को कहीं गूढ़, कहीं भावुक, कहीं सतही, कहीं किशोरी लेखन, कहीं संपूर्ण पुरुष और संपूर्ण धाम की तलाश कह कर खारिज करने की हास्यास्पद कोशिशें कर चुके हैं।

जहां स्त्री-विमर्श से आगे जाकर लेखिकाओं ने राजनैतिक, ऐतिहासिक और आर्थिक परिवेश में संघ लगाकर अपनी रचनात्मक दृष्टि से स्थितियों का परीक्षण कर नए प्रश्न उठाए हैं, वहां भी अजीबोगरीब प्रतिक्रियाएं देखी गई हैं, क्योंकि लेखन में भी पुरुष क्षेत्र और स्त्री क्षेत्र के बीच लक्ष्मणरेखाएं तय की गई हैं। अलका सरावगी के 'कलि कथा वाया बायपास', गीतांजलिश्री के 'हमारा शहर उस बरस' पर (यदि अपनी बात भी करूँ तो मेरे उपन्यास 'ऐलान गली जिंदा है' पर भी) यह प्रतिक्रिया आई कि ऐसा उपन्यास तो पुरुष भी लिख सकते हैं, और यह तो लगता नहीं किसी महिला ने लिखा है।

रचनाकार का अनुभव आज भोगे हुए यथार्थ की सीमा लांघ वैश्विक सत्य की हदों को छू रहा है। अनुभव, विचार, संवेदन की हदें स्त्री और पुरुष के लिए अलग नहीं। यह दीगर बात है कि कुछ विशिष्ट अनुभव लिंगभेद से जुड़े हों, पर रचनाकार तो निषिद्ध कक्षों में भी संघ लगाता है, उसके लिए दशा-दिशा निर्देश देने का हक आप क्यों लेना चाहते हैं?

कुछ प्रबुद्ध साहित्यिक जन महिला रचनाकारों को 'रिंग मास्टरी' आदेश देते रहते हैं—यह लिखो, वह मत लिखो। कुछ नारी की दशा से त्रस्त दिखाई पड़ते हैं, उसे शोषण से मुक्ति दिलाने की कागज़ी कोशिशें, प्रवचन आदि करते हैं, उठो! भयमुक्त हो जाओ, शोषित नारियो! पर वे ही शुभचिन्तक बड़ी सफाई से नारी लेखन की जड़ों में मट्टा डालने का भी कार्य कर रहे हैं।

पत्रिकाओं में दशकों के साहित्य पर शोध होता है, हुआ है। कहीं-कहीं महिला लेखन पर एकाध पन्ना अलग से भी नज़र आया। उसे पढ़ कर लगा कि समीक्षक ने नेताओं के अंदाज़ में बाढ़-पीड़ितों के लिए किए जाते हवाई सर्वेक्षण की तरह नारी-लेखन का आकाशी सर्वेक्षण किया है। दो-चार पुस्तकें ऊपर से दिख भी गईं तो किसी का मात्र कवर पृष्ठ, किसी का शीर्षक तो किसी लेखिका का नाम भर दिखाई पड़ा। इससे ज्यादा कुछ नहीं। आश्चर्य है कि खोजी समीक्षक भी महिला रचनाकारों की अच्छी रचनाएं ढूँढ़ने का जोखिम नहीं उठाते। लेखिकाओं से शायद उम्मीद की जाती है कि बैग में भरकर समीक्षकों तक पुस्तकें ले कर जाएं, अनुनय-विनय करें कि हमारी रचनाओं पर रहमोकरम फरमाएं।

स्थिति जो है, सो किसी से छिपी नहीं! लेकिन सच यही है कि नारी लेखन को नज़र-अंदाज़ कर के साहित्य का मूल्यांकन आधा-अधूरा ही रहेगा। लेखिकाएं इस हकीकत से वाकिफ हैं। समय की मांग भी है कि वे वर्चस्ववादी हथकंडों से दूर रहकर अपनी रचनात्मक ऊर्जा बनाए रखें, तभी समाज और साहित्य में उनकी पहचान बनेगी, जिसे कोई अवर्ण नहीं कर पाएगा।

• जगन सिंह

## यह प्रतिद्वन्द्विताजन्य ईर्ष्या है

नारी लेखन और पुरुष लेखन का भेद दरअसल लेखकों और आलोचकों का बनाया हुआ है। इसके पीछे निहित स्वार्थ है।

हमारे यहां साहित्यिक कृतियों के निष्पक्ष मूल्यांकन की जिस परम्परा की नींव आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने डाली थी, आज वह समाप्तप्राय है। आलोचक और लेखक खेमों में बंटे हुए हैं। हर खेमा किसी न किसी राजनीतिक विचारधारा से प्रभावित है। आलोचक अपने खेमे से बाहर की उत्कृष्ट रचनाओं को नज़र-अंदाज़ करते हैं। अपने खेमे के लेखकों को आगे बढ़ाने के लिए वे उनकी कमज़ोर रचनाओं की भी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। दूर की कौड़ी लाकर उनकी कविताओं में अर्थ के नए स्तरों का उद्घाटन करते हैं। अपने खेमे के रचनाकारों को 'ग्रूम' करते समय वे नारी लेखक और पुरुष लेखक का भेद नहीं करते। कुछ समय पहले एक साहित्यिक खेमे के प्रसिद्ध आलोचक ने एक नई लेखिका के उपन्यास की प्रशंसा में ज़मीन-आसमान एक कर दिया था और उस उपन्यास को इस दौर का सबसे सशक्त उपन्यास बताते हुए उस पर साहित्य अकादमी पुरस्कार दिए जाने की बात कही थी। वास्तविकता तो यह है कि वह उपन्यास हर दृष्टि से साधारण है। आलोचक महोदय ने उसकी तारीफ़ इसलिए की है कि उसमें एक विशेष राजनीतिक पार्टी के नेताओं को भला-बुरा कहा गया है। जिन



संदर्भों में नेताओं की निन्दा की गई है, वे कहानी के निर्वाह लिए अपरिहार्य हों, ऐसा मुझे नहीं लगा। आलोचकों के अलावा कुछ सम्पादक भी अपना गुट साथ लेकर चलते हैं। अपने गुट के लेखकों के अलावा उन्हें दूसरों का लिखा या तो नज़र नहीं आता या सब कूड़ा-कचरा नज़र आता है। पिछले दिनों 'संचेतना' में साहित्य में सक्रिय जिस माफिया का जिक्र किया गया था, इस प्रकार के आलोचक और सम्पादक उसी माफिया का नेतृत्व करते हुए दिखाई दे रहे हैं। ये और कुछ दूसरे आलोचक यह मानकर चलते हैं कि वे लेखकों का भविष्य बनाने और बिगाड़ने की क्षमता रखते हैं। वे इस मुगालते में हैं कि वे किसी रचना की प्रशंसा कर देंगे तो रचनाकार रातोंरात लेखकों की प्रथम पंक्ति में आ बैठेगा और अगर वे नहीं चाहेंगे तो श्रेष्ठ रचनाएं देने पर भी वह कहीं दिखाई नहीं देगा। वह अगर उनकी शरण में नहीं आता तो बैठा रहे अपनी उत्कृष्ट रचनाओं के साथ। कोई उसका नाम भी नहीं जान पाएगा। आलोचकों और सम्पादकों की इस मानसिकता के कारण हिन्दी साहित्य का जितना अहित हुआ है, उसका अंदाज़ा नहीं लगाया जा सकता।

मैं इस बात से भी सहमत नहीं हूँ कि महिला लेखन को गंभीरता से नहीं लिया जा रहा। महादेवी वर्मा की रचनाओं को हमेशा गंभीरता से लिया गया। छायावाद के बड़े कवियों—जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के साथ चौथा नाम महादेवी वर्मा का है। प्रसाद, पंत और निराला उनसे बड़े कवि थे, इसलिए उनके नाम पहले आते हैं। व्यक्ति के रूप में महादेवी वर्मा हिन्दी के लेखकों और सामान्य पाठकों के बीच समान रूप से समादृत थीं। आज हमारे पास मनु भंडारी हैं, और भी कई प्रतिभावान महिला रचनाकार हैं, जिनकी रचनाओं का सही मूल्यांकन किए जाने की आवश्यकता है परन्तु जैसा माहौल हमारे यहां है, उसमें उनके साथ न्याय होगा, इसमें सन्देह है। पुरुष लेखकों द्वारा महिला लेखकों की अनदेखी करने की जो चर्चा की जा रही है, वह प्रतिद्वन्द्विताजन्य ईर्ष्या के कारण है जो एक लेखक से दूसरे लेखक को होती है।

जहां तक सम्पादकों तथा आलोचकों द्वारा कृपा करने अथवा शोषण का सवाल है, यह आरोप कुछ थोड़ी-सी महिलाओं का हो सकता है। महिला लेखकों की अतिशय महत्वाकांक्षा उन्हें इस प्रकार के समझौते करने के लिए मजबूर करती है। महिला लेखकों का एक छोटा परन्तु खास वर्ग ऐसा है जो आज्ञा-तवीयत और बोहिमियन कहलाना पसन्द करता है। उनके यहां नान, कबाब, प्याला और शराब उपलब्ध है। इसी के सहारे वे उन्नति की सीढ़ियां चढ़ती हैं। बहुत-से पुरुष लेखक और समर्थ आलोचक उनके मित्र हैं। शोहरत की सीढ़ियां चढ़ने में वे उनकी सहायता करते हैं और बाद में, जब वे लगभग नहीं लिख रही होती, वे उन्हें मैदान में बनाए रखने के लिए नए-नए शोशे छोड़ते रहते हैं। कुछ महिला लेखक शार्टकट मार कर उन्नति के

शिखर पर पहुंचने की जल्दी में होती हैं, इसलिए वे भड़काऊ रचनाएं लिखती हैं और चौकाने वाली गालियां ईजाद करती हैं। पुरुष लेखकों, सम्पादकों और आलोचकों का एक खास वर्ग उनका उत्साह बढ़ाने के लिए हर जगह, हर मंच पर उन रचनाओं की चर्चा करता है। वे भी बड़ी लेखिका होने की खुशफहमी पाल लेती हैं परन्तु लेखन की दुनिया में बहुत दिनों तक बैसाखियों के सहारे खड़ा नहीं हुआ जा सकता।

## • शामा

### सिफारिशी उत्तरदायित्व की अपेक्षा नहीं

विश्व भर का इतिहास साक्ष्य है कि इस धरती पर जितना शोषण नारी का हुआ है, उतना किसी और का नहीं। औरत का जीवन गुलामी की वेड़ियों में ही जकड़ा रहा। मानसिक व शारीरिक दोनों ही रूप में उसको इस्तेमाल किया गया। हिन्दोस्तान हो या इंगलिस्तान—रवैया वही है। शेक्सपीरियन सिटी (लंदन) का ट्रिप लेते हुए जब एयर कंडीशंड बस में गाइड यह बताता है कि कैसे लड़कियों को विचिस (डायन) करार देकर मार दिया जाता था तो शरीर में कांटे जैसे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। दहेज की प्रथा मुद्दूद रूप से वहां भी प्रचलित थी।

हिन्दी मानस का नारी लेखन के प्रति जो संकीर्ण व दकियानूसी दृष्टिकोण रहा है, उस पर न लिखने का कारण नारी का स्वयं का बड़प्पन रहा है...पर आज जब 'संचेतना' ने एक नई पद्धति का सूत्रपात किया है और लेखक को एक नया मंच व एक नया आयाम दिया है जहां एक ही मुद्दे को लेकर बहुत-से दृष्टिकोणों से एक ही चीज़ को परखा जा सकता है इसमें भाग न लेना स्वयं का मानसिक आलस्य ही हो सकता है। नारी जब तक स्वयं इस वर्गीकरण के विरुद्ध मानसिक श्रम करने को राजी नहीं होगी, उसके लेखन के प्रति ये निम्नकोटि की धारणाएं जारी रहेंगी। शायद मानसिक रूप से नारी इतना सहने की आदी इसलिए भी हो गई कि उसके पास कोई विकल्प नहीं था। सिर उठाती तो सिर कलम कर दिया जाता था—सिर झुकते ही उसकी हस्ती मिटा दी जाती थी। नर पड़यंत्र के हाथों वह आक्टोपस की पकड़ में जकड़ी गई।

सदियां गुज़र गईं, ज़िन्दगी इतनी बदल गई परन्तु नारी के प्रति सोच नहीं बदली! पाकिस्तान की शायरा सारा शगुफ़ता ने लिखा था—

'यहां तो कैंद की कड़ियां खेलते-खेलते

मेरा बदन अटकने लगा है

हर नक्काद, गैर नक्काद मेरे बदन में

भोंकना चाहता है...

फिर अपनी सांस जितना कफन



मेरे लिए अलापता है

मेरा सबसे बड़ा गुनाह यह है—

कि मैं औरत हूँ।

अमृता प्रीतम के साथ उनके समकालीन आलोचकों का रवैया, नवल अल सादवी (मिस) का अपने देश में न छप कर लेबनान में छपना, तसलीमा का देश-निकाला, समकालीन लेखकों द्वारा हब्बा खातून व लल्लेश्वरी को कवयित्री न माना जाना आदि इस बात के ज्वलंत उदाहरण हैं कि नारी लेखन के प्रति सैद्धान्तिक ईमानदारी का भी लिहाज़ नहीं रखा जाता... और नारी लेखन के प्रति हिन्दी मानस का व्यापेक्षित रवैया तो सत्य व तर्कों की खूँटी पर ही लटका है। कितनी महत्वपूर्ण सभाओं में किसी लेखिका को सभापति का पद दिया जाता है? आंटे में नमक के बराबर—कभी-कभार। क्यों मौलिक मान-मूल्य भी बड़ी चतुराई से भुला दिए जाते हैं? यह नारी लेखन की बंदिश नहीं, हिन्दी मानस की जड़ता व मूर्च्छिता है जो सृजन क्रिया के स्वीकार भाव को इन्कार की खूंटियों से जा बांधती है। यहां हिन्दी मानस से किसी सिफारिशी उत्तरदायित्व की तबक्को नहीं की जा रही अपितु दुनियादी सिद्धांतों को घटिया बना देने का ज़िम्मेदार ठहराया जा रहा है।

नारी लेखन के प्रति जो भ्रान्तियां फैलाई गई हैं, उनका ज़िम्मेदार हिन्दी मानस ही है। उन भ्रान्तियों के बावजूद नारी लेखन का विकास सहस्रदल कमल की तरह हो रहा है। हिन्दी मानस ने जो ज़हर नारी लेखन को दिया, वह उसने उपयोगी औषध की तरह इस्तेमाल किया है। नारी को भी अपने लेखन के शोषण की उस साझेदारी से निकलना होगा, जो उसने सदियों से निभाई है—और हिन्दी मानस की संकीर्णता के विरुद्ध विद्रोह करना होगा। स्व के प्रति सम्मान की अभीप्सा जगानी होगी। नारी लेखन के प्रति किसी भी अन्याय को हमने अनीति नहीं माना, इस धारणा को बदलना होगा। अन्याय के प्रति स्पष्ट और सुदृढ़ आवाज़ उठानी होगी। क्रांति लाने के लिए किसी की प्रतीक्षा नहीं की जाती।

### • क्षमा शर्मा

## महिला लेखन किसी का मोहताज नहीं

जैसे कि ब्राह्मणों की पार्टी में एक-आध दलित, दलितों की पार्टी में एक-दो ब्राह्मण, भाजपा में एक-दो मुसलमान और मुस्लिम लीम में एक-दो हिन्दू—उसी तरह लेखन में महिलाएं। पुरुष वर्चस्व के जो भी क्षेत्र हैं, वहां महिलाओं की उपस्थिति हो तो सही, लेकिन एक-दो शो पीस की तरह। बहार का कोई कोना—जहां सारे सत्तर पार अपने फिर से 'कोई लौटा दे मेरे बीते हुए दिन' वाले ख़ाब देख सकें।

'जनक्षेत्र' में स्त्रियां जितनी कम हों, वे उतनी ही निर्भर होंगी। उन्हें लेखिका होने का अहसास दिलाने की कृपा की जा सकेगी। अहंकार भी पाला जा सकेगा कि 'हम तो वह हैं जो मिट्टी से सोंप बना दें।' मैं स्पष्ट रूप से कहना चाहती हूँ कि हिन्दी आलोचकों को लेखिका से वही उम्मीदें हैं जो राजनीति में मनुवादियों की दलितों से हैं। वे क्या हैं?

1. महिलाएं लिखती हैं तो लिखें, लेकिन अपनी परंपरा, मर्यादा, संस्कृति आदि का ध्यान अवश्य रखें।

2. किसी गुंडे का चित्रण भी करें तो उसके मुंह से संस्कृत श्लोक झरते हों। क्योंकि गाली-गलौज? छिः-छिः आखिर वे पहले महिलाएं हैं। ऐसा-वैसा लिखेंगी तो लोग क्या कहेंगे? शालीनता का जाकर पानी मांगेगी और अश्लीलता पर दखल पुरुषों का है (इसीलिए सारी गालियां महिलाओं को ही जोड़कर बनाई गई हैं)।

3. महिलाओं को चाहिए कि वे कोमल भाषा का प्रयोग करें। परिवार आदि की कहानियों से आगे कतई न बढ़ें। क्योंकि यह समस्याओं पर लिखने वाला और महिलाओं को दिशा देने वाला तो पुरुष वर्ग है। इनकी यह मजाल कि ये पुरुषों को दिशा देने लगे। इस धर्म है पातिव्रत्य। उससे आगे जाने पर ये कुलटा ही कहला सकती हैं। इस मसले पर दुनिया के सारे पुरुष एक हैं—चाहे वे कितना ही प्रगतिशीलता का दावा क्यों न करते हों। यहां तक कि सब धर्म एक हैं, सारी जातियां एक हैं। स्त्रियां हर जगह दोयम दर्जे की नागरिक हैं तो लेखन में भी वे पहले दर्जे की नागरिक क्यों बनें?

4. 'महिलाओं के सारे काम उनके महिला होने के कारण होते जाते हैं। अपनी मुस्कान के जादू से वे बड़े-बड़े विश्वामित्रों का तप धर कर देती हैं। इसलिए जब वे लिखने लगती हैं तो हर जगह छपने लगती हैं, क्योंकि सम्पादकों को फंसाना क्या कोई मुश्किल काम है। फ्रायड ने ठीक ही कहा था...' यह एक प्रचलित अवधारणा है जिसे लेखिका को कभी कटाक्ष में, कभी साफ-साफ या कभी लक्षणा में सुनना पड़ता है। महिलाएं सोच सकती हैं, वे आत्मनिर्भर हो सकती हैं, उनके पास अपनी भाषा है—यह अब भी आश्चर्य की बात मानी जाती है। क्योंकि भाषा का मिल जाना सबसे बड़ी उपलब्धि है। साक्षरता, लोकतंत्र और सूचना-समाज ने बीसवीं सदी के इस आखिरी दौर में स्त्री को अभिव्यक्ति दी है। आज तक तो स्त्री को पीटने का सबसे बड़ा औजार भाषा और उसमें छिपा मर्दवाद ही रहा है। इसीलिए स्त्रियों पर हंसने के लिए सबसे अधिक चुटकुले मौजूद हैं। हम जिसे कमजोर समझते हैं उसी पर हंस सकते हैं।

लेकिन महिला लेखन निरंतर बढ़ रहा है। वह अपनी सत्ता को लड़ाई शुरू कर चुका है। वह किसी का मोहताज नहीं है—पुरुषों की कृपा का भी नहीं। उन आलोचकों का भी नहीं, जो किसी स्त्री की चर्चा या तो करते नहीं, करते भी हैं तो निजी स्वार्थ के कारण।



## • सुशीला टाकभौरे

# उगते सूरज को ढंका नहीं जा सकता

मनु ने एक धार्मिक नियम के रूप में बताया था—“यदि स्त्री शिक्षा प्राप्त करेगी तो वह कुमार्ग पर चलेगी ही, साथ ही अकाल वैधव्य को प्राप्त करेगी।”

जिस स्त्री को शिक्षा पाने का अधिकार नहीं, वह क्या अपना साहित्य रचेगी?...और क्या अपने हित में कुछ कह सकेगी? स्त्री समाज के सम्बन्ध में परम्परावादी पुरुष समाज की मानसिकता आज भी नहीं बदली है। आज भी पुरुष साहित्यकार अपनी मानसिकता के आधार पर रचे परम्परावादी साहित्य में नारी का चित्रण मनुवादी मान्यताओं के आधार पर ही करते हैं। वही त्याग, उत्सर्ग, श्रद्धा, शर्म, दया, धर्म इक्कीसवीं सदी की ओर जाती हुई नारी में, अपने आदर्श और नैतिक मापदण्डों के आधार पर खोजते हैं। हिन्दी लेखन में इसे विशेष रूप से देखा जा सकता है।

प्रगतिशील, परिवर्तनवादी विचारधारा की स्त्री को समाज में संशय की दृष्टि से देखा जाता है। अपनी निर्बल और पराधीन स्थिति को समझने वाली, अपने दुख-सुख पर तुलनात्मक विचार करने वाली, अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाली और अपना अधिकार प्राप्त करने के लिए स्वयं प्रयत्न करने वाली स्त्री को समाज बुरा कहता है। हिन्दी मानस ऐसी नारी की अवहेलना करता है।

वर्तमान में आधुनिक काल की स्त्री के शैक्षणिक स्तर में और उसके चिन्तन में प्रगति हुई है। वह अब अपने प्रति पुरानी मान्यताओं से असन्तुष्ट है। स्त्री जो सदियों से दलित-पीड़ित रही है, अपने स्त्री होने की पीड़ा को भोगती रही है—अब वह सहने के समझौते को तोड़कर विद्रोह करना चाहती है।

अब वह अपनी स्थिति पर स्वयं विचार करने लगी है। अपने विचार वह अपनी उन बहनों तक पहुंचाना चाहती है जिन तक अभी भी ज्ञान, विवेक, साहस और चेतना की रोशनी नहीं पहुंची है।

इस तरह नारी लिखने लगी है—लेखन के क्षेत्र में आगे आ रही है। अधिक संख्या में न सही, फिर भी जो स्त्रियां लेखन के क्षेत्र में आगे आई हैं वे अपने विचार, अनुभव और भावनाओं को तीव्रता, आक्रोश और विद्रोह के स्वर में समाज के सामने ला रही हैं। हिन्दी में लेखिकाओं द्वारा रचित साहित्य साहित्यिक मूल्यों के आधार पर उपलब्धि माना जा रहा है। नारी लेखन ने नारी समाज की दबी-कुचली भावनाओं को उभार कर साहित्य मंच पर लाकर समाज को इन स्थितियों पर विचार करने के लिए मजबूर कर दिया है। यही कारण है कि हिन्दी का पुरुष मानस स्त्री लेखन को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं करता है। वह आज भी मनुवादी धारणाओं से ग्रसित है। वह नारी की

वेबाक अभिव्यक्ति, नारी स्वतंत्रता के संदेश और प्रबुद्ध मानसिकता के निर्माण के ध्येय को अपने ढंग से लांछित करते हुए नारी लेखन की आलोचना करने लगा है।

जब कोई लेखिका अपने लेखन में नारी की निर्बल, निरीह, दयनीय स्थिति का विरोध करती है, स्त्रियों को अपनी स्थिति की स्वयं जिम्मेदार ठहरा कर फटकारती है, पुरुषों को नारी के प्रति उनकी दमनकारी भावना और विचारों के लिए लताड़ती है, धर्मग्रन्थों को अन्यायपूर्ण ठहराती है तो उस लेखिका को समाज का शत्रु या समाज से अलग मान लिया जाता है। सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्र में उसकी मौत का फरमान जारी कर दिया जाता है। तब कैसे माना जाए कि पुरुष मानस नारी लेखन को सहजता से स्वीकार करता है।

अक्सर यह माना जाता है कि नारी का क्षेत्र घर और परिवार तक सीमित है। वह लिखेगी भी तो क्या? वही पति से शिकायते, बच्चों से जुड़ी समस्याएं, मंहगाई की बातें या ज्यादा से ज्यादा प्रेम के मिलन और विरह की अनुभूतियां। नारी लेखन को सीमित क्षेत्र का मानकर उसे उपेक्षित माना जाता है जबकि अनेक लेखिकाएं इन सब बातों से हटकर पुरुष लेखन के समानान्तर परिपक्व साहित्य रच रही हैं।

पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियों की परम्परावादी स्थिति के विरुद्ध बात उठाना आज भी कठिन कार्य है। इसे संघर्ष के साथ ही पूरा किया जा सकता है। नारी लेखन संघर्ष के रूप में उभर कर सामने आया है—स्त्रियों को जड़ मानसिकता से मुक्त करना और समाज में नारी अस्मिता की स्थापना करना नारी लेखन का उद्देश्य है। पुरुष लेखकों ने नारी चरित्र को अपनी मानसिकता के आधार पर अभिव्यक्ति देकर उसे पारम्परिक रूप में ही प्रतिष्ठित किया था। अब नारी लेखन के द्वारा पुरुष सत्ता के प्रति विद्रोह करके, अपने ऊपर होने वाले दृश्य-अदृश्य अन्यायों का चित्रण करते हुए एक नई समाज रचना का आग्रह किया जा रहा है जिसमें नारी स्वतंत्रता और समानता के अधिकार से सम्पन्न एक व्यक्तित्व है—वह पुरुष से किसी भी बात में कम नहीं है। यही कारण है कि कुछ लेखिकाएं पुरुषों के समानान्तर आर्थिक स्वतंत्रता और दैह की स्वतंत्रता के लिए भी साहस के साथ लिख रही हैं।

कहा जा सकता है कि नारी लेखन तीव्र गति से हो रहा है, समृद्ध रूप में हो रहा है और भविष्य में नारी लेखन की संभावनाएं बहुत हैं। नारी लेखन की प्रतिभा और कुशलता को किसी भी तरह नकारा नहीं जा सकता है क्योंकि नारी लेखन अब अपना महत्वपूर्ण स्थान बन चुका है।

फिर भी नारी लेखन के सम्बन्ध में अनेक आलोचनात्मक टिप्पणियां सामने आती हैं। नारी लेखन में चित्रित नारी की सहज स्वाभाविक जरूरतों को पुरुष मानस द्वारा स्वाभाविक रूप में नहीं लिया जाता बल्कि उसे सामाजिक विकृति बताकर लांछित किया जाता है। नारी लेखन को सामाजिक मूल्यों से अलग बताकर सुधार का संकेत किया



जाता है। इस तरह इक्कीसवीं सदी में जाने वाले समाज की नारी के प्रति आज भी सोलहवीं सदी की नारी की परिकल्पना की जाती है।

यह ठीक है कि नारी लेखन के प्रति कुछ लेखकों, समीक्षकों और आलोचकों ने अपने विशाल दृष्टिकोण का परिचय दिया है, नारी लेखन को प्रेरणा देकर आगे बढ़ने का आह्वान भी किया है लेकिन यह बहुत सीमित मात्रा में हो सका है—इसका आधार पहचान, मित्रता या आपसी सम्बन्ध भी रहे हैं। अनजान-अपरिचित लेखिकाएं बहुत संघर्ष के बाद अपनी पहचान बना पाई हैं। जहां नारी लेखन को सराहा गया है, वहां भी लेखन की उत्कृष्टता को एक ओर रखकर अपनी उदारता और कृपा को ही अधिक रेखांकित किया गया है—जैसे किसी तरह एहसान करते हुए नारी लेखन पर चर्चा की जाती रही है। यह एक तरह से नारी लेखन का अपमान है। नारी लेखन को नकारने के लिए जब पुरुष मानसिकता के सारे शस्त्र समाप्त हो जाते हैं तब वह अपना निकृष्टतम ब्रह्मास्त्र प्रयोग में लाती है कि नारी लेखन की चर्चा उनके नारी होने के कारण ही होती है।

फिर भी यह सत्य है कि जैसे उगते सूरज को कोई ढांक कर नहीं रख सकता, उसी प्रकार नारी लेखन की उपलब्धियों को नकारा नहीं जा सकता है। नारी लेखन लगातार प्रगति कर रहा है। पुरुष लेखन के समक्ष आ रहा है और एक दिन वह भी आएगा जब नारी लेखन पुरुष लेखन से श्रेष्ठ माना जाएगा।

## • मधु सन्धु

### पुरुषीय बैसाखियों की आवश्यकता नहीं

हिन्दी मानस ही नहीं, विश्व-मानस ने भी नारी को दोयम दर्जा ही दिया है। यहां अगर 'नारी' शब्द की व्युत्पत्ति 'नर' से हुई तो वहां भी 'वुमैन' शब्द 'मैन' से बना है। त्रासदी यह है कि 'नर' का एक शब्दकोशीय अर्थ 'मनुष्य' भी है, जबकि नारी के समानार्थकों में इसका कदाचित् प्रयोग नहीं मिलता। शब्दकोशीय धरातल पर उसके साथ कई बड़े अन्याय हुए हैं। 'बांझ' और 'सती' जैसे शब्द मात्र नारी के लिए ही बने हैं। इनका कोई पुल्लिंग नहीं होता।

नारी लेखन का कोई प्रामाणिक इतिहास नहीं लिखा जा सकता। वेद की ऋचाओं से लेकर आधुनिक काल के प्रारम्भिक दशकों तक नारी पार्श्व में रहकर, नाम बदलकर ही अपना कार्य करती रही है। क्या जरूरी था कि हिन्दी की प्रथम महिला उपन्यासकार अपने उपन्यास 'सुहासिनी' के नीचे नाम के स्थान पर 'किसी सती साध्वी प्राण अबला' लिखती? 1890 में यह उपन्यास प्रकाश में आया और 1890 में ही श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा गुरु' लिखा, किन्तु पुरुष होने के नाते उन्हें किसी गुप्त नाम की जरूरत नहीं पड़ी, न ही 'सुहासिनी' उपन्यास को

वह स्थान मिला जो 'परीक्षा गुरु' को। यानी दोयम दर्जा क्या नारी लेखन की नियति है? राजेन्द्र बाला घोष ने 'दुलाई वाली' कहकर लिखी और 'राई से पर्वत' उपन्यास भी लिखा। किन्तु अपना नाम उन्होंने 'बंग महिला' छपवाया। दोयम स्थिति की त्रासदी भारत ही नहीं विदेश ने भी झेली है। इसी दोयम स्थिति से संघर्ष करने के लिए नारीवादी आन्दोलन ने जन्म लिया। संयुक्त राष्ट्र संघ के मानव अधिकार आयोग के घोषणापत्र के पश्चात् पूरे विश्व में नारी के वैधानिक स्थिति में परिवर्तन तो हो गए, लेकिन सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आते सहस्रों वर्ष लग जाएंगे। आज भी महिलाएं पुलिसकर्मी का, उच्चाधिकारियों का, मंत्रियों-विधायकों का सामना तो कर लेती हैं लेकिन मार-पीट करने वाले पति का क्या करें?

नारी लेखन के भय और अवरोध की पीड़ा लेखिकाओं ने यहां-वहां व्यक्त की है। मृदुला गर्ग कहती है, 'हर लेखिका के पीछे कई पुरुष नहीं तो एक पुरुष अवश्य रहता है। जिसके कारण नहीं, जिसके बावजूद वह लेखन करती है।' 'चाक' की लेखिका मैत्रेयी पुष्पा लिखती है, 'जमाना बदल गया, पुरुष नहीं बदला।...चाक पड़ा जा रहा था, मेरे प्राण थर्रा रहे थे। प्राणेश्वर की आंखों से गुजरती इबारत मेरे कलेजे पर रेतगाड़ी की तरह धड़धड़ा रही थी।...मुझे लगा बाव और बकरी आमने-सामने खड़े हैं।'

हिन्दी मानस को आज स्वीकारना होगा कि महिला लेखन को अपने अस्तित्व के लिए पुरुषीय बैसाखियों की आवश्यकता नहीं उसने पुरुषीय लेखन को पछाड़ते सम्पूर्णता पा ली है। कुछ देर पहले तक नारी लेखन पर आरोप था कि उनका साहित्य घर-संसार तक सीमित होता है, पर आज उनके साहित्य में आई विविधता आश्चर्य में डाल देती है। स्त्री-जीवन के जटिल प्रश्नों के साथ-साथ समय और समाज के प्रत्येक पक्ष को उसने छुआ है। नासिरा शर्मा के 'चिंदी मुहावरे' में साम्प्रदायिक राजनीति है तो अलका सरावगी के 'कलिकथा' वाया बाइपास' में द ग्रेट कलकत्ता किलिंग से बाबरी मस्जिद हत्याकांड तक का उल्लेख है। भ्रष्ट प्रशासन, घूसखोर अफसर, भ्रष्ट राजनेता, दलित वेदना जैसी समस्याएं नमिता सिंह के 'अपनी सलीब' में हैं तो मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' का पाठक 'रेणु' के मेरीगंज को भूल-भूल जाता है। आंचलिकता का रागबोध, संगीत-लहरियां, त्रासद वेदना, विद्रोह एवं प्रगति के स्वर—सब अतरपुर गांव में हैं।

नारी लेखन ने साहित्य दरबार में और पाठों के प्रतिशोध और विद्रोह मुद्रा ने जीवन में दोयम दर्जे से स्पष्ट इन्कार किया है। प्रभा खेतान की 'छिन्नमस्ता' की तरह उसे दोयम दर्जा दिया तो वह सब छिन्न-भिन्न करके 'ए ग्रेट बिजनेस वुमैन' बन जाएगी अथवा मधु भादुड़ी के 'अनादि अनंत' की तरह शेरों को चूहे बना देगी। तीर्थ-यात्राओं पर जाने वाली नारी सुषम बेदी के 'इतर' में अपनी पारदर्शी दृष्टि से धर्मगुरुओं को अनावरण कर रही है। मृदुला गर्ग के



‘कठगुलाब’ में उसने प्रतिशोध लेने के लिए रणचण्डी दुर्गा से तादात्म्य कर लिया है। वह कस्तूरी (छिन्नमस्ता/प्रभा खेतान) से मार्था (निष्कवच/राजी सेठ) बनी है। मादा भ्रूण-हत्या से नर भ्रूण-हत्या तक आई है। जीवन और साहित्य में सर्वत्र उसे अपनी ताकत, सामर्थ्य, शक्ति पर भरोसा है। न उसे किसी गॉडफादर की जरूरत है, न वैसाखी की। वह कहती है, जरूरत पड़ने पर भी ‘मैं किसी को नहीं पुकारती। जो मुझे आवाज देगा, उसे जवाब दूंगी।’ (ए लड़की, कृष्णा सोबती)

• • •

### लेखिकाएं ही लेखिकाएं

‘मुझे याद आती हैं वे तमाम लेखिकाएं, जो मेरी जिंदगी में आयीं और मेरे वजूद को अपने आंचल की छांह देती रहीं। कुछ वे जो दिये की तरह जलीं, कुछ वे जो जंगल में फूल की तरह खिलीं और सूख गयीं।

...शायद मैंने कहा होगा कि मैं उस जंगल से कभी गुजरूंगा। कुछ ऐसी थी जिन्होंने अपने जीवन को खुद ही किसी इंतजार को सौंप दिया और इंतजार करते लम्हे बिना बताये बीतते रहे। कुछ ने इंतजार भी किया और अपनी भावनाओं का इजहार भी। कुछ ने साहस भी दिखाया और त्याग का परिचय भी दिया।

यह दौर भी कुछ ऐसा था कि हिन्दी की सुंदर कथा लेखिकाओं का बाजार कुछ ज्यादा ही गर्म था और वे अधिकचरी कहानियां लिखने के बावजूद अपनी खूबसूरत उपस्थिति के कारण काफी महत्वपूर्ण बनती जा रही थीं। हिन्दी में भी खूबसूरत औरतों की एक जमात आयी जो अपनी रचनात्मकता से कहीं ज्यादा अपनी खूबसूरती के बल पर रचनात्मक हो गयीं।

- कमलेश्वर; साप्ताहिक गंगा-यमुना, 20 सितम्बर 1998, पृष्ठ 8

• • •

## आगामी अंक में छठा विश्व हिन्दी सम्मेलन

हाल में ही लंदन में सम्पन्न हुए छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन (14-18 सितम्बर, 1999) के सम्बन्ध में अनेक चर्चाएं एवं प्रतिक्रियाएं पढ़ने-सुनने को मिलीं।

जिन्होंने एक प्रतिनिधि के रूप में उस सम्मेलन में भाग लिया था, ऐसे कुछ लेखकों/हिन्दीप्रेमियों को संचेतना की ओर से एक पत्र भेजा गया है, जिसमें कुछ प्रश्न उठाए गए हैं—

1. लगभग 23 वर्ष की अवधि में सम्पन्न हुए छह सम्मेलनों की उपलब्धि क्या रही है?
2. हर बार ऐसे सम्मेलन के लिए प्रतिनिधियों (सरकारी और गैर-सरकारी) के चयन की क्या कोई निश्चित प्रणाली है या केवल तदर्थवाद ही इसका आधार है?
3. सम्मेलन में होने वाले विचार-विमर्श, वहां प्रस्तुत किए जाने वाले आलेखों और स्वीकृत किए जाने वाले प्रस्तावों की रूपरेखा किस प्रकार निर्धारित की जानी चाहिए?
4. लंदन सम्मेलन में व्याप्त अव्यवस्था की बहुत चर्चा हुई है। क्या आप मानते हैं कि इससे हिन्दी की मर्यादा और उसके मान-सम्मान को काफी ठेस पहुंची है और सकारात्मक उपलब्धि के स्थान पर नकारात्मक रूप अधिक उभरा है?
5. क्या आप यह स्वीकार करते हैं कि हिन्दी में एक ऐसा वर्ग पनप गया है जो ऐसे किसी भी आयोजन को अपनी चतुर निपुणता से सदैव हथिया लेता है और इससे प्राप्त होने वाले लाभों-सम्मानों/पदों की बंदर-बांट कर लेता है और अपने वर्चस्व को बनाए रखता है—सरकार चाहे किसी भी दल या विचार के लोगों की हो?

संचेतना के आगामी अंक का मुद्दा विश्व हिन्दी सम्मेलनों के मन्तव्यों, उपलब्धियों, सीमाओं पर विचार करना है और इस निष्कर्ष पर पहुंचना है कि इन्हें अधिक सार्थक किस प्रकार बनाया जा सकता है।

आगामी अंक में हम पिछले सम्मेलन में शामिल हुए व्यक्तियों के मत प्रकाशित करेंगे।



## रामदरश मिश्र

## मैं और मेरी रचना-यात्रा

मेरा जन्म 15 अगस्त, 1924 (श्रावण पूर्णिमा, बृहस्पतिवार) को गोरखपुर जिले के डुमरी गांव के ब्राह्मण परिवार में हुआ। मेरे पिता का नाम रामचन्द्र मिश्र तथा मां का नाम कंवलपाती है। अपने तीन भाइयों में मैं सबसे छोटा हूँ। बड़े भाई का नाम रामअवध मिश्र (अब स्वर्गीय) तथा उनसे छोटे भाई का नाम रामनवल मिश्र है। बड़े भाई से बड़ी एक बहन थी—रजदेई। शादी के साल भर बाद ही ससुराल वालों की यातना से काल-कवलित हो गई। मुझसे छोटी बहन का नाम है कमला। इस प्रकार हम पांच भाई-बहन रहे हैं।

मैं जिस गांव और घर में पैदा हुआ, वह बहुत ही अभाव-ग्रस्त रहा है। दो नदियों (राप्ती और गोरा) के बीच मीलों फैले हुए कछार में बसा हुआ अपना डुमरी गांव ब्राह्मणों का गांव है, जिसमें बीस-पचीस घर हरिजनों के हैं, दो-चार घर यादवों के हैं, दो-चार घर गड़रियों के हैं, एक घर नाई का, एक घर धोबी का और एक घर कहार का है, दो-तीन घर भूमिहारों के भी हैं। कई जातियों की विविध-वर्णी छवियों का मेल इस गांव में देखते ही बनता था। यद्यपि सामंती व्यवस्था का अभिशाप यहां भी था, फिर भी मानवीय सम्बन्धों की एक लय बराबर अनुभूत की जा सकती थी और यह त्योहारों, पर्वों पर अधिक सघन हो जाती थी। सामंती अभिशाप के साथ उस लय की अनुभूति भी मेरे भीतर उतरती रही है।

पूरा गांव ही बड़ा गरीब था—हां, दो-चार चालाक लोग दूसरों को कर्ज दे-देकर रेहन के रूप में प्राप्त उनके खेतों से कुछ सम्पन्न बने हुए थे। सम्पन्न इतने कि ठीक से खा-पी सकें, अच्छा पहन सकें, अच्छी तरह से खेतीबारी कर सकें। बाकी घरों में तो अभाव ही लोटता था। न दोनों जून खाने को मिलता था, न साबुत पहनने को। त्योहारों को भी बहुत कठिनाई से कुछ अच्छा खाना-पहनना हो पाता था। बैलों और बीज के संकट के कारण समय पर खेतों की बुवाई भी नहीं हो पाती थी। जब कभी गांव में कुर्क अमीन आता था, आतंक मच जाता था। कहां से कोई लगान दे? सरकारी सिपाही उनके बैलों को हांक कर कांजी हाउस ले जाने लगते थे। और सबसे बड़ी शत्रु थी बाढ़, जो हर वर्ष आती थी। उनकी फसलें निगल जाती थीं और छोड़ जाती थीं उपवास, उदासी और बीमारी। लेकिन उसने एक और चीज़ दी थी, वह है जिजीविषा, सतत संघर्ष-क्षमता, अभाव में भी हंसने-गाने, पर्व-त्योहार मनाने का उल्लास, सामूहिक जीवन-लय और न जाने क्या-क्या? बाढ़ हर साल ताज़ा मिट्टी छोड़ जाती थी जिस पर उगती थी सघन हरियाली, जो जाड़े में कोसों तरंगित होती थी और हारी-थकी

आंखों में रंग-बिरंगे सपने जगाती थी और देखते-देखते वसंत आ जाता था। मैं अपने गांव के अनेक बच्चों की तरह और उनके साथ इसी कछार-परिवेश में पला-पुसा, बड़ा हुआ, लिखाई-पढ़ाई को रोया-गाया, खेला-कूदा। प्राकृतिक और सामाजिक जीवन-छवियों के बिंब अपने अनुभव में उतारता गया और धीरे-धीरे वह गंवई सामाजिक दृष्टि पाई जो शहर के अंधेरे में भी रोशनी की तरह मेरे साथ रही।

गांव के पास विशुनपुरा गांव में प्राइमरी और मिडिल स्कूल थे। मेरी प्रारंभिक पढ़ाई इन्हीं स्कूलों में हुई। इस शिक्षा-यात्रा में मैं न जाने कितने सुखद और दुखद अनुभवों से गुज़रा, जो मेरी अमूल्य निधि बने हुए हैं। मैंने 1936 में मिडिल स्कूल पास किया, फिर वहीं से 1940 में उर्दू मिडिल किया। उर्दू मिडिल करने के पश्चात् शिक्षा का रास्ता बंद-सा दिखाई पड़ा। कहां जाएं, क्या करें के भाव से जड़ीभूत-सा हो गया। वह तो ऐसा इलाका था जहां अपढ़ लोगों की ही दुनिया थी और पढ़े-लिखे लोग भी मिडिल स्कूल की सीमा पर नहीं कर पाते थे। कौन किसे क्या सुझाव देता? अंग्रेजी स्कूल तो गोरखपुर शहर में था, जहां जा कर पढ़ना हम अभाव-ग्रस्तों के बूते की बात नहीं था। किसी ने सुझाव दिया कि मुझे 'विशेष योग्यता' कर लेनी चाहिए। वह शिक्षक की नौकरी की प्राप्ति में सहायक होती है। अतः मैं अपने गांव से दस मील दक्षिण की ओर स्थित ढरसी गांव में चल रही विशेष योग्यता की पढ़ाई से जुड़ गया। मेरे लिए इसका कारण नौकरी की प्राप्ति नहीं था बल्कि साहित्य-प्रेम था।

हां, दस-बारह वर्ष की अवस्था से ही मेरे भीतर एक कवि सुगबुगा रहा था। मैं नहीं जानता था कि कवि क्या होता है किन्तु जब लोक-गीत सुनता था तो कुछ वैसा ही लिखने का मन होता था और धीरे-धीरे इस पथ पर अपने को चलता हुआ पा रहा था। सातवीं पास करते-करते मैंने पड़ोसी गांव के प्रारंभिक काव्य-गुरु मदनेश जी के प्रोत्साहन से छन्द का ठीक अभ्यास कर लिया था और कविताएँ लिखने लगा था। इन कविताओं में अपना प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश तो था ही, किशोर-मन की रूमानियत भी थी।

1940 में ढरसी में विशेष योग्यता पढ़ने गया तो हिन्दी साहित्य के इतिहास और उसके विशेष पड़ावों का परिचय प्राप्त हुआ। वहां के युवा आचार्य पं. रामगोपाल शुक्ल का बहुत स्नेह मिला। उन्होंने मेरी कविता-यात्रा को बहुत प्रोत्साहित किया। विशेष योग्यता पास कर मैं 1941 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का 'विशाल' पढ़ने के लिए बरहज चला गया। वहां बाबा राघवदास के आश्रम में



राष्ट्रभाषा की पढ़ाई होती थी। वहाँ के आचार्य थे पं. सिंहासन त्रिपाठी कांता। वहीं से अगले वर्ष यानी सन् 42 में 'साहित्यरत्न' की उपाधि प्राप्त की और वहीं 42 के आन्दोलन के ताप का भी अनुभव किया। मैं वहाँ भी ढरसी की तरह कवि रूप में ख्यात हो गया था। वहीं मैंने घनाक्षरी सवैये में 'चक्रव्यूह' नामक खंड-काव्य लिखा, जिसमें अभिमन्यु की कथा वर्णित है। प्रारंभिक प्रयास होने के नाते कच्चा तो था ही, उसे प्रकाशित नहीं कराया। फरवरी, सन् 1941 में गोरखपुर की 'सरयूपारीण' पत्रिका में मेरी पहली रचना छपी। शीर्षक था 'चांद'।

साहित्यरत्न पास करने के बाद फिर समस्या खड़ी हुई कि अब क्या किया जाए? लगा कि अंग्रेजी पढ़े बिना निस्तार नहीं है। अतः मैं फिर ढरसी चला गया—अंग्रेजी पढ़ने। पं. रामगोपाल जी विशेष योग्यता के साथ-साथ मैट्रिक की भी तैयारी कराते थे। दो साल तक वहाँ पढ़ने के बाद 1945 में मैट्रिक की परीक्षा दी। सब विषयों में प्रथम श्रेणी में अंक थे किन्तु अंग्रेजी में फेल हो गया था। फिर मैं बनारस चला गया और वहाँ के एक प्राइवेट स्कूल 'कैब्रिज एकेडेमी' में पढ़ाई की और प्रथम श्रेणी में पास हुआ। उत्साहित होकर 1946 में हिन्दू विश्वविद्यालय में इंटरमीडिएट में प्रवेश लिया और मेरी पढ़ाई चलती रही। वहाँ से 48 में इंटर, 50 में बी.ए. तथा 52 में एम.ए. पास किया और 1956 में पी-एच.डी. का शोध-प्रबंध जमा कर नौकरी करने एम.एस. यूनिवर्सिटी (बड़ौदा) चला गया।

बनारस के दस वर्षीय निवास ने मुझे बहुत कुछ दिया। मैट्रिक से लेकर पी-एच.डी. तक की उपाधियां तो दीं ही, मेरे रचनाकार को साहित्य की समझ और संस्कार दिए। सच पूछिए तो बनारस जाने पर ही मेरे कवि को ठीकठाक रास्ता मिला। शुरू में यानी 45 में मैं प्रसाद जी के अन्तेवासी डॉ. राजेन्द्र नारायण शर्मा के संपर्क में आया। उन्होंने मेरी भाषा को छायावादी परिमार्जन दिया और अनेक स्थानीय पत्रों में मेरी कविताएं प्रकाशित कराईं। इस तरह मैं वहाँ चार-पांच महीने में ही जाना जाने लगा। वहाँ के वरिष्ठ और कनिष्ठ साहित्यकारों—सीताराम चतुर्वेदी, बेदब बनारसी, बेधड़क बनारसी, शंभुनाथ सिंह, त्रिलोचन, ठाकुरप्रसाद सिंह आदि से मेरा परिचय हुआ। जब मैं बी.एच.यू. में गया तो यह परिचय-क्षेत्र और व्यापक तथा गहरा हुआ। देर-सरेर नामवर सिंह, प्रेमशंकर, शिवप्रसाद सिंह आदि से जुड़ाव हुआ। शिवमंगल सिंह 'सुमन' वहाँ डी.लिट. कर रहे थे, वे तो जैसे हम लोगों के अभिभावक ही थे। ठाकुरप्रसाद सिंह साहित्य-संघ नामक संस्था चलाते थे, जिसमें अनेक छोटे-बड़े साहित्यकार शामिल थे। प्रगतिशील लेखक संघ तो था ही, 'परिमल' के तर्ज पर चेतना नामक संस्था भी गठित हुई। सभी संस्थाओं के माध्यम से लगातार गोष्ठियां होती थीं, रचनाएं पढ़ी जाती थीं। खुले विचार-विनिमय होते थे और हम सभी लोग आपसी वैचारिक सहयोग और टकराहट से सीखते चल रहे थे और इस प्रक्रिया में मैंने महसूस किया कि छायावादी संस्कार की

मेरी भाषा और रोमांटिक उफान का कथ्य अप्रासंगिक हो गया है। धीरे-धीरे मैं अपने साहित्यिक परिवेश से सीखता गया और धीरे-धीरे मेरे कथ्य और भाषा में यथार्थ का संयम आ गया। लोक-संपृक्ति तो मेरी रचनाओं में पहले से थी, किन्तु 50 के आसपास आते-आते उसमें अधिक सघनता, संक्षिप्ति और सहजता आ गई। 1951 में मेरा पहला काव्य संग्रह 'पथ के गीत' प्रकाशित हुआ, जिसमें सन् 45 से 51 तक की काव्य-यात्रा के विविध रंग देखे जा सकते हैं। इसकी भूमिका गुरुवार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने लिखी, यह मेरे लिए गौरव की बात थी। 51-52 के आसपास मैं मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हो चला था और वही समय 'नयी कविता' की शुरुआत का भी है। अंतः मेरी कविताओं में मार्क्सवादी अंतर्दृष्टि वाली 'नयी कविता' का स्वरूप उभरने लगा था। इन कविताओं का संग्रह 'वैरंग बेनाम चिट्ठियां' नाम से सन् 1962 में आया।

बनारस का अकादमिक और साहित्यिक जीवन बहुत सुहृणीय रहा। तब बी.एच.यू. के सारे विभागों में देश की बड़ी प्रतिभाएं विद्यमान थीं। हिन्दी विभाग में मेरे समय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो नहीं थे किन्तु केशवप्रसाद मिश्र, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे प्रसिद्ध आचार्य विभाग की शोभा बढ़ा रहे थे। इनके अतिरिक्त डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पद्मनागयण आचार्य करुणापति त्रिपाठी आदि विद्वान भी वहाँ थे। जब सन् 51 में शान्ति निकेतन से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आ गए तब तो हिन्दी विभाग की प्रतिष्ठा को चार चांद लग गए। द्विवेदी जी का विराट अकादमिक, साहित्यिक और मानवीय व्यक्तित्व हिन्दी विभाग में न समा कर चारों ओर अपनी आभा विकीर्ण कर रहा था। मेरा सौभाग्य था कि मुझे उनका प्रिय छात्र होने का गौरव प्राप्त हुआ। उन्हीं के निर्देशन में मैंने एम.ए. का लघु शोध-प्रबंध लिखा—'ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा'। यह प्रबंध 1955 में बनारस के ही एक प्रकाशक ने छपा था और उसका दूसरा संस्करण छपा एस चांद एण्ड कम्पनी से—सन् 1964 में।

प्रथम श्रेणी में एम.ए. करने के पश्चात् मैंने डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा के निर्देशन में 'हिन्दी आलोचना की प्रवृत्तियां और उनकी आधार भूमि' विषय पर पी-एच.डी. का शोध कार्य करना शुरू किया और गुरुवर द्विवेदी जी की कृपा से 52 में ही सेंट्रल हिन्दू कॉलेज के इंटर सेक्शन में अस्थायी प्राध्यापक नियुक्त हो गया, किन्तु छः महीने बाद जब स्थायी नियुक्ति का समय आया तो मुझे वहाँ से हटना पड़ा। फिर भी सन् 56 तक (शोध-प्रबंध प्रस्तुत करने तक) द्विवेदी जी की कृपा से रिसर्चफेलो के रूप में कक्षाएं लेता रहा और स्कालरशिप पाता रहा। गुरुदेव द्विवेदी जी के बार-बार चाहने के बावजूद मैं हिन्दू विश्वविद्यालय में नियुक्त नहीं हो सका। जुलाई 56 में एम.एस. यूनिवर्सिटी (बड़ौदा) में मेरी नियुक्ति हो गई। वहाँ भी साल भर ही रह सका, दूसरे साल गुजरात यूनिवर्सिटी से सम्बद्ध सेंट जेवियर्स कॉलेज



(अहमदाबाद) ने (जहां हिन्दी का एम.ए. केन्द्र खुल रहा था) मुझे खींच लिया। पारिवारिक बीमारी तथा विभागीय राजनीति के कारण बड़ौदा की नई जगह मुझे रास नहीं आई। वहां बड़ी उदासी अनुभव होने लगी और वहां हिन्दी की पढ़ाई बी.ए. तक ही थी। अहमदाबाद ने भी शुरू में मुझे कम तकलीफ नहीं दी किन्तु उस बड़े नगर में अपने प्रदेश और सम्बन्धों के बहुत-से लोग थे जो मेरा अकेलापन और तकलीफ बांटने के लिए आने-जाने लगे और धीरे-धीरे कॉलेज के छात्रों तथा विभागीय लोगों की आत्मीयता की ऊष्मा मिलने लगी और धीरे-धीरे अहमदाबाद मुझे अपना लगने लगा। दो साल बाद (1959) मैं गार्ड कॉलेज (नवसारी) चला गया और वहां का एक वर्ष भी वहां की आत्मीयता की दृष्टि से बहुत सघन गुज़रा। यद्यपि उस छोटे-से नगर में मेरा और मेरे परिवार का जी बहुत ऊबता था किन्तु वहां के लोगों और छात्रों ने अद्भुत प्यार दिया। 60 में फिर सेंट जेवियर्स कॉलेज ने मुझे खींच लिया और 64 तक मैं वहां रहा। छह वर्षों की अवधि में अहमदाबाद ने मुझे सर्वाधिक प्रिय शिष्य दिए, सर्वाधिक भरोसे के मित्र दिए, विश्वसनीय तथा स्नेहिल पड़ोसी दिए और हमारे जीवन को अनेक नए सांस्कृतिक रंग दिए, जिनसे मेरा मानसिक क्षितिज और उदार हुआ। मुझे महसूस होने लगा कि गुजरात (विशेषतया अहमदाबाद) मेरा दूसरा घर है।

गुजरात निवास की अवधि में मेरी चार पुस्तकें प्रकाशित हुईं। 'हिन्दी आलोचना का इतिहास' नाम से शोध-प्रबंध जिसका संशोधित परिवर्धित रूप 1974 में मैकमिलन एंड कम्पनी, दिल्ली से 'हिन्दी समीक्षा: स्वरूप और संदर्भ' नाम से प्रकाशित हुआ (1960), (2) 'पानी के प्राचीर' उपन्यास (1961), (3) 'वैरंग बेनाम चिट्ठियां' कविता संग्रह (1962), (4) 'साहित्य : संदर्भ और मूल्य' निबंध संग्रह (1961)। पत्र-पत्रिकाओं में कविताओं के अतिरिक्त कहानियां भी छपती रहीं। हां, सन् 50 के आसपास मैं कहानी-लेखन की ओर भी उन्मुख हुआ और 'कहानी', 'कल्पना', 'नया पथ' तथा अन्य महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में कहानियां छपीं, किन्तु छठे दशक में मेरे कहानी-लेखन में न निरंतरता आई, न सक्रियता। गाहे-बगाहे कहानी लिख दिया करता था किन्तु 60 के बाद मैंने अपने को इस विधा में काफी सक्रिय पाया और 'धर्मयुग' के माध्यम से मेरी अनेक अच्छी कहानियां विशाल पाठक-समुदाय तक पहुंचीं। किन्तु नई कहानी के दौर (जिसकी प्रवृत्ति की मेरी कहानियां रही हैं) में जिनको कहानीकार व्यक्तित्व बनना था, बन गया था और अब साठोत्तरी कहानियों का छद्म आन्दोलन शुरू हो गया था, जिसमें मैं शरीक नहीं था। अतः मैं कहानियां तो लिखता रहा किन्तु वादों के गणित से साहित्य का इतिहास देखने वालों के लिए मैं कहीं था ही नहीं। मेरी कहानियों का पहला संग्रह 'खाली घर' ज्ञान भारती प्रकाशन, दिल्ली से 1968 में प्रकाशित हुआ। इस प्रकाशन के मालिक थे डॉ. विनय। विनय मेरे मित्र

हैं और मित्रता की शुरुआत तभी हो गई थी। दिल्ली में आने के बाद तो मैं यहां के अनेक वरिष्ठ-कनिष्ठ साहित्यकारों (जो पहले से थे या जो मेरे आसपास ही आए) के साहचर्य में आया किन्तु जिन साहित्यकारों से मेरी आत्मीयता स्थापित हुई और जिनके साथ मैंने अपने को साहित्य-संवाद करते चलते हुए पाया, उनमें विनय का नाम भी विशिष्ट है। कथाकार मित्र डॉ. महीप सिंह द्वारा संपादित 'संचेतना' तो हम लोगों के वाद-संवाद का विशिष्ट मंच बन गई थी। इसी पत्रिका में पहली बार मेरी कहानियों पर डॉ. नित्यानन्द तिवारी का लेख छपा।

हां, मैं 1964 में गुजरात से दिल्ली आ गया था। पी.जी. डी. ए. वी. कॉलेज में प्राध्यापक के रूप में नियुक्त हुआ था। मैंने मॉडल टाउन में किराये का मकान लिया। साहित्यिक दृष्टि से वे दिल्ली के गहमागहमी के दिन थे और मॉडल टाउन तो जैसे उस गहमागहमी का केन्द्र बन गया था। न जाने कितने प्रोफेसर और साहित्यकार उस समय मॉडल टाउन में रहने आ गए थे और आते ही जा रहे थे। यहां-वहां गोष्ठियां होती थीं, चर्चाएं होती थीं, लोग एक-दूसरे के यहां आते-जाते थे, एक दूसरे की रचनाओं को पढ़ते और कहते थे। दिल्ली विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग भी डॉ. नगेन्द्र की अध्यक्षता में अकादमिक और साहित्यिक गतिविधियों का तथा पूरे देश के हिन्दी विभागों के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ था। यह मेरा सौभाग्य था कि डॉ. नगेन्द्र मुझ जैसे बाहर से आए हुए व्यक्ति को महत्व देते थे और अपना प्रीतिकर सान्निध्य प्रदान करते थे। सन् 69 में मैं हिन्दी विभाग में आ गया और दक्षिण परिसर खुलने पर मैं वहां 72 में रीडर बन कर चला गया। वहां के प्रभारी हुए प्रो. विजयेन्द्र स्नातक जिनका स्नेह मुझे अंत तक मिलता रहा। दिल्ली आने पर अनेक नए लोगों से प्रीतिकर सम्बन्ध बने। विभाग में भी और विभाग के बाहर भी। डॉ. नित्यानन्द तिवारी से जिस दिन परिचय हुआ, उसी दिन वह परिचय कुछ और लगा और उस परिचय की प्रगाढ़ता और प्रतीति निरंतर बढ़ती ही गई। मुझे इस बात का गहरा सुख था कि वे विभाग में हमारे साथ थे। दक्षिण परिसर का वातावरण हमें अच्छा लगता था। और जब धौला कुआं के पास उसका अपना भवन बन गया तब तो वातावरण और भी प्रीतिकर तथा सघन हो गया। अनेक अनुभवों से गुजरता हुआ यहां अध्यापन करता रहा और 90 में प्रोफेसर के रूप में सेवा-मुक्त हुआ।

मैंने 'जल टूटता हुआ' उपन्यास लिखने की शुरुआत अहमदाबाद में ही कर दी थी बल्कि तीन-चौथाई लिख भी लिया था। यहां आने पर उसे 65 में पूरा कर लिया। दिल्ली के प्रकाशकों के लिए मैं नया था और मेरे हाथ में ऐसी कोई सत्ता नहीं थी जिससे लाभ पहुंचा सकूँ। अतः उसके छपने में काफी व्यवधान पड़ा। अंत में वह 69 में प्रकाशित हो सका। दरअसल कहानियां लिखने की प्रक्रिया में यह अहसास हुआ कि मेरे भीतर अपने कछार-अंचल के जीवन का जो यथार्थ अंटा पड़ा है, उसे एक साथ समग्र भाव से आना चाहिए।



कहानियां तो खंड-खंड रूप में ही उसे दे पाती हैं। 'मैला आंचल' इस प्रकार के लेखन का आदर्श प्रस्तुत कर चुका था। इसीलिए मैंने 'पानी के प्राचीर' की रचना की, जिसमें स्वाधीनता-प्राप्ति तक के अपने गांव और उसके माध्यम से भारतीय गांव के यथार्थ को चित्रित करने का प्रयत्न किया। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद गांव बहुत तेजी से बदल रहा था और इकसठ-बासठ तक आते-आते मैंने महसूस किया कि मेरा गांव भी तेजी से बदला है। उसी बदलाव की पहचान उभारने के लिए मैंने 'जल टूटता हुआ' उपन्यास की रचना की। एक तरह से यह 'पानी के प्राचीर' का दूसरा खंड कहा जा सकता है, यद्यपि अपने आप में यह सर्वथा स्वतंत्र है। यह उपन्यास जिस वर्ष छपा, उसी वर्ष भारतीय ज्ञानपीठ से तीसरा काव्य-संग्रह 'पक गयी है धूप' भी आया। इस तीसरे काव्य-संग्रह में साठोत्तर दौर की मेरी कविताएं हैं, अतः इनमें इस दौर के सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ की कटु विसंगतियां तथा मोहभंग की अप्रिय प्रतीतियां अधिक तल्लीन से उभरी हैं, लेकिन इन्हें इस दौर की उन कविताओं में नहीं शामिल किया जा सकता जो अकविता या उसी के स्वगोत्रीवादों के बैनर के नीचे लिखी गईं। इनमें अनुभवों, बोधों तथा शिल्प की दृष्टि से वैविध्य और खुलापन है।

देखा जाए तो 68, 69, 70 के वर्ष मेरी पुस्तकों के प्रकाशन की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण रहे हैं। आलोचना की एक पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्वात्रा' राजकमल प्रकाशन से 68 में आ चुकी थी, एक और आलोचना पुस्तक 'हिन्दी कविता : तीन दशक' 69 में ज्ञान भारती प्रकाशन से प्रकाशित हुई, जिसमें छायावादोत्तर हिन्दी कविता की पड़ताल की गई है और जो बाद में कुछ संशोधन के साथ 'हिन्दी कविता : आधुनिक आयाम' नाम से 78 में वाणी प्रकाशन से प्रकाशित हुई। छठे दशक के अंत में 'आजकल' के संपादक चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने 'आजकल' के लिए मुझसे छायावाद पर लेख लिखवाए थे जिन्हें उन्होंने धारावाहिक रूप में छपा था। वे लेख 'छायावाद का पुनर्मूल्यांकन' नाम से साथी प्रकाशन सागर से पुस्तकाकार छपे थे। बाद में यही पुस्तक 'छायावाद का रचनालोक' नाम से ज्ञान प्रकाशन से सन् 81 में प्रकाशित हुई। सन् 90 में मेरा एक छोटा-सा उपन्यास 'बीच का समय' राधाकृष्ण प्रकाशन से छपा जो गुजरात की भूमि पर रचित एक प्रेम कहानी है। यह उपन्यास 82 में 'आदिम राग' नाम से वाणी प्रकाशन से प्रकाशित हुआ। 1972 में नेशनल पब्लिशिंग हाउस से मेरा उपन्यास 'सूखता हुआ तालाब' आया। यह भी गांव की ज़मीन पर है। इसमें राजनीति के दबाव में गांव के छिन्न-विच्छिन्न होते नैतिक मूल्यों का निर्मम चित्रण किया गया है। उपन्यास लेखन का क्रम बन गया था और अब छपने की भी समस्या नहीं थी, अतः मेरे अनुभव में उतरे हुए विविध यथार्थ औपन्यासिक अभिव्यक्ति पाते गए। 'अपने लोग' नाम से मैंने एक बड़ा उपन्यास लिखा, जो गोरखपुर शहर (और उसके माध्यम से बनते हुए शहरों) पर आधारित है। इसमें 75-

76 के आसपास की राजनीति, समाज-व्यवस्था, शिक्षा-तंत्र तथा पारिवारिक सम्बन्धों का यथार्थ चित्रित है। यह उपन्यास भी 'जल टूटता हुआ' की तरह काफी चर्चा के केन्द्र में रहा। यह 76 में नेशनल पब्लिशिंग हाउस से छपा था। 76 में ही नारी-यातना को लेकर लिखा गया मेरा एक छोटा उपन्यास 'रात का सफर' राधाकृष्ण प्रकाशन से प्रकाशित हुआ जो मेरी दृष्टि में महत्वपूर्ण होते हुए भी 'अपने लोग' की चर्चा की छाया में दब गया।

छह साल तक अहमदाबाद में रहा और विविध कामकाज के सिलसिले में उत्तर भारत से वहां गए लोगों की जीवन-चर्या का अनुभव करता रहा। वे दो घरों के बीच झूलते हुए प्रतीत होते थे। इस यथार्थ को उतारने की तड़प मेरे मन में तभी से थी जब मैं गुजरात से दिल्ली आया था। उपन्यास शुरू भी कर दिया था किन्तु काफी दिनों तक ठप पड़ा रहा। अंत में वह 85 में पूर्ण होकर 86 में वाणी प्रकाशन से प्रकाशित हुआ। इस बीच 'आकाश की छत' और 'बिना दरवाजे का मकान' नाम से दो और उपन्यास क्रमशः 1978 में वाणी प्रकाशन तथा 1984 में प्रभात प्रकाशन से आ गए थे। 'आकाश की छत' दिल्ली में आई बाढ़ पर आधारित है और 'बिना दरवाजे का मकान' बनते हुए उत्तम नगर की ज़मीन पर लिखा गया है। 1984 में 'थकी हुई सुबह' उपन्यास इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन से प्रकाशित हुआ जिसमें नारी-यातना और संघर्ष की कथा है। वाणी प्रकाशन से 96 में 'बीस बरस' उपन्यास आया जिसमें नए गांव का जीवन चित्रित किया गया है। अब दिल्ली पर एक बड़ा उपन्यास टान रखा है, पता नहीं उसकी क्या नियति होगी।

कविताएं तो लिखता ही रहा और वे पत्र-पत्रिकाओं में लगातार छपती भी रहीं, किन्तु कविता पुस्तक के लिए प्रकाशक नहीं मिलते थे। यह एक सामान्य परिदृश्य था। 69 के बाद किसी तरह 76 में 'कंधे पर सूरज' नाम से मेरा नया कविता संग्रह राधाकृष्ण प्रकाशन से आया। फिर 1984 में नेशनल से 'दिन एक नदी बन गया' प्रकाशित हुआ। 1989 में प्रभात प्रकाशन से 'जुलूस कहां जा रहा है', 1992 में इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन से 'आग कुछ नहीं बोलती', 1996 में वाणी प्रकाशन से 'बारिश में भीगते बच्चे' तथा 1999 में नमन प्रकाशन से 'ऐसे में जब कभी' कविता-संग्रह आए। कविता संग्रहों के प्रकाशन की वह दयनीय स्थिति अब नहीं है जो पहले थी, इसलिए मेरे संग्रह भी आते गए। मैं कभी भी किसी वाद के बैनर के नीचे नहीं आया। इससे प्रचार के क्षेत्र में चाहे जितना भी नुकसान हुआ हो किन्तु लाभ यह हुआ कि मेरी और मेरे लेखन की अपनी अस्मिता बनी रही। मैं सहज भाव से उस समय-सत्य से जुड़ता चला गया जिससे वादों वाले भाई डक बजा-बजा कर जुड़ने और उसमें बंद होने का ऐलान करते रहे। सहज ही मेरे लेखन में एक विकासक्रम बनता चला गया। 'पथ के गीत' से लेकर 'ऐसे में जब कभी' तक की दूरी की पड़ताल की जाए तो मुझे



लगता है कि एक बुनियादी आधार पर अनेक मोड़ों और विविधताओं के रंग दिखाई पड़ेंगे।

कविता के क्षेत्र में मैंने गीत-अगीत, छन्द-अछन्द की कृत्रिम दीवार नहीं खड़ी की। गीतेतर कविता के दौर में भी गीत लिखता रहा और यों ही कभी-कभी ग़ज़ल भी लिख लेता था किन्तु नवें दशक में मैं सजग भाव से ग़ज़लें लिखने की ओर प्रवृत्त हुआ और एक सौ एक ग़ज़लों का संग्रह 'हंसी ओठ पर आँखें नम हैं' नाम से परमेश्वरी प्रकाशन से 1997 में आया। यों इनमें से उनसठ ग़ज़लों का संग्रह 'बाज़ार को निकले है लोग' नाम से उसी प्रकाशन से 1986 में छप चुका था।

1968 में कहानी-संग्रह 'खाली घर' छपा तो उसमें सारी कहानियाँ नहीं आ पाई और साठोत्तर काल से मैं कहानी-लेखन में भी काफी सक्रिय हो गया था। अतः दूसरा कहानी-संग्रह छपे, इसकी चिन्ता बनी हुई थी। पत्र लिखने पर प्रकाशक लोग उदासीनता दिखा देते थे। किन्तु सन् 74 में नेशनल पब्लिशिंग हाउस ने मेरा दूसरा कहानी संग्रह 'एक वह' छाप ही दिया। उसके बाद थोड़ी-बहुत दिक्कत के साथ संग्रहों के आने का क्रम शुरू हो गया। 1979 में 'दिनचर्या' (प्रवीण प्रकाशन), 1982 में 'सर्पदंश' (पराग प्रकाशन), 1982 में ही 'वसंत का एक दिन' (प्रभात प्रकाशन), 1987 में 'अपने लिए' (किताबघर), 1996 में 'आज का दिन भी' (कादंबरी प्रकाशन) तथा 1998 में 'फिर कब आयेगे' (इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन) प्रकाशित हुए और सबसे बड़ी बात यह हुई कि मेरी पष्टिपूर्ति के अवसर पर (सन् 1984) प्रभात प्रकाशन ने बहुत उत्साह के साथ 'इकसठ कहानियाँ' शीर्षक से मेरी तब तक की लगभग सभी महत्वपूर्ण कहानियों का संग्रह प्रकाशित कर दिया और उसके माध्यम से मेरी कहानियाँ पाठकों को बड़ी सुगमता से उपलब्ध हो गई।

आलोचना के क्षेत्र में भी मेरी सक्रियता बनी रही और समीक्षा तथा आलोचनात्मक निबंध लिखता रहा। सन् 1972 में प्रकाशित तथा डॉ. नगेन्द्र द्वारा संपादित 'हिन्दी वाङ्मय: बीसवीं शताब्दी' के लिए मैंने हिन्दी कहानी पर एक लंबा निबंध लिखा था। बाद में उसी को बढ़ा कर मैंने विस्तार से हिन्दी कहानी की यात्रा की और 1977 में 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान' नाम से पुस्तक छपी—नेशनल पब्लिशिंग हाउस से।

नवें दशक में किताबघर से मेरी आत्मकथा के चार खंड आए और 91 में प्रकाशित 'सहचर है समय' में चारों खंड समाहित हो गए। इसी दौर में मैंने संस्मरण, निबंध, यात्रा-वर्णन सम्बन्धी पुस्तकें भी लिखीं। मैं अभी भी लेखन में प्रवृत्त हूँ—इसलिए कि मेरी चेतना और इन्द्रिय-बोध अभी भी सजग है और अभी भी उन पर वस्तु-सत्य का गहरा दबाव अनुभव होता है।

मेरे सतत लेखन के पीछे वह अवकाश भी है जो मुझे अपने पेशे

और परिवार से प्राप्त रहा है। मैं प्राध्यापक रहा हूँ और मेरी आत्मकथा इतनी रही है कि मैं अपने छात्रों के प्रति अपने अध्यापन में ईमानदारी और सक्रिय बना रहा। इस प्रक्रिया में पढ़-लिखूँ। विश्वविद्यालय में प्राप्त होने वाले प्रशासनिक लाभ या पदीय प्रोन्नति के पीछे मैंने तो दौड़ा, उसके लिए जोड़-तोड़ में मैंने अपना समय नहीं बिताया और न दिल्ली के लाभप्रद अकादमिक और साहित्यिक संस्थानों के चक्कर काटे। अतः मुझे लिखने-पढ़ने के लिए विपुल समय मिला और परिवार में मेरी पत्नी सरस्वती जी ने अनेक पारिवारिक दायित्वों से मुझे मुक्त रखा। उनकी कर्मठता और उत्कृष्ट जीवन-चर्या ने मेरे अनेक पारिवारिक कार्यों को अपने ऊपर ले लिया। शादी के समय मैं ही वे मेरे सुख-दुख को अपना सुख-दुख बनाए चलती रही, कोई भार नहीं, असुविधाओं और अभावों के प्रति कोई शिकवा-शिकायत नहीं। परिस्थितियों ने मुझे जिस हाल में रखा, उसमें वे बड़ी खुशी से रही। हमारी लम्बी सहयात्रा ने हमें एक दूसरे से पूरा-पूरा भर दिया।

हां, लंबी सहयात्रा—सन् 48 में (यानी, जब मैंने इण्टर की परीक्षा दी थी और उन्होंने सातवीं की) हमारा विवाह हो गया था। चाहे बनारस की यात्रा रही हो, चाहे गुजरात की, चाहे दिल्ली की, उन्होंने शुरू से ही अपनी सोचगत और व्यवहारगत मनुष्यता तथा सहजता का परिचय दिया और वे ज़िन्दगी से निरंतर सीखती चली गईं। घर से निकल कर हम दो प्राणी न जाने किन-किन जाने-अनजाने नगरों की राह पर चले रहे और न जाने कितने अकेलेपन और तज्ज्वन्य दुःखों को एक दूसरे के सहारे जीते रहे। हमारे पांच बच्चे हैं—हेमन्त, अंजलि, शशांक, विवेक और स्मिता। हेमन्त का जन्म 1953 में गोरखपुर में हुआ, अंजलि 1955 में बनारस में पैदा हुई, शशांक और विवेक क्रमशः 57 और 62 में अहमदाबाद में जन्मे और स्मिता 1965 में दिल्ली में पैदा हुई। लगभग सारे बच्चों की पैदाइश के समय परिवार का कोई भी व्यक्ति आगे-पीछे नहीं था। परदेश में बस हम दोनों ही सब कुछ झेलते रहे। बड़े से बड़े संकट आए लेकिन हम दोनों एक दूसरे का सहारा बने हुए उन्हें झेलते और काटते रहे। अब तो मेरा भग-पुत्र परिवार है। हेमन्त और विवेक एन.एस.डी. से स्नातक बन कर मुंबई में अभिनय के क्षेत्र में सक्रिय हैं। शशांक भारतीय स्टेट बैंक में काम करते हैं और साथ ही हैं। स्मिता दिल्ली विश्वविद्यालय के खालसा कॉलेज में प्राध्यापक हैं और अंजलि पी-एच.डी. करने के बाद अपने संपन्न परिवार में गृहस्थी संभाल रही हैं। बहुएं हैं, पोते-पोतियाँ हैं और सरस्वती जी तो हैं ही। इनके बीच अवकाश-प्राप्ति के मेरे दिन बहुत प्रसन्नता और सार्थक ढंग से बीत रहे हैं। बाहर की दुनिया से मेरे भिन्न, आत्मीय जन, पाठक और साहित्यिक प्रसंग मुझे लगातार जोड़े रहते हैं। और आसपास सामान्य जन-समूह का जो प्रवाह बहता है, उसके साथ अपने होने को लगातार अनुभव करता रहता हूँ।

आर-38, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059



प्रकाश मनु

# एक चेहरा जो दिल्ली का नहीं, गांव का है!

रामदरश जी की आत्मकथा को जो जानता है और उस सिंहद्वार से उनकी रचना-भूमि में प्रवेश करता है, उसके लिए कुछ भी अपरिचित नहीं रह जाता। और एक-एक कर कोठरियां और अंतःपुरों के द्वार खुलते चले जाते हैं। रामदरश जी कोई बहुत चतुर चालाक लेखक नहीं हैं और न जो लिखते हैं, उसमें बहुत ज्यादा कसरत करना ही उन्हें प्रिय है। लिहाजा जो उन्होंने जीवन जिया और जो कुछ उन्होंने करीब से देखा और पाया, उसी को थोड़ा फेर-फारकर वे रचनाओं में ढाल देते हैं...और उसी में उनकी कलम के स्पर्श से एक ऐसी चमक पैदा हो जाती है कि यथार्थ हमें कुछ नया-नया और ज्यादा अर्थपूर्ण लगने लगता है।

जो नितांत अपने और आत्मीय होते हैं, बल्कि जो खुद में ही कहीं मौजूद होते हैं—उन पर लिखना कितना मुश्किल है। हालांकि न लिखना और भी मुश्किल है। वे इस तरह लगातार आत्मा के पर्दे पर दस्तक पर दस्तक देते हैं कि उसे अनसुना तो आप कर ही नहीं सकते।

जो बरसों से दिल्ली में रहकर भी दिल्ली का नहीं हुआ, दिल्ली वालों जैसा नहीं हुआ और अपने गांव का होकर गांव को ही अलग-अलग शक्तों में जीता रहा—ऐसे आदमी पर लिखना क्या इसीलिए इतना मुश्किल है कि मैं हर बार घबराकर अधबीच से उठ आता हूं और अपने ही आगे पसीना-पसीना होने लगता हूं?

उफ, बहुत मुश्किल है यह आदमी। एक साथ बहुत सीधा और बहुत मुश्किल।

अब मैंने रामदरश जी की ताजा पुस्तक 'पड़ोस की खुशबू' को फिर से उठा लिया है। और उसके पन्ने पलटते हुए उस 'मानुष गंध' को महसूस कर रहा हूं जो रामदरश जी में, उनकी रचनाओं में हर कहीं है। इस किताब में रामदरश जी की साहित्यिक यात्राएं हैं और कुछ साहित्यिकों के बारे में उनके संस्मरण भी। लेकिन इसी पुस्तक का एक संस्मरण ऐसा है जो किसी बड़े और जाने-माने लेखक पर नहीं है। वह कभी रामदरश जी के शिष्य रहे विनीतलाल गोस्वामी पर है। लेकिन वह इतना करुण और मार्मिक है कि पढ़ते हुए मैं हिल गया था और आंखें छलछला आई थीं। हालांकि रामदरश जी ने इसे किसी अतिनाटकीय शैली में नहीं लिखा। अपने उसी सीधे-सादे अंदाज में लिखा है, जिसे कई बार लोग 'सपाट शैली' समझने की गलती कर जाते हैं। लेकिन रामदरश जी की सादगी में छिपी कला वे नहीं समझ पाते कि वे कैसे भावनाओं की तह पर तह जमाते चले जाते हैं और उसमें से मार्मिक अभिव्यंजना खुद-ब-खुद होती जाती है। यह एक

ऐसी सिद्धावस्था है, जो बड़े से बड़े लेखकों को हासिल नहीं। रामदरश जी को वह हासिल है, लेकिन वे इस उस्तादी को ऐसे ढांककर रखते हैं, और ऐसी सहजता से, इस कटर बराबरी के स्तर पर आकर आपसे बात करते हैं, जैसे कि वे नाकुछ हों!... जो भी हो, रामदरश जी की इसी सहज सिद्धावस्था ने संस्मरण को एक मार्मिक कहानी में तब्दील कर दिया है। पुस्तक मेरे हाथ से छूटकर अगले रोज सुनीता के हाथ में जाती है तो उसकी भी कुछ-कुछ वही हालत होती है।

रामदरश जी मानते हैं कि आम लोगों पर—साधारण लोगों पर जब भी वे लिखते हैं, उनकी कलम में एक मार्मिक प्रभाव आ जाता है। इसलिए कि ये सीधे-सच्चे लोग हैं, जिन पर सीधे-सच्चे ढंग में लिखना है। कहीं कोई दिखावा नहीं, शर्म नहीं, गुरेज नहीं कि इन पर ऐसा लिखेंगे तो लोग ऐसा समझेंगे। जबकि लेखकों पर लिखते हुए हमेशा यह भय रहता है कि कहीं कुछ ऐसा न लिखा जाए कि वे बुग मान जाएं!...लिहाजा आम आदमी के बारे में जो लिखा जाता है, वह ज्यादा रमकर लिखा जाता है। और इसी क्रम में वे 'आजकल' में हाल ही में छपी अपनी कहानी 'विदूषक' की चर्चा छेड़ देते हैं, जिसका मुख्य पात्र उनका जाना-पहचाना गांव का आदमी है। बस, उन्होंने कुछ नाम और स्थितियां बदल दी हैं। और वह कहानी इतनी मार्मिक हो गई है कि उस पर पाठकों के प्रशंसा के बहुत-से पत्र पहुंचे।

"आगे से मैं ऐसे साधारण पात्रों के बारे में ही ज्यादा लिखूंगा..." रामदरश जी अपना संकल्प दोहराते हुए-से कहते हैं।

"यह विनीतलाल वाला संस्मरण कहीं भेजा आपने...या छपा था?" मैं जिज्ञासावश पूछता हूं।

पता चला कि एक छोटी-सी साहित्यिक पत्रिका को यह भेजा



गया था, लेकिन उस छोटी-सी पत्रिका के छोटे-से संपादक जी को शायद रास नहीं आया। उन्होंने न तो इसे छापा, न लौटाया और न कोई पत्र लिखकर ही कोई सूचना दी।

सुनकर मन खिन्न हो जाता है। मैं ऐसी कई लघु पत्रिकाओं के संपादकों को जानता हूँ, जो इस बात के लिए तरसते रहते हैं कि खुद को 'हीरो' या 'सेलिब्रिटी' बना चुके 'मीडियॉकर' लेखकों की तीसरे-चौथे दर्जे की रचनाएँ या फिर इंटरव्यू ही उन्हें मिल जाएँ!...लेकिन रामदरश मिश्र अपनी तरफ से भी कोई रचना भेजें, तो उसके साथ ऐसा सलूक होता है।

इसलिए कि जब रामदरश जी के तमाम समकालीनों ने ही नहीं, उनसे दशकों और पीढ़ियों बाद आए लेखकों ने भी लिखना छोड़कर खुद को माफिया और 'गॉड फादर' में तब्दील कर लिया, वहीं रामदरश जी अब भी एक सीधे-सादे लेखक की तस्वीर मन में संजोए हुए लिख रहे हैं, लिखते जा रहे हैं। वे उन लेखकों में से नहीं हैं जिनकी बिना लिखे ही तृती बोलती है, लेकिन उन्होंने ऐसा चाहा ही कब था! उन्होंने तो लिखना और लेखक होना ही चाहा था—और यहां लेखन की ज़मीन पर कितने हैं जो सचमुच उनका मुकाबला कर पाएँगे।

कुछ लेखक होते हैं जो पहली बार में अच्छे लगते हैं और मन पर छा-से जाते हैं, लेकिन धीरे-धीरे उनकी प्रभाव-छाया छीजती जाती है और वे बेरंग हो जाते हैं। दूसरी ओर कुछ लेखक ऐसे भी होते हैं जो पहली मुलाकात में बड़े सीधे-साधारण-से लगते हैं और धीरे-धीरे उनका प्रभाव गहराता है। वे हमें लपेटते जाते हैं और उनके प्रभाव से बच पाना नामुमकिन होता है। रामदरश जी इसी कोटि के लेखक हैं। रामदरश जी का स्नेह जैसे दोनों बाँहें खोले बार-बार पुकारता-सा खड़ा रहता है। और उनसे जल्दी-जल्दी कुछ मुलाकातें न हों या कुछ ढंग की बातचीत न हो, तो लगता है कि कहीं कुछ छूट गया है और मन बेगम होकर उनकी ओर दौड़ पड़ता है।

यह तो तब, जब रामदरश जी जीवन में ही नहीं, साहित्य में भी हमेशा 'वैक वैचर' रहे हैं—और रहे ही नहीं, उसे खुलकर आत्मव्यंग्य के साथ कह भी देते हैं। 'प्रडोस की खुशबू' के पहले ही निबंध में उन्होंने लंदन यात्रा के समय हवाई जहाज में पीछे की पंक्ति में बैठने की तकलीफों और मजे के बारे में लिखते हुए अपनी इस हमेशा पीछे की पंक्ति में रहने वाली आदत की उसके से व्याख्या की है।

और सचमुच मैं याद करता हूँ, सन् 75 से 80 तक कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में रिसर्च के दौरान जिन कवियों-लेखकों को मैंने अपेक्षाकृत कम पढ़ा, उनमें रामदरश मिश्र भी थे। यह भी एक अजब-सी स्थिति थी कि हमारे विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में उनकी ज्यादा किताबें ही नहीं थीं। तो भी उनकी जिस कविता ने सबसे पहले मेरा ध्यान खींचा था, वह 'पांच जोड़ बांसुरी' में छपा—'लहर उठी

अमराई कुंतल-जाल सी...' गीत था। इसकी सरल सादगी ने जैसे पुरे बांध लिया। यह ऐसा गीत था, जिसे बार-बार दोहराने का मन होता था और इसमें कुछ ऐसी बात थी जो बहुत चकित तो नहीं करती, लेकिन भीतर से छूती है।

फिर जिन दिनों आर्य कॉलेज, पानीपत में मैं बी. ए. के विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ाता था, रामदरश जी की एक लंबी कविता 'साक्षात्कार' पढ़ाने का सुयोग मुझे मिला। इस एक कविता में अपने समय का कैसा कठिन यथार्थ, बीहड़ चित्र और गूँजे-अनुगूँजे सपने हुई हैं—इसका अहसास मुझे तब हुआ, जब मैं इस कविता का भार और उसकी जमीन विद्यार्थियों को समझा रहा था और पूरी कक्षा में कुछ इस तरह का सन्नाटा था कि खुद मुझे अपने शब्द कहीं दूर न आते लग रहे थे। मैं समझता हूँ, रामदरश जी से मेरा पहला लंबा साक्षात्कार तभी हुआ था। मुझे हल्का खेद हुआ था कि मैंने उनकी ज्यादा चीजें नहीं पढ़ीं और सचमुच इसके बाद उनकी कविताएँ ढूँढ़कर पढ़ने का सिलसिला चल निकला।

रामदरश जी से पहली मुलाकात मेरे दिल्ली आने के कोई पांच बरस बाद, सम्भवतः 1988 में हुई। उन दिनों मैं दिल्ली प्रेस की नौकरी छोड़कर हिन्दुस्तान टाइम्स की बच्चों की पत्रिका 'नंदन' के संपादकीय विभाग में आ गया था। मेरे साथ देवेन्द्र कुमार भी थे, जो नौकरी की एक अजब तरह की मजदूरी को जी रहे थे। कविताएँ और कहानियाँ वे लिखते थे, लेकिन लिख-लिखकर अपनी फाइल में रखे जाते। मेरी भी बहुत-सी कविताएँ लघु पत्रिकाओं में पहले छप चुकी थी, लेकिन नौकरी की भागमभाग में मैं सबसे कटता चला गया। अब मन था कि वे चीजें फिर से सामने आएँ, किसी एक किताब की शक्ति में। लिहाजा देवेन्द्र और मैंने 'कविता और कविता के बीच' संग्रह निकाला। यही संग्रह रामदरश जी को भेंट करने के लिए उनका पता कहीं से खोज कर देवेन्द्र, मैं और रमेश तैलंग उनके घर पहुंचे।

शाम का समय। हम लोग बिना सूचना दिए अचानक ही पहुंच गए थे। सूचना देते भी कैसे! हमारे पास तो केवल उनका पता ही था, फोन नम्बर तो था नहीं। लिहाजा सीधे पहुंच गए और बाहर खरहते खाट पर लेटे अपने प्रिय लेखक से जा भिड़े।

जाते ही उन्हें पुस्तक भेंट की गई और थोड़ी-बहुत बातचीत के बाद मैंने अपने बड़बोले अंदाज में बताया कि—'ये कविताएँ हमने खुद छपाई हैं। सोचा कि जब खून जलाकर लिखी है ये कविताएँ तो कुछ पैसा खर्च करके इन्हें छपा भी दिया जाए।'

इस पर रामदरश जी एकाएक चिन्तित हुए, बोले—“अरे-अरे! आपका तो परिवार है न! फिर ये खून से कविताएँ लिखने की क्या बात कर रहे हैं।”

इस पर कुछ ऐसा ठहाका पड़ा कि मैं फुस्स। मुझे लगा या तो



रामदरश जी मुझे ठीक से समझ नहीं रहे हैं या मैं उन्हें ठीक से नहीं समझा पा रहा। मैंने थोड़ी-बहुत कोशिश की भी, पर मैं समझता हूँ, मैं ज्यादा कामयाब नहीं हुआ।

बहरहाल, मैंने यह प्रसंग छोड़कर रामदरश जी से अनुरोध किया कि वे अपनी कुछ कविताएँ सुनाएं। इसी सिलसिले में उनकी 'साक्षात्कार' कविता का भी जिक्र आया और देर तक चला। मुझे जानकर अच्छा लगा कि यह रामदरश जी की भी प्रिय कविता है। लेकिन जब उन्होंने हमारे आग्रह पर कविताएँ सुनानी शुरू कीं, तो कुछ छोटी-छोटी प्रगीतात्मक कविताएँ ही सामने आईं। उनमें वसंत पर लिखी गई तीन छोटी कविताएँ भी थीं, जो शायद एक ही सीरीज़ में लिखी गई थीं। महानगर में वसंत की दस्तकें अनसुनी छूट जाती हैं—इस अहसास को रामदरश जी ने तीन अलग-अलग कविताओं में खूबसूरत ढंग से कहा। झट मैंने 'पांच जोड़ बांसुरी' में पढ़े 'लहर उठी पुरवाई कुंतल जाल-सी...' गीत की फरमाइश कर दी और रामदरश जी ने भीतर से संग्रह मगाकर वह पूरा गीत पढ़कर सुनाया।

सचमुच यह एक अविस्मरणीय अनुभव था और जब हम वहां से लौटे, तो काफी भरे-भरे थे।

इसके कुछ रोज बाद 'बरगद' साहित्यिक संस्था ने 'कविता और कविता के बीच' पर एक गोष्ठी आयोजित की तो रामदरश जी से ही अध्यक्षता के लिए कहा गया। वे इस आयोजन में आए और बोले। उन्होंने संग्रह में शामिल देवेन्द्र कुमार की कविताओं को ही पसंद किया। मेरी कविताओं के बारे में उनका कहना था कि ऊपर से घनघोर विद्रोही नज़र आती इन कविताओं में जीवन नहीं है...सिर्फ विद्रोह की नकली मुद्राएँ भर हैं। इनमें एक तरह का बड़बोलापन है, इसलिए ये कविताएँ बहुत-कुछ एकरस हो गई हैं।

गोष्ठी के बाद चाय पीते हुए मैं रामदरश जी के निकट गया और बगैर किसी शिकायत या तल्खी के, मैंने कहा—“अगर आपके पास कभी समय हो, तो थोड़ी-सी बात मैं इन कविताओं के बारे में करना चाहूंगा।”

उन्होंने मुस्कराकर कहा—“हां-हां, क्यों नहीं? आप कभी भी घर आइए। स्वागत है।”

उसके बाद रामदरश जी से मुलाकातों का सिलसिला शुरू हुआ, तो दस-ग्यारह बरस बाद भी आज तक थमा नहीं है। कुछ दिनों तक मुलाकात न हो तो न उन्हें चैन पड़ता है, न मुझे। उनकी कोशिश होती है कि घर से निकलें तो किसी न किसी तरह रास्ते को कनाट प्लेस की ओर मोड़कर चाहे थोड़ी देर के लिए ही सही, मुझसे मिल लें। और वे नहीं आते, तो मैं ही सुबह-सुबह उनके घर जा पहुंचने और साहित्य-चर्चा के साथ-साथ उनके साथ नाश्ते का आनंद लेने का सुख छोड़ नहीं पाता।

रामदरश जी की जिस कृति में पहली बार मैंने उन्हें सम्पूर्णता में पाया और जिसमें सचमुच एक दिग्गज और कालजयी लेखक के रूप में उनकी छवि बनी, वह है उनकी आत्मकथा—‘सहचर है समय’। आत्मकथा पढ़कर पता चलता है कि निपट गंवई-गांव का, एक अभावों में पलता और थोड़ा-सा झिझका हुआ भयकातर बच्चा कैसे धीरे-धीरे अपनी सीमाओं और अभावों से टकराता है, अपने समय के थपेड़े झेलता है, और धीरे-धीरे राह बनाता हुआ आगे निकलता जाता है। इस रास्ते में उसे दुख-अपमान, बार-बार की पराजय और विश्वासघात के धक्के और जख्म, क्या कुछ नहीं मिला। लेकिन सबको वह अपने समय का प्रसाद मानकर ग्रहण करता है और अपनी ही गति से एक ईमानदार राह पर आगे बढ़ता जाता है। तमाम है जो शार्टकट के सहारे आगे निकलना चाहते हैं। बहुत-से उसे टंगड़ी मारकर भी आगे बढ़ जाना चाहते हैं। वह सबको देखता है, समझता है, पर अपनी राह को नहीं छोड़ता और एक दिन उसी राह पर चलते-चलते एक दिन वहां पहुंचता है, जो किसी भी लेखक का, एक सही और ईमानदार लेखक का प्राप्य है।

हिन्दी में आत्मकथाएँ बहुत-सी हैं और बच्चन की आत्मकथा तो बहुत मशहूर भी हुई है। इसके अलावा पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आत्मकथा, रामविलास शर्मा की आत्मकथा, देवेन्द्र सत्यायी की आत्मकथा। फिर महात्मा गांधी, नेहरू और राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथाएँ तो हैं ही। इन सभी की अपनी-अपनी खूबियाँ हो सकती हैं। लेकिन हिन्दी में आत्मकथा का जो रास्ता रामदरश मिश्र ने निकाला, वह मुझे कई मायनों में निराला लगता है। इसलिए कि यह आत्मकथा खाली रामदरश मिश्र की आत्मकथा न होकर उनके पूरे समय की आत्मकथा है। उनके तमाम सहायियों की कथा है, जिन्होंने एक साथ या आगे-पीछे चलना शुरू किया, मगर कोई कहीं थककर बैठ गया, कोई कहीं। कुछ भटके भी, कुछ आगे भी गए। खास बात यह है कि आत्मकथा लिखते समय रामदरश जी कैमरे का लेंस सिर्फ खुद पर नहीं रखते, उसे लगातार अपने साथियों और सहायियों पर घुमाते रहते हैं। यहां तक कि उनकी ओर भी, जो सदैव उन्हें शत्रु भाव से देखते रहे और उन्हें नीचा दिखाने की कोशिशें करते रहे। रामदरश जी की आत्मकथा में यह सब है और एक ऐसे महाकाव्यात्मक औदार्य का हिस्सा बनकर आया है जिसमें चीजें रहती तो हैं, लेकिन उनके प्रति निजी राग-द्वेष की कड़वाहट बहुत कम रह जाती है और बहुत छोटे-छोटे मामूली प्रसंग भी समय की कथा में ढलकर एक वृहत्तर अर्थ के वाहक हो जाते हैं।

एक और खास बात यह है कि रामदरश जी ने अपनी आत्मकथा में बड़ी-बड़ी और चकाचौंध पैदा करने वाली चीजें नहीं लिखीं। उन्होंने छोटी-छोटी बातों को ही लिया है, जिन्हें अनुभूति की आंख से देखें तो उनके बड़े-बड़े अर्थ निकलते हैं। ऐसा ही एक छोटा-सा प्रसंग वह



है, जब बालक रामदरश स्कूल और मास्टर्स के खौफ से डरकर फैसला कर लेता है कि उसे अब स्कूल नहीं जाना और तभी उसकी लगभग अनपढ़ मां चूल्हे की राख में उंगलियां फिराती हुई उसे क ख ग लिखना सिखाती है और यों धुर ग्रामीण परिवेश की एक मां एक डरे हुए बच्चे को फिर से राह पर ले आती है। मैंने जब यह प्रसंग पढ़ा था, तो रोमांचित हो उठा था और आज तक इसे भूल नहीं पाया। हालांकि मजे की बात यह है कि जिन दिनों वह आत्मकथा पढ़ रहा था, एक साहित्यिक जीव से यह चर्चा हुई तो उन्होंने बड़े व्यंग्यात्मक सुर में कहा—“भला रामदरश मिश्र क्या लिखेंगे आत्मकथा? न उन्होंने कभी शराब पी, न मंडलियां जमाई और न अपनी बीबी को छोड़कर किसी से इश्क किया! ऐसे आदमी के पास कहने को है ही क्या?” और मेरे लिए उन्हें समझा पाना मुश्किल था कि जिस आदमी के पास छोटी-छोटी सनसनियां नहीं होती, समय उसे लिखने के लिए एक पूरा महाकाव्य दे देता है।

‘अक्षरा’ पत्रिका में मैंने रामदरशजी की आत्मकथा पर एक लंबा लेख लिखा था और यह मत भी प्रकट किया था कि आज की आत्मकथा का रास्ता बच्चन की आत्मकथा से नहीं, रामदरश मिश्र की आत्मकथा से निकलता है। हालांकि इस आत्मकथा के आखिरी खंड के ढीले-ढालेपन को लेकर मैंने बहुत कठोर टिप्पणी भी की थी। मैंने सोचा था, जरूर इस पर रामदरश जी बिगड़ेंगे। लेकिन उन्होंने कहा—“तुम्हारा सुझाव अच्छा है। अगले संस्करण में मैं इस हिस्से को रिवाइज़ करूंगा।”

इसके कुछ ही समय बाद रामदरश जी को और जानने के लिहाज से मैं लाइब्रेरी से उनकी किताब ‘इकसठ कहानियां’ उठा लाया और उसे पढ़ गया। बीच में एक दिन रामदरश जी से फिर मुलाकात हुई। बोले—“आजकल क्या कर रहे हो?” मैंने कहा—“आजकल आपकी ‘दूसरी आत्मकथा’ पढ़ रहा हूँ।”

वे चकित होकर बोले—“दूसरी आत्मकथा, यानी....?”

मैंने कहा—“इकसठ कहानियां...”

वे जैसे सब समझ गए और हंसने लगे।

असल में जो रामदरश जी की आत्मकथा को जानता है और उस सिंहद्वार से उनकी रचना-भूमि में प्रवेश करता है, उसके लिए कुछ अपरिचित नहीं रह जाता। और एक-एक कर कोठरियां और अंतर्गत के द्वार खुलते चले जाते हैं। रामदरश जी कोई बहुत चतुर चालवाज लेखक नहीं हैं और न जो लिखते हैं, उसमें बहुत ज्यादा कसरत कर ही उन्हें प्रिय है। लिहाजा जो उन्होंने जीवन जिया और जो कुछ उन्होंने

करीब से देखा और पाया, उसे को थोड़ा फेर-फारकर रचनाओं में ढाल देते हैं। उसी में उनकी कलम के स्पर्श से एक ऐसी चमक पैदा होती है कि यथार्थ हमें कुछ नया-नया और ज्यादा अर्थपूर्ण लगने लगता है। इसीलिए रामदरश जी की इकसठ कहानियों के बड़े संग्रह को मैं सिर्फ कहानी-संग्रह के रूप में ही नहीं पढ़ रहा था। मेरे लिए यह रामदरश जी की एक और आत्मकथा थी और सही मायने में थी।

इसके बाद मैं रामदरश जी की रचना-यात्रा के शायद

सबसे जरूरी और महत्वपूर्ण खंड की ओर बढ़ा—उनके उपन्यास ‘पानी के प्राचीर’, ‘जल टूटता हुआ’, ‘अपने लोग’, ‘दूसरा घर’, ‘आकाश की छत’, ‘आदिम राग’, ‘रात का सफर’, ‘थकी हुई सुबह’, ‘बीस बरस बाद’...एक-एक कर पढ़े और मैं उनमें सीखा गया। अभी तक रामदरश जी के ज्यादातर उपन्यासों का परिचय यह था कि ये आंचलिक उपन्यास हैं और आंचलिक उपन्यास कहने में लगता था, वही कुछ होगा जो आंचलिक उपन्यास के नाम पर लिख दिया जाता है। लेकिन रामदरश जी के उपन्यासों को एक-एक कर पढ़ना शुरू किया, तो लगा कि एक विराट जीवन इनमें से खुल-खुलकर बाहर आ रहा है। जो आंचलिकता का ठप्पा इन पर लगाया गया था, वह कब का छूटकर परे जा गिरा था और नाकाफी और छोटा लग रहा था। रामदरश जी के उपन्यास हर सीमा, चौहद्दी और संकीर्ण वर्गीकरण को तोड़कर ऊपर आते हुए और ज़िंदगी से लंबावत उपन्यास हैं। गांव और शहर मिलकर एक समूची दुनिया रचते हैं।

अगर आप मुझे पूछें कि रामदरश जी के तीन सबसे अच्छे उपन्यास कौन से हैं तो मुझे बताने में एक क्षण का भी विलंब नहीं



होगा—‘जल टूटता हुआ’, ‘अपने लोग’ और ‘पानी के प्राचीर’। अगर उनके दो सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों के नाम पूछें तो भी जवाब देने में देर नहीं लगती—‘जल टूटता हुआ’ और ‘अपने लोग’। हां, अगर रामदरश जी के सबसे अच्छे उपन्यास का नाम पूछा जाए तो आज भी सुई बड़ी तेजी से ‘जल टूटता हुआ’ और ‘अपने लोग’ के बीच घूमती है। जैसे ठीक-ठीक निर्णय न कर पा रही हो कि कहां टिके। और अंत में बड़ी मुश्किल से झिझकते हुए ‘जल टूटता हुआ’ पर आकर ठिक जाती है। हालांकि दोनों उपन्यासों की अपनी-अपनी खासियत है। ‘जल टूटता हुआ’ अगर गांव की ज़िंदगी का महाकाव्य है, तो ‘अपने लोग’ में गोरखपुर की जो कथा कही गई है, वह सचमुच छोटे-छोटे सुख-दुख और द्वन्द्व-उलझनों में फंसे मामूली आदमी के देवत्व की कथा है। ऊपर से देखने पर निहायत दुर्ची और सड़ांधभरी लगती हुई ज़िंदगी में भी मनुष्यता कैसे जी और जगमगा रही है, इसे देखना और दिखा पाना रामदरश मिश्र जैसे किसी बड़े उपन्यासकार का ही कमाल हो सकता है। और मुझे यह कहने में कोई झिझक नहीं कि ‘जल टूटता हुआ’ और ‘अपने लोग’ की गिनती हिन्दी के कुछ सबसे अच्छे उपन्यासों में की जानी चाहिए। ये सचमुच कालजयी उपन्यास हैं और सिर्फ रामदरश मिश्र की रचना-यात्रा की ही नहीं, पूरे हिन्दी साहित्य की उपलब्धि हैं। कहा जा सकता है कि अगर ये न लिखे गए होते तो हिन्दी की उपन्यास-यात्रा में कुछ-न-कुछ अधूरापन और कमी रह जाती।

लेकिन रामदरश जी के बाकी उपन्यास भी ऐसे नहीं हैं कि वे आपके मन पर गहरी छाप न छोड़ें। उनके गुजरात के अनुभवों पर लिखा गया उपन्यास ‘दूसरा घर’ और ‘आकाश की छत’ तथा ‘रात का सफर’ जैसे कुछ छोटे उपन्यासों की मुझे खासकर याद आ रही है, जिन्हें पढ़ना अनुभव की एक गहरी खराश से गुजरना है। और इन्हें पढ़ते हुए जिस चीज की ओर हमारा ध्यान सबसे ज्यादा जाता है, वह यह कि रामदरश जी लगातार ज़िंदगी और रचना का भेद मिलाते हुए लिखते जाते हैं। उनकी रचनाओं की प्रेमचन्द्रीय सादगी और कलाविहीनता की कला उनकी सबसे बड़ी ताकत है।

इधर रामदरश जी के नए कहानी-संग्रह ‘फिर कब आएंगे’ को पढ़ते हुए यह बात एक बार फिर महसूस हुई। संस्मरण और कहानियां एक दूसरे में घुल-मिलकर जो रूप अख्तियार करते हैं, वही रामदरश जी की इधर की कहानियों में उभरा है। और मजे की बात यह है कि इससे इन कहानियों को एक अतिरिक्त शक्ति और विश्वसनीयता मिल जाती है। इससे तमाम बनाई हुई, नकली और अतिकलात्मक कहानियों की सजावटी दुनिया के सामने ये कहीं ज्यादा अपनी-अपनी-सी लगती हैं।

अगर मैं सर्दियों के उस धूप भरे दिन का जिक्र न करूं, जब मैं भीतरी उमंग से भरकर यूं ही रामदरश जी के यहां पहुंच गया था

बातचीत करने के लिए, तो यह संस्मरण अधूरा ही रहेगा। वह दिन जैसे तमाम दिनों से अलग खड़ा मन पर दस्तक दे रहा है। उस दिन रामदरश जी के जीवन के तमाम पन्ने खुले और खुलते ही चले गए। मैं लगभग पूरे दिन उनकी बातों और उनके अनुभवों की आंच में सीझा उनके पास बैठा रहा। उनकी ज़िंदगी और लेखन-यात्रा तथा संघर्षों के बहुत-से मर्म-बिन्दु जानता था, लेकिन उनकी आधार-पीठिका पहली बार खुली। और उस खुली बातचीत में रामदरश जी को ज्यादा खुलेपन से और कहीं ज्यादा करीब से जाना।

उनका वह पूरा दिन जैसे मुझे दे दिया गया। वे पूरी तरह प्रफुल्ल थे और बातचीत के मूड में थे। और वह बातचीत इस तरह अनौपचारिक थी कि एक प्रसंग में से तमाम प्रसंग निकलते चले जा रहे थे और रामदरश जी के साथ-साथ उनके तमाम साधियों और सहयात्रियों के चेहरे उनमें से झांकने लगे। खासकर निगला और अपने गुरु हजारीप्रसाद द्विवेदी का चित्र आने पर तो वे बेहद भावुक हो गए थे। तमाम वरिष्ठ लेखकों का चित्र हुआ और उनके तमाम संस्मरणात्मक प्रसंग इस लंबी बातचीत में खुल-खुलकर सामने आने लगे। लेकिन सबसे बढ़िया प्रसंग वे थे, जिनमें गांव के मामूली और अनपढ़ लोगों का चित्र था और वे उनके दिव्यत्व का बखान-सा करते थे कि उस समय उन लोगों ने मुझे बचाया न होता तो आज मैं कुछ न होता, कहीं न होता।

इसी बातचीत के क्रम में मैंने एक असुविधाजनक सवाल पूछ लिया कि—“तमाम लोगों ने आपके साथ यात्रा की, मगर वे बहुत आगे निकल गए, उनका बहुत नाम है और आप कुछ पिछड़-से गए हैं। ऐसा किसलिए?” मैं सोचता था, सवाल सुनकर वे नाराज़ होंगे। लेकिन बड़ी ही सहजता के साथ उन्होंने सवाल का सामना किया और कहा कि—“जो-जो वे तथाकथित बड़े लेखक हैं, उनके साथ कोई बड़ी पत्रिका या लेखक-संगठन जुड़ा रहा और उनकी जो भी अच्छी रचनाएं हैं, वे इस कदर उछाले जाने से पहले की हैं। बाद में तो वे लेखक के रूप में चुक ही गए, जबकि मैं लगातार एक लेखक के आत्मविश्वास के साथ अपनी राह पर आगे बढ़ता गया।...और मुझे इस बात का मलाल नहीं है कि मुझे इतना उछाला क्यों नहीं गया। मुझे अपने पाठकों का बहुत प्यार मिला है और वही मेरी शक्ति है। जबकि इस तरह से बहुत उछाले गए लेखकों की रचनाएं शायद पढ़ी ही नहीं जाती।”

हालांकि मेरे इस सवाल पर कि जो जीवन उन्होंने जिया, क्या उससे वे संतुष्ट हैं? उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—“जो जीवन मैंने जिया, उससे मैं पूरी तरह संतुष्ट हूं। अगर दुबारा जीवन जीने को मिले, तो मैं बहुत-कुछ ज्यों का त्यों रखना चाहूंगा। हां, मैं चाहूंगा कि मेरा झेंपू स्वभाव और घरघुसरापन थोड़ा कम हो...ताकि जो उपेक्षा मेरे खाते में आई है, वह न रहे और लोग मेरे बारे में जानें। खुद अपने गले में ढोल लटकाकर आत्म-विज्ञापन करने वालों की दुनिया में अगर



एक ईमानदार लेखक को जीवित रहना है, तो उसे अपना अति संकोच और घरघुसरापन तो छोड़ना ही होगा।”

उस लंबे इंटरव्यू को शायद चार-पांच बरस तो हो ही गए और उतने समय में मैंने उन्हें लगातार और-और गहरे आत्मविश्वास से भरकर और-और उग्र, लेकिन संयत ढंग से अपनी बात कहते देखा है। रामदरश जी में दैन्य तो कभी था ही नहीं। हां, एक झिझक कभी-कभी नजर आती थी—बहुत सहने और सहकर लिखने वाले लेखक की झिझक। इधर मैं देखता हूं, उन्होंने अपनी झिझक को तोड़ा है और खुलकर अपनी बात कहने लगे हैं।

‘कवि शेखर सम्मान’ मिलने पर उनके पास लेखकों और पाठकों की बधाइयों का तांता लग गया, लेकिन कुछ ‘महान’ थे जो चुप्पी साधे रहे और यूँ दर्शाते रहे, जैसे अशोक वाजपेयी, केदारनाथ सिंह और विनोदकुमार शुक्ल के बाद रामदरश मिश्र को यह पुरस्कार मिल जाने से कोई कुफ्र हो गया हो और इस पुरस्कार की मर्यादा घट गई हो। हालांकि बाद में इन महानों ने भी झेंपकर ही सही, उन्हें बधाई दी। एक दिन यही प्रसंग चल निकलने पर रामदरश जी ने कहा—‘ये जितने हिन्दी साहित्य के तथाकथित महान लोग हैं जो लिखते कुछ नहीं, सिर्फ पूरे समय साहित्य की राजनीति करते हैं, इन्हें मैं अपने सामने कुछ नहीं मानता। अगर एक लेखक की लेखन-यात्रा के लिहाज से ही देखा जाए, तो ये मेरे सामने कहीं नहीं ठहरते। मुझमें पहले भी यह आत्मविश्वास था और अब भी यह आत्मविश्वास है कि लेखक तो मैं ही बड़ा हूं, ये चाहे कितना ही अपना ढोल पीटते रहें!’

यह बात कोई कम-कबिले तारीफ नहीं कि राजधानी में इतने बरसों से रहते हुए भी रामदरश जी ने सहजता और गांव के आदमी का खरापन खोया नहीं। इससे उन्हें नुकसान चाहे जो भी हुए हों, लेकिन एक फायदा भी हुआ है कि वे छोटे-बड़े हर नए आदमी से प्यार से धाककर मिलते हैं और पूरी तरह से उससे समरस हो जाते हैं। इसीलिए तथाकथित बड़े जब एकांत की चारदीवारियों में कैद हैं, रामदरश जी ने खुद को खुला छोड़ दिया है। अब वे खुद के ही नहीं रहे, उन सभी के हैं जो उन्हें प्यार करते हैं और उन्हें प्यार करने वालों की संख्या निरंतर बढ़ती ही जाती है। खासकर युवा पीढ़ी को उनसे जो प्यार मिला है, उसकी तो मिसाल ही मुश्किल है। शायद ही बड़े लेखकों में उनके अलावा कोई दूसरा लेखक हो, जो युवाओं से इतना खुलकर संवाद रख पाता है।

वाणी विहार में रामदरश जी के सम्मान समारोह में डॉ. नित्यानंद तिवारी ने एक बड़े काम की बात कही। उन्होंने कहा कि अगर रामदरश जी को तथाकथित महान लोगों में ही शुमार होना होता, तो यह तथाकथित महानता तो उन्हें बहुत पहले ही मिल गई होती। तब वे औरों के बताए रास्तों और औरों के सांचों के हिसाब से औरों जैसा ही लिख रहे होते, पर रामदरश जी को ऐसी तथाकथित

महानता की दरकार नहीं थी। इसके बजाए उन्होंने अपने ही रास्ते पर चलकर, अपने ही जैसा लिखना पसंद किया। और इसी कारण उन्हें अपने पाठकों का वेशुमार प्यार मिला।

मुझे सुखद आश्चर्य होता है, जब किसी पत्रिका में मेरा कोई लेख या रचना देखकर वे मुझे सूचना देते हैं और साथ ही अपनी राय भी बता देते हैं। मेरे लिए ये क्षण जीवन के सर्वाधिक आनंद के क्षण होते हैं और सार्थकता के भी। इन्हीं क्षणों में लगता है कि आज जब साहित्य में इतनी आपाधापी और टांगखिचाई चल रही है, तब रामदरश जी जैसे लेखक भी हैं जो एक व्यक्ति होते हुए भी, एक परंपरा की सदेह उपस्थिति जैसे लगते हैं...यही शायद किसी व्यक्ति का आत्मविस्तार है जो निरंतर सचेत भाव से जीते-जीते आता है।

शायद इसी सचेत भाव से जीने ने ही रामदरश जी को एक ऐसा सक्रिय ऊर्जावान लेखक बनाया है, जो निरंतर खुद को बांटता और देता चल रहा है लेकिन झुका हरगिज नहीं है। इधर वे दिल्ली के अपने अनुभवों पर एक उपन्यास लिखने में व्यस्त हैं। उसके बारे में बीच-बीच में वे टुकड़ों-टुकड़ों में कुछ बताते भी हैं। रामदरश जी ने निश्चय ही दिल्ली में एक लम्बा और समृद्ध जीवन जिया है...और गांव के आदमी के ठाठ और स्वाभिमान के साथ दिल्ली को जिया है। लिहाजा उनके उपन्यास में दिल्ली यकीनन तमाम शहरातियों की दिल्ली से कुछ अलग चीज़ होगी।

फिलहाल तो यही कामना कर सकते हैं कि रामदरश जी स्वस्थ रहें, सक्रिय रहें। उनकी सक्रियता से लगता है, हिंदी साहित्य में विद्वेष और नफरत की आंधियों के बीच प्रेम और स्नेह की धारा एकदम सूख तो नहीं ही गई।

और अंत में....

रामदरश जी की एक प्रसिद्ध कविता है जिसमें वे अपनी कविता की ज़मीन और अपने कवि की प्राणशक्ति और निजीपन की चर्चा करते हुए कहते हैं कि उन्होंने अपने आंगन का एक कोना कच्चा छोड़ दिया है—इसलिए न वे बनावटी हुए और न ज़मीन से उनका रिश्ता ही खत्म हुआ। रामदरश जी की कविताओं में यह कविता सबसे अलग और खास मुझे इसलिए लगती है, क्योंकि यह अकेली कविता रामदरश जी के कवि का सही और सम्पूर्ण परिचय भी है!

अपनी लेखकीय उपलब्धियों को हासिल करने के लिए उन्होंने न कभी उतावली दिखाई और न औरों की तरह बढ़-बढ़कर हाथ मारे। उनका एक शेर चंद अल्फाज़ में उनके संघर्ष की पूरी कहानी कह डालता है—

जहां आप पहुंचे छलांगें लगाकर,

वहां मैं भी पहुंचा, मगर धीरे-धीरे।

545, सैक्टर-29, फरीदाबाद, (हरियाणा)-121008



## खुशबू

कहां से आई मकान में यह खुशबू  
मैंने तो जाते समय  
इसे चारों ओर से बन्द कर दिया था।  
लगता है कोई झरोखा खुला रह गया।  
और कहीं कुछ खुला रह जाए  
तो वसन्त की हवा को  
वहां आने से कौन रोक सकता है?

## प्यार

कुछ फूल, कुछ कांटे  
हमने आपस में बांटे  
यात्रा के हर मोड़ पर हमने  
एक दूसरे का इन्तज़ार किया है  
हां, हमने प्यार किया है।

## पुरानी चिट्ठियां

मेरे बन्द घर की खिड़कियां खुल गई हैं  
उसमें सोई कितनी ही कथाएं  
झर रही हैं तितलियों-सी बाहर की रोशनी में  
और लगता है मेरे भीतर-बाहर  
अनन्त स्वर्णों, रंगों और धड़कनों की बारिश हो रही है

## अपरिचय

न मैं तुम्हें जानता था, न तुम मुझे  
न मैंने तुम्हारा नाम-धाम पूछा, न तुमने मेरा  
न जाने कहां से तुम आए  
और मेरे बुझे अकेलेपन के सामने चुपचाप बैठ गए  
और मैंने देखा कि  
अधेरी रात में कहीं एक मोमवत्ती जल उठी है

## अभी भी

अभी भी आंखों को खींचते हैं  
फूल, पत्ते, मौसम, ऋतुएं  
और मैं उनसे संवाद करता-करता

महकने लगता हूं  
अभी भी प्राणों में उतर आती है  
खिली हुई मानव-छवियां  
और मैं एक गुनगुनाती झील में  
नहाने लगता हूं  
अभी भी आते हैं वचन के सपने  
और मैं गल-गल कर  
नदी-सा बहने लगता हूं  
अभी भी कानों में गूंज उठता है  
हवा, पानी और चिड़ियों का संगीत  
और मैं जलतरंग-सा बजने लगता हूं  
अभी भी जब चीखता है  
पड़ोस से कोई घायल अकेलापन  
तो उसका दर्द  
मेरी नस-नस में झनझनाने लगता है  
अभी भी इसका, उसका, जाने किस-किसका  
क्रूर और फूहड़ मुख  
मेरी चेतना में आग सुलगा जाता है  
अभी भी मेरा आईना  
मुझे चिढ़ाता है, डांटता है  
और मैं हंसता हूं  
और हंसते-हंसते रो पड़ता हूं

दोस्तो,  
लगता है इस उम्र में भी  
मैं अभी ज़िन्दा हूं।

## नीम

‘तुम कितने भले हो मित्र  
लोग तो अपनी मोहक मुस्कान में भी  
ज़हर छिपाए रहते हैं  
और तुम  
अपनी कड़वाहट में भी अमृत की लय हो  
तुम्हारे पत्तों का तिवत् रस  
हमारे रक्त में नदी का संगीत बन जाता है  
तुम्हारी नन्हीं-नन्हीं टहनियां  
अपनी रगड़ से



## डॉ. नरेन्द्रमोहन

### कबीर : स्मृति, समय और साखी

कबीर मध्यकालीन सन्त-काव्य में सबसे अलग खड़े दिखते हैं—अपने विद्रोही और क्रान्तिकारी स्वर की वजह से। कबीर ने सत्ता के मुकाबले जिस कविता को खड़ा किया, वह हमें सत्य और न्याय के लिए, शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ लड़ने की शक्ति देती है और इसीलिए आज भी हमसे सार्थक रूप में आ जुड़ती है। इस कविता को हम फैलता हुआ महसूस करते हैं अपने आसपास, अपने समय और परिस्थिति में। कबीर पर सोचते और लिखते हुए, उनके समय और इतिहास का अध्ययन करते हुए, हम तेजी से अपने समय और युग में, वर्तमान की विभीषिका में लौटते हैं।

एक बार एक भेंटकर्ता ने मुझसे पूछा: 'आपका प्रिय कवि कौन है?'

मैंने बिना किसी झिझक के कहा: 'कबीर।'

उसने आश्चर्य से मेरी तरफ देखा और कहा: 'एक समकालीन लेखक का, जिसके आलोचनात्मक सरोकार भी समकालीन साहित्य से जुड़े हुए हैं, प्रिय कवि कबीर कैसे हो सकता है?'

मैंने धीरे-धीरे कहना शुरू किया: 'कबीर अपने समय के प्रति सच्चा है, उससे बिंधा है, झुलसा है और एक लपट की तरह उठा है। नए विचारों का प्रवर्तन करने वाला वैसा मौलिक कवि, चिन्तक सदियों इधर, सदियों उधर तुम्हें दिखता हो तो बताओ?'

वह चुप था और अपने शेष प्रश्न के उत्तर में मुझे ताक रहा था।

मैंने कहा: 'कबीर जैसे कवि किसी जाति के सामूहिक अवचेतन, उनके 'मनस्' में पैठ जाते हैं, वहीं से जन-सामान्य की स्मृति का हिस्सा बन उनकी जुबान पर चढ़ जाते हैं और उन्हें रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में प्रेरित, उद्वेलित करते रहते हैं। कबीर ऐसे ही कवि हैं। उनकी स्मृति समकालीन और आज के कवि की अन्तरात्मा में गुंथी हुई है। ज्ञान और संवेदन के प्रवाहों को एक साथ कविता में उतारने वाले और उसे बड़ी सहजता से लोगों तक ले जाने वाले कवियों में वे अन्यतम हैं।'

शुरू में ही यह संवाद-अंश मैंने इसलिए दिया है कि कबीर को पढ़ते या उस पर चर्चा करते हुए स्मृति, समय और साखी के अभूतपूर्व समीकरण और संयोजन पर हमारा ध्यान केंद्रित रहे। कबीर की स्मृति इतिहास की चौहद्दियों से कहीं बड़ी और व्यापक है। उनकी साखियां पढ़ते हुए यह स्मृति उनके समय को हमारे समय में ला खड़ी करती है। उस धक्कती परम्परा की आवाज़ भारतेन्दु, निराला,

मुक्तिबोध और नागार्जुन से लेकर नए युवा कवियों में भी सुनी जा सकती है। मैंने भी उसे 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' नाटक लिखते हुए बड़ी तीव्रता से सुना था और कबीर की ज़िन्दगी और वाणी समय के लंबे अन्तरालों को भेटती हुई, मेरे सामने नाटकीय दृश्यों और गतियों में साकार हो गई थी। पिछले दिनों संत कवि तुकाराम पर केंद्रित नाटक 'अभंग गाथा' लिखते हुए मैंने पाया कि तुकाराम कबीर को बहुत मान देते हैं। सच और आम आदमी के मिलन-बिन्दु पर जैसे कबीर अपनी साखियों के साथ खड़े हैं वैसे ही तुकाराम अपने अभंगों के साथ कुछ-कुछ वैसे ही विद्रोही तेवर में। बहरहाल, कहीं भ्रम न हो जाए कि मैं केवल पढ़े-लिखों की, लेखकों की विरासत की बात कर रहा हूँ, इसलिए स्पष्ट कर दूँ कि कबीर की विरासत सबसे पहले इस देश के आम आदमी की विरासत है जहाँ कबीर आज भी ज़िन्दा हैं, उसे मारने के तमाम प्रयत्नों के बावजूद।

कहना न होगा कि कबीर मध्यकालीन सन्त-काव्य में सबसे अलग खड़े दिखते हैं—अपने विद्रोही और क्रान्तिकारी स्वर की वजह से। कबीर ने सत्ता के मुकाबले जिस कविता को खड़ा किया, वह हमें सत्य और न्याय के लिए, शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ लड़ने की शक्ति देती है और इसीलिए आज भी हमसे सार्थक रूप में आ जुड़ती है। इस कविता को हम फैलता हुआ महसूस करते हैं अपने आसपास, अपने समय और परिस्थिति में। कबीर पर सोचते और लिखते हुए, उनके समय और इतिहास का अध्ययन करते हुए, हम तेजी से अपने समय और युग में, वर्तमान की विभीषिका में लौटते हैं। संवेदना और विचार के धरातल पर इस आवाज़ाही में स्मृति की जबरदस्त भूमिका है जो कबीर को हमारे बीच ला बैठाती है और उस समय को इस समय में। इससे कबीर की ज़िन्दगी और वाणी के धागे उधड़ने लगते



है और पुनः आज के संदर्भों में नए रूप में जुड़ने लगते हैं।

कबीर की वाणी और ज़िन्दगी के अन्तर्संबंधों को देखें तो पाएंगे कि उनकी ज़िन्दगी की गांठें वाणी में खुली हैं और वाणी उनकी ज़िन्दगी की खुली किताब है। अच्छा हो कि उनकी ज़िन्दगी के विभिन्न पड़ावों और प्रसंगों को, ज्ञात, कमज्ञात और अज्ञात-सी घटनाओं और हादसों को उनकी वाणी के संदर्भ में रखकर देखा-जांचा जाए। इससे कई रोचक और नए तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं, जैसे विजली खां और बोधन से जुड़ी घटनाएं और रमजनिया से जुड़े प्रसंग। रमजनिया को कुछ लोग कबीर की दूसरी पत्नी मानते हैं तो कुछ अन्य कहते हैं कि वह प्रसिद्ध नर्तकी और वेश्या थी और कबीर की रखैल। अगर यह मान लिया जाए कि कबीर में लेखक और लिखित का कोई व्यवधान नहीं है तो उनकी ज़िन्दगी की विभिन्न घटनाओं और प्रसंगों को (कुछ की तरफ मैंने संकेत किया है) वाणी में तानते हुए उनका और उनके समय का एक नया और अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक पाठ तैयार किया जा सकता है।

यह कहना कि कबीर की वाणी कबीर का समय है, एक चुस्त जुमला लग सकता है लेकिन अगर वाणी के साथ उनकी ज़िन्दगी के रंग-रेशे भी जोड़ दिए जाएं तो इसमें कबीर का समय ही नहीं, आज का समय भी ध्वनित होता महसूस होगा। दरअसल, इतिहास का समय और लेखकीय समय वाणी में 'जक्स्टापोज़' हुए पड़े हैं। तथ्य और घटनाएं यहां बोध और स्मृति में अटे-टंगे पड़े हैं। यहां इतिहास स्मृति के स्पन्दनों के साथ है। कबीर ही क्यों, किसी भी बड़े कवि की रचना की विशेषता यह है कि वह अपने समय से स्पन्दित होकर, उसके अन्तर्विरोधों और विसंगतियों से जूझती है और समय की सीमा को लांघ जाती है। ऐसी रचना को ही कालजयी कहते हैं। इतिहास और समय की हदों को कबीर कब बेहद होकर पाट जाते हैं, पता ही नहीं चलता। कालजयी होने का यह उनका निराला ढंग है।

आइए, आपको कबीर की वाणी और समय के अन्तर्संबंधों की तरफ ले चलूं, उन सूत्रों की तरफ जो वाणी और समय में एक साथ पिरोए हुए हैं। ये सूत्र परस्पर इस तरह गुंथे हुए हैं कि अलगाव नज़र नहीं आता। कबीर के समय में बाह्याचारों और बाह्याडंबरों का बाहुल्य था। धर्म के नाम पर ठगी और अनाचार बढ़ रहा था। वर्ण-विभेद और वर्ग-विभेद से समाज की दुर्गति हो रही थी। माथे पर तिलक और हाथ में माला ले कर राम को खिलौना समझने वालों की भरमार थी। जिस समाज में सच्चे सन्त का नहीं, कामी, क्रोधी, और मसखरे का आदर होता हो, जहां जीव-बलि को अधर्म नहीं, धर्म कहा जाता हो, और जो जात-पात और छुआछूत के जंजाल में पड़ा हो, ऐसे समाज पर कबीर अगर टूट पड़ते हैं तो क्या ताज्जुब? यह ठीक है कि उस दौर की छुआछूत की प्रवृत्ति से वे खुद बुरी तरह अवहेलित, अपमानित और लांछित हुए थे और इस से उन्हें बेहद

चिढ़ थी पर वे इस से डरे नहीं बल्कि डरे हुए लोगों को डर-मुक्त किया और डराने वाले पंडितों, विद्वानों को बार-बार आड़े हाथों लिया—

पंडित देखेहु मन महँ जानी।

कहूं धौं छूति कहां ते उपजी, तबहि छूति तुम मानी।

बादे बन्दे रधिर के संगे, घट ही महँ घट सपचै।

अस्ट कंवर होय पुहुमी आभा, छूति कहां ते उपजै।

इसी तरह वर्ण के गर्व से खुद को पावन और सर्वोत्तम मानने वालों को लताड़ते हुए वे कहते हैं—

जो तू ब्राह्मण ब्राह्मणी जाया और राह ते काहे न आया।

जो तू तुरुक तुरुकिनी जाया, पेटहि काहे न सुनति कराया।

उस जमाने की धार्मिक-सामाजिक रूढ़ियों, रीतियों, ढकोसलों, उसके पीछे के चेहरों और उनकी विसंगतियों के बारे में उन्होंने कई तरह से लिखा है—कभी तेज प्रश्न की शैली में, कभी व्यंग्य के अंदाज़ में, कभी हंसते-हंसते, कभी तलखी में, कभी समझाते-बरजते हुए, कभी आक्रोश-भरे स्वर में। उस दौर में महन्तों के ऐसे सम्प्रदाय और आखाड़े भी थे जहां दिन-दहाड़े तलवारें चल जाती थीं। ऐसे महन्त हट

लम्बी मानसिक और नैतिक तैयारी के बाद ही वे संघर्ष और शहादत की बात करते हैं। सत्य के प्रति गहरी निष्ठा ने उन्हें निडर और विद्रोही बनाया है, मौत के सामने खड़ा होने और उसे चुनौती देने की शक्ति दी है।

बाजार में समाधि लगाते थे और मौका पाते ही तोप-बन्दूक लेकर फिल पड़ते थे। कबीर ने कई साखियों में इनकी अच्छी खबर ली है। उस समय के गुरु-चेले के संबंधों को भी उन्होंने अच्छे-खासे मज़किया विद्रूप में बदल दिया है: 'जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध' और परिणाम: 'अंधे अंधा ठेलिया, दून्यू कूप पड़ता।' इसी तरह पंडित, मुल्ला और विद्वान की खिल्ली उड़ाने में वे कभी नहीं चूकते। मौलाना और पंडित को ही नहीं, ढेरों किताबें पढ़ने वाले 'कुतुबा' को भी वे नहीं बख्शाते: 'वेद कितेब पढ़े वै कुतुबा, वे मोलना वै पांडे।' ऐसे सजग कवि से राजदरबार का बार-बार चक्कर काटने वाले कैसे बच सकते थे: 'राज दुआरे यों फिरे ज्यूं हरियाई गाय'।

उनका प्रश्न बड़ा सीधा और दो टूक है: भांस के लोभी गीध के समान कोतवाल से नगर की रक्षा किस प्रकार हो?—

को अस करे, नगर कोतवलिया।

भांसु पसारि, गीध रखवरिया।



शासनाधिकारी की आज्ञा से जब चोर चोरी करते हों या जब उन्हें में चोर भरे पड़े हों तो गरीब, निरीह और साधारण जनता क्या करे—  
चोर तुम्हारे तुम्हारी आगया, मुसियत नगर तुम्हारा।

इन को गुनह हमह का पकरो, का अपराध हमारा॥

इतना सब देख गूंगे-बहरे बने रहने वालों में वे नहीं थे। पाखंड आडम्बर, उत्पीड़न देख वे तिलमिला उठते हैं और तेज प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। उनमें गजब की आक्रामक खंडन प्रवृत्ति है पर यह खंडन निरुद्देश्य नहीं है। इससे वे रोग की जड़ तक पहुंचते हैं और सदियों से जड़ीभूत हुए समाज को बुरी तरह झकझोरते हैं। यह एक तरह की शॉक थेरेपी है। इस तरह खंडन और निषेध के रास्तों से होते हुए वे अन्ततः विद्रोह के विचार तक आए हैं। इसे वे ज़िन्दगी में और अमल में ढालते हैं। वे समझौते और समन्वय की जुवान नहीं जानते। हल्की-फुल्की उत्तेजना या मनसुनी फैलाकर लाभ कमाने वाले या आग फैलाकर हाथ संकने वाले विद्रोही वे नहीं हैं। अपने दौर के विध्वंस, नर-संहार और हत्याकांडों के संदर्भ में ही संभवतः वे कहते हैं—

हत्या कवहूँ न छुटिहैं, कोटिन सुनो पुराण।

यथास्थिति की गर्द-धूल में सने अपने समय को देख वे क्षुब्ध होते हैं और सदियों से बने क्रान्तिविमुख हिन्दुस्तानी दिमाग को बदलने का उपक्रम करते हैं। दहाड़ते हुए आतंक के बीच वे हर खतरा और जोखिम उठाते हुए, सच कहने का ही नहीं, उसे जीने और अमल में लाने का साहस करते हैं—

गगन दमामा बाजिया, पड़त निशाने घावा।

खेत पुकारै सूरमा, अब लड़ने का दांवा॥

विद्रोह और संघर्ष उनके लिए गते की तलवारें नहीं हैं, आत्मवादी अस्त्र भी नहीं हैं और न ही मन-बहलाव के झुनझुने, वे उनके पूरे चरित्र और मानसिकता में गुंथे हुए हैं और उनकी सृजनशील अकुलाहट और वैचारिकता का बोध कराते हैं।

कबीर के अकखंड, आक्रामक और विद्रोही तेवर की कुछ लोग खूब भर्त्सना करते हैं और मानते हैं कि उनके इस तलख खंडनात्मक तेवर की वजह से लोगों ने उनका विरोध किया, उनका मखौल उड़ाया और उन्हें पागल करार दिया—‘लोग कहे कबीर बराना।’ कबीर का आक्रामक और विद्रोही रवैया अन्याय सहकर तपे हुए आदमी की दारुण पीड़ा, धीरज और साहस का परिणाम है। इस अकखंडता के साथ फक्कड़ता भी है जिसने उन्हें माप-जोख से परे लापरवाह बनाया है, समझौते के लिए नहीं, सच के लिए उकसाया है। इसीलिए जहां मौका मिलता है वे सीधी चोट करते हैं, परिणाम की परवाह किए बिना यथास्थितिवादी मानसिकता और सोच को छिन्न-भिन्न करने के लिए, अन्याय और उत्पीड़न सहते रहने के आदी लोगों को उन्होंने साहस से, जोखिम उठाते हुए लड़ना सिखाया। क्या यह कम है कि उन्होंने अपने समय के कोढ़ से लड़ते हुए सच की प्रखरता और प्रेम के ढाई

आखर का ताप तथा रूढ़ियों से जर्जरित भारतीय समाज को स्वाभिमानपूर्वक जीने का पहला पाठ पढ़ाया?

ध्यान दीर्घाए, लम्बी मानसिक और नैतिक तैयारी के बाद ही वे संघर्ष और शहादत की बात करते हैं। सत्य के प्रति गहरी निष्ठा ने उन्हें निडर और विद्रोही बनाया है, मौत के सामने खड़ा होने और उसे चुनौती देने की शक्ति दी है। ‘भगति’ उनके लिए कायर का काम नहीं है ‘सीस उतारै हाथि करि/सो लेसी हरि नामा’ उन्होंने जान लिया था—

आगि आंच सहना सुगम, सुगम खंडग की धारा।

नेह निबाहन एक रस, महाकटिन व्यवहार।

सन्तों-महन्तों के अखाड़े जब उनके खिलाफ खड़े हो गए, उन पर लांछनों-आरोपों की झड़ी लगा दी गई, शेरख तकी तक जब उनकी शोहरत से चिढ़ गए, पंडितों-मुल्लाओं ने जब उन पर सीधे प्रहार किए तो वे जरा भी विचलित नहीं हुए और एक वीर की तरह, सर हथेली पर रख उनका सीधे-सीधे सामना किया—

नाही धर्मो नाही अधर्मो, ना मैं जती न कामी हो।

ना मैं कहता न मैं सुनता, ना मैं सेवक स्वामी हो।

ना मैं बंधा न मैं मुक्ता, ना मैं विरत न रंगी हो।

ना काहू से न्यारा हुआ, ना काहू के संगी हो।

ना हम नरक-लोक को जाते, ना हम सुगं सिधारे हो।

सब ही कर्म हमारा कीया, हम कर्मन ते न्यारे हो।

या मन को कोई विरलै बूझै, सो अटर हो बैठे हो।

मत कबीर काहू को थापै, मत काहू को मेटे हो।

‘मैं न किसी को स्थापित करता हूँ, न मिटाता हूँ’, यानी न उठाता हूँ न गिराता हूँ, कबीर का यह सूत्र-वाक्य उनके समय को ही संबोधित नहीं है, हमारे समय को भी संबोधित है जहां हर क्षेत्र में एक से एक महाबली उठाने-गिराने की राजनीति में महारत हासिल किए हुए हैं।

इस सिलसिले में कबीर के दो प्रसिद्ध दोहों का संदर्भ आप के सामने रखना चाहता हूँ। पहला है—

कविरा खड़ा बजार में, लिए लुकाठी हाथ।

जो घर जाँरे आपनो, चले हमारे साथ॥

और दूसरा है—

कविरा यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाहि।

सीस उतारै भुई धरे, पैठे घर माहि॥

इन दोहों में जीवन से बड़े मूल्य की, शहादत की कल्पना की गई है और इनमें ललंकार है जो आज भी हमारा पीछा नहीं छोड़ रही, पर कोई दिखाई नहीं देता जो अपना घर जला साथ चलने के लिए तैयार हो। विजयदेव नारायण साहि ने अपने कविता-संग्रह ‘साखी’ की एक कविता ‘अब’ में इन दोहों का आज की स्थिति में एक नया पाठ रचा है। कुछ पंक्तियां हैं—



वे बाजार में लुकाटी लिये खड़े हैं  
मेरा घर भी जलाने हैं  
और मुझे साथ भी पकड़ ले जाते हैं  
अब?

वे बाजार लूटते हैं।  
और रमैया की जोरू की इज्जत भी  
नर भी। नारी भी। देवता भी। राक्षस भी।  
उन्होंने हाहाकार मचा दिया है  
अब?

मैंने जो प्रेम का घर बसाया था  
तब उस के सामने  
उन्होंने मेरा सर उताया  
और भूमि पर रख दिया  
फिर मेरे घर में पैठ गये  
जैसे यह उन की खाला का घर हो।  
अब?

आज के संकट से जुड़े हुए आदमी के लिए ये पंक्तियाँ इतनी स्पष्ट  
हैं कि किसी तरह की व्याख्या या टिप्पणी की ज़रूरत नहीं है।

कबीर ने विवेक को अपना गुरु माना है : 'कहु कबीर मैं सो गुरु  
पाया जाका नाम विवेको।' कबीर का यह विवेक आधुनिक साहित्य का  
भी केंद्रीय शब्द है। वर्तमान संकट से जूझते हुए यह विवेक ही  
दिशाबोधक है कि संकट उतना भर नहीं है जितना दिख रहा है। कबीर  
ने बहुत पहले इसे समझा था। यह उनकी रचना-सामर्थ्य का एक बड़ा  
संदर्भ है जिसे इधर के कवियों, आलोचकों को खोलना चाहिए। इसमें  
कबीर के समय और परिस्थिति को ही नहीं, आज के समय और  
परिस्थिति के विरोधाभासों और विसंगतियों को पहचानने में भी मदद  
मिल सकती है। हमारे आज के कवि जहां दृश्य तक सिमटे रहकर बड़े  
कवि होने का दावा करते नहीं अघाते, उन्हें कबीर के पास बड़ी  
विनम्रता से पहुंचना चाहिए जैसे विजयदेव नारायण साही और कुछ  
अन्य कवि पहुंचने और सीखना चाहिए कि कविता अपने समय से  
रचना-सामग्री लेकर कैसे दृश्य से उलझती, जूझती उसके पार चली  
जाती है और बड़ी कविता के तौर पर, हर काल-खंड में, सामान्य जनों  
से लेकर विशिष्ट जनों तक स्वीकृत होती है। कबीर की वाणी उलझे  
हुए और उलझाने वाले, जटिलता के आग्रही, शब्द-छल के माहिर  
कला-शिल्पियों के सामने गुलझाव की सादगी-भरी प्रस्तुति है। यह  
'कागद की लेखी' के सामने 'आंखन देखी' का विमर्श है। इस  
'देखने' में लोग और समाज शामिल हैं। यह देखना नाटक के बहुत  
नज़दीक है। इसमें स्मृति, समय और साखी एक हो गए हैं।

239-डी, एम.आई.जी. फ्लैट्स, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-110027

कथाकार महीप सिंह की समस्त कहानियाँ

## तीन खण्डों में

### प्रथम खण्ड

## सुबह के फूलों की महक

### द्वितीय खण्ड

## घिरे हुए क्षणों का संकट

### तृतीय खण्ड

## संबंधों का सन्नाटा

## अभिव्यंजना

## का गौरवशाली प्रकाशन



डॉ. गुरचरण सिंह

## मुक्त प्रेम सम्बन्धों की कहानियाँ

कविता के साथ-साथ कहानी से भी जगदीश चतुर्वेदी का गहरा जुड़ाव रहा है। समकालीन हिन्दी कहानी के विकास तथा उसे एक नया मोड़ देने में चतुर्वेदी जी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उन्होंने कहानी में प्रयोग केवल अकहानी आन्दोलन के तहत ही नहीं किया, प्रयोग की यह प्रवृत्ति उनकी ताज़ा कहानियों में भी देखी जा सकती है। यही कारण है कि समकालीन कहानी में वे अलग खड़े नज़र आते हैं, जिससे उनकी अलग पहचान उभरती है।

'अकविता' तथा 'अकहानी' के अस्तित्व में आने के विश्वव्यापी कारण रहे हैं। पाश्चात्य देशों में भी इस प्रकार के आन्दोलन चले जिन्होंने परम्परागत मूल्यों-मान्यताओं के नकार तथा निषेध पर बल दिया। इसके पीछे एक तरफ भौतिक विकास रहा है तो दूसरी तरफ मोहभंग की स्थिति का भी महत्वपूर्ण योगदान। व्यक्ति को सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों ने ऐसे स्थान पर ला पटक था कि उसे कुछ सूझ नहीं रहा था। चीन के आक्रमण ने स्थिति को और गहरा दिया था। ऐसी स्थिति में नकार तथा निषेध से नई स्थितियों का, नए मूल्यों का जन्म होगा—ऐसा सोचना उस समय के लेखकों का ध्येय नहीं था। पर रचना के अन्दर कहीं गहरे यह भाव नज़र आता है। अकहानी में इसी कारण मूल्यहीनता ही दृष्टिगत होती है। लेखक मूल्यों को, नैतिक मान्यताओं को तथा तमाम वर्जनाओं को तोड़ता है।

स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को लेकर बहुत पहले से कहानियाँ लिखी जाती रही हैं, पर धीरे-धीरे ये सम्बन्ध जटिल होते जा रहे हैं, विशेष रूप से पढ़े-लिखे तथा सभ्य-सम्पन्न समाज में। जगदीश चतुर्वेदी अपनी कहानियों में स्त्री-पुरुष के इन सम्बन्धों को वैचारिक तथा मनोवैज्ञानिक धरातल पर पकड़ते हैं। वे पात्रों को निर्मम तटस्थता के साथ उभारते हैं। पात्रों को वे डिकटेट नहीं करते। वे अपनी गति से विकास पाते हैं। इस तरह जीवन के अनेक अनछुए प्रसंग भी उभर कर सामने आते हैं। इन प्रसंगों में नितान्त वैयक्तिक प्रसंग भी हैं तो सामान्य व्यक्ति के जीवन, उसकी व्यथा, पीड़ा, तनाव आदि से जुड़े अनेक प्रसंग भी।

जगदीश चतुर्वेदी की कहानियों में स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों, विशेष रूप से प्रेम तथा यौन सम्बन्धों की प्रमुखता है, पर उनकी कहानियों में महानगरीय व्यक्ति की यंत्रणा और तनाव भी अभिव्यक्त हुआ है। दलित तथा दमित व्यक्तियों की समस्याएं भी कुछ कहानियों में उभरी हैं तो कुछ कहानियों का सम्बन्ध इतिहास के साथ है। पर इन सभी कहानियों में नारी सौन्दर्य तथा उसे प्राप्त कर लेने की चाह प्रमुख है।

चतुर्वेदी जी यह स्वीकार करते हैं कि रचनाकार के मानस को, उसके सोच को अनुभव, परिवेश और देशकाल प्रभावित करते हैं। रचनाकार किस विधा को चुने, यह निर्भर करता है—'तत्कालीन मानसिक ऊहापोह एवं आवेग तथा घात-प्रतिघातों पर जो उसकी आन्तरिक इच्छा या 'अर्ज' का परिणाम होता है।' और कविता तभी लिखी जाती है—'जब मानसिक तनाव या रागात्मक अनुरक्ति बहुत प्रबल होती है। जब वह आसक्ति-विरक्ति, संवेग के साथ वर्णन क्रम एवं विस्तार को अपनाती है तब कथा बलवती होती है।' जगदीश चतुर्वेदी की कहानियों में हम इसी वर्णन क्रम तथा विस्तार को देखते हैं। यह विस्तार कहीं-कहीं अनावश्यक भी हो जाता है।

जगदीश चतुर्वेदी की प्रेम-सम्बन्धों की कहानियों पर प्रायः अतिवादिता का आरोप लगाया जाता है। पर लेखक इन कहानियों को अनुभवजन्य तथा प्रामाणिक स्वीकारता है। इन कहानियों के पात्र हमारे आसपास बिखरी हुई दुनिया के ही हैं। 'इनमें कहीं दुख में डूबी कातर माँ है, कहीं वफादार कुत्ता है, कहीं एबनार्मल प्रेमिका है तो कहीं खूबसूरत कर्मरत नर्स है।' इन कहानियों को पढ़ते हुए कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि इस प्रकार की घटनाएँ जीवन में सम्भव नहीं हैं। **खुदा की आवाज़** में रिहाना को देखकर नवयुवक सुधीर जिन दिवास्वप्नों को देखता है, वे स्वाभाविक हैं। ऐसे व्यक्ति इसी प्रकार की काल्पनिक दुनिया में जीते हैं। रिहाना का स्पर्श मात्र उसके शरीर में सिहरन पैदा कर देता है। स्पर्श कोई तुच्छ चीज़ नहीं है, उसकी शक्ति अमोघ है। सुधीर रिहाना की ओर खिंचा चला जाता है। वह सारी रात सो नहीं पाता। स्मृति-पटल पर मूक प्रेम की अभिव्यक्ति मुखरित होती है। यह मूक प्रेम दोनों तरफ से है। रिहाना भी सुधीर के बिना नहीं रह सकती। उनके प्रेम के बीच जाति और धर्म की दीवार है। रिहाना आत्महत्या करना चाहती है। पर इसके लिए साहस और क्रांतिकारी कदम उठाने की जरूरत है। यही द्वंद्व की स्थिति उभरती है—'हमने कोई पाप नहीं किया, आपस में प्रेम किया है, प्रेम कोई दुर्गुण नहीं। चलो मेरे साथ, समाज से लड़ें। हम विश्व में साथ-साथ रहेंगे।' लड़ाई समाज के साथ है। उसके निराधार मूल्यों तथा मान्यताओं के साथ है। समाज छोटा वर्ग है जबकि विश्व विशाल है। ऐसे प्रेम-प्रसंग स्वाभाविक लगते हैं। जहाँ प्रेम प्रसंगों में वासना उभरने लगती है, ऐसे प्रसंग भी महानगरों में, आधुनिक सभ्यता के बहाव में या काम सम्बन्धी भूख या अज्ञानता के कारण सम्भव लगते हैं। चतुर्वेदी जी ने स्वयं लिखा है—'यदि प्रेम के विविध रूप और नारी चरित्रों के नितान्त मौलिक सरोकार मुझे कुछ



नये कथा चित्र दे गये हैं तो मैं उन्हें न तो असामाजिक मानता हूँ और न ही सृजन के लिए निरर्थक।' औरों से अलग दिखने की, खुद को सामने लाने की या अपनी पहचान बनाने की इच्छा लेखक में बचपन से रही है। उसकी कहानियों में 'अनेकानेक प्रायोगिक जटिलताओं का सुपंचन इसी वैयक्तिक द्वंद्व का परिणाम है।'

प्रेम-प्रसंगों का वर्णन करते समय कथाकार स्वाभाविकता तथा मनोवैज्ञानिकता को बनाए रखना चाहता है। यथार्थ चित्रण के लिए वह नायक-नायिका के मानसिक द्वंद्व को उभारता है। इस द्वंद्व के कारण कहानियों में स्वाभाविकता तथा रोचकता बनी रहती है। **खुदा की आवाज़** का द्वंद्व प्रेमी-प्रेमिका के बीच जाति-धर्म की दीवार के कारण है तो **नर्तकी** में रजनी के कोठे पर पहुंच जाने के कारण। द्वंद्व चतुर्वेदी जी की कहानियों का प्राण तथा मूल शक्ति है। उनकी कहानियों के पात्र संवेदनशील तथा भावुक हैं। वे स्थितियों को गम्भीरता से लेते हैं और एकान्त में उन्हीं पर विचार करते रहते हैं। ये स्मृतियां पाठकों को कभी अतीत में ले जाती हैं तो कभी वर्तमान में। इन्हीं स्मृतियों से कथा तथा चरित्र विकास पाते हैं। पर चतुर्वेदी की कहानियों में नायक या नायिकाएं निर्णय लेने में विलम्ब करती हैं। पात्र सोचते अधिक हैं। इस सोच के पीछे पात्र समाज, इतिहास, मूल्यों, मान्यताओं से खुद को कहीं-न-कहीं बंधा हुआ अनुभव करते हैं जबकि लेखक इन सभी वर्जनाओं को नकारना चाहता है। कहानियों को पढ़ते समय अच्छा लगता है कि लेखक अपने विचारों को पात्रों पर थोप नहीं रहा है। चरित्र एक सीमा तक ही आगे बढ़ते हैं और चरम स्थिति आते ही पीछे हट जाते हैं। पर कुछ कहानियों में यह अनिर्णय की स्थिति ऐसी घटनाओं को प्रस्तुत कर देती है जिनसे बचा जा सकता था। **रम्मी** कहानी के अंत में किशोर जो निर्णय लेता है, यदि वही निर्णय वह कुछ समय पहले ले लेता तो खून-खराबे से बचा जा सकता था। ऐसे निर्णय विचार के स्तर पर नहीं, बल्कि भावुकता के क्षणों में लिए गए हैं।

नारी को देखते ही पहली नज़र उसके शारीरिक सौन्दर्य को ही परखती है। उसकी आंखें, गाल, नाक, होंठ, उरोज पर नज़र फिसलती है। यह रूप-सौन्दर्य की परख ही धीरे-धीरे घनिष्ठता का कारण बनती है। चतुर्वेदी की कहानियों में ऐसे प्रसंग प्रायः आते हैं—'रेशमी ब्लाउज में कसे हुए उरोज। सांवला चेहरा, जिसे खुदा ने फुर्सत में बनाया था। उलझे-उलझे पवन से अठखेलियां करते केश।' नारियों के प्रति लेखक का अपना टेस्ट है। उसे सभी नारियां अच्छी नहीं लगती। इस मामले में वह बहुत चूड़ी है। उसे झबरे बाल तथा मिचमिची आंखें पसन्द नहीं हैं। उसे बादाम-सी चमकती आंखें तथा रेशमी बाल अच्छे लगते हैं। मांसलता उसकी कमजोरी है। सलीके से पहने हुए सफेद कपड़े, प्याजी रंग की साड़ी या चुस्त कपड़े उसे अच्छे लगते हैं। ऐसे कपड़ों में उसे औरतें अधिक सुन्दर तथा मादक लगती हैं। उसे कम

उम्र की लड़कियां पसन्द हैं। सोलह साल से ऊपर होते ही उसे लड़कें औरत नज़र आने लगती हैं जो मां तो बन सकती हैं पर प्यार नहीं कर सकती। जो ऐसा नहीं सोचते, लेखक को लगता है कि उन्होंने आंखों का चोगा पहना हुआ है। वे भी लेखक की तरह ही सोचते हैं, पर कुछ नहीं पाते। 'यह घुटन ज्यादा बुरी है। इससे तो अच्छा है कि हम कम उम्र की लड़कियों के साथ रहें, उन्हें नज़दीक से देखें, भोगें।' मकान की छतों पर धूप में बाल सुखाती लड़कियां भी उसे अच्छी लगती हैं। वह उनकी साड़ी के पल्लों में से झांकती युवा छातियों को देखता है। हिन्दुस्तानी लड़कियां उसे अच्छी लगती हैं, क्योंकि उनकी गर

**जगदीश चतुर्वेदी की प्रेम-सम्बन्धों की कहानियों पर प्रायः अतिवादिता का आरोप लगाया जाता है। पर लेखक इन कहानियों को अनुभवजन्य तथा प्रामाणिक स्वीकारता है। इन कहानियों के पात्र हमारे आसपास बिखरी हुई दुनिया के ही हैं। 'इनमें कहीं दुख में डूबी कातर मां है, कहीं वफादार कुत्ता है, कहीं एबनार्मल प्रेमिका है तो कहीं खूबसूरत कर्मरत नर्स है।'**

अच्छी, तीखी और लजीज होती है। यूरोपियन लड़कियों की बेहद गोरी चमड़ी लिजलिजी, सपाट तथा बेस्वाद होती है। लेखक लड़कियों के प्रति अपने टेस्ट का वर्णन करते समय सामाजिक मान्यताओं-नैतिकताओं का निषेध करता है। जिस मूल्यहीनता की स्थिति को वह पैदा करना चाहता है वह समाज कैसा होगा, इस पर लेखक विचार नहीं करता। चतुर्वेदी की कहानियां व्यक्ति को अराजक स्थिति की ओर ले जाना चाहती हैं। चतुर्वेदी के नायक लड़कियों को बांहों में भींच लेना और उनके पतले रेशमी अधरों पर अपने अधर रख देना चाहते हैं। ऐसा भाव केवल नायक में ही नहीं, नायिकाओं के मन में भी पैदा होता है—'उसने मेरे बालों में सिहरन करना प्रारम्भ की। यह उसकी हमेशा की आदत थी।' ऐसा उसने क्यों किया इस पर विचार करते हुए वह लिखता है—'सेक्स प्रबल होने पर हर औरत इसी प्रकार कुछ-न-कुछ आदत उस प्रदर्शन की बना लेती है।' **'सेटीमेटल गर्ल'** का वर्णन उत्तेजक है। वासना को जगाने वाला—'अंधेरे में मैंने उस गठी-गठई, नौजवान मस्ती से भरी जवानी के आलिंगन विह्वल उरोजों पर उंगलियां रख दी।' और वह—'उस ठंडी रात में मेरे गर्म होंठों में सिमट कर मुझमें समा गई पूर्ण-रूपेण धड़कन-धड़कन में।' चांद सितारे और उनकी कब्र में प्रेम का धरातल बिल्कुल अलग है। अब



ज़हर खा कर मर जाता है, पर पम्मी बच जाती है। पर वह जीवित रहना नहीं चाहती। वह फिर आत्महत्या का प्रयास करती है और अजय को पा लेती है। इस कहानी में **खुदा की आवाज़** की तरह समाज में टकराने की बात नहीं उठाई गई है। **चांद सितारे और उनकी कब्र** की कमजोरी उसके द्वंद्व के अभाव में है। कहानी के चरित्रों के विकास-के लिए चतुर्वेदी जी प्रायः द्वंद्व का सहारा लेते हैं, पर इस कहानी में आत्महत्या का निर्णय लेने से पूर्व जिस द्वंद्व की अपेक्षा थी, वह नज़र नहीं आता। पात्र किसी भी संघर्षपूर्ण दौर से नहीं गुजरते। इसीलिए उनका त्याग भी कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ता।

**पलायन** में लाजो के प्रति सहज आकर्षण है जो धीरे-धीरे घनिष्ठता में बदलता है। इसमें वासना नहीं उभरती। **गोमी** कहानी में भी ऐसा ही सहज आकर्षण है। पर विवाह जैसी संस्था में लेखक का विश्वास नहीं है। इसी कारण यह शादी तक नहीं पहुंच पाता। आकर्षण जब घनिष्ठता में बदलने लगता है तो कथाकार नायक-नायिका को अलग करने का कोई बहाना ढूंढ़ लेता है। कभी ट्रांसफर हो जाता है, कभी नौकरी मिल जाती है तो कभी दफ्तर या घर से तार आ जाता है। **फ्री लांसर** में भी ऐसा ही होता है। विपिन को शिमला में नौकरी मिल जाती है और वह अंजो से अलग हो जाता है। पर यह कहानी अन्य कहानियों से अलग है। इस कहानी में विपिन वापस लौटता है और उसे जीवन का कटु सत्य सुनने को मिलता है—'मैंने तो धोखा नहीं दिया विपिन। तुमसे कौन शादी करेगा। तुमसे तो प्यार किया जा सकता है। तुम तो फ्री लांसर हो।' कहानी विपिन की आर्थिक स्थिति को उद्घाटित करती है तथा आज के युवक-युवतियों की सोच को भी उभारती है। मात्र प्रेम जीवन को सभी रस नहीं दे सकता। जीने के लिए पैसों की जरूरत होती है। इस पक्ष को भी नज़र-अंदाज नहीं किया जा सकता। चतुर्वेदी की अधिकांश कहानियों में नायक-नायिका के अलग हो जाने के बाद उनके बीच की घनिष्ठता धीरे-धीरे स्मृति-पटल से धूमिल होने लगती है। जब वह लाजो को अपने मित्र की पत्नी के रूप में देखता है तो स्मृतियां कुछ क्षणों के लिए कौंधती हैं और उसे धक्का-सा लगता है। **गोमी** कहानी के अंत में भी ऐसा ही होता है। गोमी दयनीय स्थितियों को भोगते हुए मर जाती है और अपने जीवन की संचित पूंजी कन्हैया के नाम कर जाती है। ऐसे प्रसंग करुणा, दया, सहानुभूति को उभारते हुए सीधे मर्म को छूते हैं।

नारी के प्रति लेखक का दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं है। वह उसे आवारा, छिनाल या वेश्या के रूप में ही नज़र आती है। उसकी सुन्दरता उसे आकृष्ट करती है। उसका सामीप्य उसे सुख देता है। पर वह नारी को सिर्फ आलिंगन में भीचना, उसे चूमना या उसे भोगना चाहता है। इससे अधिक वह नारी में और कुछ नहीं देखता। इससे निश्चित रूप से नारी के अहम, उसके स्वाभिमान-सम्मान तथा उसके अस्तित्व पर प्रहार हुआ है।

**अनाहूत क्षण** में अरविंद के मन में नारी के प्रति कोई अच्छे विचार नहीं है, परन्तु कहानी में किशुक का चित्र उभरता है। वह लम्बे समय से एक मानसिक तनाव को पाले हुए है। अरविंद को उसने लड़कियां फंसाने वाले के रूप में देखा है, पर उसे उसका कवि व्यक्तित्व पसन्द है। इसी कारण वर्षों उसकी याद बनी रहती है। विवाह हो जाने के बाद भी उसकी रचनाओं के माध्यम से वह जुड़ी रहती है। पर अरविंद के मन में किशुक के लिए यदि स्मृति है तो उसकी सुन्दरता तथा उसे भोगने की चाह के कारण। 'तुम जानते हो मैं औरत पर कभी विश्वास नहीं करता।' **यूकिलिप्स के साथे** के पुरुष का यह भाव या विचार अधिकांश कहानियों में व्यक्त हुआ है। लेखक पुरुष को सुपीरियर तथा नारी को इन्फीरियर चित्रित करता है। नारी के प्रति पुरुष का दृष्टिकोण वासनात्मक है। नारी के आत्मीय संवेदनशील पक्ष को लेखक ने नहीं उभारा है। नारी का शरीर ही केन्द्र में रहा है। नारी के मानसिक या आन्तरिक रूप को उभारने का प्रयास नहीं हुआ है। नारी के प्रति गहराई से सोचना लेखक को व्यर्थ लगता है। उसे लगता है—'तमाम औरतें चाहे वे नर्स हों या डॉक्टर, अमूमन मूर्ख होती हैं।' **क्रास** कहानी में भी उसने ऐसे ही विचार व्यक्त किए हैं। उसे लगता है कि नारी के साथ बौद्धिक बातें नहीं की जा सकती। सामाजिक, घरेलू या छोटी-छोटी बातों में ही उसकी रुचि होती है। **निहंग** कहानी में वह औरतों से घृणा करता है। उसे मां, बहन और बीवी तक से घृणा है। तेज शराब की तरह औरत उसके लिए क्षणिक महत्व रखती है। औरतों को मूर्ख कहने वाले पात्र शराब पीते हैं, जबान लड़कियों के पीछे घूमते हैं, उनकी मांसल देह की एक झलक पाने के लिए तरसते हैं तथा रात को लुढ़कते हुए घर पहुंचते हैं। ऐसे लोगों को बुद्धिजीवी या विद्वान कैसे स्वीकारा जा सकता है। देखा जाए तो वह औरत उससे कहीं ज्यादा ऊंची है, अच्छी है जो सारा दिन घर में खपती हुई पुरुष की इन बेहूदगियों तथा दमन को चुपचाप सहती है। पर चतुर्वेदी जी ऐसे ही पुरुषों के गुण गाते हैं।

चतुर्वेदी की कहानियों में नारी कहीं भी दोषी नज़र नहीं आती। वह भोली है, पुरुष पर शीघ्र विश्वास कर लेती है। फिर भी सारा दोष उसी पर डाला गया है। शायद इसलिए कि चतुर्वेदी की कहानियों का प्रेम अधूरा है। मां से मिलने वाले प्रेम का अभाव तथा सौतेली मां का कठोर व्यवहार भी इसका कारण हो सकता है। कहानियों में प्रेम चरम सीमा को प्राप्त नहीं कर पाता। वह बचपन का, किशोरावस्था का या यौवन का सहज आकर्षण है—जो कभी-कभी कचोटता है, पर व्यक्ति उससे जुड़ नहीं पाता।

आठवें दशक की कहानियों में लेखक लड़कियों के पीछे भटकने के भटकाव से बचने लगा है। उसके दृष्टिकोण में भी अन्तर आया है। वह स्वीकारता है—'उसे रोज-रोज नयी औरतों के साथ सोना अच्छा लगता था।' पर अब उसे औरतें ताज़गी नहीं देती। लगता है लड़कियों



के पीछे घूमने का एक दौर था जो अब समाप्त हो गया है।

विवाहेतर प्रेम-प्रसंगों का चित्रण भी चतुर्वेदी की कहानियों में खुल कर हुआ है। विवाह संस्था में उसका विश्वास नहीं है। पत्नी के होते हुए भी वह सुन्दर नारियों के केश जाल में फँसना चाहता है। **सेटीपेटल गर्ल** में वह लिखता है—‘प्यार का संकुचित बन्धन है शादी। और प्यार कभी भी सीमाओं में नहीं बंधता।’ **कुंकुमी सांझ का तैरता सूरज** कहानी में नायक का मीनू के प्रति प्रेम ऐसा ही है। ऐसी कहानियों में पत्नी के प्रति वितुष्णा भाव के कई कारण हो सकते हैं। कभी वह उसके सुन्दर न होने के कारण उसे पसन्द नहीं करता तो कभी बौद्धिक तथा वैचारिक धरातल की असमानता के कारण। **फ्लर्ट** कहानी में नायक कहता है—‘मेरी पत्नी में बहुत कमी है। हमेशा मैली-कुचैली, तुसी-तुसाई धोती पहने सोफे पर बैठी मुस्कराती रहती है।’ पत्नी के साथ अनबन, आत्मीयता या प्रेम का अभाव पुरुष को अन्य नारियों की ओर खींचता है। मीनू भी पुरुष की इस कमजोरी को जानती है, तभी कहती है—‘तुम्हारी पत्नी को मैं जानती हूँ। वह तुम्हारे जैसे भावुक आदमी के लायक नहीं।’ पर विवाहित सम्बन्धों को तोड़कर मीनू को प्राप्त कर लेने की बात न तो इस कहानी में उभरती है और न ही अन्य कहानियों में। एक भी कहानी ऐसी नहीं है जहाँ किसी पति ने अपनी पत्नी को तलाक दिया हो या किसी दूसरी औरत को सदा के लिए स्वीकार किया हो। इसके विपरीत ‘पत्नी कहीं देख न ले’ का भय तथा देर से घर पहुँचने पर कई प्रकार के बहाने बनाने की बात कहानियों में जरूर उठी है। ऐसी स्थिति **वीनस** कहानी में भी उभरती है—‘निशि गुलमोहर का पेड़ है और मैं उसे पाना चाहता हूँ।’ पर वह जानता है कि उसकी—‘पत्नी अमर वेल है जो उस पर छाई रहती है।’ इसी कारण उसको पत्नी पर गुस्सा आता है। पति के निशि के साथ सम्बन्धों को वह जानती है। पर जब उसे लगता है कि पति को अपनी गलती का अहसास हुआ है तो मुस्करा देती है। इस मुस्कराहट में क्षमा तथा सभी कुछ भूल जाने का भाव छिपा हुआ है। **यूकिलिप्टस के साथे** कहानी में—‘मैंने जब उससे प्यार किया तब मेरी शादी हो चुकी थी।’ यह जानते हुए भी उसने नरेन्द्र को इतना प्यार दिया जितना उसकी पत्नी न दे सकी। नरेन्द्र को बाद में पता चला कि वह भी विवाहिता थी तथा प्यार चाहती थी। इस तरह लेखक विवाह संस्था को नकारता है, उसका अतिक्रमण करता है, पर उसे तोड़ता नहीं, न ही उसके विरुद्ध कोई कदम उठाता है। घर आते ही वह पत्नी का बनने का प्रयास करता है। इस प्रयास में वह सफल होता है या नहीं यह अलग बात है। **फ्लर्ट** कहानी में—‘वैसे तो कई बार सोचा है कि अपने को पत्नी के अनुरूप थोड़ा बहुत ढाल लूँ।’ वास्तव में विवाहेतर सम्बन्धों की कहानियों में पात्र दोहरी जिंदगी जीते हैं और अंत में अनुभव करते हैं कि वे कहीं के नहीं रहे।

चतुर्वेदी की कहानियों में उनके व्यक्तिगत जीवन की अभिव्यक्ति की प्रमुखता है। प्रत्येक कहानी के साथ वे खुद को जोड़ लेते हैं। इस तरह लेखक बहुत कुछ अपने बारे में ही लिखता है। यह अभिव्यक्ति कुछ कहानियों में साफ और सीधी है तो कुछ कहानियों में उनके जीवन की झलकियाँ विभिन्न पात्रों में देखने को मिलती हैं।

माँ की मृत्यु ने लेखक को बहुत गहरे प्रभावित किया है। वह घटना उसकी कहानियों में बार-बार उभरती है। उसके पिता ने दूसरा विवाह किया, पर सौतेली माँ उसे प्यार न दे सकी। **फ्री लांसर** में वह लिखता है—‘माँ की मौत के बाद उसकी किसी ने फिफ्ट नहीं की। पिता जी ने उसके लिए शादी की, पर दूसरी माँ ने विपिन को घर से बाहर निकलवा कर ही दम लिया।’ लेखक विपिन के साथ खुद को जोड़ता है। पिता की दूसरी शादी का कारण जगदीश की देखभाल ही बन गया था, पर वह उसकी देखभाल नहीं कर सकी। शायद इसी कारण वह औरतों के पास जाता है, उनमें ममता और प्यार ढूँढ़ता है—‘उसे लगा अंजो उसका ध्यान रखती है। उसे उसकी फिफ्ट है।’ वर्षों बाद विपिन को लगा कि उसका कोई है। यह अकेलेपन का भाव लेखक को सालता है। वह उसे दूर करने के लिए प्रयासरत है। दोस्तों के साथ गपवाजी, होटल-रेस्तरां, लड़कियों का साथ—ऐसा वह खुद को दूसरों के बीच अनुभव करने के लिए ही करता है। वह कमरे में अकेला, स्मृतियों के सहारे जीना नहीं चाहता। **अनाहूत क्षण** में उसने लिखा है—‘अकेलेपन में आदमी सोता है या लिखता है।’ पर अकेलेपन में नींद आसानी से नहीं आती। नींद की गोलियाँ लेनी पड़ती हैं। अकेले जीने वाला व्यक्ति तो मुस्करा भी नहीं सकता—‘उस कृशागत, गौरवर्धन भोले से युवक को किसी ने मुस्कराते नहीं देखा।’ (रम्मी)। वैभव का त्याग के रामू में लेखक अपना ही रूप देखता है। जमींदार जालिम सिंह में वह अपने पिता को देखता है तथा जमींदार की बड़ी लड़की सरला में अपनी बड़ी बहन को, जिसके विवाह के उपरान्त वह और अकेला हो गया था।

चतुर्वेदी जी ने अपनी आदतों, पसन्द-नापसन्द का चित्रण भी कुछ कहानियों में किया है—‘छुट्टी के दिन मुझे अच्छा नहीं लगता कि कोई मुझे सुबह उठा दे या मुझसे मिलने चला आये अथवा लगातार साहित्य की बातें करता रहे। छुट्टी के दिन मैं दिन भर सोना चाहता हूँ और उनींदी हालत में कुछ ऐसी बातें सोचना चाहता हूँ जो मेरी अपनी बातें हैं, अत्यन्त गोपनीय।’ इसलिए—‘पिता जी को देखकर मैं आंखें जोर से मूंद लेता हूँ।’ सौतेली माँ के बारे में वे **अश्वेरा का आदमी** में लिखते हैं—‘मेरी सौतेली माँ मुझसे ज्यादा बात नहीं करती थी और अक्सर मेरा खाना झाँग रूम में ही भेज देती थी।’

लेखक को ऐतिहासिक अवशेषों में कोई रुचि नहीं है। वह समय को सुन्दर लड़कियों के बीच गुजारना चाहता है। कुत्तों से उसे डर



लगत है और कुत्ता पालने वाला व्यक्ति उसे बदमाश लगता है। इस तरह कहानियों के माध्यम से वह खुद को सामने रखता है अपनी नमाम अच्छाइयों-बुराइयों, गुणों-अवगुणों के साथ।

लेखक की भ्रमणशील प्रवृत्ति उनकी कहानियों में उभरती है। अलग-अलग नगरों को देखना, लोगों से मिलना, पहाड़ों या पेड़-पौधों से टकराती संगीत की आवाज उसे प्रिय है। कोयल का कूकना, चिड़ियों का चहकना, फूलों का खिलना उसे अच्छा लगता है। ऐसे दृश्यों के वर्णन के समय उसका कवि हृदय मुखर हो जाता है। अपने साथी मित्रों के साथ गुनगुनाते हुए पहाड़ी रास्तों पर पैदल चलना तथा प्रकृति की सुपमा के असंख्य नज़ारों का आनन्द लेना उसे अच्छा लगता है। 'फिर जब बादल पानी लाते हैं तो उमंगें अधिक बढ़ जाती हैं।' (पलायन)। इस मौसम में झरनों के पास लड़कियां उसे अच्छी लगती हैं। 'भीगी भीगी रात, नशीली चांदनी, ऊपर आसमान पर झूलता हुआ हंसिया जैसा चांद। सड़क के दोनों ओर चुपचाप खड़े घने मेहदी के झुरमुटों को सहलाती हुई आती रातरानी के फूलों की सोंधी-सोंधी सुगन्ध' (नर्तकी) में वह खो जाता है।

**कहानियों में उनके व्यक्तिगत जीवन की अभिव्यक्ति की प्रमुखता है। प्रत्येक कहानी के साथ वे खुद को जोड़ लेते हैं। इस तरह लेखक बहुत कुछ अपने बारे में ही लिखता है। यह अभिव्यक्ति कुछ कहानियों में साफ और सीधी है तो कुछ कहानियों में उनके जीवन की झलकियां विभिन्न पात्रों में देखने को मिलती हैं।**

आलम की रंगरेजन तथा महाकाव्य का अन्त कहानियों की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। पर इन कहानियों का सम्बन्ध राजा-महाराजाओं के साथ न होकर प्रसिद्ध साहित्यकारों के साथ है। आलम की रंगरेजिन के संदर्भ में साहित्य के इतिहास में प्रसंग दोहे को पूरा करने का है। शेष लेखक ने कल्पना की है। मूल प्रसंग को लेखक ने यथावत् रखा है। कहानी का अन्त साम्प्रदायिक सद्भाव में होता है। कवि बौद्धिक प्राणी है। वह धर्म की संकरी-संकुचित सीमाओं को तोड़ कर फैलना चाहता है। वह इन्सानियत को महत्व देता है, धर्म को नहीं। एक ब्राह्मण का रंगरेजिन से विवाह सीमाओं से बंधे लोगों के लिए ही आपत्तिजनक हो सकता है। शहजादे का यह कहना—'तुम कवि हो, तुम्हारी मुहब्बत ही तुम्हारा धर्म है। तुम औलिया हो... आलम पीरा।' कवि के साथ-साथ सच का साथ देते हुए शहजादा भी सीमाओं को तोड़ता है। दूसरी कहानी महाकाव्य का अन्त में कालिदास के अन्तिम समय को कहानी का विषय बनाया गया है। कथा मार्मिक है। हृदय पर

सीधा प्रभाव डालती है। सैन्धवा के द्वारा महाकवि की निर्मम हत्या दिल दहला देने वाली है। लेखक अन्त तक पाठक में त्रिजाला बनाए रखता है। इन दोनों कहानियों में ऐतिहासिकता और कल्पना का अद्भुत सामंजस्य है।

अन्त में जगदीश चतुर्वेदी की कहानियों की भाषा और शिल्प पर बात करना अनुचित नहीं होगा। कथाकार की अपेक्षा कवि को शब्दों की शक्ति की पहचान अधिक होती है। चतुर्वेदी जी कवि भी हैं इसलिए उनकी कहानियों में काव्यात्मक भाषा का प्रयोग प्रायः हुआ है। उनके शब्द अधिक प्रभाव डालते हैं तथा व्यापक अर्थ देते हैं। नारी-सौन्दर्य तथा प्रकृति-सुपमा का चित्रण करते समय उनका कवि सामने आ जाता है और भाषा काव्यमय हो जाती है। वे कहानियों में भी नए उपमानों का प्रयोग करते हैं। 'तुम कितनी हसीन हो जैसे केतकी का जवान फूल।' (अनाहूत क्षण)। केतकी का उपमान लेखक को प्रिय है। अमिट रेख में भी वह लिखता है, 'केतकी-सी आंखें और मलाई-सा कोमल चिकना सफेद मुखड़ा।' इसी कहानी में वे लिखते हैं—'उसके होठों पर हल्की-सी वारिश हुई थी और कई ज्वार भाटे आये थे।' तपेटिक का मरीज में वह लिखता है—'ऐसा लगता है कि सेनीटोरियम में भटकती मेरी आवाज युगों के लिए सामने खड़े बबूल के पेड़ पर बया के घोंसले की तरह जाकर लटक जायेगी।'

महाकाव्य का अन्त कहानी की भाषा प्रसाद की ऐतिहासिक कहानियों जैसी है—'प्रथम प्रहर की घड़ी का अवसान होते ही झालरों व घंटों के नानादों से सिंहल गुंज उठा व इसी समय गुप्त मार्ग से श्वेत सप्त अश्वों का जुता एक रथ प्राचीर के समीप आकर रुक गया।' लेखक ने कुछ कहानियों में फंतासी का प्रयोग भी किया है। ऐसा प्रयोग उसने स्थितियों को गहराने तथा परिवेश को बुनने के लिए किया है—'दूसरे ही क्षण उसे लगा कि वस्त्रों में जाले हैं—मकड़ियों के जाले, जिन्हें वह प्रिजर्व करना चाहता था। उन जालों में आग लग गयी है, वे जल रहे हैं, जलते जा रहे हैं, उलझते जा रहे हैं।' लेखक नायक की निर्बलता को व्यक्त करना चाहता है। मिसेज लाल के अर्धनग्न शरीर को देखने के उपरान्त उपजो यह मानसिकता, जबकि लाल की आंखों में आत्मीयता और समर्पण का भाव था, नायक के ही लिजलिजेपन को व्यक्त करती है।

क्रास कहानी में ऑपरेशन से पूर्व मरीज की मानसिक स्थिति का मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। उसकी घबराहट, मन में अजीब विचारों का पैदा होना तथा अनेक तर्कहीन बातों के लिए तर्क की खोज, मित्रों-रिश्तेदारों का आश्वासन देना तथा माता-पिता का स्वयं तनाव-ग्रस्त होना यथार्थ वातावरण को बुनता है। स्थिति को उभारने के लिए लेखक यहां भी फंतासी का प्रयोग करता है—खिड़की पर झुकी पीपल की टहनी पर एक नर कंकाल लटक रहा था। उस कंकाल ने अपनी शहतीर-सी बांहें उसकी ओर बढ़ायीं और डेढ़ इंच लम्बी जीभ बाहर



लटका दी।' नायक की रग-रग में समाए भय को लेखक यहां व्यक्त करना चाहता है।

चतुर्वेदी जी कहानियों के विषय तथा कथ्य के अनुरूप शिल्प को चुनते हैं। अंधेरे का आदमी कहानी के प्रारम्भ से ही कथाकार ने एक रहस्यमय स्थिति को बुना है। पाठक के मन में कहानी के अन्त तक यह जानने की जिज्ञासा बनी रहती है कि वह व्यक्ति कौन है जो कहानी के नायक का निरन्तर पीछा कर रहा है, जो उसके पान-सिगरेट का बिल देता है, जो उसे गलत रास्ते पर चलने से रोकता है, जो उसे चाय पिलाना पसन्द करता है। अन्त में जब रहस्य खुलता है तो पाठक को अच्छा लगता है। वह व्यक्ति नायक में अपने ही बेटे का रूप देखता है।

कुछ कहानियों में घटनाएं अप्रत्याशित मोड़ लेती हैं। खुदा की आवाज़ में धार्मिक सद्भाव तथा सहिष्णुता को व्यक्त करने के लिए लेखक घटनाओं को मोड़ देता है। रिहाना के साथ सुधीर का उठना-बैठना न उसके पिता को पसन्द है, न भाई को। पर जब सुधीर डा. खान की जान बचाता है तो पिता-पुत्र दोनों ही सुधीर को अपना समझने लगते हैं। यह हृदय परिवर्तन प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कहानियों की तरह का ही है।

कुंकुमी सांझ का तैरता सूरज, अन्तराल के दो छोर, आत्मलीन तथा डायरी के पन्ने जैसी कहानियां डायरी-शैली में लिखी गई हैं। कभी दिनों के नाम लिखकर तो कभी तिथि देकर कहानी का विकास किया गया है। डायरी के पन्ने संस्मरणात्मक हैं। साहित्यकारों के साथ बिताया गया समय यहां मूर्त हुआ है। लेखक ने बड़ी अंतरंगता के साथ इन क्षणों को जिया है।

जगदीश चतुर्वेदी की कहानियां प्रेम-प्रसंगों की कहानियां हैं। प्रेम के लिए, नारी सौन्दर्य को निहारने, उसे भोगने के लिए वह समस्त वर्जनाओं को नकारता है। नैतिकता और आदर्श को वह ढकोसला समझता है। इससे मूल्यहीनता की स्थिति उभरती है। प्रेम के बहाने आर्थिक विषमता तथा साम्प्रदायिकता से जुड़ी समस्याएं भी कुछ कहानियों में उभरी हैं। नकार और निषेध की प्रवृत्ति कहानियों में होते हुए भी लेखक किसी भी स्थापित संस्था को उखाड़ फेंकने की बात नहीं करता। ऐसा संकेत कहानी की विषय-वस्तु से ही उभरता है। जिस तरह की कहानियां चतुर्वेदी जी ने लिखी हैं, उससे विवाह-संस्था के चरमरा जाने की पूरी सम्भावनाएं थीं, पर लेखक स्वयं इस संस्था से बंधा हुआ नज़र आता है। पठनीयता इन कहानियों की एक अन्य विशेषता है।

6/15, अशोक नगर, नई दिल्ली-110018

## कृती साहित्यकार

डा. सुदर्शन मजीठिया के समग्र  
साहित्य एवं व्यक्तित्व का  
मूल्यांकन करने वाली महत्वपूर्ण कृति

सुदर्शन मजीठिया :  
सृजन के धरातल

संपादक  
डॉ. गुरचरण सिंह

मूल्य  
200 रुपये

अभिव्यंजना

बी-70/72, डी.एस.आई.डी.सी. काम्पलेक्स  
लारेस रोड, दिल्ली-110035



## सिम्पी हर्षिता

## रात

हम दो बहनें और दो भाई।

धीरेंद्र की पत्नी की कैसर से मृत्यु हो चुकी है। अब दूसरी पत्नी है गरीब घर की, मां-बाप के साए से वंचित। इससे एक लड़का और एक लड़की है। पहली पत्नी से दो लड़कियां हैं। अपने ममतालु स्वभाव के कारण शीला अपनी ओर से उनसे अच्छा ही व्यवहार करती है। पर कितना ही अच्छा क्यों न करे, वह दूसरी मां ही कहलाएगी। उसकी घर में ऐसी ही स्थिति है जैसी बहुत अमीर घरों में किसी गरीब घर की साधारण शक्ल-सूरत वाली लड़की की होती है।

हर इन्सान सुंदरता और दौलत का प्रशंसक होता है और धनी लोग खास तौर पर! सुंदर बच्चा, सुंदर लड़की, सुंदर फूल-पत्ती, सुंदर पशु-पक्षी, सुंदर कपड़ा, सुंदर मकान—हर सुंदर चीज स्वयमेव मन-ध्यान को खींचती-बांधती है—और यह कमजोरी मेरे पिता में भी है। अमीरी हाथ में आ जाने के बाद व्यक्ति को यह हक बनता ही है कि वह चीजों में—सुंदर-असुंदर में चुनाव करे—उन्हें पसंद-नापसंद करे—उन्हें पास-फेल करे। धनी की इज्जत करे—उसे हमेशा ठीक माने। गरीब से घृणा करे—उसका अपमान करे। अमीर कभी गलती नहीं कर सकता—गलती गरीब ही करता है। गरीब ही अपराधी हो सकता है—अमीर कभी नहीं! उसे भला क्या जरूरत है अपराध करने की? दौलत हर अमीर इन्सान को इस तरह की विशिष्ट सोच का अधिकार देती है—सदियों से चले आए इस तरह के मुहावरे गढ़ने का अधिकार देती है—गरीब तेरे तीन नाम, झूठा, पाजी, बेईमान—और उसने पिता को भी इससे वंचित नहीं किया है! दौलतमंद चोर पर भी वे चंवर डुला सकते हैं!

पिता ने अपने यत्न-प्रयत्न से घर-बाहर सम्पत्ति, सुख-सुविधाओं और प्रतिष्ठा का एक साम्राज्य खड़ा किया हुआ है। आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व एक बिन्दु से आरम्भ कर वे महासागर के स्वामी हैं आज—ऐश्वर्य और सामाजिक सम्मान के महासमर के विजेता! अपने औद्योगिक क्षेत्र के सिरमौर और उससे जुड़े सर्वोच्च संस्थान के अध्यक्ष!

वे हैं असीम प्रसन्न और संतुष्ट! उनका भारतीय पहरावे में जगमगाता व्यक्तित्व किसी गणराज्य के महामंत्री से कम नहीं। गौरवर्ण। लम्बा कटा। गीता, महाभारत, रामायण के श्लोक और उद्धरण जिह्वा पर। दो ही पल में सामने वाले को अपनी गम्भीर विद्वत्ता से प्रभावित करने में समर्थ। सौंदर्य, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, ज्ञान और गंभीरता का पंचनद उनका व्यक्तित्व! वे हैं सच्चे अर्थों में पंचपिता! पिता,

नेता, श्वसुर, अन्नदाता, भयवाता की पंचमूर्ति! उनका साम्राज्य अविच्छिन्न भाव से उनके प्रभुत्व में है। रेडियो पर कई बार आलेख पढ़ते हैं। दूरदर्शन पर भी आते रहते हैं। विभिन्न औद्योगिक सम्मेलनों का सभापतित्व भी करते रहते हैं। सैद्धांतिक दृष्टि से उनकी विद्वत्ता की धाक चारों ओर जमी हुई है। वे समाज के विशिष्ट व्यक्ति हैं, इसलिए वे यह हमेशा ध्यान में रखते हैं कि उनकी उस विशिष्टता पर कभी कोई आंच न आए—उनकी ओर कोई अंगुली न उठाए। इसलिए हर घटना और मामले के सूत्र वे अपने हाथ में रखते हैं और जरूरत के अनुसार उसे खींचते या ढीला छोड़ देते हैं।

जब व्यक्ति धनी-मानी होने लगता है तो अपने गांव-कस्बे-शहर तक सीमित न रहकर देश की राजधानी दिल्ली से व्यावसायिक और पारिवारिक रिश्ते जोड़ना चाहता है—हो सके तो विदेश से भी! हमारे दिल्ली आ बसने से पिता का व्यवसाय कसीदाबाद से निकलकर पंचतारा होटलों तक जा पहुंचा था। अब रोटी-ब्रेटी का रिश्ता जोड़ने की बारी थी।

यहां के एक फ़िल्मालय के मालिक की लड़की के साथ तपन के रिश्ते की बात चल रही थी। हम सब उसे देखने पहुंचे। पिता तो तटस्थ ही थे निर्णय के मामले में। मुझे लड़की पसंद आई—पर तपन और श्यामल को विशेष नहीं जंची। उन्होंने कहा कि लड़की का चेहरा उसके शरीर के आकार से कुछ बड़ा लगता है। पर मैं उससे बहुत प्रभावित हुई। उसकी खिली-खुली बातें, स्नेही मुख स्वभाव!

उधर कोसीना के भाई-मा ने भी अपने धर्म-जाति के साथ-साथ अपने बराबर का धनी परिवार देखा—लड़के में असीम धन अर्जित करने की सामर्थ्य को देखा। बल्कि कहना यह चाहिए कि लड़के के साथ-साथ या लड़के के बदले उसके पिता के प्रभामंडल को देखा जो अपने औद्योगिक क्षेत्र का सर्वेसर्वा है!

रिश्ता तय हो गया!

लड़की के पिता नहीं थे। पिता तो बहुतों के नहीं होते—शीला के भी नहीं हैं। पर एक सुंदर, पब्लिक स्कूल में पढ़ी, अंग्रेजी बोलने वाली, धनी-मानी दिल्लीवासिनी का पिता न होना कितने दुःख की बात है! सो पिता का पितृत्व उस पर उमड़ा पड़ता। वह भी उठते-बैठते 'डैडी-डैडी' की रट लगाए रहती और पिता सुनकर निहाल हो जाते! सारी ज़िंदगी 'पिता' रहने के बाद अब उन्हें भी 'डैडी' बनने का नवसुख मिल रहा था—पिता की भी पदोन्नति हो रही थी!



हमारा परिवार कुछ पुरातनपंथी है। अब तक पिता के सामने कभी कोई खुलकर नहीं बोल पाया। किसी विरोध का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जो उन्होंने कह दिया—वह हाथ पर खिंची विधाता की लकीर बन गई! पर उनकी वह सख्ती—वह कठोर पुरातनता बर्फ की तरह धीरे-धीरे पिघलने लगी थी कोसीना के सामने!

कोसीना का स्वभाव है प्यार में पहल करना—दूसरे के आगे बिछ-बरस जाना! उसके स्वभाव और प्यार की यह मुखरता—हंसी और चुलबुलेपन की यह मधुरता और अल्हड़ता पहली पहचान में ही दूसरे को बांध लेने वाली है। शादी तय होते ही वह तपन को फोन करती—दिल्ली मिलने के लिए बुलाती। उसकी भावनाओं को जैसे पंख लग गए थे और वह तपन के साथ किल्लोल करना चाहती थी! पर पिता के व्यक्तित्व के नीचे दबा कसीदाबादी तपन यह सब पसंद न करता कि कोई लड़की यूँ पहल कर उसे बुलाए! जबकि दिल्ली का कोई लड़का होता तो उसके सारे रास्ते अपनी मंगेतर की गली से होकर ही गुज़रते! पर तपन कोसीना के हर व्यवहार को परम्परा का चश्मा लगाकर देखता और हर बार कोसीना उसे इधर-उधर ही छिटकी खड़ी दिखती!

कपड़ों की खरीदारी के लिए कर्नाट प्लेस से गुज़र रहे हैं कि नरूला के आगे गजरे-मोतियों की सुगंध न्यौतने लगी।

कोसीना ने चहकते हुए तपन से कहा—“कितने ताज़े मोंगरे हैं। एक मुझे ले दो ना!”

“अभी नहीं! पिता जी सामने खड़े हैं!”

“तो क्या हुआ? डैडी ही तो हैं, कोई हऊआ थोड़े ही हैं।”

“डैडी जी! देखिए न, तपन मुझे गजरा नहीं लेकर दे रहे।”

सभी चौंके। एक होने वाली बहू की श्वसुर से ऐसी शिकायत? कसबा और महानगर एक पल को टकराने को हुए। दूसरे पल कसबा गंभीर भाव से महानगर की चंचलता पर यह सोचकर बुजुर्गीयत से मुसकराया—बच्ची है! कोई हर्ज़ नहीं! उम्र ही क्या है? महज़ अठारह वर्ष।

“तपन! लेकर क्यों नहीं दे रहे?”—डैडी बने पिता ने सवाल दागा! तपन ने चौंकर हैरानी से पिता की ओर देखा। फिर स्कूली लड़के की तरह जेब से पर्स निकालने लगा। दो गजरे लेकर कोसीना को थमा दिए।

वह लेने के बदले अधिकार से बोली—“लगा दो ना मैं कैसे लगा सकती हूँ?”

तपन ने कांपते हाथों से आज्ञा मानी।

उसकी संकोचशील आंखों को देखकर मेरे सामने स्कूली कक्षा घूम गई, जिसमें एक धाकड़ लड़की झूठी-सच्ची शिकायतें लगाकर मास्टर से उसे डांट पिलवाने में आनंदित होती और उसकी सिधाई

तथा चुपेपन की हंसी उड़ाया करती। लगा कि वही लड़की कक्षा में उठकर उसकी दुल्हन बनने आ पहुंची है।

संसार के इस अद्भुत अजायबघर में लोगों के विस्मय कर देने वाले तरह-तरह के शौक हैं। वे कभी मन के झुकाव से जन्म लेते हैं—कभी मन की विकृति से उठते हैं। कोई टिकट इकट्ठे करता है, कोई सिक्के, कोई पत्थर, कोई फ़िल्मी चेहरे, कोई दाढ़ी में मधुमक्खियों का छल्ला पालता है, कोई नाखून बढ़ाता है....! कोसीना का भी अनोखा शौक या आदत सामने आई। जब भी किसी होटल या किसी के घर जाना—वहां से कोई न कोई चीज़ उठाईगीरे की तरह पर्स के हवाले कर देना और उसे अपने अद्भुतालय में सजा देना उस स्थान की यादगार के रूप में।

मधुयामिनी से लौटकर तपन मधुहीन मन से पिता से शिकायत करता है—“धनी घर की सुंदर लड़की से विवाह के नाम पर मैं टगा गया हूँ! ये देखिए कोसीना के पर्स में पड़ी हुई उस होटल की चीज़ें जहां हम ठहरे थे।”

पिता ने समझाया था—“अभी कोसीना की उम्र ही क्या है? उनीस वर्ष! वह जानबूझकर थोड़े ही ऐसा करती है यह सब! अनजाने ही हो जाता है! उसे भला क्या कमी है ससुराल या मायके में जो वह दूसरों की चीज़ चुराएगी और वह भी यह जरा-सा नेपकिन और चांदी की चम्मच? शी इज़ सो इनोसेंट!”

तपन ने उन चीज़ों का पार्सल स्विटज़रलैंड के होटल के नाम रवाना कर दिया था क्षमायाचना के साथ—पर शुरुआती दिनों में बने वाला एक कोमल-सा रोमानी रिश्ता निरंतर स्थगित होता चला गया। दूसरी ओर वह डैडी की लाड़ली बहू बनती चली गई! वह हर स्थिति में उसका बचाव कर जाते।

कोसीना के घर में आने के बाद मां भी पिता के सुर में सुर मिलाकर उठते-बैठते एक ही मेघ मल्हार गाने लगी—“हम अपने बहुओं को कभी कुछ नहीं कहेंगे। चाहे जैसे रहें, पहनें-ओढ़ें, खाएं-पीएं काम करें या न करें—सजी-धजी बैठी रहें। कामकाज के लिए नौकर बहुत हैं।”

अब यह अलग बात है कि क्या कोई बैठे रहने के लिए सज्जत धजता है? काम के बिना इन्सान का छुटकारा नहीं—चाहे काम का कोई भी रंग-रूप हो।

शायद बात केवल कोसीना की ही नहीं थी। अपने कसीदाबाद में उन्हें सास-ससुर की दृष्टि से भी नए जीवनमूल्य और आदर्श की स्थापना करनी थी। पिता ने कसीदाबाद में अपने होने और अपने में कसीदाबाद के होने को हमेशा ध्यान में रखा है।

कोसीना को कसीदाबाद में रहना अच्छा नहीं लगता। जैसे कि



यहां उसके कदमों की गति छीन ली गई हो—स्वतंत्र उड़ती चिड़िया को पिंजरे में डाल दिया गया हो। यहां की धूप में उसे दिल्ली की तुलना में अधिक चुभन महसूस होती है। पर न चाहते हुए भी रहना तो वहीं है—ससुराल जो हुई!

जो भी हो, यहां रहने में भी एक थिल और रोमांच तो है ही! कसीदाबाद के सब से प्रतिष्ठित—सब से बड़े पूंजीपति की बहू होना! दिल्ली में तो हज़ारों पूंजीपति हैं। कौन किस की परवाह करे? जी हुजुरी करे? पर कसीदाबाद में रहना तो एक पुराने सांमती इतिहास में जीना है। पिता जहां से निकल जाएं—लोग सड़क छोड़कर एक किनारे हो जाते हैं। और जहां से उनकी बहू कोसीना निकल जाए—वहां लोग ठहरकर देखने लगते हैं—“ओ देखो, श्रीधर जी की छोटी बहू! कितनी सुंदर है! कैसे गिटपिट अंग्रेजी बोलती है! ठेठ दिल्ली से लाए हैं।”

कसीदाबाद की दृष्टि में कोसीना श्रीधर जी की एक और उपलब्धि तो है ही, साथ ही कोसीना उसके लिए उस दिल्ली का प्रतीक भी है जो भारत का दिल है—परियों का सपना है—प्रधानमंत्रियों और राष्ट्रपतियों की निर्माणस्थली है—राजनीति का केंद्र और शक्तिस्थल है—जिसे अपनी गंदगी और झोपड़पट्टी तो बर्दाश्त है, पर इसकी अपनी सीमा से बाहर का कोई व्यक्ति यदि मैले-फटे कपड़े पहनकर इसके स्टेशन पर उतरता है तो उसे दिल्ली का ठाठ भिखारी समझकर भिक्षुगृह में धकेल देता है! पुराने पड़ गए सारे तीर्थों के मुकाबले अब नए युग का तीर्थ है दिल्ली। देश के हर शहर-गांव की मुख्य सड़क-पगडंडी दिल्ली की ओर ही मुड़ती है। जब तक कोई बात—कोई अवरोध, कोई मान—कोई रूठमनौवल दिल्ली में दर्ज न हो तब तक उसका होना हो नहीं पाता। किसी भी तरह के दिल पर दस्तक देने के लिए दिल्ली के दिल पर दस्तक देनी पड़ती है। दिल्ली का अपना रोब और दबदबा है—और श्रीधर जी की बहू वहीं से आई है—इसलिए उसका भी रोब और दबदबा है।

विशाल महल जैसा घर।

संयुक्त परिवार में रहते हुए भी एकल परिवार का सुख-एकांत

और आज़ादी। हर एक के पास अपने में परिपूर्ण दो विशाल कमरों का शीशमहल-सा आवास और उसमें आज के ज़माने की हर सुख-सुविधा-साधन, नौकर-आया और तिस पर नून-तेल की कोई चिंता नहीं। खाना चाहे नीचे मुख्य भोजन-कक्ष में खा लो चाहे कमरे में मंगवा लो। सब की अपनी दुनिया—अपनी व्यक्तिगत ज़िंदगी—सब साथ-साथ भी और अलग-अलग भी। पुराने और नए का संगम—कसीदाबाद और दिल्ली का गठबंधन।

जो भी निकटवर्ती घर आता है, उसे रहने के लिए, उठने-बैठने के लिए, बातचीत के लिए कोसीना का गणी और खुला-डुला,

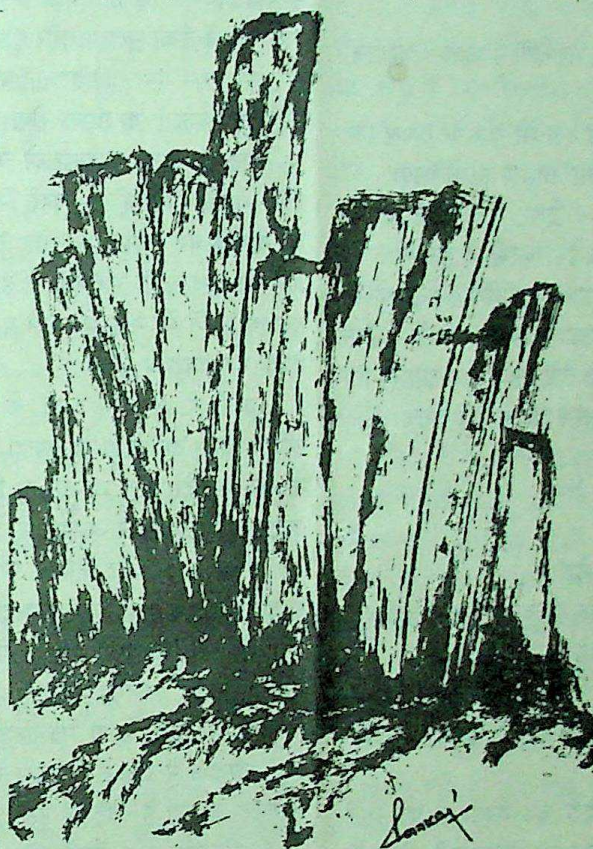
हंसमुख और सुंदर, स्नेही और आधुनिक संग-साथ भला लगता है। उसके पास जैसे फुरसत ही फुरसत है—वक्त है दूसरे को भावना के साथ देने के लिए। उसे आज के युग की व्यस्तता का आत्मकेंद्रित रोग अभी नहीं लगा—वह हमेशा उपलब्ध है। या हो सकता है हम उसकी आत्मकेंद्रितता के रूप को न समझ पाए हों!

मैं जब भी कसीदाबाद जाती हूं, उसके कमरे में ठहरना पसंद करती हूं। सब के पास एक नौकर होता है और उसके पास दो। कमरा और उसकी स्वामिनी सब से अधिक सुख-सुविधा देने वाले सिद्ध होते हैं। कोई कपड़ा धुलवाना है, कोई खास फिल्म देखनी है, खाने को कुछ विशेष चाहिए, बाहर घूमने का साथ चाहिए—कोसीना का कमरा और उसका संग-साथ हमेशा आदर्श सिद्ध

होता है। उसके पास सच्चे अर्थों में मेहमान-नवाजी का सलीका है। श्यामल दो कोसीना के यहां छोड़कर मैं निश्चितभाव से माता-पिता, धीरेन्द्र और शीला के पास बैठी बतियाती रहती। मन में चिंता न रहती कि श्यामल ससुराल में आकर ऊब रहे होंगे या अपने को अकेला पा रहे होंगे।

इधर-उधर से घूम-फिरकर मैं भी वहीं लौट आती। दिन भर वीसीआर चलता रहता—खानपान और बातों के बीच टीवी के परदे पर कोई न कोई फिल्म संप्रेषित करता रहता।

कोसीना ने कभी किसी फिल्म को चुप रहकर नहीं देखा। उसके अल्हड़ अंदाज़ में टीका-टिप्पणी जारी रहती है। नायक-नायिका के प्रेम





में इन्हे भावाकुल मिलन को देखकर बेहिचक कह देना—“ओह जीजा जी! देखो तो, कैसा सीन है।” और मेरे सामने ही एकदम जीजा का हाथ थाम लेना।

और फिर—“ऊई! कैसा-कैसा फील होता है न?”

हम दोनों उसके आसपास बैठे किसी बुजुर्ग की तरह बड़प्पन से हंस देते ऐसे मुखर व्यवहार और भोलेपन पर। मैं कहती—“देखो, कोसीना की शादी हो चुकी है, एक बच्चे को मां बन गई है, पर अभी भी बच्ची है। हाऊ इन्सेट शी इज़। कैसा बेलाग, बेबाक और निश्छल व्यवहार है।”

सुनकर वह मेरे हाथ पर अपना हाथ रख देती। मैं कहती—“कोसीना! तुम्हारा हाथ कितना नर्म और गर्म है!”

“सभी ऐसा कहते हैं।” वह हंस देती मेरे कंधे पर अपना सिर टिकाकर। और तब मन में कितना दुलारा उमड़ता उसके लिए।

कभी वह मुझसे शिकायत करती—“देखो, दीदी! जीजा जी मेरे पैर को अपने पैर से छेड़ रहे हैं, जैसा कि फ़िल्मों में होता है।”

इस नोकझोंक और हंसी-ठिठोली पर हम तीनों खिलखिलाते रह जाते। उस खिले-खुले निर्मल वातावरण में मैं कह उठती—“कैसी हंसमुख है कोसीना! इतनी बड़ी बात को कैसे सहज और नामालूम ढंग से कह जाती है कि जरा भी बुरा या आक्षेपजनक नहीं लगता।”

कोसीना गर्भवती होती है।

कोसीना एक बेटे को जन्म देती है।

कोसीना फिर गर्भवती होती है।

कोसीना फिर एक बेटे को जन्म देती है।

कोसीना की घर में दोहरी पदोन्नति हो जाती है। धनपतियों और उद्योगपतियों को बेटे ही तो चाहिए होते हैं न।

और फिर किसी दिन नौकर के माध्यम से मां को यह सूचना मिलती है—“कोसीना बीबी जी का गर्भ रह गया है। वे आज अबार्शन कराने दिल्ली जा रही हैं।”

जो बात घरवालों को पता नहीं होती, वह नौकरों को पता रहती है। नौकरों को लेकर उसके मन में कोई दुराव-छिपाव नहीं। नौकर भी उससे बहुत घुले-मिले हुए हैं। किसी सखी की तरह आया का हाथ थामे उससे बातों में घंटों खोए—बैठे रह जाना—उसकी थाली में से कौर उठाकर खा लेना!

रात को नौकर कमरे के अंदर सोता है। मां समझाती है—“नौकर को अंदर कमरे में सुलाना ठीक नहीं।”

“मुझसे नहीं संभाला जाता बच्चा। रात को वह देखेगा।”

मां केवल एक बार कह सकती है, बहस नहीं कर सकती। भले-बुरे को उधेड़कर नहीं समझा पाती।

तपन की मनाही और विरोध भी उसे नहीं समझा पाते।

“बच्चों को जन्म देकर भी अभी बच्ची है कोसीना।” मां की

चिंता सुनकर पिता आश्वस्त कर देते हैं।

मैं यह सब इधर-उधर से सुनती हूँ और उसके नासमझ भोलेपन और अटपटी-सी स्थिति पर हंसकर रह जाती हूँ—पति-पत्नी के शयनकक्ष में नौकर।

पर वही बच्ची कोसीना एकाएक कितने भयावह ढंग से बड़ी हो गई है आज की इस रात। आकाश की अदृश्य ऊंचाई पर उड़ती किसी चील की तरह मेरी अंजुरी में से मेरे जीवन की दुर्लभ संपदा कैसे झपटकर ले गई है। और मुझे पता तक न चला—कभी कोई संदेह तक न हुआ कि ऐसा भी हो सकता है—कि ऐसा भी होता है—कि अपने शयनकक्ष में नौकर सुलाओ और दूसरों के शयनकक्ष में संध लगाओ।

पर उसने ऐसा विश्वासघात क्यों किया? क्या ऐसे ‘क्यों’ का कोई उत्तर होता है या उसका होना ही उत्तर है?

रात भर कुछ टूटने-ढरकने का-सा एहसास होता रहा। एक शक्ति-भ्रमित-सी स्थिति में—गहरी निद्रा की मूर्छा में महसूस होता रहा बार-बार कि घने अंधेरे में एक बांह मुझे लांघकर पार चली गई है। उस बांह का हाथ कहीं और सक्रिय है...पर बांह की सरसराहट और दबावभरी गति मेरे कंधे—मेरे गले पर हो रही है। पर क्यों हो रहा है ऐसा—यह समझ में न आता।

गर्मी के मौसम में ए.सी. के बावजूद अजब चिपचिपाहट-सी अनुभव होती। दम घुटता-सा लगता। पर दिन भर की थकन और बातों के बीच रात देर से सोना—उस पर निश्चित गहरी नींद की जन्मजात आदत मुझे फिर अपने आगोश में ले लेती है।

एकाएक मेरी नींद चौंकर पूरी तरह से उचट गई है—मुझ पर से होकर पार जाती बांह का गहरा दबाव और खींचतान अनुभव करा।

मैंने अपने पर पसरी बांह को तीव्रता से परे झटक दिया है—और गुस्से में उठकर स्नानगृह में चली आई हूँ।

लौटकर कमरे में ही रखे फ्रिज में से पानी पिया है।

मस्तिष्क में जैसे कोई तूफान चल रहा है। हृदय की धरती पर भूस्खलन हो रहा है—चट्टानें टूट-टूटकर गिर रही हैं।

अविश्वास और हैरानी की आग में जलती मैं रात की शेष स्याही से घिरी-लेटी सोचती जा रही हूँ—यह सब क्या हो रहा था? आखिर वह बांह मुझ पर से होकर कहाँ जा रही थी? क्यों जा रही थी? वहाँ क्या कर रही थी? उसे पार जाने की आवश्यकता क्योंकर हुई? वह क्या लेना-पाना चाहती थी? पार जाती हुई बांह किस की थी?

वह मेरी छोटी भाभी है—और यह मेरा पति है।

किस रिश्ते को दोष दूँ? किसने हमारे वैवाहिक संबंधों में चोरी-छिपे आग लगाई है? किसने मेरे साथ ऐसा छल किया है? श्यामल या कोसीना? कोसीना या श्यामल? मैं अंधी कब से आँखों पर विश्वास की पट्टी बांधे सो रही हूँ?



कल तक श्यामल मेरे विचार में कोई साधारण पुरुष नहीं था। उसका स्थान साधारण पुरुषों की श्रेणी से कहीं बहुत ऊपर आता था। मुझे उस पर गर्व होता था। पर महानता और असाधारणता की वह भव्यता आज के भूकम्प में एकाएक धराशायी हो गई है।

एक देवपुरुष की भव्य मूर्ति इतने घटिया और ओछे ढंग से खंडित हो जाने का दुःख मुझे रह-रहकर साल रहा है। और यह दुःख दुधारी तलवार होता जा रहा है, यह सोचकर कि जो भक्तिभाव वाला इन्सान सारे जहान की यात्रा करके ज्यों का त्यों लौट आया है—उसे मेरे अपने ही घर की नज़दीकी औरत ने अपने सहज-निश्चित व्यवहार तथा चरित्र से गिरा दिया है और मुझे आभास तक न हुआ।

यह एक दिन-रात की बात नहीं हो सकती।

न जाने कितना लम्बा इतिहास छुपा है इस एक रात की रति-गति के पीछे, इस रात की बांहों के पीछे। बिना किसी भूमिका के एकाएक पलक झपकते हुए बात यहां तक नहीं पहुंच सकती।

मुझे अपनी ऐसी घोड़े-बेच नींद पर लज्जा और ग्लानि हो रही है। इन दोनों ने मुझे कितना मूर्ख और जड़ मांस का लोंदा समझा होगा। तभी तो इनकी बांहें मुझ पर से होकर निर्भीक भाव से सारी रात आती-जाती रही हैं। मन ही मन कितनी हंसी आई होगी इन्हें!

दूसरों पर मेरे विश्वास की यह हद है कि बांहों के दमघोंट दबाव और स्पर्श का मैंने जो रात भर अनुभव किया है—और जो कुछ भी मैं इस समय सोच रही हूँ—उसका मुझे पक्का विश्वास फिर भी नहीं हो पा रहा। मैं घिनौनी रात से उपजे प्रश्नों के कांटों पर लेटी हुई संशयग्रस्त सोचती जा रही हूँ—

क्या सच ही ऐसा हो सकता है या यह सब मेरा भ्रम है?

कहीं मैंने कोई दुःस्वप्न तो नहीं देखा जिसमें वह सब घट रहा था? कई बार डरावने सपने में भी दम घुटता है और चीखने पर भी आवाज़ मुख से नहीं निकल पाती।

कहीं किसी वहम में आकर मैं इन पर झूठा दोषारोपण तो नहीं कर रही, जिसके लिए बाद में मुझे पछतावा हो? आज तक मैंने जैसा श्यामल को जाना और पाया है—इस घटना का उससे कोई तालमेल ही नहीं बैठ पा रहा।

देखो तो, दोनों कैसी गहरी निद्रा में सो रहे हैं। कहीं कोई हिलडुल नहीं।

मेरी बाजू मेरी आंखों पर पड़ी हुई है और एक-एक कर कुछ धुंधले दृश्य उभरकर मेरे सामने अनधुली कैमरे की रील की तरह आते चले जा रहे हैं—जो आज की रात की गहरी जड़ों की सर्पीली खोह की ओर संकेत कर रहे हैं—आज के दमघोंट धुएं की दबी-छुपी आग की ओर अंगुली उठा रहे हैं—होली की वह बंद दरवाजे वाली रात... उस रात कोसीना का श्यामल के पलंग की ओर बिछी चारपाई

पर सोना—जबकि वहां तपन को सोना चाहिए था... उसकी फुसफुसाहट... यहां भी एक-बार उसका हमारे पलंग पर उस तरफ़ लेट जाना जिस ओर श्यामल की चारपाई बिछी हुई थी और मुझे यह ध्यान तक न हुआ कि वहां मुझे सोना चाहिए... एक बार मैं यह देखकर भी कुछ अन्यथा न सोच पाई कि उसकी चारपाई श्यामल के इतने निकट क्यों आ गई है? उस रात वह लेटे-लेटे बोली थी—“दीदी! जीजा जी मुझे छू रहे हैं! मुझे छेड़ रहे हैं।”

मुनकर मैं नहीं, श्यामल की गरिमा पर मेरा दृढ़ विश्वास हंसा था और मैं सोचती रह गई थी कि कोसीना की बातों का लहजा कितना भोला और मज़ाकिया है। कितनी चंचल और नटखट है कोसीना! इतने बड़े जीजा से ऐसी नोकझोंक और छेड़खानी!

पर सच्चाई थी उसकी यह चाहना कि जीजा उसे छेड़े—उसे छुए। वह उसे राह दे रही थी—अपने और उसके बीच बातों और शब्दों का पुल बनाते हुए।

न जाने कब और कैसे कोसीना ने श्यामल के साथ जीजा-साली का बेबाक और गैरजिम्मेदार रिश्ता बना लिया था और मैंने कभी भी इस संबोधन की ओर ध्यान नहीं दिया था कि इसमें कोई विशेष बात है। उल्टे मुझे ऐसा लगता कि भाभी और नन्द के रिश्ते को उसने इस संबोधन से छोटी बहन की मिठास दे दी हो।

मैंने कभी उसकी किसी बात-संवाद या क्रिया को किसी अर्थपूर्ण गंभीरता से नहीं लिया, क्योंकि मेरी कल्पना और विश्वास वहां तक नहीं जा पाते थे जहां तक कोसीना की कामना पहुंच चुकी थी। क्या दिन की रोशनी में वह जो कुछ कहती रही हंसी-मज़ाक में—अंधेरे की ओट में वह सचमुच जीती रही और श्यामल उसमें भागीदार बनते रहे? क्या वह उस तरह के वाक्यों द्वारा मुझे चेता रही थी या मेरी प्रतिक्रिया को टटोल रही थी?

मुझे हर बात पर हंसते पाकर उसे लगा होगा—यहां कोई खतरा या परवाह नहीं है। चाहे कुछ भी करो—निःशंक आगे बढ़ो—मैदान साफ़ है।

कितने ही छोटे-छोटे काले धब्बे द्विअर्थी होकर मेरे सामने नाचने लगे हैं। लगा कि माथा फट जाएगा। बस आज की रात की सुबह मेरे नसीब में नहीं। चौबीस वर्षों का अटूट विश्वास रेत की तरह भुरभुरा कर ढह रहा है और उस विश्वास की लाश पर मैं जार-जार रो रही हूँ बेआवाज़—और वे दोनों मेरी बायीं-दायीं ओर लेटे हुए गहरी नींद के तल में डूबे हुए हैं।

मुझे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा कि क्या सोचूं और क्या करूं?

पता नहीं यह भयावह दमघोंट रात कब खत्म होगी?

III के-24, लाजपत नगर, नई दिल्ली-110024



## सन्तोष गोयल

## घर

इन्होंने सारे खिले-खिलीखिलाते गुलाब...पूरा बाग गुलेगुलझार हुआ था। फूलों की गन्ध, रविश के फेफड़ों में लम्बी-लम्बी साँसों के साथ भर रही थी, फिर वह भर लेने की कोशिश भी तो कर रहा था। करता भी क्यों न? त्रिन्दगी में बहार जो आ गई थी...बहार आ गई थी?...इस फिकरे को सोच कर वह मुस्कना उठा था। उसने तो फिलमों में देखा था कि किसी लड़की...सुन्दरी, मदमाती आँखों वाली, लहराते बालों वाली, मस्तानी चाल वाली...के जीवन में आने का मतलब 'बहार का आना' माना जाता है लेकिन रविश की त्रिन्दगी में तो 'बहार' का मतलब कुछ और ही हो आया था। उसके सामने बैठे थे—मम्मा-पापा, इतने खुश, खिलखिलाते उन्हें कभी पहले न देखा था। मम्मा निदा के साथ 'स्टायू' खेल रही थी और पापा निदा को जितवाने की पूरी कोशिश में एक टांग से कूदते, कूदवाते, गिरते-पड़ते, संभरते खिलखिला रहे थे। मौसम खुशनुमा हो उठा था। रविश, सब देख कर भी नहीं देख रहा था...कहीं खोया था...शायद करमीर की घाटियों में। 'निहरू पार्क' के दूर कोने में खड़ा वह 'डल लेक' में सर्फिंग करते लोगों की ओर देख रहा था। हालाँकि था वह इस समय घर के पास के ही रोज़ गार्डन में, जहाँ वह मम्मा-पापा और निदा के साथ पिकनिक के लिए आया हुआ था।

इतवार का दिन था...छुट्टी का दिन...अचानक सूरज अपनी आरामगाह में चला गया। जाते-जाते बादलों की घरघराहट देता गया। बस...गर्मी में 'एयरकन्डीशन' का-सा माहौल बन गया और छुट्टी का दिन पिकनिक के माहौल में बदल आया। रविश ने पापा से रिक्वेस्ट की...पापा ने मम्मी के हज़ूर में अरज़ी पेश की...अरज़ी मंजूर हुई। झटपट त्रिन्दगी सैन्डविच, थर्मस में चाय, वाटर बोतल में बर्फीला पानी, स्क्वैश की बोतल, डिस्पोजेबल प्लेट, चम्मच, गिलास, नेपकिन, बड़ी-सी चादर, कुछ अखबार आदि प्लास्टिक की टोकरी में भरे गए। निकलते हुए मार्किट से वेज पेटीज़ और कुछ मिठाई तथा फल खरीदने का अहद कर सब निकल पड़े। रविश ने ताश की गड्डी, गेंद और बल्ला, निदा के लिए सांप-सीढ़ी तथा उसकी गोटियाँ—सभी को संभाला। सभी रोज़ गार्डन पहुँचे। सभी खिलखिला रहे थे। फिज़ा में मौजें भरी थीं।

इतना खुश तो रविश पिछले सोलह-सत्रह साल में नहीं हुआ था, जो पिछले दस दिन में होना सीख गया था। वही नहीं, घर-भर

खुश था—दीवारें तलक। लोग कहते हैं कि घर दीवारों से नहीं होता उसमें रहने वाले लोगों से होता है। यह एक सच है, लेकिन यह भी एक सच है कि घर के लोग अगर खुश हों तो बेजान दीवारों में जानदार होकर चमकने-दमकने लगती हैं। रविश को पिछले हफ्ते का कश्मीर यात्रा याद हो आई।

शुक्रवार को पापा की फ्लाइट थी। पापा कम्पनी के एक अजे ओहदे वाले एक्सीक्यूटिव थे। अक्सर दूसरे एक्सीक्यूटिवज़ के साथ होने वाली खास मीटिंग के सिलसिले में उन्हें श्रीनगर जाते रहना पड़ता था। अब इन मीटिंगों में जाना, जाते रहना उसकी आदत में शुमार हो चला था पर...शायद मम्मा को उनका जाना कभी रास न आया था। हमेशा की तरह पापा को बहुत सकून से तैयारी करते देखकर और शायद खुद के लिए और घर के लिए कोई दुःख या चिन्ता की झलक न पाकर उस दिन भी मम्मा बेहद चिढ़ गई थी—

“पता नहीं, कैसे पति और बाप हो, उठकर चैन से चल देते हो किसी की चिन्ता नहीं...हैरानी होती है इस उम्र में भी तुम्हारी ये तैयारी देखकर।”

जैसे-जैसे मम्मा का गुस्सा उफनता, उनकी बातचीत और लहज दोनों ऊपरी मिठास की परत को छोड़ देते, मैनरज़ का खोल उतरता जाता, फिर उनकी बड़बड़ाहट कुछ ऐसा रुख ले लेती—

“पता नहीं कौन मेरी सौत बैठी है वहाँ, जो जब-तब मुंह उठाए चल देता है ये शरबस। मानो कम्पनी में और किसी की अक्ल काम में नहीं करती...पता नहीं खुद को कौन-सा खुदा समझता है...अपनी उम्र भी नहीं देखता।”

अम्मा बड़बड़ाने-सा लगती—

“अरे! बुढ़ाने को हो आया, बाल उड़ने लगे हैं... सफेद सन हो आये हैं...पर...” परफ्यूम की शीशी रखते देख कर ही शायद वे बोली होगी। और सारे कथन के अन्त में उन्होंने ‘उंह....’ कहते हुए सिर को झटका दे दिया।

मम्मा ‘उंह’ करती और पापा के सारे व्यक्तित्व को ही नहीं नकारती, बल्कि सारे घर के माहौल को उसके असर से धुआँ का देती।

रविश निदा को अपनी गोद से चिपकाए थपथपाता रहता और



शायद अपने ख्यालों के 'मम्मा-पापा' की तस्वीरें आंकता और बिगाड़ता रहता।

"कैसी है तुम्हारी मम्मा?"

रुख आंटी ने कँजुअल बसते हुए पूछा था।

"ठीक-ठाक है बस"— वह कहने में बिल्कुल नहीं हिचका था। हालाँकि आज दस दिन बाद ही वह अपने उस कथन के लिए शर्मिदा महसूस कर रहा था। यह भी सोच रहा था कि अगर आज वाली मम्मा को एक बार भी पहले देख लेता तो ऐसा कभी न कहता।

"और पापा....?"

रविश को याद है कि पापा के बारे में पूछते हुए रुख आंटी की आंखों में जाने क्या झलक आया था। रुखसाना नाम था उनका, पर उसे ही छोटा करके 'रुख आंटी' की इजाजत ले ली थी उसने और तभी से रुख आंटी भी उसे 'रीश' कहने लगी थीं।

"पापा....पापा भी ठीक-ठाक है।"

"मतलब....?" रुख आंटी ने पूछा तो वह अकबकाया, "मतलब पापा वैसे ही हैं जैसे सबके

पापा होते होंगे। मेरा मतलब, सभी पापा-मम्मा ऐसे ही होते होंगे ना।"

रुख आंटी हंस दी थीं। फिर बोली, "जितना ये सही है कि सभी मम्मी-पापा ऐसे ही होते हैं वहीं ये भी सही है, मेरे भोले शातिर, कि तुम्हारी-सी उम्र में सभी बच्चे अपने मां-बाप के बारे में ऐसे फैसले ही नातिर करते हैं।"

सैकड़ों सवाल निगाह में भरे रविश रुख आंटी की ओर देखता रहा था।

"अच्छा...रीश! तुम तो इंजीनियरिंग में दखिला लेने जा रहे हो। तो...कुछ अपने दोस्तों के बारे में बताओ ना।"

"आंटी! दोस्त है तो...पर पता नहीं...पिछले दिनों क्या हुआ है...कुछ-कुछ दूर-सा होता जा रहा हूँ उनसे।"

रविश कहना चाहता था कि अब लड़कियों के बारे में जानना, उनसे दोस्ती करना, उन्हें देखना, उसे ज्यादा भला लगता है पर कहा नहीं।

"क्यों? ऐसा क्यों भई। ये तो दोस्तों-दोस्तियों को बनाने की उम्र है। मालूम है...इसी उम्र की दोस्तियां फेविकॉल-सी जुड़कर पक्की होती हैं...बाद में तो....।"

"क्यों आंटी, कॉलिज की दोस्तियां....?"

रुख आंटी मुस्करा दी थीं।

"अरे भई, कॉलिज का ज़माना तो और तरह की दोस्तियों का होता है।"

रविश शरमा गया था। उसे खान अंकल की बेटी रिशम याद आ गई।

"अरे बाबा, लड़कों के चेहरों पर भी शरम की लाल सांझ बिखरती है...ये तो पहली बार देखा।"

रुख आंटी खिलखिला कर लोट-पोट हो रही थीं।

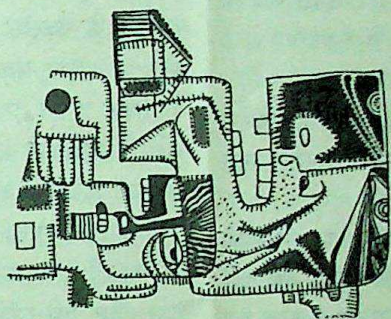
रविश देख रहा था...वह सिर्फ एक खिलखिलाहट नहीं थी। वह थी...आंशिक को देखकर माशूक के चेहरे पर छिटक आती धूप, धूप के निकलते ही चटक कर खिलती कली, जो फूल बन जाती है, तेज़ बारिश होने के बाद की धुली-खिली हरियाली...वह हंसी जिसमें मीठी छुअन का अहसास था, जिसने रुखसार के पाम से निकल कर रविश को भीतर तक छू लिया था।

पिछले अनेक बीते सालों में वह कभी ऐसे कलेजा फाड़ कर न हंसा था। फिर दोनों हंसते रहे थे। उस दिन रविश को लगा था कि ज़िन्दगी बदल गई। वह अब दबा-सहमा, बढ़ती उम्र के दबाव के नीचे दबता-डूबता बच्चा नहीं रह गया...बड़ा हो गया है।

फिर उसने रिशम के बारे में अपने भीतर पनपते भाव के सच को रुख आंटी के सामने बयान कर दिया था। यह भी कि उसका मन किताबों में नहीं रम पाता, यह भी कि वह खोया-खोया रहता है। किताब के पन्नों पर रिशम नज़र आती है...मन में एक अजब-मी उदासी छाई रहती है, जो खान अंकल के यहां जाने की कल्पना मात्र से उड़न-छू हो जाती है...वगैरह...वगैरह।

रुख आंटी बड़प्पन से मुस्कराई थीं। उस दिन रविश को ही नहीं, रुखसाना को भी, जो कभी सुविश (रविश के पापा) की माशूक थी, जिसने उनके साथ घर बसाने का सपना देखा था, जिस पर भाग्य ने भरी बहार में कहर बरपा कर दिया था और जिसने उसी कहर से बनी सुरंग में सांस लेते रहने का अहद किया था, जो पिता की मौत के बाद लन्दन में जाकर बस गई थी, तन्हा अकेली ज़िन्दगी बिता रही थी...उसे भी रविश जैसे बेटे की सरपरस्त बन कर उसके न बयान किए जाने वाले राजों की भागीदर बन पाने का मुख मिल गया था, यह सब रविश को रुख आंटी ने भी बताया था, वह अपनी उम्र और अकल के अनुसार समझ भी गया था।

सुख मिल जाने के पीछे कोई तर्क नहीं होता, क्योंकि अभी तक दिमाग के रसायन डॉक्टरी विज्ञान से अनजाने हैं। अगर आपने भीतर की भड़ास (जो धीरे-धीरे उसके तन-मन में उग आए कैक्टसों-सी चुभने





लगी थी) निकालने में रविश को सुख मिला था और उसमें अपने बेटे को देख लेने जैसा सुख रुख को मिला था, तो इस की व्याख्या के लिए कौन-सा शास्त्र काम आ सकता है?

मां और सरपरस्त का रोल अदा करती रुखसाना ने रविश के कंधे पर हाथ रखा...थपथपाया...और समझाया...

“नहीं रीश नहीं...अभी नहीं। अभी तो कच्ची उम्र है। अभी तो पढ़ने और कैरियर बनाने का वक्त है। इस पर अभी तो शरीर की कैमिस्ट्री भी पूरी बड़ी नहीं है। इस सबको कॉलिज के बाद के लिए छोड़ रखो। हैन्डसम बच्चे हो, ज़हीन भी हो। बहुत-सी लड़कियां आएंगी ज़िन्दगी में।”

रीश भी अच्छे वफ़ादार बच्चे की तरह सिर हिलाकर समझता रहा। अचानक बोला, “अच्छा आंटी, आप तो पापा की कॉलिज के ज़माने की दोस्त है न...और वो अंकल...जिन्हें आप ‘अब्बा’ कह रहे थे, जिनके यहां आज डिनर पर जाना है, वे भी तो क्लास-मेट ही थे ना।”

“हां...हम कॉलिज के ज़माने के दोस्त हैं...देखा नहीं कितना खुलापन है हमारे सम्बन्धों में, कहीं इन्हीबिशन का नाम नहीं...खुले रिश्ते हैं...।”

‘रिश्ते’ कहते हुए रुख आंटी ने आंखें सामने के पेड़ की टहनियों पर टिका दी थीं। रविश कुछ समझा, कुछ नहीं भी समझा। रुख कहीं शून्य में खो गई थी। कितना कठिन होता है, अपना सब कुछ खो देना या फिर इस तरह खो जाना। ईश्वर और खुदा के झगड़े का शिकार बन गई थी वह। कार की खिड़की से बाहर देखते-देखते उसने कल्पना की, कि अगर एम.एस.सी. खत्म होते ही उसकी शादी सुविश से हो जाती तो आज रविश उसी का बेटा होता। इस ज़रा-सी सोच ने उसके सामने खुशी और सुख के इन्तहा दरवाजे खोल दिए थे। ममता का सागर लहराने लगा था और वह उसमें भीग-भीग गई थी।

“चलो अब लेक में बोटिंग कर लें थोड़ी-सी।”

बात बदलते हुए रुख ने कहा था और दोनों बजरे वाले के पास आ गए थे।

उस दिन, जब पापा श्रीनगर जाने की तैयारी कर रहे थे, मम्मी से खासी तनातनी हो गई थी, तब अचानक मम्मा एक सुझाव दे बैठीं। अपनी निजी योजना के तहत उन्होंने पापा का सी.आई.डी. बनाने की इच्छा से रविश को उनके साथ कर दिया था, और अलग कोने में ले जाकर, दुलराकर, अपना प्यारा बेटा बता कर हिदायत दी थी कि एक-एक मिनट का हिसाब रखना, खूब धूमना, आओगे तो पूछूंगी।

पापा ने बहुत समझाया था कि वे मीटिंग में व्यस्त रहेंगे, रविश बोर हो जाएगा, पर यह तो मम्मी की योजना थी, भला उसमें बदलाव की गुंजाइश कहां होती? शक के सांप जब जिह्वा लपलपाने लगते

हैं, तो ज़हर का निकल पड़ना स्वाभाविक ही था। मम्मा के मन में तो जाने कितने ढेर-से सन्देहों के कैक्टस उगे पड़े थे, जो उन्हें ज़ब्त-भेदते-छेदते रहते...वे जख्मी और लहलुहान होती रहती।

पर आज अगर कहें कि पिछले चन्द दिनों में रविश उन कैक्टसों का उगना, उनकी चुभन व दुःख ही नहीं समझने लगा था, बल्कि पापा का दर्द भी महसूस करने लगा था, तो अति न होगी। खैर! तो रविश अकेले जाने पर मम्मी की सारी हिदायतों को सीने पर बांधे, पहले निंदा की नाराजी की जवाबदेही करता और अन्त में निंदा के लिए ढेर-से गिफ्ट लाने का वायदा करके पापा के साथ श्रीनगर चला गया।

‘होटल ओबेराय’ किसी महाराजा के महल को होटल में बदल कर बनाया गया था। मेन गेट से ही कार अन्दर घुसी तो सीधे हाथ की तरफ के बड़े-बड़े बाग के किनारों पर बनी क्यारियां दिखीं। सफ़ेद रंग-बिरंगे फूलों से लदी थीं। कहीं-कहीं ये क्यारियां आधी गोलाई में बनी गले के ‘नेकलेस’ जैसी लग रही थीं। दूर...के छोटे बाग में बहुत भीड़ थी। झाड़वर अंकल ने बताया था कि फिल्म की शूटिंग हो रही है। रविश शूटिंग देखने उड़ जाना चाहता था...पर...पापा से कैसे कहे? बेअदबी कैसे करे? कनखियों से पापा का मूड आंक ही रहा था कि कार पोर्टिको में आकर खड़ी हो गई।

ओबेराय की लॉबी की शाही शान देख कर रविश की आंखें तो चौधियां गईं। पापा काउन्टर पर रजिस्ट्रेशन की फार्मेलिटी के लिए वक़्त गए। रविश वहीं लॉबी का जायज़ा लेता आने-जाने वाले लोगों को तौलता घूमता रहा। सधी-सीधी चाल से चली आती, लम्बी, भरी-सी उस औरत की ओर उसका ध्यान पता नहीं कैसे खिंच गया? एक अजब आत्म-विश्वास और सख्ती दोनों ही—मानो वह कोई विशिष्ट महिला हो। गॉगल्स उसके गोरे रंग पर खिल रहे थे। रविश उन आंटी के बारे में कुछ सोचता कि पापा आ गए। रविश की निगाह से निगाह मिलाते-मिलाते उन्होंने भी उस औरत की ओर देखा। इसी बीच वह सामने आ खड़ी हुई।

“हाय रुख, तुम...तुम यहां?” पापा के चेहरे पर इतनी चमक, इतनी खुशी...रविश हैरानी से कभी पापा की ओर, कभी उस आंटी के चेहरे की ओर देख रहा था।

“हाय सुवि! तुम...क्या खूबसूरत इत्तफाक है...पर मैं तो बहुत बार यहां आती हूं...यहीं इसी होटल में ठहरती हूं...तुम कभी मिले नहीं। पहली बार श्रीनगर आए हो क्या? कैसे हो?”

पापा प्रश्नों के जाल में, या कि इस अचानक की मुलाकात ने हैरानी में इतना उलझे कि आखिरी सवाल ही याद रहा बस। बोले—

“ठीक हूं। पर...तुमने तो उम्र के असर को दगा दे दी...बिल्कुल वैसी ही हो जैसी कॉलिज में थी।” फिर विशेष कोणों से देखकर बोले,

“बस...चेहरे पर कुछ सख्ती झलक आई है। आत्म-विश्वास कुछ ज्यादा।”



पापा ने कुछ सेकेंड भर में रुखसाना (पापा ने यही नाम बताया था) का पूरा जायजा ले लिया था। रविश के मन में भी उन्हें देखकर यही दो शब्द आए थे। रविश हैरान था—इस इतफाक पर। तो क्या वह धीरे-धीरे समझदार और बड़ा होता जा रहा है।

पापा और वह (जिन्हें पापा ने 'रुख' कहा था, बाद में उनका नाम रुखसाना बताया था और वह जिन्हें 'रुख आंटी' कहने लगा था) दोनों एक-दूसरे को खोए-खोए-से निहार रहे थे। रविश अचानक कुछ समझने लगा था...अचानक उसे पापा...पापा का मन...मानसिकता... सब समझ में आने लगा था। जादू की छड़ी-सी फिरी और वह बदल गया था। मानो वक्त ने उसके हाथ में सर्चलाइट थमा दी, जिसने लुकी-छिपी सभी चीजों को स्पष्ट और मुखर कर दिया था।

रुखसाना को रविश की ओर देखते पाकर पापा खुद में लौटे और बोले, "रुख, ये हैं मेरे साहबज़ादे...रविश। और ये हैं रुखसाना... हम दोनों कॉलिज में साथ-साथ पढ़ते थे।" कहते-कहते पापा जैसे कॉलिज के ज़माने में पहुंच गए और बोले, "वह भी क्या ज़माना था...तुम्हें याद है रुख?"

"सिर्फ याद...पता है, कभी भी अहम न लगने वाली छोटी-छोटी-सी बातें इन्सान की ज़िन्दगी का ऑक्सीजन बन जाती हैं, वजह बन जाती हैं जिन्दा रहने की...मैं तो उसी ऑक्सीजन के बल पर जिन्दा हूँ।"

रुख आंटी ने 'गॉगल्ज' उतार दिए थे। आंखों से उनकी खुशी, उनका गम, उनका अदबी ज्ञान, उनका प्यार-हार-मनुहार सभी छलके पड़ रहे थे।

"सच तो है...पर सभी को किस्मत इसकी मुहलत तो नहीं देती।"

"मौके और मुहलत तो सभी को मिलते हैं, संभाल कर रख पाएं या नहीं, यह अलग बात है।" रुख आंटी ने जवाब दिया था।

रविश साथ चल रहा है, दोनों इससे अनजान जाने कौन-से शिकवे-शिकायत करने लगे थे। अचानक पापा को रविश का ध्यान आया और बोले, "छोड़ो यार! (पापा के मुंह से 'यार' जैसा शब्द! रविश चौंक गया था) और बताओ...अपनी सुनाओ। क्या शगल रहता है...और किसी क्वासमेट से मिली क्या?"

पापा के पास ढेर-सी जिज्ञासाएं थीं, वक्त की बनाई बड़ी-सी खाई थी, जिसे वे भरना चाहते थे।

"नहीं भई, इसकी तो हमने खुद को मोहलत ही नहीं दी। पापा के इत्तकाल के बाद सीधा लन्दन भाग खड़ी हुई...यहां मन लगाने व लुभाने को कुछ नहीं था ना।"

रुख आंटी सुस्त हो गई। बातें फिर पिछले व बोते वक्त के सिरे पकड़ने लगी थी कि अचानक उन्होंने पूछा—

"वो अद्धा मिला कभी?"

"अद्धा..." पापा खिलखिला कर हंस पड़े। दोनों को हंसते हुए

रविश भौचक-सा देख रहा था।

"अरे! पापा तो बहुत जीवन्त और खुबसूरत व्यक्ति है। घर में ऐसा क्या है, जो उन्हें इतना रुखा-मूखा और चिड़चिड़ा बना देता है...कितनी लाड़लें बन जाती हैं चेहरे पर आड़ी-तिरछी और कितना विगड़ा-सा चेहरा...पापा तब बिल्कुल भी अच्छे नहीं लगते।"

रविश एक ओर तो पापा के बारे में सोच रहा था, दूसरी ओर 'प्यार' भाव को तर्ज दे रहा था, पर तीसरी ओर एक कीड़ा भी उसके जेहन में रेंग रहा था। आखिर पापा घर में ऐसे ताज़ा क्यों नहीं रहते। पापा ऐसे रहें तो मम्मा की शिकायतें और शक दूर न हो जाएं। उसने यह भी महसूस किया था कि प्यार खुबसूरती है, प्यार उत्साह है, प्यार खुशी है, रौशनी है, पर साथ ही गले में अटकी एक फांस भी महसूस की थी। क्या यहां रुख आंटी का मिलना एक इतफाक था, या फिर किसी पूर्व-निर्मित योजना का एक हिस्सा? तो क्या शक के ऑक्टोपस उसे भी जकड़ने लगे हैं? उसने सोचा और झटका देकर मन में जन्मे ऑक्टोपस को निकाल फेंका।

उस दिन तो इतफाकों का तिलिस्म खुल गया था। मीटिंग में जाने से पहले पापा रविश को गार्डन में हो रही फिल्म की शूटिंग देखने, गार्डन में घूमने तथा फिर वहीं पर रखी सफेद तथा सुनहरी फूलों से सजी टेबुल की ओर इशारा करके लंच के लिए इन्तज़ार करने की हिदायत दे गए। कुछ रुपये भी थमा दिए जिससे चाहें तो कुछ खाया-पिया भी जा सकता था। उसे पापा के व्यावहार ने खुशी की इन्तहा दी थी। उधर रुखसाना आंटी, जिनकी शख्सियत से वह पहली नज़र में ही प्रभावित हो गया था, वे भी उसकी सरपरस्त की तरह देखभाल लेकर रही थीं। मम्मा के लिए ढेर-से शको-शुबह के कुलबुलाते कीड़े, प्रश्नों के सर्प तथा बेचारागी का सीलापन होने पर भी उसे रुख आंटी की सरपरस्ती अच्छी लगने लगी थी। फिर उम्र भी तो ऐसी थी।

रविश शूटिंग देखने जाने के लिए उठा तो रुख आंटी भी साथ हो लीं, फिर तो जैसे वे भी बच्ची हो आईं। दोनों भागे, दौड़े, भीड़ में धंसे, सामने कुर्सी पर बड़े-बड़े फिल्मी सितारे अपनी दमदमाहट-चमचमाहट को बिखेरें थे। इतने सारे दर्शक—कोई फक्कियां कसता, कोई खिलखिलाता, कुछ भौचक दम साथे सितारों की आकाशचुम्बी दुनिया में खो जाते। उन्हीं क्षणों में रुखसाना आंटी 'रुख आंटी' हो आई थीं और रविश 'रीश'। शूटिंग के बाद वे साथ-साथ ओबेराय को गार्डन में घूमते रहे थे। कोल्ड ड्रिंक पीते रहे थे और फिर एक बजे के करीब अच्छे बच्चों की तरह पापा की हिदायतानुसार खाने की टेबुल पर की कुर्सियों पर आकर बैठ गए थे।

सामने से पापा आते दीख गए थे। पापा की चाल हमेशा की तरह मरी-मरी-सी नहीं थी। सिर पर भार ढोते झुके-झुके-से नहीं चल रहे थे। वे तनकर चलते-मुस्कराते हमारे पास पहुंच गए। रुख आंटी को



बैठा पाकर तो उनकी मानो बाँछे खिल आई थीं। इस खुशी को उन्होंने बिल्कुल छिपाया नहीं। ऐसा लगा जैसे पापा-बेटे के बीच कोई गुपचुप समझौता हो गया था—एक दूसरे से कुछ न छिपाने का समझौता।

स्वाद होटल के खाने में था, या रुख आंटी की हाजिरी या फिर पापा के व्यवहार का नज़रिया बदल गया था। पता नहीं क्या था? रविश ने उस दिन तक इतनी खुशी कभी महसूस नहीं की थी।

लंच के बाद पापा मीटिंग में चले गए। रविश और रुखसाना को ऑफिस की कार मिल गई। सोचा गया था कि निशात, शालीमार आदि बागों की सैर करते हुए 'डल' पर वापस आकर बोटिंग करेंगे और अंधेरा होने से पहले होटल में वापसी होगी। सब जगह घूम कर वापस आए, 'डल लेक' में बोटिंग की। फिर नेहरू पार्क में घूमने लगे। नेहरू पार्क के चारों कोणों से कश्मीर की वादी के सौन्दर्य को घूंट-घूंट पी लेने के बाद जब बजरे की ओर वापस जाने लगे तो एक छोटे कद का, कुछ रोली-पोली-सा (यही शब्द रविश के मन में आया था) आदमी, जिसके बाल खिचड़ी हो गए थे और माथा आधे सिर तक पहुँच गया था, पास आकर खड़ा हो गया। बेशरमी से मुस्कराता रहा। रुख आंटी हकबका गई, कुछ झंपी-सी लग रही थीं। रविश तो मानो उससे लड़ने को तैयार हो गया। आखिर इतनी बेअदबी...वह भी एक खूबसूरत महिला से...उबाल क्यों न आता? तभी रुख के चेहरे का भाव बदला और वे.... 'ओह तुम...' कहते-कहते ज़ोर से हंस रही थीं। वैसे भी रोली-पोली-से वे महाशय हंसते तो गेंद की तरह इधर-उधर लुढ़कते लग रहे थे। जब दोनों ढेर-सा हंस चुके तो कुछ वहां बैठे लोगों तथा कुछ रविश के चेहरे पर बेवकूफी और झुंझलाहट के भाव को भांपते हुए रुख आंटी ने परिचय करवाया।

'रिशा, ये हैं माननीय सुमन्त। हमारे साथ कॉलिज में पढ़ते थे...' और फिर कान में फुसफुसाया— 'अब्बा, अब्बा साहब।'

'क्या फुसफुसा रही हो? लगता है बुराइयां करने और फब्तियां कसने की आदत छूटी नहीं है।'

'तुम्हारी छूट गई क्या?'

'क्यों भई, हम क्यों छोड़ें? भई, वक्त बदल जाता है, उम्र निकल जाती है, शक्लो-सूरत भी पहले जैसी नहीं रहती, दोस्त लोग रास्ता बदल लेते हैं...एक ही तो चीज़ है जिसे हम संभाले चलते हैं, जो हमारी पहचान बनती है। उसे भी छोड़ देंगे तो बीत नहीं जाएंगे।'

सुमन्त यानी अब्बा महोदय ने फिलॉसफर के अन्दाज़ में कहा और सिर झुकाकर आटाब बजाया तो सभी हंस पड़े।

'कहां ठहरी हो?'

'सामने ओबेराय में, चलो, साथ चलो...सुवि से भी मिल लेना...वो भी आए हुए हैं...'

और फिर चलते-चलते— तुम कहां हो, कैसे हो, बच्चे कितने हैं,

कितने बड़े आदि-आदि...जाने परिचय की कितनी खाइयां भरी जाती रही। दोनों भूल गए थे कि रविश भी साथ चल रहा है।

रविश यह तो नहीं जानता था कि रुख आंटी या फिर अब्बा अंकल कितना उत्साहित हैं, पर रविश का मन तो पंख लगाकर उड़ जाना चाहता था। यह दिन भी अजब इत्फाकों से भरा था। सुबह की शुरुआत रुख आंटी से मिलने से, फिर पापा और आंटी के बीच के सम्बन्धों की कड़ी पकड़ में आने से और फिर 'अब्बा अंकल' जिनकी सुबह यूँ ही चर्चा हो गई थी...यानी इत्फाक कहानियों और फिल्मों में ही नहीं होते, ज़िन्दगी में भी होते हैं।

पापा लॉबी में नहीं दीखे, अतः रविश सबको अपने कमरे में ले गया। कमरे में घुसे तो बाथरूम से पानी के चलने और गुनगुनाहट की आवाज़ आ रही थी। पापा की मीटिंग खत्म हो गई थी। सुबह चार बजे ही एयरपोर्ट पहुँचना था, इसलिए नहाना नहीं हुआ था। पापा अब नहा रहे थे और गुनगुना रहे थे। एक और रहस्य का पता लगा था। पापा गाते भी हैं...वह भी गज़ल। कमरे में सन्नाटा छा गया, सिर्फ पापा की धीमी-धीमी आवाज़ गुंजने लगी— 'वो जो हममें तुममें करार था... हूँ...हूँ...हूँ...उं...तुम्हें याद हो कि न याद हो,' इसी लाइन को पापा लगातार दोहरा रहे थे। रविश ने कनखियों से रुख आंटी के सफेद पड़ते, पीड़ा से दुखते चेहरे को देखा। उसे भीतर कुछ पिघलता-सा लगा। क्यों?...वह हैरान था। मम्मा के लिए उसके भीतर क्यों कुछ न पिघला, क्यों नहीं पिघलता? रुख आंटी से तो उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। 'अजीब है मेरा यह मन'—उसके मन में 'गिल्ट' का भाव जागा तो पर...

'अच्छा...तो ये जनाब अभी भी वही गज़ल गाते हैं। कमाल का इन्सान है। कुछ भी न बदला, न इश्क, न मुश्क, न गज़ल।'

रुख आंटी तो मानो संग की मूर्ति बन गई थी। तभी पापा बाथरूम से बाहर आ गए।

'हैलो सन! आ गए तुम। कहां घूमते रहे यार, इतनी देर तक? पर तुम्हारा भी क्या कसूर? रुखसाना साथ हो तो देर-सवेर का पता ही कहां और कैसे चलेगा?'

अचानक पापा की निगाह तीसरे व्यक्ति पर पड़ी। एक पल के सौवें हिस्से-भर वे भौचक रहे और फिर चिल्ला पड़े— 'अबे ओय अब्बा! तू कहां से मिल गया इनको?'

और फिर एक हंसी का दौर...गले से लिपटते, लोटपोट होते रहे। रविश हैरान-सा देखता रहा। रुखसाना शायद बीते वक्त की एक कसक थी जो उनके भीतर धड़क रही थी। हंसी जब खत्म हुई तो पापा ने हाथ में कंधी लेकर बातचीत शुरू की। बाल बनाते हुए दोनों के बीच की खबरों का जायजा लिया जाता रहा। तभी पता चला कि अब्बा



अंकल श्रीनगर में ही बसे हैं, शिवपुरी कॉर्पेट कम्पनी में मैनेजर हैं तथा पिछले आठ साल से यहीं की जरो-ज़मीन के स्वर्ग का मज़ा ले रहे हैं।

पापा ने बाल ठीक किए। फिर डीनार के सेंट का स्प्रे किया।

“यार, बड़ा चिपकू है। सेंट तो बदल लिया होता। रुख यार, तुम अभी तक यही सेंट गिफ्ट करती हो इसे?”

पापा तथा रुख आंटी के चेहरे पर एक रंग आ रहा था, एक जा रहा था। अचानक पापा ने बात बदल दी—

“अह...” बीच में ही रोककर बोले, “सुमन्त, इनसे मिलो, ये हैं मेरे साहबजादे—रविश। आजकल इंजीनियरिंग के दाखिले की तैयारी में हैं। छुट्टियां थीं... इधर मेरी मीटिंग, साथ घूमने चले आए।”

“वेरी गुड... तुमसे ज्यादा हैंडसम निकल रहा है बेटा। खुश कीता। इसे अपनी सूरत का बहुत गुमान था। कालिज का हीरो था अपना यार। अब पुत्र ने मात दे दी है। हां, भई। चाइल्ड इज़ द फादर ऑफ़ हिज़ फादर।”

सुमन्त अंकल लगातार बोलते चले जाते अगर उनकी निगाह घड़ी पर न पड़ जाती। घड़ी देखते ही वे हाथों से तोते उड़ जाने तथा उड़ते तोतों को पकड़ने की जल्दी वाले भाव से उठे, अपना कार्ड निकाल कर दिया, अगले दिन अपने घर पर ‘डिनर’ का इन्वीटेशन देते हुए कमरे से निकलने लगे। पापा ‘अरे...अरे...यार क्या हुआ?’ कहते हुए उनके साथ दरवाज़े तक आए। दरवाज़े के पास सुमन्त अंकल ने पापा का हाथ टबाया और बोले—

“खुशकिस्मत हो भाई। जो चाहा, पा लिया। सब की ऐसी किस्मत कहां होती है?”

पता नहीं कहां, किसके मन के स्तर पर क्या चुभता रहता है? वह दूसरों की तुलना में अपना ग़म ज्यादा महसूसता रहता है। उस दिन रविश की अक्ल की किताब के कुछ और पन्ने लिखे और पढ़े गए...कुछ और किरदार समझ में आने लगे। समझ ऐसे ही आती है...ऐसे ही आनी चाहिए...वक्त, घटनाएं, परिस्थितियां सभी मिल कर समझ की किताब लिखते हैं। वक्त धीरे-धीरे बीतता है, घटनाएं वक्त के साथ घटती हैं, तिस पर परिस्थितियां बदलती रहती हैं तथा इंसान ताज़िन्दगी इस किताब को पढ़ता रहता है, इसमें कुछ-कुछ पन्ने जोड़ता रहता है।

सुमन्त अंकल चले गए। यकायक बड़े हो आए रविश ने पापा तथा रुख आंटी के साथ डिनर किया, जिसका स्वाद उसे याद रहान रहा पर पापा और रुख आंटी के रिश्तों की गंध उसके भीतर बस-सी गई। मम्मा के साथ ज्यादाती हो रही है, यह बात उसे ध्यान आकर भी ध्यान न आई।

अगले दिन पापा हमेशा की तरह मीटिंग में थे। रविश ने अब

तक महसूस कर लिया था कि पापा जब भी अपनी मीटिंग के लिए आते होंगे, इतना ही व्यस्त रहते होंगे। उसे लग उठा था कि मम्मा की और उन दोनों (यानी रविश और निदा) की भी शिकायतें कि पापा कभी भी कोई ‘गिफ्ट’ नहीं लाते, नाज़ायज़ थीं। पापा के पास वक्त ही नहीं होता होगा, ऐसा रविश ने सोच लिया था। पापा के मीटिंग में चले जाने के बाद रुख आंटी के साथ प्रोग्राम के अनुसार पहलगांव के लिए चल दिए। कश्मीर की खासियत है—उसके प्राकृतिक नज़ारे, जो दम साधे खुद को आपकी निगाहों को मुकून देने के लिए बिखेर रहे हैं। आप उनसे बचकर निकल ही नहीं सकते। जब बच नहीं पाते, तो देख ही लेते हैं, देख लेने पर ‘वाह-वाह’ कर ही उठते हैं।

‘एन्वैसेडर’ कार में बैठे और चल दिए। एक अजब-सा अहसास था—रस मानो टपक रहा था...मन उसमें गीला-सना। सफ़र कार का था। पहाड़ दाईं ओर, कभी बाईं ओर। एक ओर गहरी खाई या फिर चौड़ा मैदान...दूर-दूर तक फैला मैदान...कहीं पथरों का बिखराव, कहीं पानी के झरने, कहीं फूलों की क्यागियां, कहीं फलों के पेड़। घाटी के निचले हिस्सों के पेड़ों पर ढेर-सी स्ट्राबेरिज़ व चेरीज़ लटकी थीं। महीने भर बाद आते तो काली-काली चेरी खाने को मिलती। वैसे भी शहर तक तो पहुंच ही कहां पाती हैं, तिस पर यहीं खरीद कर, झरने के बर्फीले पानी में धो-धोकर खाने का मज़ा ही कुछ और है। कार के ड्राइवर अंकल किसी गाइड से कम न थे, फिर बड़े साहब के वली अहद होने का असर कुछ कम तो न था। पहलगाम के रास्ते भर वे अलग-अलग फिल्मों के दृश्यों की शूटिंग के हिस्से तथा उनसे जुड़ी मनोरंजक घटनाएं सुनाते रहे थे।

पहलगाम के बाज़ार में निकले तो रविश के कदम ज़मीन पर न पड़ रहे थे। वह जॉगिंग करता चल रहा था। रुख आंटी हंसती जा रही थीं। वहीं मार्केट से कागदी अखरोट खरीदे और मार्केट के आखिर में बनी एक छोटी-सी पुलिया पर बैठ कर, दांतों को हथौड़ी बना कर तोड़ते हुए खाए गए...ढेर-सी गंधें थीं...ढेर-सी मस्ती। हांफते-हांफते बायसरल पहुंचे। वहां की एकमात्र झोपड़ी में घुसे जो चाय की दुकान थी। वहां चाय पी, कुछ अपनी, कुछ चाय वाले की, कुछ चाय वाले के मोती कुत्ते की और फिर कुछ उड़ने-उड़ाने की बातें की।

यह सफ़र था तो कश्मीर की वादियों का, पर रविश के लिए रिश्तों की वादियों का था। तभी उसने जाना कि जगहें तो मात्र हडिडियां होती हैं, उन पर मांस, मांस पर चमक रिश्ते ही चढ़ते हैं। रिश्ते ही उन्हें महकाते हैं। जगह कोई सुन्दर या असुन्दर नहीं होती, नज़रिया अहम होता है। यह भी कि बाहरी सभी चीज़ों से कहीं ज्यादा महत्ता भीतरी सम्बन्धों की होती है। उसी दिन एक अनोखा ख्याल मन में आया था...ख्याल...जिसमें रुख आंटी के मां बन जाने की कल्पना थी, यानी पापा की शरीर-हयात...सहम गया था रविश...पर जिन्दगी के



महक कर चन्दन बन जाने का ख्याल भी आया था। रिश्ते... रिश्तों में अगर प्यार हो तो वे खुशी बन जाते हैं। प्यार खुशी है, आनन्द है, रोशनी है... प्यार के बाद कुछ और पाना बाकी नहीं बच रहता।

श्रीनगर का वह सफ़र न तो गुलमर्ग का था, न पहलगाम का, न जेहलम या डल में बोटिंग का था, वह तो रविश के भीतर का था। रिश्तों के पीछे छिपे उन छोटे-बारीक (माइक्रो) तन्तुओं को खोज निकाला था उसने, जिनके न होने पर रिश्ते मुरझा जाते हैं। (यही वह समझ पाया था कि मम्मा के लिए उसके मन में गीलापन क्यों नहीं है, जो बेटे के मन में होना चाहिए। मां ने शायद आपसी रिश्तों को ममता से वैसे नहीं सींचा जैसे सींचना चाहिए था।) रुख आंटी ने उसे समझाया कि प्यार रोशनी है और रोशनी का गुण है कि रिफ्लेक्ट होकर सामने की चीज़ों को साफ व सुखरू कर देती है। यही वह भाव है जिसमें इन्सान दिल से सोचने और दिमाग से महसूसने लगता है।

रुखसाना के लिए भी यह सफ़र 'रिट्रोस्पेक्ट' (पसेमंजर) का था। उसने भी समझ लिया कि अकेले रहने का फैसला कोई सही न था। 'और भी गम है जमाने में मुहब्बत के सिवा।' मां-बेटे के रिश्तों के पीछे सुरक्षा, स्नेह, ममता व संवेदना का अहसास हुआ था। रविश के छोटे-से वाक्य, 'आंटी, जब तक मैं हूँ, तुम्हें सूखने नहीं दूंगा' ने उसकी ज़िन्दगी की परिभाषाएं बदल दी थीं। लावा-सा जलता मन एक ही लाइन ने सुखद शाम में बदल दिया था। अच्छा लगने लगा था। आज तक वह कितनी अकेली, कितनी तन्हा थी... यह जानते हुए भी कि रविश पर उसका कोई हक नहीं... आज कितनी भरपूर और सुरक्षित महसूस कर रही है। उसने आज समझा कि पसेमंजर में खोए रहने का मतलब पेशमंजर को खोना है और यही इन्सान को नहीं करना चाहिए।

होटल में लौटते तो रुख आंटी की खरीदवाई गई ढेरों सौगातें भी थीं। पापा मीटिंग खत्म होने पर शायद कमरे तक आए होंगे। किसी को न पाकर फिर कहीं घूमने निकल गए होंगे, या फिर मीटिंग चल ही रही होगी। इतनी ढेर-सी सौगातें लेने में रविश झिझक उठा था, पापा से पूछना चाहता था किन्तु रुख आंटी के 'क्या मां से नहीं लेते?' जैसे वाक्य ने मुंह पर टेप लगा दी। फिर सच तो यह भी था कि रविश इस सबको इन्ज्याय कर रहा था। इन पलों को थामे रखना चाहता था, उनकी कोई निशानी संभाल लेना चाहता था।

कमरे में आते ही रुख आंटी का रुख बदल गया था। एक अजीब-सी स्टर्ननेस, जो पहले दिन उनके चेहरे पर देखी थी, वही खोल उनके चेहरे पर चढ़ आया था। एक ठंडी-सर्द टोन में उन्होंने एक तोहफे का पैकेट पापा को दे देने के लिए रविश को थमा दिया। अचानक ममता-भरा चेहरा काफूर हो गया, पीछे से निकल आया—स्टील जैसा सख्त खोल-चढ़ा चेहरा। रविश को रुख आंटी उस समय अपनी

गुंथ से बहुत दूर जान पड़ी। उसका बालमन, जो इन दो दिनों में खुद को बड़ा मानने लगा था, कुछ समझ न पा रहा था।

"आप शाम को डिनर पर तो साथ चल रही हैं। मिलेंगी तो खुद दे दीजिएगा।"

रुख आंटी जाने कितनी दूरी पर जा खड़ी हुई थी। उन्होंने शायद रविश की बात सुनी ही नहीं। न कुछ बोली, न कोई सवाल, न जवाब 'बाय' किया और चली गई।

पापा लौटते तो थके-झुके, वही पहले वाले पापा बन गए थे। मां पर वही पुरानी तनावभरी रेखाएं थीं। धीमे से बोले—

"रीशू! तैयार हो रहो। अभी सुमन्त अंकल के यहां चलना है।"

"और आंटी?" रविश के मन में उतनी उत्सुकता थी कि रुख नहीं सका। पापा की थकावट-भरी लाइनों का अर्थ जानना चाहता था।

"वो चली गई।" रविश के चेहरे पर ढेर-से सवाल लहरा आए, शायद उन्हें देखकर ही पापा बोले— "उनके कोई रिश्तेदार उन्हें लेते आ गए थे, वे ही एयरपोर्ट पर भी छोड़ देंगे। शायद रात के तीन बजे की फ्लाइट है उनकी।"

बहुत ही कैजुअल बनते हुए पापा ने कहा था। पर पापा की बेचारगी ने रविश को भीतर तक छुआ। वह पापा के पास चला आया, बोला, "पापा! आई लव यू वेरी मच, पापा।" पापा का चेहरा जलती-चमकती-रोशन लालटेन बन गया, जिसकी चमक में आंटी-निरखी पड़ी रेखाएं मिटने लगीं। रविश उन्हें मिटते हुए देखता रहा।

सम्बन्धों पर एक नई मुहर लग गई थी। यूं कोई खास घटना नहीं थी, कोई खुसूसियत लिए सफ़र भी नहीं था, किसी ने न कुछ कहा था, न कुछ लफ्जों में बयान किया गया था, फिर भी कुछ सीढ़ियां थी, जिन पर रविश एक कदम आगे बढ़ गया था।

हवाई जहाज़ में बैठते ही रविश ने अपनी भूमिका निश्चित कर ली थी। परिणाम—मम्मा के प्यार और ममता पर चढ़ा शक का मुलम्मा पिघल गया था, पापा के सीने पर रखा भार उतर गया था और रविश... वह तो सर्दी की गुनगुनी धूप, गर्मी की खुशनुमा सांझ, बरसात की पहली फुहार, बसन्त की खिलखिलाहट सभी कुछ महसूस कर रहा था।

खुशियों का कोई नाम नहीं होता, कोई परिभाषा नहीं होती, लफ्जों में बयां नहीं हो सकती, न जबरन दी जा सकती है, न खरीदो-फरोख होती हैं। वे झरोखों से आती शरद के मौसम की वह किरण हैं, जो अंधेरे कमरे में घुसती हैं और उसे दमका देती हैं। शायद यही कारण था कि पिकनिक पर सभी उस दिन बेहद खुश थे।



## चक्राचक्र

## आओ झूठ बोलें

पंडित बिहारीलाल की कक्षा में एक विद्यार्थी है—चिंतामणि। वह हमेशा बिहारी लाल जी को किसी-न-किसी चिंता में डाले रहता है। पंडित जी धूर्त से धूर्त, बदमाश से बदमाश, गुंडे से गुंडे विद्यार्थी का बड़ी हिम्मत और दिलेरी से सामना कर लेते हैं पर चिंतामणि का नाम सुनते ही वे परेशान हो जाते हैं। कहते हैं—“यह लड़का ऐसे बेहूदे सवाल करता है कि कुछ पूछो मत। जाने कहां-कहां की बातें इसे सूझती हैं।”

एक दिन वह पूछ बैठा—“पंडित जी, वसुधैव कुटुम्बकम् का अर्थ क्या है?”

पंडित जी ने उत्तर दिया—“सारी पृथ्वी हमारा कुटुम्ब है...हमारा परिवार है।”

“पंडित जी...जब सारी पृथ्वी हमारा परिवार है...तो हम इसी परिवार के कुछ सदस्यों को अच्छूत कहकर उन्हें दुत्कारते क्यों हैं?”

अब भला पंडित जी क्या जवाब देते। वे चिंतामणि को कैसे समझाते कि हमारे समाज में खाने के दांत दूसरे और दिखाने के दांत दूसरे होते हैं। यही हमारा आदर्श है। इसी में हमारी महानता छिपी हुई है।

आज कक्षा में आते ही उसने एक सवाल ठोक दिया—“पंडित जी, क्या नेताजी सुभाषचंद्र बोस शराब पीते थे?”

बिहारीलाल जी को बड़ी झुंझलाहट महसूस हुई—“मुझे क्या मालूम।” वे दांत चबाते हुए बोले—“मैंने उनके साथ बैठकर तो कभी पी नहीं।”

वह तपाक से बोला—“आप पीते हैं?”

पंडित जी अपनी ही बात में फंस गए। दोस्तों-मित्रों की महफिल में वे कभी-कभी पी लेते हैं। परन्तु इसे भरी क्लास में स्वीकारें कैसे। आखिर तो वे एक अध्यापक हैं। बोले—“मैं शराब का आदी नहीं हूँ।”

चिंतामणि बोला—“मैं कब कह रहा हूँ कि आप शराबी हैं। मैं तो बस इतना ही पूछ रहा हूँ कि आप शराब पीते हैं या नहीं?”

इतने में घंटी बज गई। पंडित जी को लगा, जैसे घंटी बजाने वाले चपरासी के रूप में स्वर्ग से किसी देवदूत ने उतर कर उनकी मदद की हो।

शाम को हम लोग बैठे गपशप कर रहे थे। एकाएक पंडित जी पूछ बैठे—“आप लोगों को याद होगा, कुछ वर्ष पूर्व एक विवाद

छिड़ा था कि—क्या नेताजी शराब पीते थे?”

किसी की समझ में नहीं आया कि बिहारीलाल जी इस पुराने विवाद की कब क्यों खोद रहे हैं।

मैं जानता था। चिंतामणि की चिंता इन्हें चिंता की तरह मदा जलाती रहती है। हमारा मेज़वान विलियम बोला—“ये गड़े मुर्दे क्यों उखड़ रहे हैं? और मेरी समझ में नहीं आता कि यह बात आज आपको इतना परेशान क्यों कर रही है, पंडित जी? नेताजी पीते थे तो पीते थे? इसमें भला इतना उत्तेजित होने की क्या जरूरत है?”

मैंने कहा—“बात यह है कि दूरदर्शन वालों ने इसी बात को लेकर उस समय एक सीरियल गेक दिया था। उसमें नेताजी को अपने आज़ाद हिन्द फौज के साथियों में वह कहते दिखाया था—आओ कुछ ज़रन हो जाए...पीना-पिलाना हो जाए।”

विलियम ने पूछा—“क्या इसी बात को लेकर सीरियल गेक दिया था?”

मैंने कहा—“सवाल यह नहीं है कि सुभाष बाबू पीते थे या नहीं। सवाल यह है कि क्या इस बात को मान लिया जाए कि वे पीते थे?”

विलियम ने तीन गिलासों में डबल पेग व्हिस्की डाल दी थी और पूछ रहा था कि सोडा डारुं या पानी।

बिहारीलाल जी ने अपने गिलास में पानी डालते हुए कहा—“उस समय सारा झगड़ा इस बात पर केंद्रित हो गया था। भला यह बात सार्वजनिक रूप से कैसे मानी जा सकती है कि नेताजी शराब पीते थे? क्या इससे हमारे राष्ट्रीय नेताओं की छवि धूमिल नहीं हो जाएगी? नेताजी की ज़िंदगी तो जनता के लिए आदर्श होनी चाहिए।”

“बिल्कुल ठीक।” विलियम बोला—“नेता लोग जितनी चाहें, पिएं। पर उन्हें इस तरह पीना चाहिए जिससे न पीने का भ्रम बना रहे। मैं एक ऐसे नेता को जानता हूँ जो लस्सी में शराब मिला कर पीते थे। कुछ लोग कोका कोला में डालकर पीते हैं। एक नेता अपने गिलास में वोदका डाल कर पिया करते थे और ऐसा दिखावा करते थे जैसे ठंडा पानी पी रहे हों। मैं तो कहता हूँ कि जनता को भी खूब पीनी चाहिए। पर जब कभी किसी नेता के शराब पीने का जिक्र हो जाए तो उसे पूरी तरह प्रोटेस्ट करना चाहिए।”

वह बड़ी मस्ती में बोला—“पंडित जी, यह बताइए कि अध्यापक को शराब पीनी चाहिए या नहीं?”

बिहारीलाल जी बहुत मजे-मजे से अपना गिलास सिप कर रहे



थे। विलियम की बात सुनते ही उन्होंने गिलास उठाया और पूरा घूंट भरकर बोले—“अध्यापक को शराब कभी नहीं पीनी चाहिए... वह तो देश के भविष्य का निर्माता होता है। वह शराब पीएगा तो विद्यार्थियों पर कितना बुरा असर पड़ेगा...। विद्यार्थी ऐसे अध्यापक की इज्जत कैसे करेंगे।”

मैंने कहा—“आप को याद होगा कि इस सीरियल को लेकर पश्चिम बंगाल में बड़ी उत्तेजना फैली थी। इस प्रश्न पर वहां के लोग मरने-मारने पर उतारू हो गए थे। उन्हें साफ दिखाई दे रहा है कि इस तरीके से सारे देश में नेताजी की छवि बिगाड़ी जा रही है।”

विलियम ने गर्दन मटकते हुए कहा—“अगर दिल्ली वाले नेता जी की छवि बिगाड़ेंगे तो कलकत्ते वाले पं. जवाहरलाल नेहरू के पीछे पड़ जाएंगे।”

बिहारीलाल जी बोले—“इस संबंध में पश्चिम बंगाल के एक मंत्री का उस समय दिया गया एक वक्तव्य हम सब की आंखें खोल देता है और हमारे राष्ट्रीय चरित्र की पूरी परिभाषा बता देता है।”

वे बोले—“उस मंत्री ने कहा था कि पं. जवाहरलाल नेहरू के संबंध में उनकी कमजोरी की बात भी अब तो जगजाहिर है। पर इसका यह मतलब तो नहीं कि हम खुद ही अपनी जनता को ये सारी बातें बताने लग जाएं।”

हम सब पर काफी सुरूर आ गया था। हमारे पास विषय भी अच्छा था। इस पर हम लोग कितनी ही देर बैठकर बातचीत कर सकते थे। पर इतने में ही एक गड़बड़ हो गई। विलियम की पत्नी ने आकर खबर दी कि बाहर कुछ विद्यार्थी आए हैं।

विलियम अंग्रेजी का अध्यापक है। यही एक ऐसा विषय है कि जिसमें उन सभी विद्यार्थियों के भी पसीने छूट जाते हैं, जिन्हें देखकर आम तौर पर अध्यापकों के पसीने छूटते हैं। इस समय हम तीनों ही विद्यार्थियों का सामना नहीं करना चाहते थे। विलियम ने अपनी पत्नी से कहा—“कह दो, मैं घर में नहीं हूँ।”

“कैसे कह दूँ...।” वह तुनककर बोली—“ये लोग पंडित जी के घर से होकर आ रहे हैं। इन्हें मालूम है कि आप तीनों अंदर बैठे हैं। साथ में चिंतामणि भी आया है।”

“चिंतामणि भी है...।” पंडित जी इस तरह चौंके जैसे उनके गिलास में छत से एक छिपकली आ गिरी हो।

विलियम ने कहा—“उनसे कुछ भी कहो... जो झूठ बन सके, बनाओ, पर इस समय हम नहीं मिल सकते।”

पंडित जी बोले—“हां... कुछ भी... कैसा भी झूठ बोल दीजिए।”

मैंने कहा—“यह झूठ तो बोलना ही पड़ेगा... आखिर हमारी छवि का सवाल है।”

विलियम की पत्नी हमें घूरती हुई बाहर चली गई।

## अभिव्यंजना से प्रकाशित

पंजाबी की बहुचर्चित  
संवेदनशील लेखिका

बचिंत कौर

के दो कहानी संग्रह

जिंदा पल मुर्दा पल 45.00

अतीत से संवाद 90.00

पंजाबी लोक जीवन के सफल चित्रे

मनजीत हेयर

के दो उपन्यास

मंजिलें 80.00

समय हार गया 150.00

## अभिव्यंजना

बी-70/72, डी.एस.आई.डी.सी. काम्प्लेक्स,

लारेंस रोड, दिल्ली-110034

संचेतना

के ग्राहकों को आधे मूल्य पर



## कमलेश सचदेव

# पारुल में एक समूचा संसार

शीर्षक से ही स्पष्ट था कि एक लड़की पारुल (सूर्यप्रभा प्रकाशन, नई दिल्ली) की अधिकांश कविताओं में लड़की/स्त्री ही केन्द्र में होगी। संग्रह की पहली कविता तो शीर्षक कविता है ही, अंतिम कविता 'पारुल की नन्ही' भी पारुल के ही नाम है। यों पारुल इस संग्रह में एक लड़की विशेष न रहकर नारी मात्र का प्रतीक बन गई है। पिछले दिनों इस संग्रह के विमोचन-समारोह के दौरान मलिक राजकुमार ने जहां उस लड़की पारुल को वहां उपस्थित व्यक्तियों से मिलवाया, वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया कि यह पारुल सभी कविताओं में मौजूद नहीं है, अनेक कविताओं में पारुल नारी को दिया गया नाम भर है।

पारुल या नारी के प्रति सम्मान, स्नेह, करुणा, उदारता, सहानुभूति, सद्विच्छा आदि इस संग्रह की नारी-विषयक कविताओं से छलक रहे हैं। नारी की पवित्र, सुन्दर और त्यागमयी छवि इन कविताओं में हर स्थल पर अंकित है और कवि उससे अभिभूत है। एक उदाहरण देखें— 'प्राची से नहीं ली थी/ टिकुरी भर अरुणिमा/शर्म से लाल हो आए/ तुम्हारे गाल छोड़ गए थे/ सांस भर सुगन्ध मलयानिल से नहीं/ तुम्हारी कुआरी देह से लिया था।' कवि नारी में आती जागृति से भी अभिभूत है, उसे भी वह बहुत सुन्दर बिम्ब में ढालता है— 'सुगों से सोती राजकुमारी की/ पुतलियां हिल रही हैं/ बेचैनी झलक रही है/ उनकी करवटों में/ आओ स्वागत करें/ नेत्र निमीलित करती/ जाग्रत हो जीवन की ओर बढ़ती/ सुन्दर राजकुमारियों का।' लेकिन आम तौर पर ये एक भावुक हृदय की प्रतिक्रियाएं मात्र प्रतीत होती हैं।

नारी में आती जागृति और उसकी सामर्थ्य का वस्तुतः काव्यात्मक चित्रण 'बहुत साल बाद की कविता' में दिखाई दिया जहां पारुल एक चिड़िया में तब्दील हो जाती है जो चांद को अपनी चोंच में दबाकर दुनिया को अंधेरे में भी ढकेल सकती है और 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की गुहार सुनकर उसे अपनी चोंच से मुक्त कर फिर से सामान्य लड़की में रूपान्तरित हो सकती है। कवि को लगता है— 'बहुत साल बाद की कविता/ जिसमें नदिया है और/ चोंच में चांद धामे चिड़िया/ सबके सामने बैठ पड़ेगी पारुल।' स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की जटिलता का संश्लिष्ट चित्र 'कल्पना में' और किसी हद तक 'वह' कविता में देखने को मिला। पुरुष-वर्चस्व का विरोध करते हुए जब नारी पुरुष का विरोध करने लगती है तो उसके लिए अपनी यह अहंभरी ज़िद ही यातना बन जाती है, क्योंकि भावनात्मक अकेलापन उसे खोखला करने लगता है। कवि को लगता है कि— 'अपने अहं की तुष्टि के लिए/ चाहे जो नारा/ या मुक्ति गुप्त तलाशो/ पर तुम नहीं सह सकोगी/ अपनी ही विकलता को' और ऐसे में पुरुष की आवश्यकता होगी, लेकिन तब वह उसे सिर्फ कल्पना

में पा सकेगी— 'तलाशोगी तो वहीं मिलूंगा/ बस तुम्हारे आस-पास/ तब भी नर्म कर सकूंगा/ तुम्हें मकखन-सा/ महका सकूंगा खुशबू की तरह/ मगर सिर्फ कल्पना में...'।

संग्रह को पढ़ते हुए बराबर महसूस होता रहा कि कवि के सरोकार व्यापक हैं— सत्ता-राजनीति (पंजा), शोषण (चाउमिन), परमाणु-विस्फोट (बेवफा मित्र) तक। उसके पास सकारात्मक दृष्टि है और एक बहुत तरल संवेदनशील हृदय। यह संवेदनशील हृदय निर्धनता (शब्द की मौत, चाउमिन, मुझे अच्छा नहीं लगता, वैवाहिक समारोह), नारी की दारुण स्थिति (पारुल से सम्बन्धित तथा अन्य नारी-विषयक कविताएं) और तमाम गलत स्थितियों से उद्देलित होता है और एक सही दुनिया चाहता है— 'मुझे चाहिए नया आकाश/ एक नई सुबह/ ताज़ा उगता सूरज/ कुंठारहित मन/ फूल-सा हलका शरीर' पर वह यह भी जानता है कि यह सब चाहना वास्तव में क्या है— 'सच-सच कहूं तो/ मुझे चांद चाहिए' (मुझे चांद चाहिए)।

प्रकृति के प्रति कवि का लगाव भी एक लड़की पारुल की कविताओं में लगभग सर्वत्र व्याप्त है। चांद, सितारे, सागर, नदियां, फूल, मिट्टी के रूप में कविताओं में मानवीय भावनाओं के साथ गुंथी हुई प्रकृति साथ-साथ चलती रही है। कहीं वह उपमानों के रूप में है, कहीं स्वयं आलम्बन बन गई है तो कहीं परिवेश का अंग बनकर काव्य-चित्र को सघनता प्रदान कर रही है। कवि का प्रकृति के प्रति समर्पण भाव 'प्रकृति' कविता में बहुत स्पष्ट है— 'समर्पित से हम/ खिंचते रहें बिना डोर/ मकड़ी की भांति/ प्रकृति कसती रहे जाले/ चारों ओर उठते रहें शोर/ आत्मा होकर विभोर/ कर दे सर्वस्व समर्पण/ इस प्रकृति की गोद में'।

संग्रह की सबसे अच्छी कविताएं वे लगीं जहां मलिक राजकुमार का कवि स्वयं अपने साथ है और किसी बाह्य सन्दर्भ पर प्रतिक्रिया न देकर अपने भीतर की दुनिया को या अपने भीतर रची हुई दुनिया को अभिव्यक्त करता है। 'मित्र', 'लड़ाई', 'इतिहास', 'सोच', 'वह' और 'मृत्यु' ऐसी ही कविताएं हैं। इन कविताओं को पढ़ते हुए लगा कि प्रथम पंक्ति से अन्तिम पंक्ति तक एक मुकम्मिल कविता पढ़ी जा रही है। जबकि अन्य बहुत-सी कविताओं में कुछ टुकड़े कविता लगते हैं तो कुछ बस कथन मात्र। हां, उन टुकड़ों में कवि की प्रतिभा बहुत उजागर है।

एक लड़की पारुल ने कुछ बहुत अच्छी कविताएं, कुछ कविताओं में झलकती अच्छी काव्य-पंक्तियां और बहुत-से सुन्दर बिम्ब उपलब्ध के रूप में दिए और मलिक राजकुमार के एक सशक्त कवि के रूप में उभरने के प्रति आश्चर्य व्यक्त किया।

सी-25, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026



## दो भारी-भरकम विशेषांक

लंदन में हुए छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर दो भारी-भरकम विशेषांक प्रकाशित हुए—बहुवचन (त्रैमासिक) का प्रवेशांक, पृष्ठ संख्या 452, कागज़ बहुत बढ़िया, मूल्य मात्र 50 रुपये। यह महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय का प्रकाशन है और इसके प्रधान सम्पादक श्री अशोक वाजपेयी हैं, जो इस विश्वविद्यालय के कुलपति भी हैं।

दूसरा विशेषांक गगनांचल का है—पृष्ठ संख्या 416, कागज़ अच्छा, मूल्य 25 रुपये मात्र। यह भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद (भारत सरकार) की पत्रिका है और इसके (मानद) संपादक हैं डॉ. कन्हैयालाल नंदन। 'गगनांचल' गत बाईस वर्ष से नियमित प्रकाशित हो रहा है।

यह तथ्य तो सर्वविदित है कि सरकार के पैसे से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं में खर्च खूब दिल खोल कर किया जाता है, वितरण-संख्या बहुत सीमित होती है और सामान्यतः इनमें विज्ञापन नहीं होते हैं। इसकी किसी को चिंता भी नहीं होती है, क्योंकि सम्पूर्ण घाटे की भरपाई करने के लिए सरकारी खजाना खुला होता है।

'बहुवचन' और 'गगनांचल' की पृष्ठ संख्या लगभग बराबर होते हुए भी, 'बहुवचन' आकार में बहुत मोटा दिखता है। कारण यह है कि इसमें 25 पन्ने (50 पृष्ठ) खासे मोटे आर्ट पेपर के लगे हुए हैं, जिनमें रेखांकन हैं, अमूर्त चित्र हैं और जो विभाजक का काम भी करते हैं।

'बहुवचन' में है क्या? कुछ लेखकों के उपन्यास-अंश हैं, पुनश्च में छायावाद की चर्चा है, 'राम की शक्ति पूजा' की क्लास-रूम व्याख्या है, निराला और पंत की हस्तलिपि है, मध्ययुगीन कवि घन आनन्द पर कुछ लेख हैं, कुछ कविताएं हैं, वैसी ही जैसी आम पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ने को मिलती हैं, कुछ कहानियां हैं, संस्कृति और कला के नाम पर कुछ दुरुह और उबाऊ चर्चा है और इसी बटोरी हुई सामग्री से साढ़े चार सौ पृष्ठ भर दिए गए हैं। सारा अंक देखने के बाद लगता है कि सम्पादक के पास कोई दृष्टि नहीं है। कोई भी रचना, कैसी भी रचना जमा करके एक भारी-भरकम अंक निकाल देने से किस लक्ष्य की पूर्ति होती है, यह प्रश्न किसी के भी सम्मुख खड़ा हो सकता है।

प्रकाशन संसार का कोई भी जानकर व्यक्ति यह बता सकता है कि यदि इस अंक की एक हजार प्रतियां प्रकाशित की गई हों तो इस पर पांच लाख रुपये के आस-पास व्यय किया गया होगा। विश्व हिन्दी सम्मेलन के प्रतिनिधियों के बीच इसका मुफ्त वितरण हुआ। हिन्दी में अपनी जेब से पचास रुपये खर्च करके इस 'जंक' को कौन खरीदकर अपने घर ले जाएगा, यह प्रश्न भी सामने आएगा। वैसे शेष बची हुई प्रतियों को 'काम्प्लीमेंटी' बांटने की पूरी सुविधा महात्मा गांधी हिन्दी अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय के पास है ही।

धन के इस भयंकर दुरुपयोग को देखकर फारसी की उक्ति याद आती है—माले मुफ्त दिले बेरहमा हिन्दी में एक देशाज कहावत है—पराये मुंह में लाठी जैसे भुस में। सरकारी पैसा हो, कुछ लोगों को उपकृत करने की कामना हो और साहित्य में अपनी डुगडुगी बजाने की अनायास सुविधा हो तो कौन एकवचन से निकलकर बहुवचन को दुनिया में नहीं जाना चाहेगा?

'बहुवचन' की अपेक्षा 'गगनांचल' का अंक कहीं अधिक सुनियोजित और सार्थक दिखाई देता है। हिन्दी भाषा और साहित्य के विविध पक्षों पर, बिना किसी बहुवचनीय उलझाव के अच्छी सामग्री का चयन किया गया है जो विश्व हिन्दी सम्मेलन की सम्पूर्ण ऐतिहासिक और मानसिक पृष्ठभूमि को पाठक के सम्मुख उजागर कर देता है। जिन गिरमिटियों भारतीय मजदूरों के कारण हिन्दी अन्तराष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण करती है और दुनिया के नक्शे पर अपनी पहचान स्थापित करती है, वे रामचरित मानस की प्रति के सहारे भयंकर त्रासद स्थितियों में किस प्रकार अपने जीने को अर्थ देते रहे और किस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी थाती को सुरक्षित रखते हुए हिन्दी के सबल प्रतिनिधि बनकर संसार के विभिन्न भागों में अपने स्वत्व की रक्षा करते रहे, इसका एक चित्र इस विशेषांक से प्राप्त हो जाता है।

विदेशों में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की क्या स्थिति है, इसे जानना किसी भी हिन्दी समुत्साही के लिए अत्यन्त उपयोगी है। 'गगनांचल' के विचार खंड में अमेरिका, बेल्जियम, जापान, रूस, फिनलैंड, उज्बेकिस्तान, चीन, त्रिनीडाड, नार्वे, पोलैण्ड, हंगरी आदि देशों में हिन्दी की क्या स्थिति है, इस दृष्टि से अनेक लेख हैं जो उनके द्वारा लिखे गए हैं जो उन देशों में रहकर हिन्दी का कार्य कर रहे हैं। इनमें भारतीय मूल के व्यक्ति भी हैं और विदेशी मूल के भी।

'गगनांचल' का दूसरा भाग—रचना खंड भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस खंड में भारत में रहने वाले अनेक लेखकों ने अपनी विदेश-यात्रा के अनुभव दिए हैं। भारत में रहने वाले हिन्दी लेखकों के अतिरिक्त मारीशस (अभिमन्यु अनंत) और अमेरिका (सुषम बेदी) में रहने वाले लेखकों की कहानियां हैं। बुखारेस्ट-रोमानिया (यतीन्द्र तिवारी), अमेरिका (डॉ. विजय कुमार मेहता), नेपाल (डॉ. उषा ठाकुर) से हिन्दी कवियों की मौलिक हिन्दी कविताएं हैं। साथ ही विनोद शर्मा और हरिमोहन शर्मा द्वारा अनूदित बल्गारिया और पोलैण्ड के कवियों के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुए हैं।

'गगनांचल' का यह अंक देखकर यह आभास तो होता ही है कि संपादक के पास दृष्टि है, उसे अवसर की पहचान है और वह पाठक को ऐसी सामग्री देना चाहता है, जिसे वह सहेज कर रखे और जब चाहे संदर्भ-सूची के रूप में उसका उपयोग करे। 'बहुवचन' में ऐसी कोई दृष्टि नहीं है।

— मसिजीवी



## चन्द्रकला त्रिपाठी

## स्मृतियों में बसी हुई पड़ोस की खुशबू

पड़ोस की खुशबू प्रसिद्ध रचनाकार रामदरश मिश्र के संस्मरणों की नई किताब है, जिसकी पूरी सामग्री दो खण्डों में बंटी हुई है। एक खण्ड में उनकी यात्राओं के अनुभव हैं तो दूसरे खण्ड में कुछ ऐसे व्यक्तित्वों से जुड़ी स्मृतियाँ जो मिश्र जी को अपनी असाधारण रचना-शक्तता या किसी अन्य गुण की अपेक्षा अपनी मनुष्यता के कारण ज्यादा प्रिय हैं। इन संस्मरणों को पढ़ते हुए स्वयं लेखक का जो व्यक्तित्व उभरता है वह जैसे साफ, ताज़ा, बड़ते हुए पानी का-सा है जिसमें प्रतिबिम्बित होता प्रत्येक व्यक्तित्व इस प्रवाह और तरलता से धुला-पुंछा स्वच्छ और सुन्दर हो उठा है। किसी व्यक्तित्व या प्रसंग पर उनकी किसी कुण्ठा या पूर्वाग्रह की कोई छाया नहीं दिखाई देती। चीज़ें उनके यहाँ अपने सहज स्वाभाविक अर्थ में खुलती और विकसित होती हैं। 'पड़ोस की खुशबू' में आए यात्रा-सन्दर्भ या व्यक्तित्व अपनी साधारणता में भी जीवन का अनूठा अर्थ लिए हुए हैं। व्यक्तित्वों में सामान्य मनुष्यों का राग-विराग मिश्र जी का चुनाव है। ये सहज मानवीय दीप्ति या ही उन्हें अपनी ओर खींचती हैं। जीवन को उसकी सहज गतिमान सकारात्मकता में देखना मिश्र जी का अभीष्ट अवश्य है किन्तु इसे वे अपनी दृष्टि पर किसी पूर्व निष्कर्ष की तरह आरोपित नहीं करते। मिश्र जी के अनुभव में परिचित-अपरिचित प्रसंग और व्यक्तित्व इस तरह रूप लेते हैं कि परिचित यदि अपना और अपनाया हुआ है तो अपरिचित भी निकटता की प्रेरणा और उत्सुकता का कारण। बहुरूपी जीवन के बन्द या खुले हुए अर्थ उन्हें आकृष्ट करते हैं। उनमें चीज़ों को उनके अपने अर्थ में जानने की वस्तुपरक दृष्टि है। जाहिर है कि संस्मरणों में यह बात मायने रखती है।

'घर से घर तक' शीर्षक संस्मरण में मिश्र जी की लंदन-यात्रा का वर्णन है। इस यात्रा में उनके सहयात्री हैं—बालकवि बैरागी, शीनकाफ़ निजाम, कुँआर बेचैन और वाचस्पति उपाध्याय। ऐसे परिचित सहृदय मित्रों के साथ की गहरी आश्वस्ति के साथ मिश्र जी इंग्लैण्ड जैसे सम्पन्न देश की सांस्कृतिक समृद्धि के अनुभव से गुजरते हैं। वे मानते हैं कि यात्राएँ उनके लिए केवल रास्ते का गुजर जाना नहीं है बल्कि इस दौरान वे रास्ते में आने वाली वस्तु-सत्ता और समय से एक गगात्मक संबंध जोड़कर अपना अनुभवलोक समृद्ध करते चलते हैं। इसलिए इस यात्रा में साथ हुए लोग, घटनाएँ और स्थान उनके लिए गहरे मानवीय अर्थ में बदल जाते हैं। मिश्र जी के रचनाकार की संवेदनशीलता जीवन को उसकी सहज प्रसन्नता में देखना चाहती है, इसलिए उनकी यादों में वही उभरता है जो स्वाभावतः प्रसन्न और निर्दोष हो, जिसमें व्यापक जीवन से जुड़ने के मानवीय छोर खुले हुए हों। इंग्लैण्ड-यात्रा में भी शेक्सपीयर के घर को देखने जाने के सन्दर्भ को उन्होंने साहित्य की संस्कृति को बचाए रखने की अपनी गहरी तड़प के नाते चुना है। इसी तरह के उनके तमाम चुनावों में उनकी मूल्यचेतना का हस्तक्षेप देखा जा सकता है। वे मानते हैं कि साहित्य के प्रति

लगाव जाहिर होने की चीज़ है, क्योंकि इससे साहित्य का जीवन बढ़ता और फलता-फूलता है। इसे उन्होंने अंधेरे से प्रकाश की ओर यात्रा कहा है। इसी प्रकार अपनी यात्राओं या व्यक्ति-स्मरणों में तथ्यों और विवरणों के बीच-बीच वे जीवन, साहित्य-संस्कृति, धर्म और कला से जुड़े जरूरी सवाल उठाते रहे हैं। 'नेपाल-यात्रा' के सन्दर्भ से भी वह भारत और नेपाल की सांस्कृतिक एकता को भाव व अभाव दोनों सन्दर्भों में देखते हैं। नेपाली जनता का साहित्य के प्रति लगाव उन्हें अभिभूत करता है। उनकी सादगी, निश्चलता और आतिथ्य से वे भीग उठते हैं।

'दक्खिन पवन बहे धीरे' नामक संस्मरण हिन्दी के दक्षिण भारतीय विद्वान शिवराम रेड्डी और डॉ. विजयलक्ष्मी जी के कारण महत्वपूर्ण है। दक्षिण भारत अपने नवरूप-रस-गंध के कारण मिश्र जी के लिए एक बड़ा आकर्षण है और अपनी प्रत्येक यात्रा में कुछ ऐसे आत्मोदय उन भी माने हैं जिनसे यह यात्रा और मूल्यवान हो उठती है। मिश्र जी को प्रकृति प्रिय है किन्तु इसमें जीवन का सञ्जाव वे अनिवार्य मानते हैं। जीवन से निरपेक्ष उन्हें कुछ भी ग्राह्य नहीं, न व्यक्ति, न स्थान और न प्रकृति। विजयलक्ष्मी जी में उन्होंने सहज उन्मुक्त मनुष्यता से सजा हुआ जीवन देखा है। उनमें ज्ञान है किन्तु बड़बोलापन नहीं; सहज खुले संबंध हैं, कुण्ठा नहीं है; पीड़ाएँ हैं किन्तु पीड़ा का प्रदर्शन नहीं है। मिश्र जी का रचनाकार सहज ही विजयलक्ष्मी जी की खूबियों को समझ लेता है। शिवराम रेड्डी का सहज आदर भाव उन्हें छूता है। वे उनकी स्मृति में बसे स्नेही व्यक्तित्व हैं। अपनी शिलांग-यात्रा में मिश्र जी प्रकृति के साथ हैं। कहीं आकाश-मार्ग से देखी गई पर्वतीय छवि के सुन्दर चित्र हैं तो कहीं धरती का निकट में देखा गया वैभव। विमान से देखी गई प्रकृति कुहरे में घुले प्रकाश का वह सौन्दर्य है जो जितना खुला हुआ है, उतना ही गोपन है। यह विराट की वह उन्मुक्तता है जो जितना अभिभूत करती है उतना ही भयभीत भी। यात्रा के इस हिस्से को मिश्र जी ने बहुत रम कर लिखा है। यहाँ सिर्फ प्रकृति है—सौन्दर्य की गति, लास्य और विस्फोट से सजी निर्दोष प्रकृति, जिसमें कहीं अनवरत वर्षा में भीगती वनस्पतियाँ हैं तो कहीं पर्वतों का निरन्तर विस्तार और उसमें खुलते-गुम होठे रास्ते हैं; बाँसों, केलों के झुरमुट, जल के फूटते झरने, बड़लेक जैसी झोत, बौहड़ पहाड़ों के बीच मानव-श्रम की गवाही देने सड़ीदार खेत और कहीं श्रम और कर्म से सजा हुआ बनावटहीन जीवन है जिसमें गहरी मानवीय सम्पृक्ति और गरिमा है। मिश्र जी ने इन तमाम अनुभवों को कीमती चीज़ की तरह सम्हाल लिया है। फिर अहमदाबाद को मिश्र जी के यात्रा-खण्ड का अंतिम संस्मरण मानना चाहिए, क्योंकि 'किससे मिलने आये हो?' नामक संस्मरण में ठाकुरप्रसाद सिंह के व्यक्तित्व में घुले हुए बनारस का साक्षात्कार है। अहमदाबाद मिश्र जी के संघर्ष के दिनों का साथी है। यहाँ उन्हें खुबीर चौधरी और विनीत लाल जैसे शिष्य मिले हैं। अहमदाबाद में हिन्दी प्रदेशों



की साहित्यिक खेमेबाजी से अप्रभावित साहित्य का परिवेश है। श्रेष्ठ रचनाओं की पहचान का विवेक और मौलिक रचनाशीलता के लिए वातावरण बनाने का संघर्ष भी वहाँ है और इसका केन्द्र है रघुवीर चौधरी जिनके रचनाकार के विकास को मिश्र जी ने गहरी आत्मीयता से देखा और चिह्नित किया है। रघुवीर चौधरी, विनीत लाल, त्रिलोचन, ठाकुरप्रसाद सिंह और विवेकी राय जैसे व्यक्तित्वों की स्मृति लेखक को समूचा मथ कर निकली है, इसलिए इसमें अद्भुत विश्वसनीयता और प्रभाव है। विवेकी राय में दुर्लभ निश्छलता है, त्रिलोचन सच्चे और निरुण्ड है, विनीत लाल में हृदय को छू लेने वाला विनय और मनुष्यता, रघुवीर चौधरी में व्यक्तित्व की अन्तरी दृढ़ता और सजगता, ठाकुरप्रसाद सिंह में संबंधों के निर्वाह में खप जाने वाली ऊँचाई है। इसलिए ये चरित्र मिश्र जी के लेखक पर सायासता का कोई दबाव न बनाकर अपनी अन्तर्निहित शक्ति में उभरते और विकसित होते हैं। इन व्यक्तित्वों को वे सहज ही उनकी द्वन्द्वात्मकता में देख पाते हैं तथा इनके भाव-अभावों पर उनकी नज़र है जबकि धर्मवीर भारती, विद्यानिवास मिश्र या लक्ष्मीचन्द्र जैन जैसे व्यक्तित्वों से जुड़े अनुभवों में कई बार वे अपने आग्रहों का निर्णय मानते दिखाई देते हैं। भारती पर इन्हीं दिनों रवीन्द्र कालिया का भी एक संस्मरण आया है। भारती के व्यक्तित्व में सत्ता-प्रतिष्ठानों से जुड़े व्यक्तित्व की खूबियाँ और आकर्षण थे। मिश्र जी ने भारती के इस पक्ष को नहीं लिया है। उनकी स्मृति में भारती कल्पनाशील, प्रतिभासम्पन्न, सहृदय और साहित्य को नेतृत्व दे सकने की क्षमता से लैस व्यक्तित्व हैं। उनके 'धर्मयुग' के संपादनकाल में मिश्र जी ने उनमें रचनाओं को उनकी मौलिकता और शक्ति के आधार पर चुनने की उदारता देखी। मिश्र जी ने भारती के रचनाकार को रूमनियत की संकीर्ण प्रवृत्ति से ऊपर पाया है। यही नहीं, उनमें वे यथार्थवादी दृष्टि का विकास देखते हैं और उनकी 'अंधा युग' जैसी रचनाओं का सन्दर्भ देते हैं। इसी प्रकार वे विद्यानिवास जी में धर्म का कठमुल्लापन नहीं बल्कि मनुष्यता, पांडित्य की प्रखरता तथा भारतीय मनीषा और संस्कृति के समूचे सार को पहचानने वाली दृष्टि देखते हैं। कन्हैयालाल नन्दन और लक्ष्मीचन्द्र जैन की मनुष्यता भी मिश्र जी का अर्जित है। इन संबंधों में कहीं कोई गणित, कोई व्याकरण, लेन-देन की कोई शर्त नहीं है। जहाँ ऐसी चीज़ों की संभावना बनती है, मिश्र जी विरक्त हो जाते हैं।

मिश्र जी के गद्य में अद्भुत संयम है। यहाँ उनके कवि की कल्पनाशीलता और जीवन को प्रत्यक्षता में रचने की प्राथमिकता का प्रभाव देखा जा सकता है। स्थानों और व्यक्तियों से जुड़े सन्दर्भ अपने भीतर के पदार्थ से निर्मित और विकसित हुए हैं। यहाँ वे अनुभवों को भीतर के अबूझ संसार में भटकने की छूट नहीं देते। उनकी कोशिश स्मृतियों का एक व्यक्त संसार रचने की है और वे इसमें सफल हुए हैं।

गडोस की खुशबू : रामदरश मिश्र; नमन प्रकाशन, नई दिल्ली;  
सं. 1999; मूल्य 150 रुपये

जी-25, अरविन्दो कालोनी, बी.एच.यू. कैपस,  
वाराणसी-221005

## अभिव्यंजना द्वारा प्रकाशित कुछ नए कविता-संग्रह

### सबूत क्यों चाहिए

(इंदु जैन)

समय चेतना को उजागर करती प्रख्यात कवयित्री इंदु जैन की नई कविताएँ।

मूल्य : 80 रु.

### मेरा होना

(कुसुम अंसल)

गहरी संवेदनशीलता के कारण मन को छू जाने वाली कुसुम अंसल की नई कविताएँ।

मूल्य : 70 रु.

### आरंभ से हाशिये तक

(अनिता वर्मा)

संवेदनाओं को आत्मसात करती और कविता में जीती अनिता वर्मा की नई कविताएँ।

मूल्य : 60 रु.

### अन्य महत्वपूर्ण कविता संग्रह

पीली धूप का टुकड़ा	शामा	100 रु.
सच कहती हूँ	सुनीता जैन	80 रु.
मुक्त कर दो	कीर्ति केसर	50 रु.
विरूपीकरण	कुसुम अंसल	35 रु.
तुम झेल नहीं पाओगे	अरुणा कपूर	60 रु.

### अभिव्यंजना

बी-70/72, डी.एस.आई.डी.सी. काम्प्लैक्स, लारेंस रोड,  
दिल्ली-110035



## कुसुम अंसल का कहानी पाठ

‘संवाद’ की गोष्ठी (28 अक्टूबर, 1999) में कवि, कथाकार कुसुम अंसल ने अपनी कहानी ‘तुम्हारे मोहरे’ का पाठ किया। कथाकार चन्द्रकांता ने प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि कहानी के तंत्र में काफी द्वन्द्व है। मूल्य ढहते जा रहे हैं। मुझे कहीं पहुंचना है—एक बहुत बड़ा सच है। दरअसल, जहां कहानी का अंत है, वहीं से उसकी शुरुआत है। चन्दन कुमार ने अपने विचार प्रकट करते हुए संबंधों की बात कही कि एक ऐसी परिस्थिति है, जहां देहवाद सब कुछ पा जाने के संकट को रेखांकित करता है। उत्तर आधुनिक संदर्भों में स्त्रियां किसी दबाव में नहीं, स्वेच्छा से इस मार्ग पर जा रही हैं। बेला की मजबूरी मूल्यहीनता के स्तर पर आ जाती है। मृदुला गर्ग ने कहानी के कई बिन्दुओं पर ध्यान खींचते हुए कहा कि कहानी रूबी की नहीं है बल्कि बेला के परिवार की है—वह जिस रास्ते से गुजरी, वह निश्चय ही आसान नहीं रहा होगा। रूबी की यात्रा परिपाटी से है, वह परिवार से कहीं अलग नहीं पड़ती। अलग है बेला। जो नैरेटर है वह बड़बोला है।

कहानी और उसकी केन्द्रीयता पर बल देते हुए पत्रकार एवं कथाकार डॉ. महीप सिंह ने कहा कि बहुत दिनों बाद मैंने एक मुश्किल कहानी सुनी। ‘तुम्हारे मोहरे’ की सारी स्थितियां बहुत मुश्किल हैं। एक बात अन्तर्निहित लगी कि जब भी कोई नारी होने का उपयोग करती है, वह टूटती जाती है, खाली होती जाती है। बेला का चरित्र काफी अच्छा है। रूबी की मानसिकता में एक हठ है, जिद है और इसे पूरा करने के आज बहुत सारे उदाहरण मिल जाएंगे। रूबी जैसी लड़की चाहे जितना तेज दौड़ सकती है। उसकी व्यथा उसके बड़बोलेपन से झांकी है, सवाल देह और मांग का, उसके प्रयोग का है, इसे व्यक्ति जब सामान्यीकरण करना चाहता है, वह टूटता भी है और अकेला होता है। यह कहानी अगली सदी में हमारे समाज का एक संकेत है।

कुसुम अंसल ने अपने लेखकीय वक्तव्य में कहा कि आज लड़कियां जो बड़ी हो रही हैं, यह उनकी कहानी है। हमारी ज़िंदगी में प्रेम की कोई जगह नहीं। बेला की कहानी मैं ज्यादा कहना चाहती थी। देह औरत की मजबूरी है, जिससे कुछ अमानवीय तत्व उसे पीछे भी करते हैं। प्रतिक्रियाओं के उपरान्त कुसुम अंसल ने अपनी कुछ कविताएं भी पढ़ीं। गोष्ठी में उपस्थित थे—कमल कुमार, शामा, प्रताप सहगल, मीरा सीकरी, विनोद शर्मा, कमलेश सचदेव, मजीद अहमद आदि। सुप्रसिद्ध कवयित्री सुनीता जैन ने कार्यक्रम का संचालन किया।

प्रस्तुति—मजीद अहमद

## विनय की सृजन यात्रा पर विचार-गोष्ठी

‘डॉ. विनय की सृजन यात्रा’ पुस्तक पर ‘रचना पर्व’ के तत्वावधान में एक विचार गोष्ठी गुरु तेगबहादुर खालसा कॉलेज, सांघ्य, देवनगर में आयोजित की गई। पुस्तक के संपादक हैं डॉ. ज्ञानचन्द्र गुप्त तथा डॉ. अश्विनी पाराशर। यह पुस्तक हिन्दी के ख्यात आलोचक-समीक्षक डॉ. विजयेन्द्र स्नातक को समर्पित है। गोष्ठी की अध्यक्षता प्रतिष्ठित कवि-कथाकार डॉ. रामदरश मिश्र ने की।

डॉ. कमलकिशोर गोयनका ने अपने आलेख में सम्पादकों के श्रम की प्रशंसा करते हुए कहा कि विनय पर यह पुस्तक बहुत पहले अपेक्षित थी। डॉ. गोयनका ने विनय का इस पीढ़ी के महत्वपूर्ण एवं अनुपेक्षणीय रचनाकार के रूप में उल्लेख करते हुए कहा कि उनकी काव्य कृति ‘महाश्वेता’ और ‘एक पुरुष और’ का सम्यक् विवेचन होना चाहिए।

मुम्बई से पधारे डॉ. त्रिभुवन राय ने विनय की कविता यात्रा का उल्लेख करते हुए कहा कि विनय के द्वारा रचित प्रबंध काव्य केवल उनकी रचना क्षमता की ही अभिव्यक्ति नहीं करते अपितु समकालीन कविता को समृद्ध करते हैं। इस पुस्तक के अधिकांश लेखों में विनय की रचनाओं का सही मूल्यांकन हुआ है।

अध्यक्ष पद से बोलते हुए डॉ. रामदरश मिश्र ने व्यक्ति और रचनाकार विनय के महत्व का उल्लेख करते हुए कहा कि विनय की आत्मीयता का स्वाद जिन लोगों ने चखा है, वे उसके रचनाकार के महत्व को भी जान सकते हैं। उन्होंने अनेक व्यक्तिगत संदर्भों का उल्लेख करते हुए रचनाकार के आंतरिक मार्दव पर बल दिया। डॉ. महीप सिंह ने इस पुस्तक को रचनाकार के विश्लेषण की प्राथमिकी बताते हुए कहा कि विनय का आलोचक पक्ष भी बहुत प्रबल है। उनमें रचनाओं की अंतर्धारा को समझ कर आग्रह-मुक्त विश्लेषण पद्धति मुझे बहुत अच्छी लगती रही है।

चर्चा प्रवर्तक डॉ. सुरेश धींगड़ा ने दस ऐसे बिन्दु उठाए जिनमें व्यक्ति विनय और रचनाकार विनय के अनेक आयामों का उद्घाटन हुआ। विनय की सृजन यात्रा का उल्लेख करते हुए डॉ. नरेन्द्रमोहन ने व्यक्ति विनय और रचनाकार विनय के बीच बहुत बड़े फासले का जिक्र किया। उन्होंने ‘एक पुरुष और’ तथा अन्य रचनाओं के संदर्भ में विनय की रोमैंटिक प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए कहा कि यह प्रवृत्ति समाजार्थिक आशयों से परिपूर्ण है। डॉ. बलदेव वंशी ने विनय के संदर्भ में रूपांतरित होते धावों की चर्चा करते हुए विनय की काव्य चेतना पर प्रकाश डाला। डॉ. हरीश नवल ने अनेक व्यक्तिगत संदर्भ उठाते हुए व्यक्ति और रचनाकार विनय की क्षमताओं पर प्रकाश डाला। गोष्ठी का संचालन करते हुए प्रताप सहगल ने विनय की कविता के साथ-साथ उनके नाटककार पक्ष की चर्चा की और उन्हें



कलासिकी परम्परा का नाटककार बताया।

संपादकों में से एक डॉ. अश्विनी पाराशर ने डॉ. विजयेन्द्र स्नातक की पुत्री सुधा और जामाता डॉ. हरीश नवल को पुस्तक की एक प्रति भेंट की। डॉ. किरणचन्द्र शर्मा ने धन्यवाद ज्ञापन किया। गोष्ठी में राजधानी के अनेक गणमान्य पत्रकार एवं साहित्यकार उपस्थित थे।

3

प्रस्तुति-इन्द्रजीत पाल

## मछली मछली कितना पानी

पिछले दिनों कवि, नाटककार प्रताप सहगल ने दिल्ली में 'परिधि कथामंच' के अन्तर्गत एक अनौपचारिक गोष्ठी में 'मछली-मछली कितना पानी' कहानी का पाठ किया।

चर्चा में भाग लेते हुए कथाकार चन्द्रकांता ने कहा—'कहानी में पुरुष नारी के वर्चस्व को स्वीकार नहीं कर पा रहा है। आज की दुनिया में नैतिकताएं बदली हैं, इसलिए टकराव रहेगा ही। घर टूटेंगे और कितना पानी किसके हिस्से का है, उसे देना पड़ेगा।' विश्वमोहन तिवारी की प्रतिक्रिया थी कि कहानी का जो अन्त है उससे पता लग जाता है कि परिवार में इस तरह का बंटवारा नहीं हो सकता। लगता है कथालेखक नायिका के चरित्र से मोहित है। डॉ. शशि सहगल ने कहा, 'कहानी की जो बुनावट है, वह दोनों का द्वन्द्व है—अस्तित्व की लड़ाई है। नायक का फ्रस्ट्रेशन बढ़ता चला जा रहा है और वह जितनी बार टूटता है, वह कहानी की ताकत बनती है। कहानी के अंत में एक आईना खड़ा होता है, जिसमें कुछ नया सोचने के लिए हम खड़े हैं।'

रंजन जैदी ने कहा—'कहानी में एक बड़ा संकेत है कि संयुक्त परिवार के मूल्य आज के दौर में धराशायी हो गए हैं और महानगर में एकल परिवार के मूल्य सिहरन भर रहे हैं। परिवेश में सबसे बड़ी त्रासदी बच्चे की है। नायिका विचारशील हो रही है, उसमें नई संवेदनाएं पैदा हो रही हैं।' डॉ. माहेश्वर के अनुसार—'कहानी एक बड़े खतरे को दिखाती है, साथ ही अपनी जगह पाने की टकराहट है। सुन्दर औरत को मार्केट प्रोजेक्ट करता है। पुरुष उसे आब्जेक्ट के रूप में पाना चाहता है, व्यक्तित्व के रूप में नहीं।' मजीद अहमद के अनुसार—'प्रिया को मालूम नहीं कि उसे आब्जेक्ट के रूप में देखा जा रहा है। सारे संकेत मानसिक स्तर पर हैं। देह बीच में है। प्रिया केवल देहवाली औरत नहीं है। कहानी में कुछ स्थितियों को लूज छोड़ दिया गया है, ताकि पाठक उनमें स्वयं प्रवेश करे।' कथाकार श्रवण कुमार, डॉ. प्रमोद सिनहा, उषा चौधरी, गुरचरण सिंह, पवन माथुर, चन्दन कुमार, कुमार पंकज, दिलीप कुमार और प्रीति सिनहा ने भी चर्चा में भाग लिया।

प्रस्तुति-मधु गुप्ता

## 'सरहद पर सुलह' का लोकार्पण

पिछले दिनों बीकानेर में सरस्वती काव्य कला संस्थान का वार्षिक समारोह मनाया गया। इस आयोजन के अंतिम चरण में सुपरिचित कथाकार हरदर्शन सहगल के ताजारीन कहानी-संग्रह 'सरहद पर सुलह' का लोकार्पण सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर उपस्थित साहित्य-प्रेमियों में सुप्रसिद्ध उपन्यासकार एवं 'वर्तमान साहित्य' के संपादक श्री विभूतिनारायण राय, पुणे की सुविख्यात रचनाकार एवं समालोचक श्रीमती मालती शर्मा, गाजियाबाद के सुपरिचित कथाकार श्री से.रा. यात्री, जोधपुर के जाने-माने कहानीकार एवं साहित्यकार डॉ. सूरज पालीवाल विशेष रूप से इस आयोजन में पधारे थे।

मुख्य अतिथि श्रीमती मालती शर्मा ने 'सरहद पर सुलह' का लोकार्पण करते समय सहगल की कहानियों को मानवीयतावादी और जीवंत बताते हुए कहा कि इनमें जिजीविषा पर्याप्त रूप से विद्यमान है। कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए श्री विभूतिनारायण राय ने सहगल की कहानियों का रचाव उनका अपना सहज लेखन बताया। उन्होंने कहा कि सहगल की कहानियां जीवन की गतिशीलता से जुड़ी हुई हैं, जिनमें अपने पात्र हैं और उनकी अपनी संवेदनाएं हैं। विशिष्ट अतिथि के रूप में विचार व्यक्त करते हुए कथाकार से.रा. यात्री ने कहा कि विदेशी साहित्य के विपरीत हमारे देश में विश्वसनीय व्यक्ति के साहित्य को पढ़ा जाता है। सहगल की कहानियों को यथार्थ के बहुत निकट माना जाना चाहिए। संस्था के अध्यक्ष श्रीलाल नथमल जोशी ने संग्रह की कहानी 'पुनरागमन' की विस्तृत व्याख्या की और सहगल के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को सराहा। डॉ. सूरज पालीवाल, डॉ. उमाकांत गुप्त, डॉ. राजानन्द भटनागर, मुकेश पोपली, कविता मुकेश, रतन श्रीवास्तव एवं वत्सला पाण्डे ने भी इस अवसर पर अपने विचार व्यक्त किए।

हरदर्शन सहगल ने अपने वक्तव्य में कहा कि कहानियां मेरा हाथ पकड़ लेती हैं, मेरे साथ नींद में चलती हैं। कहानी मुझे अपने बुलाती है और मैं कहानी के साथ घुलमिल जाता हूँ।

मेधा प्रकाशन के अजेय कुमार ने सहगल के कहानी-संग्रह के प्रकाशित करने पर अपने आपको सौभाग्यशाली बताया। समारोह व संचालन नगर के जाने-माने कवि, समालोचक एवं शिक्षाविद् भवान्तर शंकर व्यास 'विनोद' ने अपनी सटीक टिप्पणियों के साथ किंवदन्त्यवाद प्रस्ताव श्री राधेश्याम जोशी ने रखा।

सरस्वती काव्य एवं कला संस्थान ने इससे एक दिन पूर्व पुणे सुविख्यात कवयित्री एवं समालोचक श्रीमती मालती शर्मा एवं राजसभा के विद्वान एवं बीकानेर के साहित्यकार माणक तिवारी 'बंधु' संस्था की ओर से अभिनन्दन किया।

प्रस्तुति-मुकेश पो







Entered in Database

Signature with Date

19/4/08







